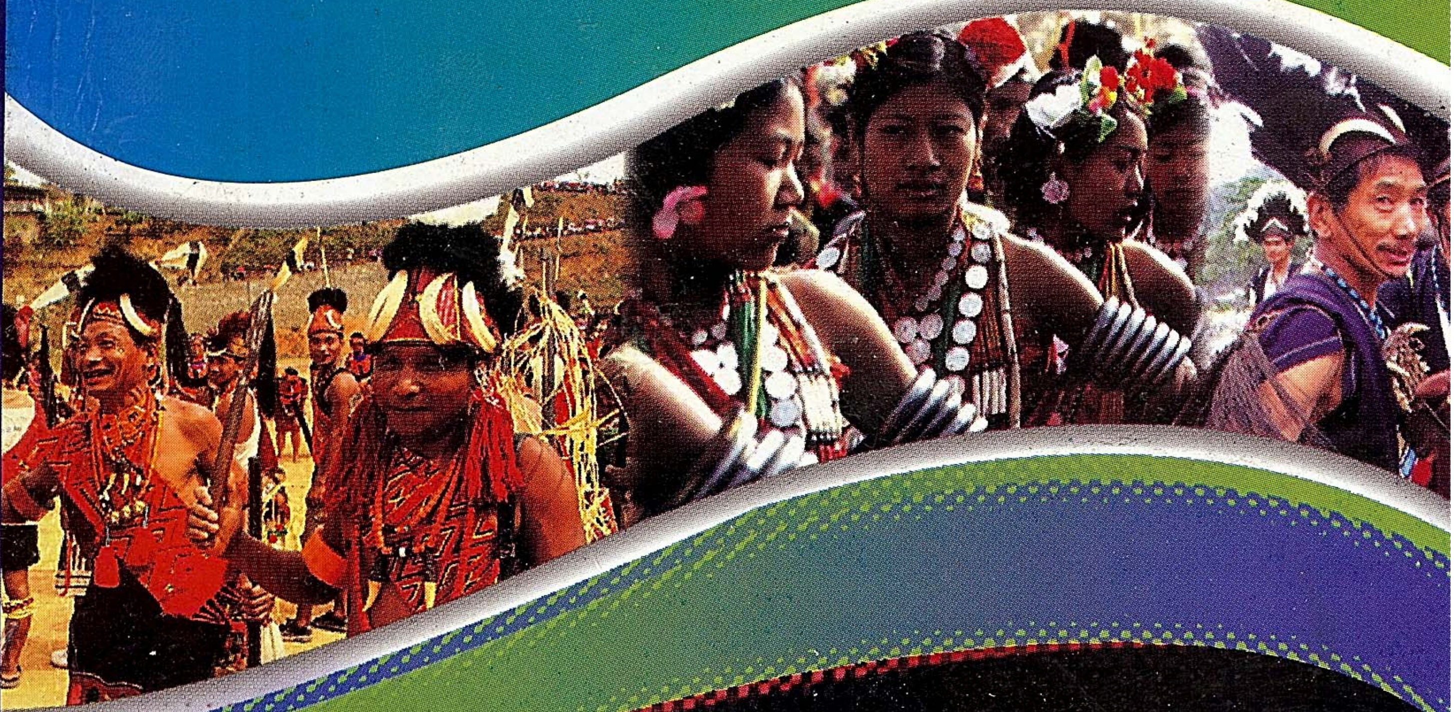


# जनजातीय भारत

आठवाँ संस्करण

नदीम हसनैन

# जनजातीय भारत

**नदीम हसनैन** पी-एच.डी.
प्रोफ़ेसर, सामाजिक मानवविज्ञान
लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ

जवाहर पब्लिशर्स ऐंड डिस्ट्रीब्यूटर्स

*प्रकाशक*
रवि मजूमदार
जवाहर पब्लिशर्स ऐंड डिस्ट्रीब्यूटर्स
नई दिल्ली-110016



मूल्य : 360 रुपए

ISBN—81-7361-035-5

छठा संस्करण, 2004
सातवाँ संस्करण, 2005
आठवाँ संस्करण, 2016

*लेज़रटाईपसेट* : डीजिग्राफ़िक्स, नई दिल्ली
*मुद्रक* : प्रिंट लाईन, नई दिल्ली

# जनजातीय भारत

भारतवाणी को सप्रेम भेंट

नदीम हसनैन

# ਨਵਾਂ ਅਹਿਦਨਾਮਾ



नदीम हसनैन

**PUBLISHED BOOKS:**

- **Contested Identities in the Globalised World** (co-edited), 2013
- **Anthropology in India (co-edited)**, 2010
- **A Study of Womens' Problematic** (co-edited), 2009
- **Towards Empowering Indian Women** (co-edited), 2007
- **The Indian State and Womens' Problematics** (co-edited),
- **Beyond Textual Islam**, 2007
- **Aspects of Islam and Muslim Societies,** 2006
- **Islam and Muslim Communities of South Asia,** 2005
- **OBCs in the Process of Change (co-edited),** 2005
- **Indian Society and Culture: Continuity and Change,** 2004
  *(Also available in Hindi)*
- **Introducing Social-Cultural Anthropology** (co-authored), 2003
  *(Also available in Hindi)*
- **Indian Anthropology,** 1998
  *(Also available in Hindi and Telugu)*
- **General Anthropology,** 1997
  *(Also available in Hindi)*
- **Shias and Shia Islam in India: A Study in Society and Culture,** 1988
- **Tribal India,** 1991
  *(Also available in Hindi and Telugu)*
- **Bonded for Ever,** 1982
  *(Also available in Hindi)*

# वर्तमान संस्करण की प्रस्तावना

इस प्रस्तावना को लिखते हुए मैं बड़ी प्रसन्नता का अनुभव कर रहा हूँ। *जनजातीय भारत* के सात संस्करण व दो दर्जन से अधिक पुनर्मुद्रित संस्करणों का प्रकाशित होना इस पुस्तक की उपयोगिता दर्शाता है। इसका पूरा श्रेय सम्पूर्ण भारत में फैले मेरे पाठकों को जाता है जिनके विश्वास व प्रेम ने इस पुस्तक को इस विषय पर प्रकाशित सबसे लोकप्रिय पुस्तक बना दिया है। मैं अपने पाठकों व विद्यार्थियों के प्रति कृतज्ञता व आभार प्रकट करता हूँ। इस पुस्तक के अंग्रेज़ी व तेलुगु संस्करणों ने भी इतनी ही लोकप्रियता हासिल की है।

पिछले संस्करण के प्रकाशन के बाद कई महत्त्वपूर्ण घटनायें हुई हैं। 2011 की जनगणना के आँकड़े व सूचनायें आ चुकी हैं; 11वीं पँचवर्षीय योजना के कार्यों की समीक्षा भी उपलब्ध हो चुकी है तथा जनजातीय कार्य मंत्रालय की ताज़ा रिपोर्ट भी हमारे सामने है। इन सभी सूचनाओं व समीक्षाओं को वर्तमान संस्करण में शामिल किया गया है। इंसके अतिरिक्त नये चित्रों का समावेश भी हुआ है।

पिछले कुछ वर्षों में आँध्र प्रदेश से लेकर उत्तर प्रदेश के सोनभद्र जिले तक जिस प्रकार से आदिवासी समुदायों ने अपने उत्पीड़न, शोषण व अन्याय के विरोध में हथियार उठाया है वह हमें बहुत कुछ सोचने पर मजबूर करता है। हम इस प्रतिरोध को केवल माओवाद व आंतरिक सुरक्षा का मामला बताकर खारिज नहीं कर सकते। इस विषय पर भी एक नया अध्याय शामिल किया गया है। इसके अतिरिक्त परिशिष्ट में जगह-जगह पर नई सूचनाओं के क़ानूनों को शामिल करके पुस्तक की उपयोगिता बढ़ाने का प्रयास किया गया है। मैं इस पुस्तक के प्रकाशक रवि मजुमदार (दादा) के प्रति आभार व्यक्त करता हूँ जिन्होंने वर्तमान संस्करण को ठीक समय पर छापने में महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा की है।

हमेशा की तरह पाठकों की प्रतिक्रियाओं व सुझावों की प्रतीक्षा रहेगी जिससे कि भविष्य में पुस्तक को और अधिक उपयोगी बनाया जा सके।

*15, अगस्त, 2013*
*लखनऊ*

**प्रोफ़ेसर नदीम हसनैन**
लखनऊ विश्वविद्यालय
(Nadeemhasnain@gmail.com)

# अपनी बात

हाल के वर्षों में हिन्दी माध्यम के द्वारा उच्च शिक्षा का, विशेषकर सामाजिक विज्ञानों में, काफी विस्तार हुआ है परन्तु हिन्दी भाषा-भाषी क्षेत्रों में हिन्दी पुस्तकें कम और अच्छी पुस्तकें तो और भी कम लिखी गयी हैं। यह कमी बार-बार खटकती है।

मेरी पुस्तकों में से दो अर्थात 'ट्राईबल इण्डिया' व 'इण्डियन ऐन्थ्रोपॉलोजी' की अभूतपूर्व लोकप्रियता ने मुझे यह पुस्तक तैयार करने में काफी प्रेरणा दी है। मुझे यह कहने में कोई हिचक नहीं है कि इस पुस्तक का वास्तविक श्रेय समूचे देश में फैले मेरे पाठकों व विद्यार्थियों को जाता है जो सिविल सेवाओं के (हिन्दी माध्यम से) परीक्षार्थी होने के नाते मुझसे निरंतर यह आग्रह करते रहे कि मैं उन जैसे उम्मीदवारों के लिए पुस्तकें लिखूँ। इस सिलसिले में मैं अपने बिहार के उम्मीदवार-विद्यार्थियों का ज़िक्र अवश्य करूँगा जिनके प्रेमपूर्वक आग्रह ने इस पुस्तक को जल्दी लाने के लिए मुझे मजबूर किया है।

इस पुस्तक की तैयारी में जिस एक व्यक्ति ने मेरी सब से अधिक सहायता की है वह हैं मेरे मित्र व सहयोगी अखिलेश दीक्षित जिन्होंने खराब स्वास्थ्य के बावजूद इस पुस्तक के प्रकाशन में महत्त्वपूर्ण सहयोग दिया। मेरे भूतपूर्व विद्यार्थी (अब मित्र व सहयोगी) कामिल हुसैन ने ग्रन्थावली व संलग्नक तैयार करने में मेरी जो सहायता की है, मैं उसके लिए उनका आभार प्रकट करता हूँ। मेरे परम मित्र श्री नरेश वैद्य (निदेशक, वैद्य'स आई सी एस) ने हमेशा की तरह इस बार भी मेरा उत्साहवर्द्धन किया है लेकिन इतने करीबी दोस्तों का शुक्रिया अदा करना दोस्ती की तौहीन है।

पुस्तक लिखने के दौरान मेरी हमसफ़र निशात, बेटे असीम व बेटी समता ने मेरे समय पर अपना दावा लगभग छोड़ दिया था, इनकी ओर से पुस्तक के लिए यह एक महत्त्वपूर्ण योगदान है।

पुस्तक के प्रकाशक श्री रवि मजूमदार का शुक्रिया, जिनके निरंतर आग्रह ने पुस्तक को पूरा करने में विशेष भूमिका निभाई।

सदा की तरह इस बार भी मैं अपने पाठकों व विद्यार्थियों की प्रतिक्रियाओं तथा सुझावों का इंतज़ार करूँगा जिससे कि आगे के संस्करणों में पुस्तक को बेहतर बनाया जा सके।


जुलाई, 1990 नदीम हसनैन

4/605, विकास नगर,

कुर्सी रोड, लखनऊ-226020

# विषय–सूची



## एक
## भारत में जनजातियाँ (Tribes in India)



## दो
## सामाजिक संस्थायें (Social Institutions)

## तीन
## नृजातीय विवरण (Ethnography)



## चार
## समस्यायें (Problems)

## पांच

## कुछ अन्य आयाम (Some Other Facets)

## छः
## प्रशासन, कल्याण व विकास
## (Administration, Welfare & Development)

# प्राक्कथन

I

मानव जाति प्रजातीय, सांस्कृतिक एवम् भाषायी दृष्टि से निरंतर बढ़ती हुई सजातीयता की ओर अग्रसर हो रही है। यह यात्रा विविध आयामों, जिनमें कुछ अफसोसजनक पहलू भी शामिल हैं, को समाये हुये है। प्राचीनतम संस्कृतियाँ या तो मृतप्रायः हैं अथवा समाप्त हो रही हैं। इस प्रकार की विस्तृत श्रेणी में आदिम, जनजातीय, आदिवासी (aboriginal), मूल निवासियों (native) जैसे सम्भ्रमित कर देने वाले विविध नामों से जानी जाने वाली मानवता का एक बड़ा अंश आता है। प्राक्-औद्योगिक अर्थव्यवस्था, अपरिष्कृत अनुष्ठान तथा सामाजिक प्रथायें, अपनी विकसित बोली के लिए लिपि का अभाव, छोटे स्थानीय सामुदायिक समाज तथा समजातीयता आदि इन समूहों की प्रमुख विशेषतायें हैं।

कल के आदिवासी (Primitive) अपने अधिक सभ्य पड़ोसियों के सम्पर्क में आये और इस प्रकार वे अपने प्राचीन स्वरूप को खोते जा रहे हैं। "अब औद्योगिक सभ्यता प्रौद्योगिक दृष्टि से (Technologically) सरल जनजातीय संस्कृति का विनाश पूरा कर रही है। औद्योगिक सभ्यता के अनेक विद्वानों के दृष्टिकोण के अनुसार इन संस्कृतियों का अदृश्य होना अथवा कठोर व जबरदस्त संशोधन 'सभ्यता' की प्रगति के लिये अवश्यम्भावी, स्वाभाविक तथा सभ्यता की इस लम्बी दौड़ में सर्वाधिक लोगों के लिये लाभप्रद माना जाता है (जान. एच. बाडले, 1982)। इस प्रकार इससे पहले कि यह मनमानी मान्यता एक स्थापित एवम् अविवादित तर्क में परिवर्तित हो सके, औद्योगीकरण ने अपनी कीमत की माँग प्रारम्भ कर दी। अब मानव प्रजाति अथवा इस दृष्टि से देखा जाये तो पृथ्वी पर जीवन यात्रा के ही समाप्त हो जाने का भय उत्पन्न हो गया है। बाडले ने विचार व्यक्त किया है कि यह बात उत्तरोत्तर और अधिक स्पष्ट होती जा रही है कि सभ्यता की "प्रगति" पर्यावरण के साथ-साथ समाजों तथा संस्कृतियों का भी विनाश कर रही है तथा आधुनिक सभ्यता अपनी प्रगति का शिकार स्वयं हो सकती है। इस दृष्टि से हम ऐसे लोगों को पूर्णरूपेण समाप्त करने की पुष्टि एवम् प्रोत्साहित करने वाली बुद्धिमत्ता के प्रति-प्रश्न कर सकते हैं जो विकास की हमारी संकल्पना को अस्वीकार करते हैं तथा उसके स्थान पर अपने पर्यावरण के साथ निकट सामंजस्य में प्रौद्योगिक दृष्टि से सरल जीवन में संतोष प्राप्त करते हैं। अपनी हठधर्मिता के झक्कीपन में जनजातीय अर्थव्यवस्था (आर्थिक प्रणाली) को 'पिछड़ा' एवम् अपव्ययी प्रथाओं तथा परंपराओं को भोंडा (crude) तथा

जनजातीय लोगों को ''आदिम, अज्ञान में डूबा हुआ'' कहना एक बात है तथा उसे ऐसा सिद्ध करना एकदम दूसरी बात है।

## II

भारतवर्ष में हजारों वर्षों से जंगलों व पहाड़ों में रह रही आदिम जनजातियों ने खुले मैदानों तथा सभ्यता के केन्द्रों में बसे लोगों से अधिक सम्पर्क स्थापित किये बिना ही अपने अस्तित्व को बनाये रखा है। हेमेंडॉर्फ (1977) के अनुसार यह सहअस्तित्व इसलिये सम्भव था कि मोटे तौर पर जनसंख्या का दबाव नहीं था और ''उन्नत'' समुदाय में हिन्दू सभ्यता के दायरे से बाहर रहने वाले लोगों पर अपने मूल्यों को आरोपित करने की कोई तीव्र इच्छा भी नहीं थी।

जब तक अंग्रेज़ भारतीय इतिहास के रंगमंच पर प्रकट नहीं हुए तथा देश में अपनी स्थिति को सुदृढ़ नहीं कर लिया, इन लोगों के मध्य किसी प्रकार की हलचल अनुभव नहीं की गयी। ऐसी हलचल अंग्रेज शासकों की औपनिवेशिक आवश्यकताओं एवम् आकांक्षाओं के अनुरूप धीरे-धीरे तथा स्थिरता के साथ आई। औपनिवेशिक शासकों को सम्पूर्ण देश की ''खोज'' करनी पड़ी ताकि वे प्रभावी एवम् समुचित ढंग से शासन कर सकें। उनके पास एक प्रभावी संचार प्रणाली, जिसमें डाक-तार, सड़क यातायात तथा रेल सेवायें सम्मिलित थीं, का विकास करने के अतिरिक्त कोई विकल्प नहीं था। निहार रंजन रे (1972) इस कथन द्वारा अपने तर्क को आगे बढ़ाते हैं कि प्रभावी एवम् तीव्र शासन के लिए एक समान प्रशासनिक प्रणाली की आवश्यकता थी जिसका लक्ष्य यथासम्भव सम्पूर्ण देश को अपने दायरे में लाना था जिसके लिए प्रशासन को अपने अधिकारियों, पुलिस तथा सेना को देश की दूरस्थ एवम् गहनतम सीमाओं तक भेजना आवश्यक था। बहुत अर्से तक, कम से कम 1887 तक, अंग्रेज़ व्यापारी उपनिवेशवाद का प्राथमिक उत्तरदायित्व भी निभाते रहे जिसके तहत वे प्रयास कर रहे थे कि सैन्य विजय यथासम्भव देश के एक कोने से दूसरे कोने तक पूर्ण कर ली जाये। इसके लिए आंतरिक रूप में एक राजनीतिक तथा सामाजिक नीति की आवश्यकता थी कि घने जंगलों तथा पहाड़ी क्षेत्रों सहित सभी ''प्रतिरोधक'' क्षेत्रों में सुदृढ़ दबाव को बनाए रखा जा सके।

श्यामा चरण दुबे (1972) इस कथन द्वारा इस धारणा की पुष्टि करते हैं कि कानून और व्यवस्था के संबंध में अंग्रेज़ शासकों ने भारत में अपने प्रवास के दौरान कठोर रुख बनाये रखा। जनजातियों के प्रति उनकी अभिवृत्ति ''पितापालक'' की तथा सुरक्षात्मक थी। परिस्थितियों की अनिवार्यता ने उन्हें अपने अभियन्ताओं तथा ठेकेदारों और सभी स्तर के नागरिक एवम् सैनिक अधिकारियों तथा उनके लिये

भोजन सामग्री आदि आपूर्तिकर्त्ता व्यापारियों तथा दुकानदारों को दुर्गम दूरदराज क्षेत्रों तथा सीमाओं में भेजने के लिए बाध्य किया। इस प्रकार जनजातीय समुदायों में आधुनिक अर्थव्यवस्था का सूत्रपात हुआ। यह अपने आप में इतना खतरनाक नहीं था किन्तु जिस बात ने जनजातियों को सर्वाधिक परेशान किया वह ग़ैर-अंग्रेज़ स्वार्थी लोगों की भूमि की भूख थी। अपनी स्थिति का लाभ उठाते हुए उन्होंने स्थानीय समुदायों की तथा उनके द्वारा प्रयोग की जाने वाली भूमि का अधिग्रहण प्रारम्भ कर दिया तथा अनुचित साधनों द्वारा नकद फसलों की शुरुआत कर दी। अन्ततः भूमि की इस भूख ने न केवल आदिवासियों की कृषि को प्रभावित किया अपितु उनके आखेट और मछली पालन के अधिकारों को भी प्रभावित किया (निहार रंजन रे, वही)। फिर भी अंग्रेज़ों की जनजातीय क्षेत्रों को पूर्णरूपेण अथवा आंशिक रूप से पृथक रखने की नीति के कारण जनजातीय व ग़ैर-जनजातीय लोगों में आपसी तनाव एक पैमाने तक सीमित रहा जिसने जनजातियों तथा अन्य लोगों में आर्थिक स्पर्धा को न्यूनतम बनाये रखा। परोक्ष रूप से इसने जनजातियों को अपेक्षाकृत बिना किसी व्यवधान के अपनी विशिष्ट जीवनशैली को जारी रखने में सहायता की। यद्यपि विभिन्न ईसाई मिशनरियों को इन क्षेत्रों में जाने की छूट दी गई तथापि उनका प्रभाव उत्तर-पूर्वी क्षेत्र तथा मध्य भारत के कुछ क्षेत्रों तक ही सीमित रहा। श्यामा चरण दुबे ने इस स्थिति को यथार्थ रूप में यह कह कर कि "सांस्कृतिक परिवर्तन तो आया है किन्तु अंशों में" निर्दिष्ट किया है। गतिशील एवम् उद्देश्यपूर्ण सामाजिक क्रिया के समर्थन के अभाव के फलस्वरूप इस नीति ने आदिमपन को लम्बे समय तक बनाये रखा। इस प्रकार जनजातियों को उन वस्तुओं का पूर्ण उपभोग करने अथवा उनका दर्शन प्राप्त करने से भी प्रतिबन्धित किया गया जो जीवन स्तर को उठाने तथा भौतिक सुख व कल्याण की वृद्धि में सहायक होती हैं। उन्हें; भारतीय जीवन की मुख्यधारा से अलग रखना अपनी परंपराओं को सुरक्षित रखने में सहायक तो सिद्ध हुआ, किन्तु इसके साथ ही इसने उनमें विस्तृत समाज में बढ़ती हुई स्पर्धा का सामना करने की क्षमता की वृद्धि और समकालीन संसार की कुछ चुनौतियों का सामना करने में अवरोध उत्पन्न किया। वे आधुनिक आर्थिक प्रणाली के साथ समायोजन नहीं कर सके तथा भूमि के लोभी किसानों तथा रक्त चूसने वाले महाजनों के हाथों शोषण के दुष्चक्र में फँस गए। तीव्र गति से बढ़ने वाले हस्तक्षेप एवं शोषण के फलस्वरूप उनमें आपसी झगड़े तथा खूनी विद्रोह हुए जो परिवर्तित रूपों में आज तक चले आ रहे हैं (असंतोष एवं विद्रोह संबंधी अध्याय में वर्णित)।

पूर्ववर्त्ती नृजातिशास्त्रियों के योगदान के संबंध में एक दो शब्द कहे बिना यह विवरण अपूर्ण रहेगा क्योंकि इन क्षेत्रों का प्रशासन करने वाले ब्रिटिश शासक अथवा

इस दृष्टि से कोई भी शासक इन जनजातीय समुदायों के संबंध में विस्तृत एवं वस्तुनिष्ठ ज्ञान एकत्र किए बिना काम नहीं चला सकता। उनके सामाजिक एवम् धार्मिक जीवन, राजनीतिक एवम् आर्थिक संगठनों तथा उनके व्यवहार प्रतिमानों तथा इस प्रकार की अन्य बातों को जानना आवश्यक था। इस प्रकार डाल्टन, रिज़्ले, थर्स्टन, एन्थोवेन, क्रुक, रसेल व अन्य विद्वानों द्वारा अध्ययनों की शृंखला का प्रारम्भ किया गया जिसने उस नींव का रास्ता बनाया जिस पर बनी सुन्दर व मजबूत इमारत को आज हम भारतीय मानवशास्त्र कहते हैं। उपरोक्त वर्णित सभी नृजातिशास्त्री (एथनोग्राफर) प्रशासक थे तथा उनके अन्वेषणों में इन समूहों के जीवन एवम् समाज का गहन अध्ययन किया गया था जिसने अंततः इन जनजातीय समुदायों के प्रशासन का मार्गदर्शन करने संबंधी नीतियों के निर्धारण में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई।

अनेक विद्रोहों, सामाजिक आन्दोलनों तथा स्वतंत्रता संग्राम में सम्मिलित होने के बावजूद, नियंत्रित पैमाने पर ही सही, जनजातीय लोग सामान्य भारतीय जनमानस की चेतना की परिधि तक ही सीमित रहे। यहाँ तक कि उन्नीसवीं शताब्दी के अंतिम व बीसवीं शताब्दी के प्रारंभ में सामाजिक एवं राजनीतिक चिंतकों तथा नेताओं द्वारा कदाचित थोड़ा भी ध्यान उन पर नहीं दिया गया। इस प्रकार हम देखते हैं कि सुरेन्द्र नाथ बनर्जी, अरविन्द घोष, विपिन चन्द्र पाल, माधव गोविन्द रानाडे, गोपाल कृष्ण गोखले, बाल गंगाधार तिलक तथा हमारे अन्य अनेक चिंतक तथा नेतागण अपने जनजातीय साथी देशवासियों के प्रति न तो बहुत जागरूक रहे और न ही उनसे कोई विशेष सरोकार रख सके। निहार रंजन रे (1972) ने विचार व्यक्त किया है कि भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस का ध्यान कभी भी इस बढ़ती हुई सामाजिक- राजनीतिक समस्या की ओर आकृष्ट नहीं हुआ, यद्यपि हिन्दू समाज के निम्न एवं सताये-दबाये हुए लोगों तथा अस्पृश्य लोगों की समस्याओं ने सन् 1885 से ही कांग्रेस का ध्यान आकृष्ट करना प्रारम्भ कर दिया था। जब तक गांधीजी अवतरित नहीं हुए, इस मामले को राष्ट्रीय प्रश्न के रूप में नहीं देखा गया। आदिवासियों तथा आदिम जातियों के प्रति उनकी चिंता ने हमारे राष्ट्रीय नेतृत्व को एक नयी जागृति प्रदान की। गाँधीजी के पश्चात् हमारे आधुनिक राष्ट्रीय नेताओं में जवाहरलाल नेहरू जनजातियों के बीच अत्यंत लोकप्रिय रूप में उभरे। वे अन्य परंपराओं में पले जनजातीय समुदायों पर हिन्दू जीवन पद्धति को आरोपित करने की निंदा करने में सर्वाधिक मुखर थे, किन्तु वे तथाकथित सुधारकों द्वारा जनजातीय लोगों को "सभ्य" बनाने के उनके चुने हुए कार्य से उन्हें रोक नहीं सके। तार्किक दृष्टि से जब मुसलमान, ईसाई तथा फारसी इत्यादि अपनी पारंपरिक जीवन पद्धति का अनुसरण करने के लिए स्वतंत्र हैं, तब जनजातीय समुदायों को भी अपनी सामाजिक प्रणाली का अनुसरण करने का

प्राकृतिक सामाजिक अधिकार होना चाहिए चाहे वे बहु-संख्यक समुदाय से कितना ही भिन्न क्यों न हों। जनजातीय लोगों को किसी एक नमूने की कार्बन प्रति में परिवर्तित करने का अधिकार किसी को नहीं है।

## III

भारत की स्वतंत्रता ने सम्पूर्ण दृश्य लेख को परिवर्तित कर दिया। स्वतंत्र भारत का संविधान विशेष प्रकार से जनजातीय लोगों के कल्याण तथा विकास के लिए प्रतिबद्ध है। जनजातीय लोग अपनी शताब्दियों पुरानी निद्रा से जाग चुके हैं। वेरियर एलविन के शब्दों में, ''सड़कें प्रत्येक स्थान पर उनका मार्ग बना रही हैं जो अब तक वास्तव में अनधिगम्य था। जैसे-जैसे शिक्षा का प्रसार हुआ तथा हो रहा है, वैसे-वैसे वे जनजातीय ग्रामों की सामाजिक तथा आर्थिक स्थिति में क्रान्ति उत्पन्न कर रही हैं तथा नई कुशलताओं को जन्म देने के साथ ही नई माँगों का सृजन कर रही हैं।'' सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण तथ्य जिसका हमें सामना करना है वह है प्रत्येक प्रकार के परिवर्तनों का प्रभाव जो भारत के पहाड़ी क्षेत्रों तथा वनों में एक छोर से दूसरे छोर तक फैल रहा है जिनमें लोगों तथा सरकार द्वारा और स्वयं जनजातियों द्वारा प्रारम्भ किए गए परिवर्तन शामिल हैं। आज जनजातीय लोगों को अपने इतिहास में अपूर्व विकासात्मक संकट का सामना करना पड़ रहा है।

भारत में वर्तमान जनजातीय स्थिति की सर्वाधिक धनात्मक विशेषता यह है कि जनजातीय जनसंख्या का एक बहुत बड़ा भाग अपनी समस्याओं का समाधान खोज़ने की आवश्यकता के प्रति जागरूकता की स्थिति में पहुँच चुका है तथा उसके प्रति अत्यंत क्रियाशील है, किन्तु उनकी यह माँग उचित है कि प्रगति और उन्नति उनके जीवन की विशिष्ट जीवनशैली व सामंजस्य को उपद्रवित न करें। वे अधिकतर अपनी निजी संस्थाओं द्वारा ही सहायता प्राप्त करना चाहते हैं। एक जनजातीय गृह तथा परिवार वह मूल आधार है जिस पर उसके कल्याण का भावी भवन निर्मित हो सकता है। ऐसी स्वतंत्रता, जो उन्हें इस बात का निर्णय करने का आजादी नहीं देती कि वह अपने भाग्य को किस प्रकार मोड़ेंगे, सरकारी कार्यक्रम जो उन्हें यह विकल्प नहीं देते कि वह अपने विकास को कैसे तथा किस उद्देश्य के लिए संगठित करेंगे, उनके लिए नितांत अर्थहीन है। भारतीय समकालीन जनजातीय स्थिति का एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न जिसका हम सामना कर रहे हैं, वह है राष्ट्रीय तथा जनजातीय हितों में सामंजस्य स्थापित करना। इस प्रकार का सामंजस्य सरलता से प्राप्त नहीं किया जा सकता। इस समस्या में अंतर्निहित प्रश्न अत्यधिक संवेदनशील क्षेत्रों का स्पर्श करते हैं तथा जरा-सा गलत निर्वाह हिंसात्मक प्रतिक्रिया का आह्वान कर सकता है। श्यामा चरण

दुबे ने यह कहते हुए एक यथार्थवादी दृष्टिकोण प्रस्तुत किया है कि जनजातियों को भारतीय समाज में अपने सम्मान के अनुरूप अपने लिये एक स्थान की खोज करनी होगी, किन्तु यह एक राष्ट्र के रूप में भारत की एकता अथवा शक्ति को किसी प्रकार की क्षति पहुँचाये बिना करना होगा। जनजातियों को एक विकासशील समाज की बढ़ती हुई स्पर्धा का सामना करने योग्य बनाना होगा तथा अनिश्चित भविष्य की चुनौतियों का मुकाबला करने के लिए उनके सामर्थ्य को विकसित करना होगा।

हम एक नये युग की दहलीज़ पर खड़े हैं। भारतीय समाज के अन्य सदस्यों के साथ जनजातीय लोगों ने भी इस युग में प्रवेश किया है किन्तु वे किसी को अपने जीवन की समन्वयता भंग करने की अनुमति देने के लिए तैयार नहीं हैं। वे नियोजकों, प्रशासकों तथा सामान्य जनमानस की ओर से अपने जीवन, लोकरीतियों तथा समस्याओं के प्रति बेहतर संवेदनशीलता व सराहना की अपेक्षा करते हैं।

# एक

# भारत में जनजातियाँ

# 1

# उद्भव एवम् ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य

भारत को प्रजातियों एवं जनजातियों के मेल्टिंग पॉट (melting pot) के रूप में वर्णित किया जाता रहा है। समस्या की गम्भीरता व जटिलता को ध्यान में रखते हुए प्रागैतिहासिक विशेषज्ञ तथा मानवशास्त्री के लिये भारत के लोगों तथा संस्कृतियों को उनके इस उपमहाद्वीप पर प्रकट होने के कालानुक्रमिक अनुक्रम में सजाना वास्तव में एक अत्यधिक कठिन समस्या है। फुक्स (1973) का यह कथन उचित ही है कि आर्यों के आक्रमण तक का इतिहास भी अस्पष्टता व दुर्बोधता से आच्छादित है।

यद्यपि प्रागैतिहासिक मानव के प्रस्तर उपकरण निम्न पुरा पाषाण युग तक विभिन्न स्थलों पर उपलब्ध हुए हैं, किन्तु इन पूर्ववर्ती कालों के कंकाल अब तक प्राप्त नहीं हुए हैं और बाद के कालों से प्राप्त मानव जीवाश्म प्रागैतिहासिक काल में भारत के प्रजातीय इतिहास के विषय में हमें किसी निश्चित निष्कर्ष निकालने योग्य बनाने के लिए अत्यन्त कम तथा अनुल्लेखनीय हैं। 'नर्मदा मानव' के कंकाल हमारे ज्ञान में थोड़ी बढ़ोतरी अवश्य करते हैं किन्तु अब यह एक स्थापित सत्य है कि भारत के आदिवासी समूह अधिकांश मामलों में उत्तर प्रागैतिहासिक समूहों के उत्तरजीवी अवशिष्ट हैं। कुछ जनजातियों का प्रतिकूल परिस्थितियों के कारण उच्चतर प्रौद्योगिक स्तर से ह्रासित होना भी संभव है।

अब यह बिल्कुल स्पष्ट है कि भारतीय उपमहाद्वीप के आदिवासी एक ही प्रजाति के नहीं हैं। भारत में एशिया की विभिन्न दिशाओं तथा विभिन्न क्षेत्रों से प्रवेश करने वाले ये लोग विभिन्न प्रजातियों के हैं। अभी तक भारत की आदिम जनजातियों को निश्चित प्रजातीय समूहों में व्यवस्थित करना सम्भव नहीं हो सका है। रिज़्ले, गुहा तथा मजूमदार आदि के द्वारा भारत में प्रजाति वर्गीकरण का प्रयास किए गए थे, किन्तु अब तक वे पूर्णतः विश्वासप्रद सिद्ध नहीं हुए हैं। इसलिये भारतीय आदिवासी जनसंख्या को एक निश्चित परिप्रेक्ष्य में प्रस्तुत किये जा सकने के लिए और अधिक मानवशास्त्रीय शोध आवश्यक है।

यद्यपि पर्याप्त पुरातात्विक तथा जीवाश्मिक आँकड़ों के अभाव में भारत के अनेक

आदिवासी समूहों के उद्भव तथा अनुवर्ती इतिहास के विषय में हमारा ज्ञान अस्पष्ट है, फिर भी जहाँ तक ऐतिहासिक काल का संबंध है उनके गौरव तथा "पतन" की कहानी को प्रस्तुत किया जा सकता है। ऐतिहासिक आँकड़े अवश्य ही इनके जीवन पर कुछ प्रकाश डालते हैं और हम समस्या की अटकली योजनाओं में लटके रहने के बजाय विश्वसनीय सूत्रों पर भरोसा कर सकते हैं। यह केवल लिपि के अन्वेषण तथा लिखित अभिलेखों के प्रारंभ होने से सम्भव हो सका है।

भारत में सबसे पहले के ज्ञात आदिवासी समूहों की भूमिका को निश्चित करने के लिए हमें सर्वप्रथम पृष्ठभूमि के रूप में सिन्धु घाटी की सभ्यता के पतन तथा भारत भूमि पर आर्यों के आगमन का संक्षिप्त पुनर्निरीक्षण करना होगा। भारतभूमि पर सिन्धु घाटी की सभ्यता सम्भवतः एक प्रामाणिक क्रमिक उद्विकास की देन है किन्तु आप्रवासी विदेशियों द्वारा भारत में स्थापित उपनिवेश का अध्ययन एक महत्त्वपूर्ण तथ्य हो सकता है। इस सभ्यता का "अचानक" उद्भव तथा लगभग विस्फोटक विकास (चढ़ाव) तथा उसकी स्वतः स्फूर्त विवृद्धि के अनेक कारण हो सकते हैं। इनमें से एक कारण सिन्धु घाटी की अनुकूल परिस्थितियाँ हो सकती हैं। भूमि की अत्यन्त उर्वरा शक्ति के कारण जनसंख्या में तेजी से वृद्धि हुई। हो सकता है कि प्रारम्भ में, सिन्धु घाटी की सभ्यता की जनसंख्या एक ही प्रजाति की रही हो, परन्तु वह वैसी बनी नहीं रह सकी क्योंकि श्मशान स्थलों से प्राप्त कंकाल एक मिश्रित प्रजातीय विन्यास प्रस्तुत करते हैं। उसके पतन तथा विलुप्त होने के कारणों को अभी भी निश्चित रूप से नहीं बताया जा सकता। एक कारण सिन्धु नदी की धारा का विपत्तिकारक परिवर्तन हो सकता है जिसके फलस्वरूप घर विनाशकारी बाढ़ की चपेट में आ गये और खेतों में नदी की मिट्टी भर गई। चूँकि कालानुक्रम संशोधित किया जा चुका है तथा इस सभ्यता का अन्त लगभग 1750 ईसा पूर्व निश्चित किया गया है इसलिए उस प्राचीन परिकल्पना को पुनःजीवित किया गया है कि आक्रमणकारी आर्यों (ऋग्वैदिककालीन आर्यों के पूर्वगामी) ने हड़प्पा सभ्यता के केन्द्र को नष्ट कर दिया हो तथा उसकी जनसंख्या को मार डाला अथवा खदेड़ दिया हो। मोहनजोदड़ो में एक भवन की सीढ़ियों पर बिना दफनाये गए कंकालों की प्राप्ति से इस कल्पना को समर्थन प्राप्त होता है।

जो प्रजातीय आप्रवास प्रागैतिहासिक कालों के अन्तिम चरण में हुआ तथा जो भारत की संस्कृति तथा इतिहास के स्वरूप के निर्धारण का सर्वाधिक गंभीर कारण बना वह ईसा पूर्व द्वितीय सहस्राब्दी के लगभग आर्यों का था। भारत की सीमा पर आर्य सर्वप्रथम कब प्रकट हुये यह अभी भी ज्ञात नहीं है। आर्यों के प्रारम्भिक आप्रवासन तथा विजय का प्रागैतिहासिक प्रमाण अत्यंत सूक्ष्म है तथा कुछ महत्त्वपूर्ण

प्रश्नों के विश्वसनीय उत्तरों की अभी भी मांग है। क्या विजित लोग सिन्धु घाटी की सभ्यता के लोग थे, क्या वे द्रविड़ भाषा बोलते थे, इत्यादि प्रश्न इस सन्दर्भ में उठते हैं।

ऋग्वेद काल 2000 से 1000 वर्ष ईसा पूर्व असामान्य वन्य आर्य प्रजातियों के देश के उत्तरपश्चिमी क्षेत्रों में प्रवेश का साक्षी था जिसमें वे न केवल परस्पंर लड़ रहे थे अपितु अनार्य जनजातियों के विरुद्ध मृत्युपर्यन्त युद्ध छेड़ रहे थे। वज्र धारण किए हुए वज्राघात करने वाले इन्द्र का दासों के दुर्गों को नष्ट करने, दस्युओं पर शर प्रहार करने का उल्लेख मिलता है। आर्यों की शक्ति तथा गौरव की वृद्धि हेतु उनका आह्वान किया गया। वह दस्युओं व सम्युओं का वध करते हैं। सरस्वती परुष्नी नदी के किनारे बसने वाली एक शत्रुतापूर्ण जनजाति पर्वता को मार डालते हैं। विष्णु वृषहनु दस्युओं को युद्ध में पराजित करते हैं तथा इन्द्र के साथ मिलकर सम्वराओं के दुर्गों को नष्ट कर देते हैं। असुरों (जिन्होंने आर्यों के एक ऋषि दभिति के नगर पर अधिकार कर लिया था) को इन्द्र द्वारा पराजित कर दिया गया तथा वे अपने लूट के माल से वंचित कर दिये गए। कुँवर सुरेश सिंह (1964) ने टिप्पणी की है कि भारतीय जनजातियाँ सभ्यता की अनुवर्ती होकर निष्क्रिय नहीं बनी रहीं बल्कि उन्होंने इतिहास की "स्थिरता तथा गतिशीलता के प्रति प्रतिक्रियाएँ भी व्यक्त कीं।" उनकी भूमिका प्राचीन ग्रन्थों में आये सौरसों, किन्नरों तथा किरातों जैसे सन्दर्भों तक ही सीमित नहीं है। यह उपमहाद्वीप में प्रजातियों तथा संस्कृतियों के संयोजन की प्रक्रिया, हिन्दू धर्म की विवृद्धि तथा उसकी दंतकथाओं तथा मिथकों, जादू तथा धर्म, परंपराओं तथा प्रथाओं के रवा हीन (अक्रिस्टलीय) पुंज का अंग है। भारतीय जीवन में जनजातीय अन्तर्वस्तु की तुलना समुद्र में एक बर्फ के टुकड़े से भी की जा सकती है तथा इनकी पहचान आर्यों तथा द्रविड़ों के समान की जा सकती है। सजातीय व सांस्कृतिक दृष्टि से जनजातीय जन समूहों का प्रादुर्भाव तथा उसका प्रबल समाज में अन्तर्लयन एक ऐसी प्रक्रिया है जो आज तक चल रही है। इस कहानी के सूत्र को प्राचीन साहित्यिक ग्रन्थों, पुरातात्विक एवं पुरालेखीय साक्ष्यों, मध्यकालीन कार्यों, ब्रिटिश अभिलेखों एवं प्रलेखों के बीच से बड़ी सावधानीपूर्वक चुनना पड़ेगा।

आर्यों तथा अनार्यों के संविलयन की प्रक्रिया चलती रहीं। उत्तर वैदिक काल 1000 से 600 वर्ष ईसा पूर्व हिन्दूवाद के उद्भव, जनजातियों के आर्यीकरण तथा आर्यों के जनजातीयकरण की दोहरी प्रक्रियाओं के चलते रहने से लक्षणान्वित हैं। दो महाकाव्यों--रामायण तथा महाभारत--जिनका ऐतिहासिक महत्त्व कुछ भी हो, में जनजातियों, जैसे--शूद्र, अभीर, द्रविड़, पुलिन्द, शवरा अथवा सौर का सन्दर्भ आता है। इनमें से एक सर्वाधिक सुपरिचित है और सम्भवतः वह एकमात्र जनजाति है जो

आज भी विद्यमान है तथा जिसके सबसे प्रारंभिक सन्दर्भ "ऐतरेय ब्राह्मण" में खोजे जा सकते हैं, वह है शबरी जिसने राम को फल भेंट किये थे। वेरियर एलविन के शब्दों में "शबरी ऐसे योगदानों का प्रतीक बन चुकी है कि जनजातियाँ भारत के जीवन का निर्माण कर सकती हैं और करेंगी।" उस समय ज्ञात जनजातियों में से अधिकांश के महाभारत तथा असंख्य घटनाओं में सम्मिलित होने का दावा किया गया है। एकलव्य नामक एक भील जिसने द्रोणाचार्य को अपना अँगूठा अर्पित कर दिया था, दंत कथाओं में एक आदर्श शिष्य के रूप में वर्णित किया गया है। मुंडाओं तथा नागाओं ने कौरवों की ओर से पाण्डवों के विरुद्ध लड़ने का दावा किया है। भीम का पुत्र घटोत्कच, जिसने युद्ध में असाधारण वीरता का प्रदर्शन किया था, का जन्म भीम की जनजातीय पत्नी से हुआ था। अर्जुन ने एक नागा राजकुमारी चित्रांगदा से विवाह किया था।

प्रारंभिक ऐतिहासिक काल की मुख्य भारतीय धारा में उल्लेखनीय योगदान एवं भागीदारी की दृष्टि से नागाओं का व्यापक अध्ययन महत्त्वपूर्ण है। ऐतिहासिक अथवा मिथक नागाओं का हिन्दू समाज में इतनी पूर्णता के साथ संविलयन हो गया है कि आज उनका चिह्न भी शेष नहीं रह गया है। उल्लेखनीय है कि नागालैण्ड के नागाओं को उनके प्रसिद्ध नामधारियों से कोई संबंध नहीं हैं। नागाओं के प्रभाव को नागपंचमी मनाये जाने, विष्णुमत पर नाग सम्प्रदाय (पंथ) के प्रभाव (विष्णु की शेष शैय्या) तथा शैववाद, महाबलीपुरम् तथा राजगृह की मूर्तिकला में एवं तक्षशिला, अनन्तनाग, नालन्दा, नागपुर तथा छोटानागपुर जैसे स्थानों पर नागा रूपांकन से जाना जा सकता है। महाभारत एक प्रकार से एक नाग-कथा है। बुद्ध ने कुछ नागाओं का धर्मान्तरण किया था। नागपंथ कश्मीर घाटी में तथा नागशक्ति मध्य भारत में द्वितीय शताब्दी तक जीवित रही। नागदत्त, नागसेन, नागदेव आदि नाग उपासना वाले बहुत से नाम उनके प्रभाव को और भी प्रमाणित करते हैं।

ऐतिहासिक काल के प्रारम्भिक चरण में आक्रमणकारियों तथा मूल साम्राज्य शक्तियों द्वारा छोटी जनजातीय टुकड़ियों को पराधीन बनाया गया। अजातशत्रु ने वैशाली जनजातीय गणतन्त्र को नष्ट कर दिया। सिकन्दर ने उत्तर-पश्चिमी सीमा पर जनजातियों का सफाया कर दिया। अर्थशास्त्र में अतविक का सन्दर्भ आता है जिसे शक्तिशाली विरोधी माना जाता है। अशोक ने उत्तरी पश्चिमी जनजातियों को धमकी दी थी कि यदि उन्होंने विद्रोह किया तो उसके घातक परिणाम होंगे, जबकि उसने अपने राज्य की वन्य जातियों को अपनी शरण देने का आश्वासन दिया।

शर्मा (1961) इस काल की सामाजिक संरचना के बारे में विस्तार से वर्णन करते हैं। उनका कथन है कि धम्म सूत्र (600 से 300 वर्ष ईसा पूर्व) तथा मनुस्मृति (200

ईसा पूर्व से 200 ईसवी वर्ष तक) संविलयन व आत्मसात करने की प्रक्रिया को चलाते रहे। मिश्रित जातियों की संकल्पना इस प्रवृत्ति की व्याख्या करने की केवल एक ब्राह्मणवादी काल्पनिक व सुविधाजनक विधि है। ये तथाकथित मिश्रित जातियाँ एक जाति के पुरुष तथा दूसरी जाति की स्त्री से उत्पन्न संतानें थीं। इनमें से कुछ सम्भवतः ब्राह्मणीकृत जनजातियाँ जिन्हें मिश्रित जातियाँ नामपत्रित किया गया, निषाद थीं जिन्होंने इस काल में अपनी प्रारम्भिक स्थिति खो दी। ये आखेट करके अपना जीवनयापन करने लगे। मेदा, आन्ध्रा, मद्‌गा, चेंचू लोग वन्य पशुओं का शिकार करते थे, कसाहलस, उर्गा, पुक्कास जो पशुओं तथा पक्षियों को पकड़ते थे, अयोगवा वनों में काम करते थे, वेरा नगाड़ा बजाते थे तथा सरेंधा नौकरों तथा कुशल प्रसाधकों के रूप में कार्य करते थे। चाण्डालों की जो एक और जनजाति थी उसका हिन्दू समाज में संविलयन हो गया, तथा उन्हें पशुओं एवं मनुष्यों के शवों को हटाने, अपराधियों के अंगों को काटने और उन्हें कोड़े लगाने का कार्य सौंपा गया। इस प्रकार जनजातियों को हीन बनाने की प्रक्रिया चलती रही।

जनजातियाँ पृथक् एवं एकांगी जीवन व्यतीत नहीं कर रहीं थीं, यह बात इस तथ्य से प्रकट है कि इनमें से अनेक उप-पौराणिक एवं महाकाव्य-काल की परंपराओं के मिथकों तथा लोकवार्ताओं में सम्मिलित हैं। राम, सीता, लक्ष्मण, रावण तथा भीम आदि द्वारा संचित मिथकों तथा कथाओं से प्रमाणित हैं। गोंड अपने को रावण की सन्तान कहते हैं। मनु एक अन्य पौराणिक व्यक्ति हैं जिन्होंने जनजातियों को गहनता से प्रभावित किया। इसलिए मुंडा जनजाति के लोग उन्हीं के नाम पर स्वयं को "मनोआको" पुकारते हैं।

प्राचीन संस्कृत साहित्य उनके वर्णनों से परिपूर्ण है। पंचतंत्र तथा कथासरित्सागर में उनका रूमानी एवं मैत्रीपूर्ण परिप्रेक्ष्य में वर्णन प्रस्तुत किया गया है। विष्णु पुराण में उन्हें चपटी नासिका वाले वौनों के रूप में वर्णित किया गया है। कादम्बरी तथा हर्षचरित में बाण ने सओरा प्रमुख का विस्तृत वर्णन किया है।

सामन्त काल (400-1000 ईस्वी) में जनजातीय क्षेत्रों को अपेक्षाकृत अधिक खुलापन प्राप्त हुआ तथा जनजातीय मुखियों का हिन्दुत्वीकरण हुआ। ब्राह्मण पुजारियों ने उनके लिए उपयुक्त पौराणिक वंशावली तैयार की तथा सत्ताधारी ब्राह्मण वर्ग ने जनजातियों के संस्कृतीकरण तथा ब्राह्मणीकरण की प्रक्रिया को आगे बढ़ाया। इसके पश्चात् 11वीं तथा 12वीं शताब्दियों में मुसलमान राजाओं के आक्रमण के कारण उनकी अधीनता न स्वीकार करनेवाले राजपूतों का जनजातीय क्षेत्रों में प्रवेश प्रारम्भ हुआ जिसके फलस्वरूप बहुत सी जनजातीय टुकड़ियाँ नष्ट हो गईं।

इस प्रकार परमार राजपूतों ने शाहाबाद से चेरों को निष्कासित कर दिया तथा

बिहार के दक्षिण में मुंगेर जनपद में भूमिया जनजातियों का स्थान चन्देलों ने ले लिया।

मुस्लिम शासनकाल (12वीं से 18वीं शताब्दी) में एक नए दृष्टिकोण के दर्शन होते हैं। तुर्क, अफगानी तथा मुगल शासकों ने अधिकांश जनजातीय मुखियों अथवा मध्यभारत तथा बिहार के जनजातीय क्षेत्रों में हिन्दू शासकों की मात्र औपचारिक निष्ठा की माँग की। सन् 1585 तथा 1616 ईस्वी में मुसलमान सेनाओं ने छोटानागपुर में प्रवेश किया तथा खुकरा के राजा को अधीन कर लिया। इस प्रकार असम के जनजातीय क्षेत्रों को एक अन्य मुसलमान सेनानायक ने अपने अधीन कर लिया। सन् 1661 ई. के आसपास दाऊदखाँ ने पलामू के चेरों को अधीन कर लिया। इस काल में उत्तर-पश्चिमी सीमा क्षेत्र में कुछ जनजातियों का इस्लाम धर्म में धर्मान्तरण हुआ। पीर सैयद शाह कमाल ने नटों के मध्य तथा पीर सैयद मुहम्मद ने कोलों के बीच कार्य किया। ऐसे कुछ मुसलमान संत हैं जिन्होंने जनजातीय क्षेत्रों की सीमा पर कार्य किया तथा अपने धर्म का प्रचार किया।

भक्ति आन्दोलन जैसे हिन्दू धर्म की कतिपय धाराओं ने भी मुंडा तथा ओराँव जैसी जनजातियों को प्रभावित किया। चैतन्य महाप्रभु झारखण्ड से गुजरे और मुंडा क्षेत्र में कार्य करते हुए बिनन्ददास जैसे वैष्णव प्रचारकों ने बहुत सी जनजातियों का धर्मान्तरण किया। "भुइयां लोगों का पूर्णरूपेण हिन्दूकरण हो गया तथा उन्होंने अपनी सभी जनजातीय विशेषताओं को खो दिया।" जनजातियों में अनुवर्ती भक्ति आन्दोलन की जड़ों को वैष्णव प्रभाव में खोजा जा सकता है। असम में अहोमों के धर्मान्तरण से अधिक स्पष्ट उदाहरण और कोई नहीं है (कु.सुरेश सिंह, 1964)।

इसके पश्चात् अब अंग्रेज़ उपनिवेशवादी अपनी आधुनिक प्रौद्योगिकी, नवीन उपागम तथा निहित स्वार्थों के साथ प्रकट हुए। अंग्रेज़ी शासन के उद्भव का अर्थ जनजातीय क्षेत्रों, समुद्री किनारों तथा बिहार तथा बंगाल में उनका प्रवेश था। जनजातीय समूहों के बीच से ग्राण्ड ट्रंक रोड के निर्माण ने बाहर से व्यापारियों, साहूकारों तथा भूमि पर कब्जा करने वाले परदेसियों के प्रभाव में तेजी ला दी। इसके आगे बढ़ती हुई जनसंख्या के दबाव तथा जमीदारों द्वारा क्रूर शोषण तथा दमन ने किसानों तथा कारीगरों का अनधिगम्य जनजातीय क्षेत्रों में प्रवसन को सुविधाजनक बना दिया। ईसाई मिशनरियों को भी इसमें उनका हिस्सा मिल गया।

अठारहवीं शताब्दी में जनजातीय क्षेत्रों में जनजातीय व्यवस्था के भंग हो जाने की स्थिति में जनजातियों की चिरस्मरणीय सहनशक्ति तथा धैर्य का बाँध टूट गया। अठारहवीं शताब्दी के अन्त में पहाड़िया लोगों का विद्रोह, मुंडा विद्रोह (1789-1901), संथाली विप्लव (1855-56), भील विद्रोह (1879-80), बस्तर विद्रोह (1910-11)

तथा गोंड विद्रोह (1940) भारत की जनजातियों में नयी जागरूकता के कुछ उदाहरण हैं।

भारतीय जनजातियों की इस ऐतिहासिक यात्रा में एक दूसरा अत्यन्त उल्लेखनीय व ध्यान देने योग्य बिन्दु भारत के तीन बड़े धर्मों का स्थान है, जहाँ एक ओर हिन्दू तथा इस्लाम धर्म अधिकतर कगार पर ही रुक गए, अधिकांश मामलों में ईसाई सम्प्रदाय के लोग ब्रिटिश शासकों के संरक्षण में जनजातीय क्षेत्रों में बहुत अन्दर तक प्रवेश कर गए। यह आगे चलकर जनजातियों में अनेक आन्दोलनों जिनमें पुनः जीवन संचार (Revitalization) आन्दोलन भी शामिल हैं, का कारण बना। ऐसे आन्दोलनों में खोखर आन्दोलन (1871-80) सरदारी आन्दोलन (1881-95), बिरसा आन्दोलन (1895-1901), ताना भगत आन्दोलन (1920-35) तथा इसी प्रकार के अन्य बहुत से आन्दोलन शामिल किये जा सकते हैं। कृषि एवं सांस्कृतिक मामलों से संबंधित आन्दोलनों ने अनेक उच्च स्तरीय राजनीतिक धार्मिक नेताओं को उभारा जिन्होंने आने वाले कई दशकों तक जनजातीय चिन्तन को गहनता से प्रभावित किया।

ब्रिटिश उपनिवेशवादियों की विदाई तथा स्वतंत्र भारत के उदय के साथ देश के जनजातीय नागरिकों को उचित न्याय व व्यवहार देने का वादा किया गया। इस प्रकार इनको कुछ मामलों में प्रगति में भागीदारी का विशेष अवसर भी प्राप्त हुआ। जनजातियों की उन्नति हमारे संविधान निर्माताओं के विश्वास का प्रतीक था। क्या हम इस स्वप्न को प्राप्त कर सकें? अगले अध्याय में हम इस प्रश्न के उत्तर को प्राप्त करने के लिए बहुआयामीय परिप्रेक्ष्य में जनजातीय स्थिति की समीक्षा करेंगे।

# 2

# जनजाति की परिभाषा एवं संकल्पना संबंधी समस्यायें : भारतीय परिवेश

जनजाति क्या है? किसी मानव समूह को एक जनजाति मानने के लिए यथार्थ रूप में कौन-सी कसौटियाँ हैं? जनजातीय जीवन की क्या विलक्षणता है?

यह रोचक किन्तु दुःखद है कि मानवशास्त्री, समाजशास्त्री, सामाजिक कार्यकर्ता, प्रशासक तथा ऐसे ही अन्य लोग जो जनजातियों तथा उनकी समस्याओं से सैद्धान्तिक स्तर अथवा व्यावहारिक आधार पर जुड़े रहें हैं, विषयवस्तु की अपनी अवधारणा एवं परिभाषा के विषय में एकमत नहीं हैं। आर्थर विल्के (1979) समस्या को उचित परिप्रेक्ष्य में यह कहकर प्रस्तुत करते हैं कि वर्षों तक भारत में जनजातीय लोगों के आधिकारिक आलेख व चित्रण को संदिग्धता ने जकड़ रखा था। उदाहरणार्थ सन् 1917 से 1931 की जनगणना तक जनजातियों के नामकरण के सन्दर्भों में उत्तरोत्तर संशोधन होते रहे, जैसे आदिवासी अथवा "दलित वर्ग।" सन् 1941 की जनगणना तक इन विशिष्ट विशेषणों को त्याग दिया गया। स्वतंत्रता के पश्चात् "अनुसूचित जनजातियों" तथा "आदिवासी" (जैसा उन्हें सामान्यतः पुकारा जाता है) का अभिप्राय ग्रहण करने की प्रथा चलती रही। इस प्रकार का प्रमाणीकरण भी संदिग्धता को पूर्णतया समाप्त नहीं कर पाया।

निस्सन्देह समय बीतने के साथ "जनजाति" की अवधारणा तथा परिभाषा संबंधी मतभेद कुछ हद तक निश्चित रूप से कम हो गये, किन्तु इस समस्या को उचित परिप्रेक्ष्य में समझने के लिये सैद्धान्तिक विचार-विमर्श आवश्यक है।

वर्तमान अध्याय में विचार-विमर्श के आधारस्वरूप यहाँ जनजाति की कुछ परिभाषायें दी जा रही हैं :—

'जनजाति' समान नाम धारण करने वाले परिवारों का एक संकलन है, जो समान बोली बोलते हों, एक ही भूखण्ड पर अधिकार करने का दावा करते हों अथवा दखल रखते हों जो साधारणतया अन्तर्विवाही न हों यद्यपि मूल रूप में चाहे वैसे रह रहे हों।

*—इम्पीरियल गजेटियर ऑफ इण्डिया*

'जनजाति' विकास के आदिम अथवा बर्बर आचरण में लोगों का एक समूह है जो एक मुखिया की सत्ता स्वीकारते हों तथा साधारणतया अपना एक समान पूर्वज मानते हों।

*—आक्सफोर्ड शब्दकोष*

सरलतम रूप में 'जनजाति' ऐसी टोलियों का एक समूह है जिसका एक सान्निध्य वाले भूखण्ड अथवा भूखण्डों पर अधिकार हो और जो एकता की भावना, संस्कृति में गहन समानता, निरन्तर सम्पर्क तथा कतिपय सामुदायिक हितों में समानता से उत्पन्न हुई हो।

*—राल्फ लिंटन*

'जनजाति' समान संस्कृति वाली जनसंख्या का एक स्वतन्त्र राजनीतिक विभाजन है।

*—लूसी मेयर*

'जनजाति' समान नाम के अंतर्गत एकत्रित एक जनसमूह है जिसमें कि समूह के सदस्य इस बात पर गर्व महसूस करते हैं कि वे समान भाषी, समान भूखण्ड स्वामी हैं तथा जो लोग उनके नाम के अंशधर नहीं हैं वे बाहरी ही नहीं बल्कि शत्रु हैं।

*—जी. डब्ल्यू.बी. हाण्टिगफोर्ड*

'जनजांति' क्षेत्रीय संबंध युक्त तथा अंतःविवाही सामाजिक समूह है जिसके कार्यों में कोई विशेषज्ञता नहीं होती, जो जनजातीय अधिकारियों द्वारा शासित, वंशानुक्रम अथवा अन्य बोली से जुड़े हुये, अन्य जनजातियों अथवा जातियों से सामाजिक दूरी को मान्यता देने वाले, अपने प्रति किसी प्रकार की सामाजिक असमानताओं को नहीं जोड़ते (जैसा कि जाति संरचना में होता है), जो जनजातीय परंपराओं में विश्वास रखते हैं तथा प्रथाओं का पालन करते हैं, विदेशी स्रोतों के विचारों के प्राकृतिकीकरण में अनुदारता तथा सबसे अधिक सजातीयता और क्षेत्रीय अखण्डता में विश्वास करते हैं।

*—डी. एन. मजूमदार*

आदर्श रूप में, जनजातीय समाज आकार में छोटे, अपने सामाजिक, विधिक तथा राजनीतिक संबंधों की स्थानिक एवं कालिक परास (टेम्पोरल रेन्ज) में प्रतिबन्धित होते हैं तथा नैतिकता, धर्म तथा तदनुरूप आयामों की विश्व-दृष्टि रखते हैं। अभिलाक्षणिकता की दृष्टि से भी जनजातीय भाषायें अलिखित होती हैं, अस्तु संचार की सीमा, काल और दोनों ही दृष्टियों से अवश्यम्भावी रूप से संकीर्ण हैं। इसके बावजूद जनजातीय समाज आलेखों में मितव्ययिता प्रदर्शित करते हैं तथा अपने में एक ऐसी अभिसंकुचन एवं आत्मनिर्भरता रखते हैं जिसका आधुनिक समाज में अभाव है।

*—एल. एम. लेविस*

मजूमदार (1967) ठीक ही कहते हैं, कि जब कोई विभिन्न मानवशास्त्रियों द्वारा दी गई परिभाषाओं को देखता है तो उसका जनजाति के संघटक तत्वों संबंधी विचारों की

असमानता से प्रभावित न होना असम्भव है। नातेदारी व्यवस्था, समान भूखण्ड, समभाषा, संयुक्त स्वामित्व, एक राजनीतिक संगठन, आंतरिक संघर्ष की अनुपस्थिति आदि सभी का वर्णन एक जनजाति की मुख्य विशेषताओं के रूप में किया गया है। कुछ मानवशास्त्रियों ने न केवल कुछ उपरोक्त विशेषताओं को स्वीकार किया है अपितु उनमें से कुछ को एक जनजाति की विशेषताओं के रूप में स्वीकार करने का भी दृढ़ता से विरोध किया है। इस प्रकार रिवर्स ने एक समान भूखण्ड में निवास करने को जनजातीय संगठन के महत्त्वपूर्ण लक्षण के रूप में वर्णित नहीं किया है, यद्यपि पेरी जैसे अन्य विद्वानों ने यह कहकर इस पर जोर दिया है कि यहाँ तक कि यायावर (घुमक्कड़) जनजातियाँ भी एक निश्चित क्षेत्र में ही विचरण करती हैं। रैडक्लिफ ब्राउन ने अपने आस्ट्रेलियायी आँकड़ों से जनजाति की एक टुकड़ी के दूसरे से लड़ने का उदाहरण प्रस्तुत किया है। इस प्रकार के विद्वत् विचारों की विभिन्नता से कोई व्यक्ति केवल यह निष्कर्ष निकाल सकता है कि प्रत्येक मानवशास्त्री के जनजाति संबंधी विचार उस प्रकार के आँकड़ों से उत्पन्न होते हैं, जिनसे वह सर्वाधिक सुपरिचित होता है। इसलिये कोई व्यक्ति सार्वभौम विशेषताओं वाली एक सूची तैयार कर सकता है, जिनमें से कुछ, किसी भी स्थान की जनजाति को परिभाषित कर सकती हैं। इस प्रकार पूर्ववर्ती पृष्ठ पर दी गई अपनी परिभाषा की सार्वभौम प्रयोज्यता का दावा मजूमदार करते हैं।

जनजाति की परिभाषा करने में एक सबसे बड़ी बाधा कृषक वर्ग (Peasantry) से जनजाति का विभेद करने की समस्या है। आन्द्रे बेते (1973) का कहना है कि राजनीति तथा कृषक नामकरण का प्रयोग इस प्रकार के सामाजिक संगठन के लिए करना तथा एक दूसरे से वैषम्य करके चरित्रांकन करना निस्सन्देह सम्भव है। किन्तु जनजातीय समाजों के अध्ययन में मानवशास्त्रियों द्वारा निवेशित समस्त प्रयासों के बावजूद एक जनजातीय समाज को परिभाषित करने का वास्तव में कोई मार्ग नहीं है। भारतीय सन्दर्भ में इसका अर्थ यह होता है कि मानवशास्त्रियों ने कुछ अस्पष्ट प्रकार से एक से अन्य के वैषम्य का प्रयास किया है जो स्वयं भी उतना ही अस्पष्ट है। प्रारम्भिक मानवशास्त्रियों ने जनजातीय समाज की परिभाषा की ओर पर्याप्त ध्यान नहीं दिया बल्कि खामोशी से मान लिया कि आस्ट्रेलिया, मेलानेशिया व अफ्रीका में जो उनके द्वारा अध्ययन किए जा रहे हैं वह ही जनजातीय समाज के विविध रूप हैं। जनजाति को कुछ अस्पष्ट रूप से समान सरकार, समान बोली व समान संस्कृति रखने वाला कमोबेश समजातीय समाज मान लिया गया। यद्यपि प्रत्येक व्यक्ति आन्द्रे बेते की मान्यता से सहमत नहीं होगा क्योंकि उनका यह कथन इस समस्या का निकटता से दृढ़ अध्ययन करने वाले अनेक विचार समुदायों में से एक के रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है।

उपरोक्त परिचर्चा से यह प्रदर्शित होता है कि जनजाति अथवा जनजातीय समाज की निष्कर्षात्मक परिभाषा करना सहज नहीं है तथा इस संबंध में किसी प्रकार का मानकीकरण अत्यन्त कठिन है। इसलिये जनजाति की अवधारणा के क्षेत्रीय गुणार्थ को दृष्टि में रखते हुये अंतर्राष्ट्रीय अथवा विश्वव्यापी स्तर से हट जाना अधिक अच्छा होगा तथा अपनी समस्याओं के समाधान हेतु भारतीय परिप्रेक्ष्य के अन्तर्गत ही मानकीकरण प्रस्तुत करने की ओर ध्यान केन्द्रित करना ठीक होगा। ऐसा करना इस परिस्थिति में कदापि उचित लगता है क्योंकि विश्वव्यापी प्रयोज्यता वाली परिभाषायें या तो बहुत विस्तृत तथा पोली हैं अथवा अत्यन्त संकीर्ण तथा सीमित है। इस सन्दर्भ में आन्द्रे बेतें (वही) की टिप्पणी उचित है कि बेली सम्भवतः भारतीय क्षेत्र में कार्य करने वाला एकमात्र मानवशास्त्री है जिसने खण्डीय सिद्धान्तों के आधार पर जनजातियों का चरित्रांकन किया है किन्तु जिस वैषम्य में वह रुचि रखता था वह जनजाति तथा कृषक वर्ग के मध्य का वैषम्य नहीं वरन् "जनजाति" तथा "जाति" के बीच का वैषम्य है। इसके आगे बेली को छोड़कर अधिकांश भारतीय मानवशास्त्रियों ने जनजातीय समाज की एक-सी परिभाषा का सृजन करने की समस्या की ओर गम्भीर चिन्तन नहीं किया जो भारतीय सन्दर्भों में उपयुक्त होता।

अब हम इस समस्या का परीक्षण विशिष्ट रूप से भारतीय सन्दर्भों में करें। टी. वी. नायक (1960) ने जनजातीय जीवन की कसौटियों तथा सूचकांकों की बात विशिष्ट रूप से भारतीय सन्दर्भ में करके इस समस्या को सही परिप्रेक्ष्य में प्रस्तुत किया है। जनजातीय जीवन की क्या कसौटियाँ तथा सूचकांक होने चाहिये? वनों में रहना? सूरत के डुबला तथा बहुत से अन्य जनजातीय लोग वनों में नहीं रहते, वे उर्वरक मैदानों में रहते हैं, तथापि वे अनुसूची में सम्मिलित किये गए हैं। आदिम धर्म? किन्तु आप नहीं जानते हैं कि भारत में आदिम धर्म क्या है? क्योंकि यहाँ भारत के अधिकांश उन्नत समुदायों के धर्मों में अत्यंत गूढ़ दर्शन से लेकर जनजातीय देवताओं तथा अन्धविश्वास से परिपूर्ण विश्वासों में एक निरन्तरता पाई जाती है। इस सूचना के भ्रामक तथा यथातथ्य न होने के कारण पर्याप्त नहीं हैं। भौगोलिक निस्संगता व अलगाव के साथ सैकड़ों जनजातीय समूह पृथक् जीवन नहीं जी रहे हैं अनेक कृषक समूह समान आदिम (जनजातीय) आर्थिक प्रणाली द्वारा जीवनयापन कर रहे हैं। इस प्रकार नायक जनजाति के लिये स्वयं अपनी कसौटियाँ प्रस्तुत करते हैं। ये कसौटियाँ निम्नलिखित हैं :

(1) किसी जनजाति को जनजाति होने के लिए समुदाय के भीतर न्यूनतम प्रकार्यात्मक पारस्परिक निर्भरता होनी चाहिये। (हिन्दू जाति व्यवस्था परस्पर निर्भरता का एक उदाहरण है)

(2) उसे आर्थिक दृष्टि से पिछड़ा होना चाहिये जिसका अर्थ है कि
   (i) उसके सदस्यों को मुद्रा व सिक्कों वाले अर्थशास्त्र के सम्पूर्ण महत्त्व का ज्ञान नहीं होना चाहिए,
   (ii) प्राकृतिक साधनों के समउपायोजन के लिए आदिम साधनों का प्रयोग किया जाना चाहिए।
   (iii) जनजाति की अर्थव्यवस्था अल्प विकसित चरण पर होनी चाहिए।
   (iv) उसको अनेक प्रकार की आर्थिक क्रियाओं का अनुसरण करना चाहिए।

(3) उसकी अन्य लोगों से तुलनात्मक भौगोलिक पृथकता होनी चाहिए।

(4) सांस्कृतिक दृष्टि से एक जनजाति के सदस्यों की एक बोली होनी चाहिए जिसमें क्षेत्रीय विभिन्नता पाई जा सकती है।

(5) एक जनजाति को राजनीतिक दृष्टि से संगठित होना चाहिये तथा उसकी सामुदायिक पंचायत को एक प्रभावशाली संस्था होना चाहिये।

(6) जनजाति के सदस्यों में परिवर्तन की न्यूनतम अभिलाषा होनी चाहिए। उनमें एक प्रकार की मनोवैज्ञानिक रूढ़िवादिता होनी चाहिए जो उन्हें उनकी प्राचीन प्रथाओं से जोड़े रखे।

(7) एक जनजाति में परंपरागत नियम होने चाहिए तथा उसके सदस्यों को इन कानूनों के कारण न्यायालय में हानि उठानी पड़ सकती है।

नायक अपने दृष्टिकोण की और अधिक व्याख्या करते हुये कहते हैं कि किसी भी समुदाय के जनजाति होने के लिए इन सभी उपरोक्त गुणों का होना आवश्यक है। उसमें परसंस्कृतीकरण (acculturation) हो सकती है किन्तु परसंस्कृतिग्रहण के प्रभाव का निर्धारण उसकी रूढ़ियों, देवताओं, भाषा आदि के सन्दर्भ में होना चाहिए। बहुत अधिक मात्रा में उत्संस्करण स्वतः ही उसे एक जनजाति होने से वर्जित कर देगा।

एहरेनफेल्स (1952) यह कहकर कुछ पूर्वचर्चित बिन्दुओं की व्याख्या करते हैं कि :–

(1) एक समुदाय, चाहे वह कितना ही छोटा क्यों न हो, एक भौगोलिक क्षेत्र में अन्य समुदायों से पृथक् रह सकता है। यह एक जाति तथा एक जनजाति दोनों पर लागू होता है। एक "वास्तविक" जनजाति के सदस्य सामान्यतः पारंपरिक हिन्दू जाति के अधिक्रम में सम्मिलित नहीं किये जाते तथा बारम्बार एक समान बोली बोलते हैं, समान विश्वास रखते हैं, समान

व्यावसायिक तरीकों का पालन करते हैं तथा (सबसे महत्त्वपूर्ण) अपने को एक छोटे किन्तु अर्द्धराष्ट्रीय एकार्द्ध का सदस्य मानते हैं।

(2) मैं उपरोक्त परिभाषा से 'अधिक पिछड़ापन', 'आदिम साधन' व 'अल्प विकसित चरण' जैसे शब्दों को निकाल दूँगा तथा उनके स्थान पर 'आत्म निर्भर' (खासी, गोंड, भील, अगरिया तथा अन्य जो अंशतः आर्थिक दृष्टि से अपने गैर जनजातीय पड़ोसियों की अपेक्षाकृत अधिक विशेषीकृत हैं) शब्द रखूँगा। यद्यपि किसी जनजाति का प्रत्येक व्यक्ति अपने पारिवारिक समूह के लिए कार्य कर सकता है, और अन्य जनजातीय सदस्यों से प्रकार्यात्मक रूप से स्वतन्त्र रह सकता है, फिर भी यह देखना होगा कि किस सीमा तक प्रत्येक व्यक्ति समग्र रूप से अपनी जनजाति के साथ अपेक्षाकृत जनजातीय हिन्दुओं के जातीय वंशक्रम में सहभागीदार के रूप में एकात्मकता में रहता है।

(3) मैं भौगोलिक पृथकूता की परिभाषा से सहमत हूँ, यद्यपि प्रत्येक जनजाति लोगों की पृथक्कीकरण इकाई नहीं हैं। (उदाहरणार्थ—भील, संथाल, इरुला इत्यादि)। किन्तु यदि किसी जनजाति की अपनी अर्थ प्रणाली है तो इसकी एकात्मकता निस्संदेह अधिक स्थायी होगी।

(4) असम तथा मध्य क्षेत्रों में समान बोलियाँ अथवा भाषायें जनजातियों के लिये प्रारूपिक हैं किन्तु भारत के दक्षिणी तथा पश्चिमी राज्यों में नहीं। भाषा समुदाय इस बात पर अवश्य बल देते हैं किन्तु जनजातीय चेतना का निर्माण क़रने के लिये यह आवश्यक नहीं हैं। पूर्व-परसंस्कृतिग्रहण के दिनों में अधिकांश जनजातियों की मौलिक धार्मिक अवधारणायें उनके हिन्दू, बौद्ध, मुसलमान अथवा ईसाई पड़ोसियों से भिन्न थीं, किन्तु अब ऐसा नहीं है।

(5) एक जनजाति के लिए न तो सदैव राजनीतिक दृष्टि से संगठित होना आवश्यक है न ही सामुदायिक पंचायत का रखना। वह एक अकेला मुखिया रख भी सकती हैं और नहीं भी, अथवा कुछ बुजुर्गों जिनका समुदाय में कमोबेश प्रभाव व शक्ति हो, रख सकती है।

(6) मैं उपरोक्त प्रासंगिक अनुच्छेद को निकाल दूँगा तथा उसके स्थान पर यह कहूँगा कि "एक जनज़ाति के सदस्य एक समूह से संबंधित होने की भावना रखते हैं जिसका अस्तित्व मूल्यवान है।"

(7) लगभग सभी जनजातियों के पारंपरिक क़ानून एवं व्यवहार होते हैं जो कमोबेश अपने जनजातीय पड़ोसियों से भिन्न होते हैं। प्रायः उन्हें इस कारण

ही न्यायालयों तथा अंतर्जातीय लोगों के साथ सम्पर्क की स्थितियों में हानि उठानी पड़ती है।

*टाटा समाज विज्ञान संस्थान* ने भारतीय जनजातियों पर अपनी रिपोर्ट में उन्हें भी सम्मिलित कर लिया है जो इस समस्या के संबंध में मानवशास्त्रियों के दृष्टिकोण की आलोचना करते रहे हैं। इसका कहना है कि मानवशास्त्रीय कसौटियाँ आदर्श प्रारूपिक जनजातीय समुदायों पर लागू होती हैं जैसा कि मानवशास्त्रियों ने सैद्धान्तिक प्रयोजन के लिए इसकी कल्पना की है। परिणामस्वरूप हम देखते हैं कि अनुसूचित जनजाति श्रेणी में पायी जाने वाली बहुत-सी जनजातियाँ वास्तविक रूप में जनजाति नहीं कहलाई जा सकतीं। इसका तार्किक निहितार्थ यह है कि जो समुदाय उपरोक्त कसौटियों को सन्तुष्ट नहीं करते उन्हें "जनजाति" नहीं माना जाना चाहिये यद्यपि उन्हें अनुसूचित जनजातियों की सूची में सम्मिलित किया गया है। आर्थर विल्के इत्यादि (1979) का अन्य लोगों के समान मत है कि मानवशास्त्र के अध्ययन के बौद्धिक स्वरूप में यदि बहुत नहीं तो कुछ सीमा तक कठिनाई अंतर्निहित है। अयप्पन (1945) इस प्रकार के विवरणों से उत्तेजित होकर अपेक्षाकृत संशयात्मक रूप से टिप्पणी करते हैं तथा हमें विलियम टीट द्वारा दी गई जन्तुजाति (Species) की जानी-मानी परिभाषा की याद दिलाते हैं। इस परिभाषा को स्वीकार करते हुये उन्होंने (अयप्पन ने) कहा कि जनजाति एक ऐसा मानव समूह है जिसे एक समर्थ (अक्षय) मानवशास्त्री "जनजाति" माने। यदि प्रशासक एक स्पष्ट परिभाषा चाहता है जिसका वह आँख बन्द करके प्रयोग कर सके तथा उससे भली प्रकार काम चला सके तो हमें उसे बताना चाहिये कि वह हमारे पास नहीं है, ठीक उसी प्रकार जैसे एक जीव विज्ञानी ऐसी स्थिति में नहीं है कि वह जन्तु जातियों की सर्वप्रयोगार्थ स्पष्ट परिभाषा दे सके।

"जनजाति" की परिभाषा की समस्या पर इस प्रकार के आलंक..क एवं शैक्षिक अथवा शास्त्रीय वाद-विवाद के बावजूद इस कार्य में पर्याप्त मात्रा में मानकीकरण करने में सफलता प्राप्त हो चुकी है कि कौन-से लोग विशिष्ट सुरक्षा व सुविधायें पाने के अधिकारी हैं अथवा कौन से लोग नहीं। यह उन्हीं मानवशास्त्रियों के ठोस शैक्षिक प्रयासों से ही सम्भव हुआ है, जो चारों ओर से प्रताड़ित किये गये थे।

मजूमदार (1967) इस नये मूड की व्याख्या निम्नलिखित तथ्यों द्वारा करते हैं :

(1) जनजातीय भारत में "जनजाति" निश्चित रूप से एक क्षेत्रीय समूह है। एक जनजाति का पारंपरिक भूखण्ड होता है तथा उत्प्रवासी सदैव उसे अपना घर मानते हैं। असम के चाय बागानों में काम करने वाले संथाल, बिहार अथवा बंगाल के विशिष्ट क्षेत्रों को अपने घर के रूप में आज भी हवाला देते हैं।

(2) एक जनजाति के सभी सदस्य एक-दूसरे के नातेदार नहीं होते, किन्तु प्रत्येक भारतीय जनजाति के अन्तर्गत नातेदारी एक सुदृढ़, सहचारी, नियामक तथा एकीकरण सिद्धान्त के रूप में कार्य करती हैं। इसका परिणाम जनजातीय अन्तर्विवाह तथा एक जनजाति का गोत्रों एवं उपगोत्रों में विभाजन के रूप में सामने आया हैं। यह गोत्र नातेदारी समूह होने के कारण बहिर्विवाही होते हैं।

(3) एक भारतीय जनजाति के सदस्य एक समान भाषा बोलते हैं, स्वयं उनकी अपनी अथवा/अपने पड़ोसियों की। सामूहिक पैमाने पर अन्तर्जातीय संघर्ष भारतीय जनजातियों के लक्षण नहीं है। सम्पत्ति का संयुक्त स्वामित्व जहाँ भी है, उदाहरणार्थ हो लोगों में, अपवर्जित नहीं है। राजनीतिक दृष्टि से, भारतीय जनजातियाँ राज्य सरकारों के नियन्त्रण में हैं किन्तु एक जनजाति के भीतर एक ग्राम अथवा आसन्न ग्रामों की संघटक जनसंख्या की प्रजातीय तथा सांस्कृतिक विषमजातीयता के अनुरूप, अनेक पंचायतें हो सकती हैं।

भारतीय जनजातियों के अन्य बहुत से विशिष्ट लक्षण हैं। इस प्रकार उनके युवागृह, बालकों एवं बालिकाओं के संस्थागत शिक्षा की अनुपस्थिति, जन्म, विवाह तथा मृत्यु के संबंध में विशिष्ट प्रथायें, हिन्दुओं तथा मुसलमानों से भिन्न नैतिक संहिता, धार्मिक विश्वासों की विशिष्टतायें जनजातियों को निम्न जातीय हिन्दुओं से भी भिन्न करती हैं।

इस चर्चा को समाप्त करते हुए आर्थर विल्के (वही) का सन्दर्भ नितान्त उचित लगता है जिनका मत है कि नौकरशाही के निर्णय लेने की बाध्यता तथा प्रशासन के सर्वोच्च होने के कारण मानव समाज की रंगारंगी व विविधताओं की अनदेखा करने की प्रवृत्ति सदा मौजूद रही है। शासन की अपनी मजबूरियों जिसमें राजनीतिक कारक भी शामिल हैं तथा सम्पूर्ण जनजातीय भारत में घटने वाले सामाजिक, सांस्कृतिक परिवर्तनों ने "जनजाति" के किसी आदर्श प्रतिमान के अस्तित्व को असम्भव बना दिया है।

# 3

# भारत में जनजातियाँ : वर्गीकरण

कारकों की बहुलता तथा समस्या की जटिलता के कारण भारतीय जनजातियों का विभिन्न समूहों में वर्गीकरण करना बहुत सरल नहीं है। फिर भी अनुसूचित जातियों तथा अनुसूचित जनजातियों के आयुक्त ने इस कार्य को प्रारंभ किया तथा वर्गीकरण की कसौटियों को स्वीकार करने की सम्भावना की जाँच की। इस उद्देश्य को दृष्टि में रखकर राज्य सरकारों से उन विशेषताओं व लक्षणों का सुझाव देने का कहा गया जो उन्हें सर्वाधिक उपयुक्त प्रतीत होती हैं जिनके आधार पर तथाकथित "आदिम" समूहों तथा जनसंख्या में भेद किया जा सके।

असम सरकार ने मंगोल प्रजाति समूह, तिब्बत-बर्मा भाषायी समूह तथा ग्रामीण गोत्र प्रकार के सामाजिक संगठन को विशेष महत्त्व दिया। पूर्ववर्ती बम्बई सरकार ने वनीय क्षेत्रीय स्थानों में निवास को आधारभूत कसौटी माना जबकि मध्य प्रदेश सरकार के लिये जनजातीय मूल, जनजातीय भाषा का बोलना तथा वनीय क्षेत्रों में निवास महत्त्वपूर्ण कसौटियाँ थीं। इसी प्रकार मद्रास, उड़ीसा, मैसूर तथा ट्रावनकोर आदि सरकारों ने विविध भाषागत, भौगोलिक, आर्थिक तथा सामाजिक कारकों को संकेतक के रूप में मानने का सुझाव दिया।

उपरोक्त वर्णित विशेषताओं पर विचार करते हुये भारत की जनजातियों को निम्नलिखित आधारों पर वर्गीकृत किया जा सकता है :—

(अ) भूखण्डीय वितरण

(ब) व्यवसाय अथवा अर्थव्यवस्था

(स) सांस्कृतिक सम्पर्क

(द) धार्मिक विश्वास।

## भौगोलिक वर्गीकरण

भारत के भौतिक मानचित्र को देखते हुए तथा जनजातीय जनसंख्या के वितरण के अनुसार हम पाते हैं कि भूगोल तथा जनजातीय जनसांख्यिकी भी क्षेत्रीय

समूहीकरण तथा मण्डलीय वर्गीकरण की अनुमति देते हैं। बी. एस. गुहा ने भारतीय जनजातियों को तीन मण्डलों में वर्गीकृत किया है।

(1) उत्तर-पूर्वी तथा उत्तरी मण्डल

(2) केन्द्रीय अथवा मध्य मण्डल

(3) दक्षिणी मण्डल

## (1) उत्तरी तथा उत्तर पूर्वी मण्डल

इसमें हिमालय के नीचे का क्षेत्र तथा भारत की पूर्वी सीमाओं की पहाड़ी घाटियाँ सम्मिलित हैं। असम, मणिपुर तथा त्रिपुरा के जनजातीय लोगों को इस भौगोलिक मण्डल के पूर्वी भाग में सम्मिलित किया जा सकता है, जबकि उत्तरी भाग भारत में पूर्वी कश्मीर, पूर्वी पंजाब, हिमाचल प्रदेश तथा उत्तराखंड की जनजातियों को सम्मिलित किया जा सकता है।

असम तथा तिब्बत के मध्य रहने वाली कुछ महत्त्वपूर्ण जनजातियाँ उनका, डाफला, मिरी, गुरूंग, व अपातानी सुवनसिरी नदी के पश्चिम में बसती हैं। "मिश्मी" जनजाति देवांग तथा लोहित नदियों के बीच उच्च क्षेत्रों में बसती हैं। इसके पूर्व में खामती तथा सिंहको जनजातियाँ पाई जाति है। नागा पर्वतों के दक्षिण में मणिपुर, त्रिपुरा राज्य के मध्य होकर तथा चिरागम पहाड़ियों की शृंखला में कुकी, लुशाई, खासी तथा गारो (अब नवगठित मेघालय राज्य के निवासी) जनजातियाँ रहती हैं। सिक्किम के हिमालय के निचले क्षेत्र में तथा दार्जिलिंग के उत्तरी भाग में अनेक जनजातियाँ हैं, उनमें लेप्चा सबसे अधिक प्रसिद्ध है। उत्तराखंड, हिमालय क्षेत्र में थारु, भोक्सा, जौनसारी (खासा), मोटिया, राजी जैसी महत्त्वपूर्ण जनजातियाँ पाई जाती हैं।

सम्पूर्ण भौगोलिक मण्डल में सघन जनसंख्या नहीं पाई जाती है (यद्यपि यह क्षेत्र पर्याप्त बड़ा है)। भौगोलिक समानता के फलस्वरूप इस मण्डल की अधिकांश जनजातियाँ सोपान कृषि (टेरेस खेती) करती हैं जिसे स्थानीय भाषा में झूम खेती भी कहते हैं। ये जनजातियाँ अधिकांशतया अत्यन्त निर्धन व आर्थिक दृष्टि से पिछड़ी हुई हैं।

## (2) केन्द्रीय अथवा मध्य मण्डल

इस मण्डल के उत्तर में भारत—गंगा मैदान तथा मोटे तौर पर दक्षिण में कृष्णा नदी के मध्य पठारों तथा पहाड़ी पट्टी सम्मिलित हैं तथा यह उत्तरी-पूर्वी मण्डल से गारो पहाड़ियों तथा राजमहल पहाड़ियों के लुप्तांश द्वारा पृथक् हो जाती है। इस मण्डल में

हम मध्य प्रदेश की जनजातीय जनसंख्या का एक जबरदस्त जमाव पाते हैं जिसका विस्तार उत्तर-प्रदेश, मध्य भारत, दक्षिणी राजस्थान, उत्तरी महाराष्ट्र, बिहार तथा उड़ीसा तक हैं। उत्तरी राजस्थान, दक्षिणी महाराष्ट्र तथा बस्तर इस मण्डल की परिधि का निर्धारण करते हैं। इस मण्डल में बसने वाली महत्त्वपूर्ण जनजातियाँ सवारा, गदबा, गजम जनपद की वोरिडो, जवांग, खाड़िया, खोंड, भूमिजा तथा उड़ीसा की पहाड़ियों की भुइयाँ हैं। छोटानागपुर के पठार में मुंडा, संथाल, ओराँव, हो व बिरहोर जनजातियाँ बसती हैं। इसके और पश्चिम में विन्ध्य शृंखला के साथ कटकारी, कोल तथा भील जनजातियाँ रहती हैं। गोंड सबसे बड़े समूह की संरचना करते हैं तथा "गोंडवान प्रदेश" के नाम से पुकारे जाने वाले क्षेत्र में रहते हैं। सतपुड़ा के दोनों ओर तथा मैकाल पहाड़ियों के चारों ओर इसी प्रकार की जनजातियाँ पाई जाती हैं जैसे कोराकु, अगारिया, परधान तथा बैगा। बस्तर की पहाड़ियों के पहाड़ी मुड़िया तथा इन्द्रावती घाटी की गौर की सीमा वाली माड़िया जनजातियाँ। इस मण्डल की अधिकांश जनजातियाँ अस्थायी कृषि (शिफ्टिंग खेती) के द्वारा अपना जीवनयापन करती हैं, किन्तु ओराँव, संथाल, मुंडा तथा गोंड जनजातियों ने पड़ोसी ग्रामीण लोगों से सांस्कृतिक सम्पर्क के फलस्वरूप हल से कृषि करना सीख लिया है।

### (३) दक्षिणी मण्डल

इस मण्डल में दक्षिणी भारत का वह भाग आता है, जो कृष्णा नदी के दक्षिण में है तथा जो वाइनाड से केप केमोरिन तक फैला हुआ है। आन्ध्र प्रदेश, कर्नाटक, कुर्ग, ट्रावनकोर, कोचीन, तमिलनाडु आदि इस मण्डल में सम्मिलित हैं। इस मण्डल के उत्तर-पूर्व से प्रारम्भ करके चेंचू कृष्णा के उस पार नल्लाई मल्लाइ पहाड़ियों के क्षेत्र तथा पूर्ववर्ती हैदराबाद राज्य में बसे हैं। दक्षिण कनारा के लोरागा से पश्चिमी घाटों के साथ-साथ यरुवा और टोडा कूर्म पहाड़ियों के निचले ढलान पर रहते हैं। जबकि इरुला, पनियान तथा करुम्बा वाइनाड क्षेत्र में बसते हैं। भारतीय जनजातियों में सबसे आदिम जैसे—कडार, कानिक्कर, मालवादिन, मलाकुखन आदि कोचीन तथा ट्रावनकोर के घने जंगलों में बसते हैं। वे विश्व के आर्थिक दृष्टि से सबसे अधिक पिछड़े लोगों में सम्मिलित हैं किन्तु उपरोक्त कथन के कुछ अपवाद भी हैं जैसे टोडा, बदागा तथा कोटा जो नीलगिरि पहाड़ियों में रहते हैं। इस क्षेत्र के अधिकांश जनसमूह अपने भोजन संग्रह के लिये आखेट तथा मछली पकड़ने पर निर्भर रहते हैं।

यद्यपि गुहा ने अंदमान तथा निकोबार द्वीपों के निवासियों को इन मण्डलों में भी सम्मिलित नहीं किया है तथापि इन जनजातीय लोगों को, चतुर्थ मण्डल की संरचना करने वाला कहा जाता है। इस मण्डल में रहने वाली मुख्य जनजातियाँ—जरवा, ओंगे,

उत्तरी सेण्टीनलीज, अंदमानी, शॉम्पेन तथा निकोबारी हैं। यद्यपि ये भारतीय जनजातियों की मुख्यधारा से अलग हैं फिर भी दक्षिण भारतीय जनजातियों से सजातीय दृष्टि से अधिक निकट हैं।

## भाषायी वर्गीकरण

वर्तमान समय में भारत के लोगों को चार विभिन्न भाषायी परिवारों में विभाजित किया जा सकता है। इनके नाम हैं भारतीय-यूरोपीय (आर्य), द्रविड़, आस्ट्रिक (कोलोर मुंडा) तथा तिब्बत-चीनी (चीनी तिब्बती)। डी. एन. मजूमदार (1955) का मत है कि "जहाँ तक जनजातीय लोगों का संबंध हैं आर्य भाषा केवल सांस्कृतिक सम्पर्क के फलस्वरूप सामने आती है क्योंकि हमारे लगभग सभी जनजातीय लोगों का संबंध पूर्व आर्य अथवा अनार्य प्रजातियों तथा उद्‌भव से है।" अतः अधिकांश विद्वान् इस दृष्टि से सोचते हैं कि भारत के जनजातीय लोग मुख्यतः तीन भाषा परिवारों में वर्गीकृत किये जा सकते हैं—1. द्रविड़, 2. आस्ट्रिक, 3. तिब्बती-चीनी।

द्रविड़ भाषा परिवार के अन्तर्गत आने वाली भाषाओं को बोलने वाले जनजातीय लोग मध्य तथा दक्षिणी भारत में बसते हैं। द्रविड़ परिवार की सर्वाधिक विकसित भाषायें तमिल, तेलुगू, कन्नड़ तथा मलयालम हैं। गोंड द्रविड़ परिवार में बोली जाने वाली जनजातीय बोलियों में प्रमुख स्थान रखती है तथा यह गोंड जनजाति द्वारा, जो मध्य प्रदेश से आन्ध्र प्रदेश तक फैली है, विस्तार के साथ बोली जाती है। इसका कोई साहित्य नहीं है, किन्तु इसके बोलने वालों की संख्या शक्ति को ध्यान में रखते हुये इसे जनजातीय भाषाओं के क्षेत्र में एक महत्त्वपूर्ण स्थान प्रदान किया गया है। इस समूह की एक अन्य महत्त्वपूर्ण भाषा "कोई" है जो उड़ीसा के कोंध, छोटानागपुर की ओराँव तथा राजमहल पहाड़ियों की माल्टो द्वारा बोली जाती है। टोडा, पलिया, चेंचू, इरुला तथा कदार भी द्रविड़ परिवार में सम्मिलित किये जाते हैं।

आस्ट्रिक परिवार की बोलियाँ मुंडा भाषा परिवार के रूप में भी जानी जाती है। मैक्समूलर प्रथम विद्वान थे जिन्होंने इसे द्रविड़ भाषा परिवार से अलग किया तथा उन्होंने ही इस समूह को मुंडा बोली परिवार का नाम प्रदान किया। इस परिवार की बोलियाँ मुख्यतः छोटानागपुर क्षेत्र की जनजातियों द्वारा बोली जाती हैं किन्तु उनका प्रचलन, कुछ कम सीमा तक मध्यप्रदेश व छत्तीसगढ़, उड़ीसा, पश्चिम बंगाल, तमिलनाडु तथा बिहार व झारखंड से शिमला की पहाड़ियों तक फैलकर हिमालय के तराई क्षेत्रों में भी है। बंगाल, बिहार, झारखंड तथा उड़ीसा की संथाली बोली तथा बिहार व झारखंड क्षेत्र की मुंडारी, हो, खड़िया, भूमिज व कुछ अन्य बोलियाँ भी इस परिवार में सम्मिलित हैं।

तिब्बती-चीनी बोलियाँ मंगोल प्रजाति समूह की अधिकांश जनजातियों द्वारा बोली जाती हैं। यह परिवार दो शाखाओं में विभाजित किया जाता है—(1) हिमाचल-उत्तराखंड, तिब्बत-बर्मी, (2) सियामी-चीनी। असम, मेघालय तथा उत्तर-पूर्वी भारत के अन्य भागों की जनजातियाँ इस परिवार की एक न एक बोली बोलती हैं।

## प्रजातीय वर्गीकरण

डी. एन. मजूमदार (1955) ने प्रजातीय लक्षणों के आधार पर भारत की जनजातीय जनसंख्या का वर्गीकरण करने की समस्या को जटिल बताया है। वह कहते हैं कि भारत के जनजातीय समुदायों के प्रजातीय मूल अथवा सादृश्यों को निश्चित करना अत्यन्त जटिल प्रश्नों में से एक है, जिसका सामना भारतीय मानवशास्त्रियों को करना पड़ेगा। उन सजातीय समूहों के संबंध का कोई प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं है जो प्रागैतिहासिक काल में भारत के विभिन्न भागों में वास करते थे। ऐतिहासिक काल में भारत के प्रजातीय संगठन के विषय में प्राप्त ज्ञान कम है। अतः भारत के प्रजातीय इतिहास के संबंध में समस्त ऐतिहासिक पुनर्रचना को काफी हद तक अटकलों पर निर्भर रहना पड़ेगा।

भारत में प्रथम प्रजातीय वर्गीकरण का प्रयास सर हरबर्ट रिज़्ले द्वारा किया गया था। उन्होंने अपनी खोजों को "पीपुल्स ऑफ इण्डिया" नामक पुस्तक में 1916 में प्रकाशित कराया। वह समस्त भारतीय जनसंख्या को सात प्रजातीय प्रकारों में वर्गीकृत करते हैं :—

(1) तुर्को-ईरानी (Turko-Iranian)

(2) भारतीय-आर्य (Indo-Aryan)

(3) स्कीथो-द्रविड़ (Scytho-Dravidian)

(4) आर्य-द्रविड़ (Arya-Dravidian)

(5) मंगोल-द्रविड़ (Mongolo-Dravidian)

(6) मंगोली (Mongoloid)

(7) द्रविड़ (Dravidian)

इन सात प्रकारों को तीन आधारभूत प्रकारों—द्रविड़, मंगोल तथा भारतीय आर्य—में सरलीकृत किया जा सकता है। उल्लेखनीय है कि उन्होंने भारत के आदिवासियों (जनजातियों) के लिए कोई पृथक् वर्गीकरण योजना प्रदान नहीं की। हट्टन, गुहा तथा मजूमदार द्वारा सुझाये गए वर्गीकरण भारतीय लोगों के प्रजातीय

वर्गीकरण के क्षेत्र में नवीनतम हैं। गुहा 6 प्रमुख प्रजातियों की सूची प्रस्तुत करते हैं जिसमें 9 उपप्रकार हैं :–

(1) नीग्रीटो (The Negrito)

(2) आद्य-आस्ट्रेलायड (The Proto-Australoid)

(3) मंगोल (The Mongoloid)
 (अ) पुरामंगोल (Palaeo-Mongoloids)
 (ब) लम्बे सिर वाले (Long-headed)
 (स) चौड़े सिर वाले (Broad-headed)

(4) भूमध्यसागरीय (The Mediterranean)
 (अ) पुरा भूमध्यसागरीय (Palaeo-Mediterranean)
 (ब) मध्य सागरीय (Mediterranean)
 (स) प्राच्य प्रकार (Oriental type)

(5) पाश्चात्य चौड़े सिर वाले (The Western Brachyephals)
 (अ) एल्पीनॉयड (Alpinoid)
 (ब) डिनारिक (Dinaric)
 (ग) आरमीनॉयड (Armenoid)

(6) नार्डिक (The Nordic)

भारत की जनजातीय जनसंख्या का वंशक्रमिका मुख्यतः प्रथम तीन प्रकारों में ढूँढ़ी जाती है :

कोचीन और ट्रावनकोर की पहाड़ियों की जनजातियाँ जैसे—कादर, इरुला, पलियन आदि, असम के अंगमी नागा तथा झारखंड की राजमहल पहाड़ियों की जनजातियाँ नीग्रीटो प्रजातीय प्रकार में सम्मिलित हैं, जिनका कद छोटा है, त्वचा का रंग काला, काले सख्त बाल, पतले होंठ तथा नाक चौड़ी होती है।

आद्य-आस्ट्रेलायड प्रजातीय प्रकार के लोगों का छोटे से मध्यम कद, लम्बा तथा ऊँचा सिर, चौड़ा तथा छोटा चेहरा तथा छोटी चपटी नाक होती है। मध्य अथवा केन्द्रीय भारत की अधिकांश जनजातियाँ इस प्रजातीय प्रकार में आती हैं, किन्तु कुछ दक्षिण भारतीय जनजातियाँ जैसे चेंचू, भील आदि भी इस प्रकार की प्रजातीय विशेषताओं को प्रदर्शित करते हैं।

जहाँ तक मंगोल प्रजातीय समूह का संबंध है, उत्तर-पूर्वी भारत की अधिकांश

जनजातियाँ इस प्रजातीय प्रकार में सम्मिलित हैं तथा पीले रंग की त्वचा वाली होती हैं। उनके बाल सीधे तथा काले, चपटी नाक, गाल की उन्नत हड्डियाँ तथा अधिनेत्र वलि (एपिकॅन्थिक) सहित बादाम के आकार जैसी आँखें होती हैं। नागा, चकमा, लेप्चा आदि इस प्रजातीय समूह की कुछ महत्त्वपूर्ण जनजातियाँ हैं।

प्रजातियों का घुर्रा (मेल्टिंग पॉट) होने के कारण प्रजातीय वर्गीकरण की उपरोक्त योजना के बावजूद प्रजातीय दृष्टि से भारत की जनजातियाँ किसी एक विशिष्ट प्रकार अथवा क्षेत्र के अन्तर्गत नहीं रखी जा सकती हैं। ऊपर सन्दर्भित सामान्यीकृत प्रकार सभी प्रकार की जनजातियों का पूर्ण विवरण प्रस्तुत नहीं करते। इस प्रकार नीलगिरि पहाड़ियों के टोडा, एक उदाहरण के रूप में अब तक बिना किसी प्रजातीय नामपत्र के हैं। सीरम तथा भाषागत शोध किए जा रहे हैं किन्तु इनके द्वारा जनजातीय भारत की प्रजातीय संरचना के किसी नये पक्ष का प्रकट होना शेष है।

## आर्थिक वर्गीकरण

एडम स्मिथ का शास्त्रीय वर्गीकरण तथा थर्नवाल्ड एवं हर्सकोविट्स की अभिनव वर्गीकरण का, जनजातियों को आर्थिक तौर पर वर्गीकृत करने के लिए सारे विश्व में प्रयोग किया गया है। थर्नवाल्ड द्वारा प्रस्तुत योजना को भारतीय सन्दर्भ में सर्वाधिक स्वीकार्य माना जाता है तथा यह निम्न प्रकार है :

(1) पुरुषों के सजातीय शिकारी समुदाय तथा जाल डालने वाले, महिलायें, संग्रहकर्त्ता के रूप में। चेंचू, खड़िया तथा कोरवा जैसी कुछ भारतीय जनजातियाँ इस श्रेणी में आती हैं।

(2) शिकारियों, जाल डालने वाले तथा कृषकों के सजातीय समुदाय–कामार, बैगा तथा बिरहोर भारत के कुछ उदाहरण हैं।

(3) शिकारियों, जाल डालने वाले कृषकों और शिल्पियों के श्रेणीकृत समाज–अधिकांश भारतीय जनजातियाँ इस श्रेणी में आती हैं। चेरों तथा अगारिया तमाम ऐसी जनजातियाँ शिल्पी के रूप में प्रसिद्ध हैं।

(4) पशुपालक–टोडा तथा भीलों की कुछ उपजातियाँ भारत में ऐसी श्रेणी का शास्त्रीय उदाहरण प्रस्तुत करती हैं।

(5) सजातीय शिकारी तथा पशुपालक–इस श्रेणी का भारतीय जनजातियों में प्रतिनिधित्व नहीं है। टोडा शिकार नहीं करते और न वे मछली या चिड़िया पकड़ते हैं।

(6) नृजातीय दृष्टि से स्तरीकृत पशुओं का प्रजनन एवं व्यापार करने

वाले—उत्तराखंड के निचले हिमालय क्षेत्र के भोटिया याक का प्रजनन करवाते हैं तथा घुमन्तु व्यापारी हैं।

(7) सामाजिक दृष्टि से श्रेणीबद्ध पशुपालक—शिकारी (कृषक तथा शिल्पी जनसंख्या सहित)।

मजूमदार का मत है कि इस प्रकार का वर्गीकरण यद्यपि लाभप्रद है, तथापि अधिक सहायक नहीं है क्योंकि वर्गीकरण करने के प्रयास का प्रयोजन मुख्यतः जनजातीय समुदायों द्वारा अनुभूत आर्थिक कठिनाइयों के स्वरूप की ओर संकेत करना है। मुख्यतः औद्योगिक उपलब्धियों का अनुचिन्तन करते हुये आर्थिक जीवन दशा के आधार पर एक अधिक बेहतर तथा स्पष्ट वर्गीकरण करने का प्रयास किया जा सकता है।

(1) वनों में शिकार (आखेट) करने वाली जनजातियाँ

(2) पहाड़ी कृषि (झूम, कर्तन तथा दहन कृषि प्रणाली) में संलग्न जनजातियाँ

(3) समतल भूमि पर कृषि करने वाली जनजातियाँ

(4) सरल कारीगर (शिल्पी) जनजातियाँ

(5) पशुचारण जनजातियाँ

(6) लोक कलाकारों के रूप में जीवन व्यतीत करने वाली जनजातियाँ

(7) कृषि तथा अन्य प्रकार के श्रम में लगी जनजातियाँ

(8) नौकरी तथा व्यापार में संलग्न जनजातियाँ

जो जनजातियाँ वनों में आखेट करके अपना जीवन व्यतीत करती हैं, वे अपनी जीविका का निर्वाह कन्द-मूल तथा फलों के संग्रह, शिकार तथा मछली पकड़ने द्वारा करती हैं। जनजातियों का यह वर्ग अधिकतर दक्षिण भारत में पाया जाता है। आन्ध्र प्रदेश की चेंचू और चांडी, केरल के कादार, मालापत्रम व करुम्बा तथा तमिलनाडु के पलियान, अंदमान तथा निकोबार द्वीप समूहों के ओंगे, जरवा सेण्टनेलीज तथा निकोबारीज, दक्षिण भारत में रहने वाली कुछ महत्त्वपूर्ण जनजातियाँ हैं। उत्तराखंड के राजी, मेघालय के गारों, छोटानागपुर की बिरहोर, कोरवा तथा पहाड़ी खड़िया तथा उड़ीसा की जुवांग भी इस वर्ग के कुछ उल्लेखनीय उदाहरण हैं। यद्यपि इन जनजातियों के कुछ समूह शनैः शनैः कृषि सीख रहे हैं फिर भी उनका सांस्कृतिक लोकाचार अब भी आखेट-संग्रह प्रकार का है।

भारतीय जनजातियों का एक बहुत बड़ा टुकड़ा उत्तर-पूर्वी तथा मध्य अथवा केन्द्रीय भारत के पहाड़ी पथ पर झूम-कृषि में आबद्ध है। कृषि का यह तरीका

पारंपरिक स्थाई कृषि से भिन्न है। इस प्रणाली के अन्तर्गत झाड़ियाँ तथा वृक्ष काट कर जला दिये जाते हैं। इसके पश्चात् राख पर बीच छिड़क दिया जाता है तथा शेष प्रकृति पर छोड़ दिया जाता है।

असम, मेघालय, अरुणाचल प्रदेश, मिजोरम और त्रिपुरा की लगभग सभी जनजातियाँ इसी प्रकार की कृषि द्वारा फसल उत्पादन करती हैं। उड़ीसा की कुछ जनजातियाँ तथा मध्यप्रदेश व छत्तीसगढ़ की गोंड व बैगा जनजातियाँ भी इसी प्रकार की कृषि में आबद्ध हैं।

सभ्य समूहों से करीबी संबंध व सम्पर्क के कारण अधिकतर भारतीय जनजातियों ने स्थायी कृषि को अपने जीवनयापन का साधन चुन लिया है। उनकी कृषि प्रविधियाँ तथा तरीके अन्य कृषक समूहों के समान हैं तथा वे बैलों, हल तथा अन्य कृषि उपकरणों का प्रयोग भी करते हैं, किन्तु उनकी अधिकांश भूमि असिंचित है, अतः वे प्रकृति की अनिश्चितता का शिकार होते हैं। वर्षा पर पूर्णरूपेण निर्भरता के अतिरिक्त कृषि के अन्य कारक जैसे—उर्वरक, उच्च पैदावार वाले अनाजों, कीटाणुनाशक आदि के अभाव में उन्हें निम्न एवं कम उपज से संतुष्ट रह जाना पड़ता है। संख्या की दृष्टि से बड़ी जनजातियों में ओरॉव, मुंडा, हो तथा संथाल सफल कृषक हैं।

कुछ भारतीय जनजातियाँ कुटीर उद्योगों द्वारा अपना जीवनयापन करती हैं। वे टोकरी तथा चटाई बनाने वाले, कपड़ा बुनने तथा लोहारी के कार्य में आबद्ध हैं तथा अपने जनजातीय तथा अजनजातीय पड़ोसी समाजों की आवश्यकताओं का अनुकरण करती हैं। कश्मीर के गुज्जर, हिमाचल प्रदेश के किन्नौरी लकड़ी का काम करते हैं, बिहार-झारखंड के असुर तथा मध्य प्रदेश-छत्तीसगढ़ के अगरिया लोहे को गलाने में दक्ष हैं, महाराष्ट्र के कोलाम पारंपरिक चटाई बुनने वाले हैं तथा तमिलनाडु के इरुला बाँस की सुन्दर चटाइयाँ तथा टोकरियाँ बनाते हैं।

जनसंख्या की दृष्टि से पूर्णरूपेण पशुचारक जनजातियाँ बहुत कम हैं, किन्तु नीलगिरि पहाड़ियों के टोडा, हिमाचल प्रदेश के गद्दी तथा बकरावल, मध्य प्रदेश व छत्तीसगढ़ की नगेशिया, गुजरात की मल्धान तथा उत्तरी व दक्षिणी भारत की कुछ अन्य जनजातियाँ इस वर्ग की जनजातियों के उल्लेखनीय उदाहरण हैं। यह भी उल्लेखनीय है कि सभी पशुचारक जनजातियाँ दुग्ध व्यापार नहीं करती हैं, उनमें से कुछ भेड़ तथा बकरी जैसे पशुओं को बाजार के लिए पालते हैं।

जनजातियों का एक अन्य वर्ग नृत्य करके, कलाबाजी दिखाकर तथा साँप नचाने आदि द्वारा अपनी जीविका का निर्वाह करता है, इसलिये उन्हें लोक कलाकार कहा जा

सकता है। उत्तर प्रदेश के नट तथा सँपेरे इस श्रेणी के अच्छे उदाहरण हैं। उड़ीसा के मुण्डप्पटू कुशल नट हैं, तमिलनाडु के कोटा सँपेरे हैं, मध्य प्रदेश व छत्तीसगढ़ के गोडों के कुछ समूह गोदना गोदने वाले तथा नर्तक हैं तथा पूर्वी भारत और दक्षिण भारत की कुछ अन्य जनजातियाँ भी इस श्रेणी में रखी जा सकती हैं।

कृषि मजदूरी में आबद्ध जनजातियों में वे हैं जो पारंपरिक दृष्टि से कृषक हैं, किन्तु अपनी भूमिहीनता के कारण कृषि मजदूरों के रूप में दूसरों की भूमि पर कार्य करते हैं। एक अनुदार अनुमान के अनुसार सम्पूर्ण जनजातीय जनसंख्या का पाँचवाँ भाग कृषि में श्रमजीवी के रूप में आबद्ध है। अकृषक जनजातीय श्रमबल में वे जनजातियाँ सम्मिलित हैं जो बिहार व झारखंड, उड़ीसा तथा बंगाल के स्थानीय कारखानों तथा खानों में तथा असम व पड़ोसी क्षेत्रों के चाय बागानों में काम करते हैं।

संवैधानिक प्रावधानों के प्रयोग के फलस्वरूप अपेक्षाकृत छोटी संख्या में जनजातीय लोग सरकारी तथा अर्द्ध-सरकारी पदों पर भी कार्यरत हैं। इस प्रकार की जनजातियों में मेघालय, मिज़ोरम तथा नागालैण्ड (देश के उत्तरपूर्वी सीमावर्ती क्षेत्र) और मुख्यतः छोटानागपुर की ईसाई जनजातियाँ सम्मिलित हैं।

## सांस्कृतिक सम्पर्क पर आधारित वर्गीकरण

भारतीय जनजातियों को उनकी ग्रामीण व नगरीय समूहों से सांस्कृतिक दूरी के अनुसार भी वर्गीकृत किया जा सकता है। मजूमदार (1976) यह मत व्यक्त करते हैं कि यह तुलनात्मक दृष्टिकोण पुनर्वास योजना के मूल्यांकन के लिए सर्वाधिक उपयोगी है क्योंकि यह हमारा ध्यान जनजातीय भारत की उन समस्याओं की ओर केन्द्रित करता है जो ग्रामीण-नगरीय समूहों से अल्प व्यवस्थित सम्पर्क अथवा उनसे पृथक् रहने का परिणाम है।

वर्तमान शताब्दी के पाँचवें दशक में वेरियर एल्विन ने एक सुसीमांकित वर्गीकरण का प्रयास किया। उन्होंने चार प्रकार के आदिवासियों का वर्णन किया है :—

(1) जो सर्वाधिक आदिम हैं तथा एक संयुक्त सामुदायिक जीवन व्यतीत करते हैं तथा कुल्हाड़े से कृषि करते हैं।

(2) वे जो, यद्यपि अपने एकाकीपन तथा पुरातन परंपराओं से समान रूप से जुड़े हुये हैं, अपेक्षाकृत अधिक वैयक्तिक हैं, कुल्हाड़े से कम ही कृषि करते हैं, बाह्य जीवन में अधिक अभ्यस्त हैं तथा सामान्यतः प्रथम वर्णित श्रेणी की अपेक्षा कम सरल तथा ईमानदार हैं।

(3) वे जो संख्या की दृष्टि से सर्वाधिक हैं, जो बाह्य प्रभाव के कारण अपनी जनजातीय संस्कृति, धर्म तथा सामाजिक संगठनों की क्षति के कारण अपनी पहचान खो रहे हैं।

(4) भील व नागा जैसी जनजातियाँ जो देश की प्राचीन कुलीनता की प्रतिनिधि कही जाती हैं, जो अपनी मूल जनजातीय जीवन को बचाये हुये हैं तथा जिन्होंने संस्कृति सम्पर्क की लड़ाई को जीत लिया है।

मजूमदार ने एल्विन के वर्गीकरण को "धर्मयुद्धकर्त्ता के घोषणापत्र" की संज्ञा उचित ही दी है। वह आगे कहते हैं कि यद्यपि एल्विन का वर्गीकरण जनजातीय भारत में संस्कृति संकट के समकालीन चित्र की प्रस्तुति में सहायता करता है किन्तु पुनर्वास के कार्यक्रम के लिए एक आधार के रूप में यह स्वीकार्य नहीं है। वह वर्गीकरण की अपनी निजी योजना प्रस्तुत करते हैं। उनके अनुसार जनजातीय संस्कृतियाँ तीन समूहों में आती हैं।

(1) जो ग्रामीण-नगरीय समूहों से सांस्कृतिक दृष्टि से अधिक दूर हैं अर्थात् कमोबेश पृथक्कृत हैं।

(2) जो ग्रामीण-नगरीय समूहों की संस्कृति के प्रभाव में हैं तथा जिन्हें परिणामस्वरूप परेशानियों तथा समस्याओं का सामना करना पड़ा है।

(3) वे जो, यद्यपि ग्रामीण-नगरीय समूहों के सम्पर्क में हैं, जिन्होंने ग्रामीण-नगरीय संस्कृति में परसंस्कृति ग्रहण हो जाने के कारण किसी प्रकार का संकट नहीं उठाया, अथवा उन्होंने वस्तुस्थिति को पलट दिया और अब कोई संकट नहीं उठाते, भले ही उन्हें अतीत में ऐसा करना पड़ा हो।

मजूमदार, एल्विन की इस बात से सहमत हैं कि सभ्य संसार से प्रत्येक सम्पर्क जनजातियों के लिए कष्ट लाता है। वह यह आधार लेते हैं कि हमारा लक्ष्य जनजातीय समुदायों के इन सभी प्रकारों को आगे ले जाना होना चाहिये तथा नियोजित (योजनाबद्ध) दशाओं के अंतर्गत ग्रामीण-नगरीय समूहों तथा उनके मध्य स्वस्थ एवं सृजनात्मक सम्पर्क स्थापित करना चाहिये।

भारतीय समाज कार्य अधिवेशन (1952) के पश्चात् एक जनजातीय कल्याण समिति कठित की गई जिसने निम्नलिखित वर्गीकरण का सुझाव दिया था :—

(1) जनजातीय समुदाय

(2) अर्द्ध-जनजातीय समुदाय

(3) परसंस्कृतिकृत जनजातीय समुदाय

(4) पूर्णरूपेण आत्मसात्कृत जनजातियाँ।

## धार्मिक विश्वासों पर आधारित वर्गीकरण

भारत के मुख्य धर्मों ने विभिन्न जनजातीय धर्मों तथा देवकुलों को विविध रूपों में प्रभावित किया है तथा केवल वे जनजातीय समुदाय ही अब भी अपने मूल धार्मिक विश्वासों को शुद्धता से कायम रखे हैं जो घने बसे वनों में नितांत एकाकी सामाजिक अस्तित्व का जीवन व्यतीत कर रहे हैं। 1961 तथा 1971 की जनगणना के आँकड़ों के आधार पर जनजातियों को निम्नलिखित धर्मों में वर्गीकृत किया जा सकता है :–

(1) हिन्दू

(2) ईसाई

(3) बौद्ध

(4) इस्लाम

(5) जैन धर्म

(6) अन्य धर्म

उपरोक्त वर्णित धर्मों में से सभी जनजातियों पर हिन्दू धर्म का प्रभाव बहुत अधिक है तथा लगभग 90% जनजातियाँ किसी न किसी रूप में हिन्दू धर्म का अनुसरण करती हैं। जिन्होंने ईसाई धर्म ग्रहण कर लिया है उनकी संख्या भी पर्याप्त है तथा लगभग 6 प्रतिशत लोग "क्रास की छाया" में हैं। किन्तु जो बौद्ध धर्म, इस्लाम अथवा जैन धर्म का अनुसरण करते हैं उनकी संख्या अत्यंत कम है। इस सन्दर्भ में एक महत्त्वपूर्ण बिन्दु जिसे मस्तिष्क में रखना है, वह यह है कि वे जनजातियाँ जिन्होंने उपरोक्त वर्णित मुख्य धर्मों में से किसी को अंगीकार कर लिया है, उनके लिये यह आवश्यक नहीं कि उन्होंने अपने जनजातीय विश्वास को छोड़ दिये हों, बल्कि उनमें से अनेक अपने पारंपरिक विश्वास का भी व्यवहार करती पायी जाती हैं।

जब हम भौगोलिक परिप्रेक्ष्य में स्थिति को देखते हैं तो हम पाते हैं कि बंगाल की खाड़ी तथा अरब सागर के अन्तर्गत आने वाले द्वीपों में बसने वाली जनजातियों को छोड़कर पश्चिमी भारत तथा मध्य भारत के साथ दक्षिणी भारत की जनजातियों में अधिकतर कमोबेश हिन्दू विश्वास वाले हैं। उत्तर-पूर्वी भारत की अधिकांश जनजातियों में ईसाई धर्म ने बहुत अधिक सफलता प्राप्त की है तथा नागालैण्ड तथा मिजोरम की 90 प्रतिशत जनसंख्या ईसाई धर्म का अनुसरण करती है। मध्य भारत में छोटानागपुर की कुछ मुख्य जनजातियाँ भी ईसाई धर्म को मानती हैं और इनमें से ओरांव, मुंडा तथा हो उल्लेखनीय हैं। इस्लाम का अनुसरण करने वाली जनजातियाँ

अधिकतर लक्षद्वीप, हिमाचल प्रदेश, पश्चिम बंगाल, महाराष्ट्र और जम्मू तथा कश्मीर में तितर-बितर फैली हैं। इस प्रकार की जनजातियों में लक्षद्वीप, मिनीकाय, व अमीनदीवी द्वीप समूहों की मूल जनसंख्या का लगभग 90 प्रतिशत इस्लाम के मानने वाले हैं। भारतीय जनजातियों में अरुणाचल प्रदेश तथा उत्तराखंड के कुछ जनजातीय समूह बौद्ध धर्म के अनुयायी हैं।

# दो

# सामाजिक संस्थायें

# 4

# विवाह

'जनजातीय वैवाहिक पद्धतियाँ' एक ऐसा विषय है जिस पर सम्पूर्ण विश्व ने इन लोगों के प्रति तीव्र दुर्भावना व्यक्त.की है। उन पर घिनौने व निराधार आरोप लगाये गये। काल्पनिक संस्थायें निरूपित की गईं। कुछ बेईमान 'अर्द्धविद्वानों' ने अपनी कल्पना के घोड़े बेलगाम छोड़ दिये व पाठकों के एक वर्ग में रातोंरात लोकप्रियता हासिल करने के लिये उनके विवाह तथा यौन संबंधी कहानियों को खूब मसाला मिलाकर पेश किया। यौन संबंधों में ढीलेपन को स्वच्छन्द अथवा स्वतंत्र यौन मान लिया गया और "यौन साम्यवाद" जैसे मुहावरे प्रयोग किये गये। वास्तविकता यह है कि संसार के किसी भाग में संग्रहीत नृजातीय आँकड़े इस परिकल्पना का समर्थन नहीं करते। भारतीय में भी ज्ञात सरलतम तथा अपरिष्कृत जनजातीय संस्कृतियाँ भी, उदाहरणार्थ अंदमानी, कादार, पलियान, चेंचू बिरहोर आदि ऐसी रस्मों व रिवाजों का प्रमाण प्रस्तुत नहीं करतीं।

संसार के अन्य भागों के समान ही जनजातियाँ भी अनेक प्रकार के विवाह अपनी सुविधानुसार अपने सामाजिक पर्यानुकूलन एवं अपनी सांस्कृतिक पारिस्थितिकी के अनुसार करती आई हैं।

## एकविवाह (Monogamy)

एकविवाह, विवाह का वह स्वरूप है जिसमें एक पुरुष किसी एक समय में एक स्त्री से अधिक से विवाह नहीं कर सकता। भारतीय जनजातियों का बहुसंख्यक वर्ग एकविवाह का पालन करता है। इस विवाद का खंडन करने के लिये कि अधिकांश पिछड़ी तथा आदिम जनजातियों में विवाह की कोई निश्चित योजना नहीं पायी जाती, कमार (मध्य प्रदेश) जैसी अनेक अत्यंत पिछड़ी जनजातियों का उदाहरण प्रस्तुत किया जा सकता है। ऐसी अनेक जनजातियाँ एक विवाही हैं।

## बहुविवाह (Polygamy)

बहुविवाह, अर्थात् एक से अधिक व्यक्तियों से विवाह, सम्पूर्ण संसार में पर्याप्त रूप

से व्याप्त हैं। भारतीय जनजातियों में बहुत-सी इस प्रकार के वैवाहिक संबंधों का अनुसरण करती हैं। बहुविवाह के दो पक्ष हैं :—(1) बहुपत्नी विवाह (Polygamy) तथा (2) बहुपति विवाह (Polyandry)। बहुपत्नी विवाह एक पुरुष का अनेक स्त्रियों से विवाह करना है जबकि बहुपति प्रथा का अर्थ एक स्त्री का अनेक पुरुषों से विवाह करना है। दोनों प्रकार के विवाहों की चर्चा बहुविवाह के रूप में सामान्यतः की जाती है।

बहुपत्नी विवाह नागा जनजातियों, गोंड, बैगा, टोडा, लुशाई तथा मध्य भारत की अधिकांश आस्ट्रेलायड जनजातियों में पाया जाता है। अधिकतर मामलों में इस प्रकार का विवाह यौन अनुपात में असन्तुलन के फलस्वरूप अस्तित्व में आता है। प्रकट रूप में एक समाज जिसमें यौन अनुपात सामान्य है इस प्रकार का विवाह अनेक पुरुषों को कुआँरा रहने के लिए बाध्य कर सकता है। इसलिये इस प्रकार की विवाह प्रथा उस समाज में विकसित होती हैं जहां महिलाओं की संख्या पुरुषों की तुलना में काफी ज्यादा होती है। अन्यथा सामान्य स्थिति में शक्तिशाली तथा सम्पन्न पुरुषों का एक से अधिक पत्नियों को रखना प्रतिष्ठा तथा पद के प्रतीक के रूप में विशेषाधिकार होता है। भारतीय जनजातियों में गोंड, बैगा तथा लुशाई जैसी जनजातियों में इस प्रकार का विवाह अधिक उत्तम तथा श्रम विभाजन की सुविधा हेतु किया जाता है। बहुपति प्रथा अपेक्षाकृत अधिक प्रतिबन्धित है। इस प्रकार का वैवाहिक संबंध कश्मीर से असम तक फैले हिमालय क्षेत्रों में पाया जाता है तथा भारतीय आर्य और मंगोल जनजातियों में लोकप्रिय है। अपने शास्त्रीय रूप में यह तियान, टोडा, कोटा, खासा (जौनसारी) तथा लद्दाखी बोटा में प्रचलित हैं। यह तिब्बतियों में भी लोकप्रिय है। भारतीय जनजातियों में दो प्रकार की बहुपति प्रथा प्रचलित है। जब अनेक भाई एक ही पत्नी को साझा करते हैं जैसाकि खासा और टोडा में है, इसे हम भ्रातृत्व बहुपति प्रथा कहते हैं। मजूमदार (1967) का मत है कि यह प्रथा अपने सामान्य प्रकार में जैसे नीलगिरि पहाड़ियों के टोडा लोगों में भी पायी जाती है, पतियों में निकट संबंध का होना आवश्यक नहीं है, तथा पत्नी प्रत्येक पति के साथ कुछ समय बिताने के लिए जाती है। जब तक एक स्त्री अपने पतियों में से किसी एक के पास रहती है, दूसरों का उस पर कोई अधिकार नहीं होता। नायर बहुपति प्रथा इसी प्रकार की थी। बहुपति प्रथा का चलन हमेशा स्त्रियों की कमी के द्वारा प्रमाणित नहीं होता; लद्दाख में वास्तव में महिलाएँ पुरुषों की संख्या से अधिक हैं। टोडा लोगों में संपत्ति का विचार तथा यौन असमानता इस संस्था की व्याख्या करते हैं। बहुपति प्रथा प्रत्येक स्त्री से कम बच्चों के जन्म, अधिक लड़कों तथा महिलाओं में बांझपन की अधिक सम्भावना को प्रतिफलित करती है।

जौनसार बावर के खासा लोगों ने बहुपति प्रथा के वैवाहिक संबंधों का एक बहुत ही व्यावहारिक तरीका निकाल रखा है। उसमें, जब सबसे बड़ा भाई एक लड़की से विवाह करता है, वह स्वतः ही शेष भाईयों की साझा पत्नी बन जाती है। यदि कोई भाई अवयस्क होता है तो वह प्रौढ़ होने पर अपनी आयु के अनुसार दूसरी लड़की से विवाह कर सकता है।

इस प्रकार इससे एक ऐसी स्थिति उत्पन्न होती है कि अनेक भाई एक से अधिक पत्नी रखते हैं। यह बहुपति प्रथा का शास्त्रीय रूप नहीं है। बहुपत्नी-बहुपति के मिश्रण को देखकर मजूमदार (वही) ने इस स्थिति का वर्णन करने के लिए एक दिलचस्प वाक्यांश गढ़ा जिसे उन्होंने "पोलीजिनेन्ड्री" (Polygynandry) कहा।

कुछ समय पूर्व तक नीलगिरि पहाड़ियों के टोडा "धनुष और बाण समारोह" सामाजिक दृष्टि से अपने पितृत्व की घोषणा करने हेतु मनाते थे। इस समारोह में सभी भाई तथा साझे की पत्नी अपने गर्भ के चौथे या पाँचवें महीने में गाँव के शेष लोगों के बीच एकत्र होते हैं तथा आम राय के फलस्वरूप भाइयों में से एक पत्नी को धनुष और बाण की एक जोड़ी भेंट करता है। इसे एक घोषणा के रूप में स्वीकार किया जाता है कि यह विशेष भाई आने वाले बच्चों का पिता स्वीकार किया जाएगा। इस प्रकार मानव कार्यकलापों के इस दिलचस्प समागम में समाजशास्त्रीय पितृत्व (Socio-logical fatherhood), जैविक पितृत्व (Biological fatherhood) का आधार प्रदान कर देता है।

जनसांख्यकीय कारकों के अतिरिक्त "वधू धन" (Bride Wealth) नामक एक आर्थिक कारक भी भारतीय जनजातियों में बहुपति विवाह के प्रचलन के लिए उत्तरदायी हैं। 'वधू धन' की प्रणाली के अन्तर्गत पति। पतिगृह को एक निश्चित नकद राशि/वस्तु दुल्हन के माता-पिता को मूल्य के रूप में देना पड़ता है जो दुल्हन की सुन्दरता तथा उपयोगिता के अनुसार होता है। समय के व्यतीत होने के साथ-साथ दुल्हन का मूल्य बढ़ता गया और एक ऐसा समय आया जब अकेले वधू-धन की व्यवस्था कर पाना असम्भव हो गया। इसके अलावा पहाड़ों में कृषि जोत बहुत अनार्थिक होती है तथा किसी भी व्यक्ति के लिये कृषि करना अत्यंत कठिन होता है। अतः कृषि जोतों और टुकड़ों में बँटने से टालने के लिए विवाह की यह रीति अस्तित्व में आयी। बहुविवाह की अन्य रीति, जिसे द्विविवाह प्रथा पुकारते हैं भी प्रचलन में है। यद्यपि यह अत्यंत प्रतिबन्धित सीमा तक है। द्विविवाह प्रथा के अन्तर्गत एक पुरुष को एक समय में दो बहनों के साथ विवाह करने की अनुमति होती है। इस प्रकार की बहुविवाह प्रथा मैसूर की होलिया और मेडारा जनजातियों में पायी जाती है।

## अधिमान्य विवाह तथा निषेध
## (Preferential Marriage and Taboos)

ऐसा देखा जाता है कि एक ओर समाज कुछ विशिष्ट नातेदारों अथवा उसी अन्तःकुल अथवा गोत्र में यौन संबंधों अथवा ववाहि संबंधों का निषेध करता है, किन्तु दूसरी ओर वह कतिपय अन्य स्वजनों में ववाहिक संबंधों को प्रोत्साहित करता है। इन मामलों में निर्धारण अथवा केवल वरीयता किसी एक विशेष नातेदार से विवाह करने हेतु व्यक्त की जाती है। भारतीय जनजातियों में प्रचलित अधिमानित विवाहों के कुछ लोकप्रिय प्रकार निम्नलिखित हैं :–

(1) चचेरे, ममेरे, फुफेरे भाई बहन में विवाह (कज़िन विवाह)
   (अ) भ्राता-भगिनि संतति विवाह (क्रास कज़िन विवाह)
   (ब) समानान्तर चचेरे-मौसेरे भ्राता भगिनि संतति विवाह (पैरेलल कज़िन विवाह)

(2) देवर विवाह (लेवीरेट)

(3) साली विवाह (सारोरेट)

दोनों प्रकार के चचेरे भ्राता-भगिनि विवाह अर्थात् भ्राता भगिनि संतति विवाह तथा समानान्तर भ्राता-भगिनि विवाह भारतीय जनजातियों में काफी लोकप्रिय है। गोंड, खाड़िया, खासी और कादार कुछ महत्त्वपूर्ण भारतीय जनजातियाँ हैं जो भ्राता-भगिनि विवाह करते हैं। मानवशास्त्र की दृष्टि से जब एक भाई के बच्चे एक बहिन के बच्चों से विवाह करते हैं तो इसे भ्राता-भगिनि संतति विवाह कहते हैं तथा जब दो भाइयों अथवा दो बहनों के बच्चे विवाह करते हैं तो उसे समानान्तर भ्राता-भगिनि संतति विवाह कहते हैं। एक गोंड से यह अपेक्षा की जाती है कि वह अपने या अपनी भ्राता-भगिनि संतति से विवाह करेगा। जैसाकि मजूमदार का विचार है कि ऐसा विवाह उच्च वधू धन के भुगतान से बचने के लिए किया जाता है तथा गृहस्थी में संपत्ति को सुरक्षित रखने के लिए भी मध्य प्रदेश व छत्तीसगढ़ के गोंड इस प्रकार के विवाह को *दूध लौटाना* पुकारते हैं। इसका निहितार्थ यह है कि "अ" द्वारा अपनी पत्नी "क" लिए भुगतान किया गया मूल्य उसके परिवार को वापस कर दिया जायगा जब "अ" की पुत्री अपनी माता के भाई के पुत्र (मामा के पुत्र) से विवाह करेगी। लेविस्ट्रॉस ने कहा है कि अधिमान्य विवाह का मुख्य प्रयोजन जनजाति के अन्तर्गत एकता को सुदृढ़ करना है।

देवर अधिकार तथा साली विवाह अधिमान्य विवाह के दो अन्य प्रकार हैं। इस प्रकार ये कुछ संबंधों को अनिवार्य करके अन्ततः पारिवारिक सौहार्द्र को उन्नत करते

हैं। जब एक स्त्री अपने पति के भाई के साथ विवाह करती है तो उसे देवर अधिकार कहते हैं। इसे दो प्रकारों में बाँटा जा सकता है : (अ) कनिष्ठ देवर अधिकार तथा (ब) वरिष्ठ देवर अधिकार। जब स्त्री अपने पति के छोटे भाई से विवाह करती है तो यह कनिष्ठ देवर अधिकार होता है तथा बड़े भाई से विवाह वरिष्ठ देवर अधिकार कहलाता है। जब देवर अधिकार गैर-बहुपतिक समाज में घटित होता है, यह अत्यधिक महत्त्व का हो जाता है क्योंकि उसके पति की मृत्यु की स्थिति में, विधवा को अभिभावक पति तथा संरक्षक मिल जाता है तथा बच्चों को पिता जो उन्हें पहले से प्यार करता रहा है। कुछ जनजातीय समूहों में एक स्त्री तथा उसके देवर में यौन संबंधों के मामलों में भावी घटना की प्रस्तावना के रूप में कुछ सीमा तक शिथिलता की छूट दे दी जाती है। इस स्थिति को 'पूर्वा भाभी देवर अधिकार' नाम दिया जा सकता है।

जब एक पुरुष अपनी पत्नी की बहन/बहनों से विवाह करता है तो उसे साली विवाह कहते हैं। ऐसा उसकी पत्नी की मृत्यु के बाद अथवा उसके जीवनकाल में भी हो सकता है। पत्नी की मृत्यु की प्रतिपूर्ति एक नयी पत्नी देकर की जाती है। (आमतौर पर मृतक की छोटी बहन को देकर)। देवर अधिकार तथा साली विवाह अंततः पारिवारिक उत्तरदायित्व की स्वीकृति तथा दो परिवारों के बीच के बंधन की मान्यता पर बल देते हैं न कि केवल दो व्यक्तियों में यौन संबंध मात्र पर बल देते हैं।

## जीवन-साथी चुनने की पद्धतियाँ
## (Ways of Acquiring Mates)

भारतीय जनजातियों के साथी चुनने की नौ महत्त्वपूर्ण विधियाँ लोकप्रिय है :–

1. बन्दीकरण (अपहरण) द्वारा विवाह
2. विनिमय द्वारा विवाह
3. क्रय द्वारा विवाह
4. सह-पलायन द्वारा विवाह
5. सेवा द्वारा विवाह
6. बल प्रवेश द्वारा विवाह
7. परीक्षा द्वारा विवाह
8. परस्पर स्वीकृति द्वारा विवाह
9. परिवीक्षा द्वारा विवाह

जब कोई पुरुष एक स्त्री का बलपूर्वक उसके गांव से छीन लेता है और उससे विवाह कर लेता है तो उसे बन्दीकरण विवाह कहते हैं। बहुत से जनजातीय समाज इस प्रकार के विवाह को स्वीकृति देते हैं, जो वीरता तथा शौर्य का प्रतीक है। बन्दीकरण द्वारा विवाह उत्तर-पूर्वी क्षेत्र की नागा जनजातियों में लोकप्रिय रहा है जहाँ एक गाँव के नागा अपने शत्रु गाँव पर आक्रमण करते थे तथा वयस्क लड़कियों को बन्दी बना लेते थे। इससे नारी-शिशु हत्या को बढ़ावा मिला। किन्तु भारतीय दंड संहिता के व्यापक प्रयोग तथा बढ़ती हुई चेतना के फलस्वरूप यह रिवाज तेजी से विस्मृति में विलुप्त होता जा रहा है। बन्दीकरण के मामलों की सूचना 'हो' जनजाति में भी प्राप्त हुई है जो इसे "ओपोरतिपी" पुकारते हैं, तथा गोंड इसे 'पोसियोथर' कहते हैं।

कुछ अन्य जनजातियों जैसे भूमिज, खाड़िया, मुंडा, संथाल आदि में इस पद्धति को दिखावटी अपहरण (mock capture) के रूप में स्थान दिया गया है जिसमें विवाह संबंध को अन्तिम रूप देने के पश्चात् लड़की के माता-पिता दूल्हे से निर्धारित स्थान पर आने के लिए तथा उनकी पुत्री का अपहरण करने का निवेदन करते हैं। दिखावटी रूप से लड़की (दुल्हन) भी प्रतीकात्मक प्रतिरोध प्रस्तुत करती हैं। 'हो' जैसी कुछ जनजातियों में बहुत अधिक वधू-धन होने के कारण अपहरण-विवाह करने का रास्ता खुल जाता है।

मजूमदार सूचित करते हैं कि असम में एक गाँव के दूसरे गाँव पर आक्रमण करने के दौरान शारीरिक अपहरण होते हैं। मध्य भारत में यह विधि अधिक शान्तिपूर्वक है जहाँ मेले व त्योहार के दिनों में यह किया जाता है जब एक गाँव के लोग दूसरे गाँव के लोगों से मिलते हैं तथा खूब खुशियाँ मनाते हैं व मद्यपान तथा नशाखोरी करते हैं। इस प्रकार के अपहरणों को सामाजिक स्वीकृति प्रदान की जाती है जिसमें अपहरण करने वाले वीर को मुआवजा अदा करना पड़ता है अथवा अपने जनजातीय बन्धुओं को भोज देना पड़ता है।

विनिमय द्वारा विवाह का विकास प्रमुखतः ऊँचे वधू धन से बचने के साधन के रूप में हुआ। इस प्रकार के विवाह में दो परिवार महिलाओं का विनिमय एक दूसरे से करते हैं। इस प्रकार वधू-धन के भुगतान से बच जाते हैं। यह पद्धति कम या अधिक रूप से पूरे भारत में पायी जाती है जिसमें एक पुरुष अपनी बहिन अथवा अपने घर की किसी अन्य स्त्री को अपनी पत्नी के बदले में देता है। दिलचस्प बात यह है कि मेघालय की जनजातियाँ इसकी अनुमति नहीं देती हैं।

क्रय द्वारा विवाह की पद्धति सम्पूर्ण जनजातीय भारत में वैवाहिक संबंधों के एक

लोकप्रिय तरीके के रूप में अत्यधिक प्रचलित है। वधू-धन इस प्रकार के विवाह में केन्द्रीय विषय होता है। इसका भुगतान नकद अथवा किसी वस्तु के रूप में अथवा आंशिक रूप से नकद तथा आंशिक रूप से वस्तु के रूप में किया जाता है। लोवी ने इस बात पर बल दिया है कि यद्यपि इस प्रकार लेनदेन के आर्थिक स्वरूप को कम नहीं किया जा सकता, फिर भी वधू-धन का भुगतान करने को विक्रय अथवा क्रय की संज्ञा देना गलत होगा। यह केवल महिलाओं की उपयोगिता का प्रतीक हो सकता है तथा उसके माता-पिता के परिवार को मुआवजे के रूप में दिया जाता है। मुख्य जनजातियों में वधू-धन अदा करके विवाह करने की पद्धति मुंडा, ओराँव, 'हो', संथाल, रेगमा, नागा आदि जनजातियों में प्रचलित है। वधू-धन का खराब परिणाम सम्भवतः छोटानागपुर की 'हो' जनजातियों में पाया जाता है। वधू की निरन्तर बढ़ती हुई कीमत ने उनकी निर्धन आर्थिक दशा का स्वरूप खराब बना दिया है। यह धन इतना अधिक होता है तथा उससे कम धन स्वीकार करना किसी के पद-स्तर एवं प्रतिष्ठा के विपरीत होने के कारण बहुत से पुरुष तथा महिलाएं अविवाहित रह जाते हैं। ये अभागे स्त्री व पुरुष प्रायः अपहरण द्वारा विवाह करने के लिए बाध्य हो जाते हैं तथा चिर कुमारियों को प्रायः और अपमान भोगना पड़ता है जबकि उन्हें जादूगर या चुड़ैल के रूप में जाना जाने लगता है। अनेक मामलों में विवाह की उनकी स्वाभाविक अभिलाषा उन्हें साहूकारों के चंगुल में फँसा देती है जिसके फलस्वरूप वे बँधुआ मजदूर बन जाते हैं।

सह-पलायन विवाह भी जनजातीय भारत में प्रचलित है। जैसा कि पूर्ण विदित है, बाल विवाह जनजातीय भारत की एक नयी घटना है। उन्होंने इसे अपनी पड़ोसी हिन्दुओं से संस्कृति-सम्पर्क के फलस्वरूप अपनाया है। पहले केवल व्यस्क व्यक्ति ही वैवाहिक संबंधों में प्रवेश करते थे तथा इसीलिए लगभग सभी जनजातियों में माता-पिता के अनुमोदन के साथ, परस्पर सहमति से विवाह करना सामान्य नियम था। किन्तु समय के परिवर्तन के साथ-साथ बालकों तथा बालिकाओं ने अपनी पारंपरिक विनम्रता को त्यागना प्रारम्भ कर दिया। यदि माता-पिता की सहमति नहीं प्राप्त होती तो भाग कर विवाह करना ही सामान्यतः इसका एक रास्ता रहता है और ज़िद के आगे झुक जाने वाले बुजुर्ग 'प्रेमी-जोड़े' को वापस ले लेते हैं। इस प्रकार की विवाह पद्धति अक्सर बहुत ऊँचे वधू-धन के कारण भी दिखाई पड़ती है। छोटानागपुर की जनजातियाँ विभिन्न प्रकार के पलायनों के लिए प्रसिद्ध हैं। सेवा द्वारा विवाह वधू-धन के पूरे भुगतान से बचने का एक अन्य तरीका है जिसमें भावी दूल्हा, दुल्हन के घर पर सेवा करके इसे पूरा करता है। इस प्रकार यदि एक गोंड अथवा बैगा अपने को वधू-धन चुका पाने की स्थिति में नहीं पाता तो वह अपने भावी सास-ससुर के घर

जाकर नौकर के रूप में कार्य करता है तथा कुछ वर्षों के बाद अपनी मनचाही लड़की से विवाह करता है। मणिपुर के पुरुष इसे परम्परागत रूप से उचित और एकमात्र वैवाहिक पद्धति मानते हैं। उन्हें दुल्हन के घर पर तीन वर्ष तक कार्य करना पड़ता है तथा एक पुत्र की तरह जिम्मेदारियों को पूरा करना पड़ता है। भोजन एवं आवास की व्यवस्था उसके रुकने की पूरी अवधि में ससुराल वालों को करनी पड़ती है। बिरहोर लोगों में ससुर प्रायः धन उधार देते थे जिसे दामाद किश्तों में वापस करता है। जब तक उधार अदा नहीं हो जाता दामाद को ससुर के घर पर रहने के लिए बाध्य होना पड़ता है। बन्दीकरण द्वारा विवाह के विपरीत भी भारतीय जनजातियों में एक विवाह पाया जाता है जिसे अनाधिकार प्रवेश द्वारा विवाह या घुसपैठ विवाह कहा जाता है। यह एक ऐसी लड़की का मामला होता है जो किसी अनिच्छुक युवक से विवाह करने की अभिलाषा रखती है। इस प्रकार के मामले में इच्छुक लड़की अनिच्छुक दूल्हा तथा उसके माता-पिता पर अपने को थोप देती है। वह अपनी भावी पति तथा उसके माता-पिता की सेवा करती है किन्तु उसके बदले अपमानित की जाती है तथा उसे कष्ट दिया जाता है। यदि वह अपने इरादों में जुटी रहती है तथा उसकी सहनशक्ति काफी समय तक बनी रहती है तो अन्ततः वह घर की बहू के रूप में स्वीकार कर ली जाती है। छोटानागपुर के बिरहोर तथा 'हो' कुछ प्रमुख जनजातियाँ हैं जो इसे व्यवहार में लाती हैं। 'हो' लोग इसे बिलकुल उचित ही "अनादर" पुकारते हैं जिसका अर्थ अपमान अथवा असमान है।

कुछ भारतीय जनजातियों में अपना जीवन-साथी प्राप्त करने के लिए व्यक्तिगत साहस तथा बहादुरी किसी नवयुवक में वांछित योग्यता के रूप में स्वीकार की जाती है। भावी दूल्हे को, इससे पहले कि वह मनचाही लड़की का हाथ माँगने का दावा करे, अपनी शक्ति को सिद्ध करना पड़ता है। यह पद्धति भील लोगों में सबसे अधिक लोकप्रिय है। होली के त्योहार के समय युवक तथा नवयुवतियाँ, एक खम्भे अथवा वृक्ष के चारों ओर जिसके सिरे पर एक नारियल तथा गुड़ बँधा होता है, लोकनृत्य करते हैं। सभी युवकों तथा युवतियों को इस नृत्य में भाग लेने की आजादी होती है जिसे स्थानीय तौर पर "गोल गदेदों" कहते हैं। लड़कियाँ पेड़ के चारों ओर नर्तकियों का एक आन्तरिक घेरा बना लेती हैं। जब कोई इच्छुक घेरे को तोड़ते हुए नारियल को तोड़ने का प्रयास करता है तो लड़कियाँ अपनी पूरी शक्ति से उसका प्रतिरोध करती हैं। आकांक्षी पुरुष को अनेक चोटें भी आ सकती हैं। किन्तु इसे सही नीयत से लिया जाता है। यदि इन बाधाओं के बावजूद एक साहसी पुरुष इस नाटक में कामयाब होता है तो उसे घेरा बनाने वाली लड़कियों में से किसी को भी अपनी पत्नी के रूप में माँगने का अधिकार होता है।

परस्पर सहमति द्वारा विवाह जनजातियों का हिन्दुओं के सम्पर्क का परिणाम है। यह पद्धति हिन्दू, मुसलमान, ईसाइयों सभी में प्रचलित पद्धति के समान है जिसमें विवाह की समस्त औपचारिकताएँ संबंधित पक्षों द्वारा परस्पर परामर्श तथा सहमति से पूर्ण की जाती हैं।

परिवीक्षा (Probation) द्वारा विवाह को आधुनिक कोर्टशिप की पद्धति का आदिम रूप कहा जा सकता है। इस पद्धति के अन्तर्गत भावी पति तथा पत्नी को दुल्हन के घर में कुछ समय के लिए साथ रहने की अनुमति दी जाती है। यदि वे एक दूसरे को पसन्द करते हैं तथा विवाह करने का निर्णय लेते हैं तो बुजुर्ग लोग उनके विवाह की व्यवस्था करते हैं। यदि दोनों एक दूसरे का स्वभाव एक दूसरे के मुताबिक नहीं पाते हैं तो वे एक दूसरे से अलग हो जाते हैं तथा पुरुष को लड़की के माता-पिता को इसका मुआवज़ा देना पड़ता है। इस प्रकार के विवाह का प्रचलन अरुणाचल प्रदेश के कुकी लोगों में पाया जाता है। छोटानागपुर की कुछ जनजातियाँ भी इस प्रचलन का अनुमोदन करतीं हैं तथा इसे "राजी खुशी" करती हैं।

## पूर्व-वैवाहिक तथा विवाह के बाहर यौन-संबंध (Pre-marital and Extra-marital sex)

जनजातीय जीवन का एक और क्षेत्र है जिसका दुरुपयोग बहुत से लेखकों तथा पत्रकारों द्वारा बड़े शर्मनाक तरीके से किया गया है। जहाँ दूसरे लोगों की कल्पना के घोड़े बेलगाम छोड़ दिये गये वहाँ मानवशास्त्रियों को श्रेय जाता है जो कुशलतापूर्वक इन दोषों से बचते हैं तथा यौन-जीवन सहित जनजतीय जीवन के सभी पक्षों का गम्भीर तथा वस्तुनिष्ठ अध्ययन करते हैं। पूर्व-वैवाहिक यौन संबंधों को कम या अधिक रूप में सम्पूर्ण जनजातीय भारत में अनुमति देते देखा जाता है। जैसा कि विश्व के अन्य भागों में जनजातीय लोगों में देखा जाता है, मध्य भारत की जनजातियों में भी पूर्व वैवाहिक यौन संबंधों को कुछ हद तक नजरअन्दाज किया जाता है। जब तक उसका परिणाम गर्भ धारण न हो जो सामान्यतः लड़की के माता-पिता द्वारा बड़ा अपमानजनक माना जाता है। ऐसी स्थिति में लड़की से बच्चे के पिता का नाम बताने को कहा जाता है तथा उसे लड़की से विवाह करने के लिए बाध्य किया जाता है। इस प्रकार के मामलों में वधू-धन को या तो घटा दिया जाता है अथवा पूर्ण रूप से समाप्त कर दिया जाता है। कोनयक नागाओं में विवाह के बाद भी लड़की अपने माता-पिता के घर पर ही रहती है जहाँ उसके माता-पिता तथा ग्रामवासियों द्वारा उसके तौर-तरीकों को नजरअन्दाज किया जाता है। सामान्यतः अपने पहले बच्चे के जन्म के बाद ही वह अपने पति के घर जाती है। बस्तर के गुड़िया गोंड लोगों में नवयुवकों

तथा नवयुवतियों को युवागृह की चारदीवारी के अन्दर पारंपरिक रूप से कुछ सीमा तक यौन संबंधों की छूट दी जाती है। विवाह के पूर्व मेलजोल रखते हुए वे अपने माता-पिता के आशीर्वाद तथा अनुमोदन से विवाह कर लेते हैं। आओ नागा लोग भी लड़कियों के कौमार्य को अनुचित महत्त्व नहीं देते हैं।

विवाहित या विवाह के बंधनों के बाहर यौन संबंध पूर्व वैवाहिक यौन संबंधों की तरह सामान्य नहीं हैं और न ही इन्हें उतनी छूट दी जाती है। ऐसा कहा जाता है कि माड़िया लोगों में कत्ल तथा आत्महत्या के बहुत अधिक मामले वैवाहिक विश्वासघात के कारण ही हैं। किन्तु उत्तरप्रदेश व उत्तराखंड के थारु लोग एक दिलचस्प उदाहरण प्रस्तुत करते हैं। कहा जाता है कि थारु पुरुष अपनी पत्नियों के सौन्दर्य से इतना अधिक अभिभूत तथा भयभीत रहते हैं कि वे अपने को उनके समक्ष केवल अधीन स्थिति में पाते हैं। पत्नी विवाहोत्तर संबंध स्थापित कर सकती है तथा इस प्रकार के संबंध जारी रख सकती है। उत्तराखंड की खासा जनजाति ने विवाहोत्तर यौन संबंधों के विषय में एक भिन्न प्रणाली को जन्म दिया है। चूँकि यहाँ अधिकांश लड़कियों का विवाह छोटी आयु में कर दिया जाता है, अतः पूर्व वैवाहिक यौन संबंधों की सम्भावना मुश्किल से ही होती है। इसलिये उनकी मुख्य चिन्ता विवाहोत्तर यौन संबंध होते हैं। अपने माता-पिता के घर में पत्नी को "ध्याँती" कहा जाता है जबकि उसके पति के घर में उसे "रयान्ति" कहा जाता है। उनकी मूल बोली के साधारण से दिखने वाले ये दो शब्द अत्यन्त महत्त्वपूर्ण अर्थ रखते हैं। जब वह "ध्याँति" होती है तो वह सभी प्रकार की स्वतंत्रता का आनंद लेती है। वह एक स्वतंत्र चिड़िया होती है। वह किसी से भी मिल सकती है या वह किसी को भी अपने साथ छूट लेने की अनुमति दे सकती है। किन्तु वही स्त्री जंजीर से जकड़े गुलाम की तरह होती है जब वह एक "रयान्ति" होती है। अपने पति के घर में उसे खेतों पर तथा घर में कठिन परिश्रम करना पड़ता है। वह सामान्यतः कुंठाग्रस्त रहती है तथा उसकी चालढ़ाल सदैव उसके पति/पतियों तथा अन्य संबंधियों द्वारा नियंत्रित रहती है। कुछ समय के लिए स्थानीय मेलों तथा त्योहारों के अवसरों पर वह अपने माता-पिता के घर आती है। ये महिलाएं अनेक पुरुषों की, जो मानसिक तथा शारीरिक तौर पर एक दूसरे से भिन्न होते हैं, पत्नी हाने से जो तनाव महसूस करती हैं वह अपने मायके के गाँव में स्वतंत्र एवं स्वच्छंद जीवन में कम से कम कुछ समय के लिए उससे मुक्त हो जाती हैं। इस प्रकार की दोहरी भूमिका ने मजूमदार (1962) तथा सक्सेना (1964) जैसे मानवशास्त्रियों को इसे "दोहरी नैतिकता" कहने के लिए प्रेरित किया जो वास्तव में एक गलतफहमी है जबकि इसे किसी बाहरी व्यक्ति द्वारा देखा जाता है जो इन लोगों के नैतिक जीवन की माप अपनी नैतिकता तथा पाखंड के मानदण्डों से करने का प्रयास करता है।

## विवाह-विच्छेद (Divorce)

हिन्दुओं के विपरीत, भारत की जनजातियों में विवाह एक धार्मिक संस्कार नहीं है। अतः तलाक अथवा विवाह का विघटन केवल सम्भव ही नहीं है अपितु इसे व्यापक रूप में व्यवहार में भी लाया जाता है। इसे आसानी से प्राप्त किया जा सकता है यदि दोनों पक्ष विवाह संबंध में और अधिक नहीं रहना चाहते। किन्तु तलाक के आधार विभिन्न जनजातियों में भिन्न-भिन्न होते हैं। खासी लोग व्यभिचार, बांझपन तथा स्वभाव में असंगति के कारण तलाक की अनुमति दे देते हैं। कुछ मामलों में विघटन के इच्छुक पक्ष को दूसरे पक्ष को मुआवज़ा देना पड़ता है तथा ऐसे लोगों में पुनर्विवाह सम्भव नहीं होता। विवाह के समान ही विघटन भी एक सार्वजनिक कार्यवाही होती है जहाँ माता बच्चों को अपने कब्ज़े में लेती है। लुशाई तलाकशुदा लोगों में पुनर्विवाह की छूट देते हैं। गोंड, खाड़िया तथा अन्य भी वैवाहिक विश्वासघात, बाँझपन तथा काहिली के आधार पर स्वतंत्र रूप से तलाक की छूट देते हैं। हिन्दू समाज से सम्पर्क के बावजूद विधवा पुनर्विवाह भारत की लगभग सभी जनजातियों में पाया जाता है। चूँकि विधवा पुनर्विवाह भारतीय जनजातियों में कोई बदनामी नहीं लाता इसलिये कम आयु की स्त्रियों के विधवा बने रहने की कष्टदायक स्थिति अपेक्षाकृत बहुत कम नज़र आती है।

# 5

# परिवार तथा नातेदारी

मनुष्य के पास उच्च विकसित मस्तिष्क जैसा एक उपहार है जो उसे प्रकृति का सामना करने तथा उसका उपयोग करने की क्षमता प्रदान करता है। इस प्रकार जो समूह अस्तित्व में आते हैं उनकी एकता में विभिन्न उद्देश्य व सिद्धान्त होते हैं। इनमें से सबसे सरल तथा सर्वाधिक स्पष्ट अन्तर्संबंध का सिद्धान्त है, जिसका आधार है विवाह एवं वंशज के आधार पर परिवार के विभिन्न सदस्यों में संबंध। यह संबंध तीन प्रकार के होते हैं—पति-पत्नी के बीच, माता-पिता तथा बच्चों के बीच तथा एक ही माता-पिता की सन्तानों के बीच।

## परिवार

जनजातीय भारत परिवारों की विविधता का प्रदर्शन करता है, क्योंकि विभिन्न जनजातियों में विभिन्न नियम तथा रिवाज पाये जाते हैं। मुख्यतया दो प्रकार के परिवारों में परिवार के सदस्यों की संख्या के आधार पर भेद किया जा सकता है—(1) सरल अथवा केन्द्रीय (2) बड़ा अथवा संयुक्त परिवार।

प्रथम प्रकार स्त्री-पुरुष तथा उनकी सन्तानों के आधारभूत समूह का प्रतिनिधित्व करता है। इस प्रकार के परिवारों में सदस्यों की संख्या अत्यंत सीमित होती है। अनेक भारतीय जनजातियों जैसे बिरहोर, परिया, कोरवा आदि इस प्रकार का परिवार रखते हैं। यदि यह "केन्द्र" अन्य निकट संबंधित नातेदारों के जुड़ने से विस्तृत हो जाता है तो इसे विस्तृत परिवार कहते हैं। यदि यह नातेदारी के सिद्धान्तों के आधार पर और आगे विस्तृत हो जाता है तो हम बिन्दुओं के संयुक्त परिवार जैसा परिवार पाते हैं। केरल के नायर इस प्रकार के परिवार का शास्त्रीय उदाहरण माने जाते हैं तथा नायर का "थारावाड़" अपने आप में एक महत्त्वपूर्ण संस्था है।

कुछ विभिन्न परिवारों में विवाह का, भागीदारों की संख्या के आधार पर भेद किया जा सकता है। यद्यपि अधिकांश जनजातियाँ एक विवाह वाले परिवार रखती हैं अर्थात् एक पति, एक पत्नी तथा उनके बच्चों वाले परिवार), किन्तु बहुविवाह वाले

परिवार भी अप्रचलित अथवा असामान्य नहीं है। इस प्रकार के परिवार दो प्रकार के बहुविवाह-बहुपत्नी तथा बहुपति विवाह—के आधार पर अस्तित्व में आते हैं। एक बहुपत्नी वाले परिवार में एक पति, दो अथवा अधिक पत्नियाँ तथा उनके बच्चे होते हैं। इस प्रकार के वैवाहिक संबंधों के उदाहरण सम्पूर्ण जनजातीय भारत में सामान्य रूप से पाये जाते हैं। इसके अतिरिक्त बहुपति वाले परिवार होते हैं जिनमें पति एक से अधिक होते हैं। जैसे कि नीलगिरि पहाड़ियों की टोडा जनजाति तथा उत्तराखंड में जौनसार बावर के जौनसारी अथवा खासा लोगों में, जहाँ अनेक भाई एक पत्नी से विवाह करते हैं तथा किसी भी पति को संभोग संबंधी विशेषाधिकार प्राप्त नहीं होते। प्रारम्भ में महिलाओं की कमी, स्त्री-शिशु हत्या की प्रथा के कारण हुई जिसने लिंग अनुपात को पुरुषों की अधिकता में परिवर्तित कर दिया, किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि यौन संबंध सर्वथा स्वच्छंद हैं। वास्तव में संबंधित पक्षों द्वारा कठोर नियमों का पालन किया जाता है तथा जब कोई बच्चा पैदा होता है तो उसका पितृत्व एक सामाजिक रस्म के माध्यम से स्थापित किया जाता है न कि जैविक विचारों के आधार पर।

परिवार के अन्य अनेक प्रकार, पिता अथवा माता के अधिकारों के आधार पर भी, भारत की जनजातियों में पाये जाते हैं। परिवार में कौन अधिक महत्त्वपूर्ण है, पिता अथवा माता—यह परिवार के पितृ-प्रधान अथवा मातृ-प्रधान स्वरूप को निर्धारित करता है। यह स्थिति आगे दो और प्रकार की स्थितियों को जन्म देती हैं। पितृवंशिक तथा मातृवंशिक और पति स्थानिक/पत्नी स्थानिक। अधिकांश भारतीय जनजातियाँ परिवार में पिता के अधिकार को अधिक मानती हैं। अतः वे पितृसत्तात्मक परिवार रखते हैं, जहाँ वंश भी पिता द्वारा चलता है अर्थात् पितृवंशिक प्रथा वधू विवाह के बाद अपने माता-पिता का घर त्याग देती है तथा अपने पति के घर आकर रहती है अर्थात् पति स्थानिक, किन्तु, केरल के नायर तथा मेघालय के खासी मातृवंशीय, मातृसत्तात्मक तथा मातृस्थानिक परिवार के शास्त्रीय उदाहरण हैं। खासी लोग, खासी तथा जैन्तिया पहाड़ियों में रहते हैं। वे पूरे विश्व में मातृसत्तात्मक होने के लिए सर्वश्रेष्ठ उदाहरण माने जाते हैं। वे अपना वंश काल्पनिक स्त्री पूर्वजों से जोड़ते हैं। उनके परिवार में माता, उसके अविवाहित बच्चे, बेटे व बेटियाँ, उसका पति, उसकी विवाहित पुत्रियाँ तथा उनके पति रहते हैं। खासी विवाह के समय मातृ स्थानिक होते हैं। किन्तु बाद में जब पति अपनी पत्नी तथा बच्चों का पालन पोषण कर सकने की योग्यता का प्रमाण प्रदर्शित करता है तो अपना स्वतंत्र घर बसा सकता है। पारंपरिक नियमों के अनुसार पुरुषों को स्वामित्व के व्यक्तिगत अधिकार नहीं होते चाहे वे पति हों अथवा पुत्र। संपत्ति स्त्रियों से स्त्रियों को ही प्राप्त होती है। मजूमदार का यह

कहना उचित है, कि खासी परिवार की विवृद्धि रक्त संबंधी महिलाओं से होती है जो चारों ओर से पुरुषों—अविवाहित भाई व पुत्र, पिता व पतियों से घिरी रहती हैं और जहाँ संपत्ति, धर्म, आवास, सभी महिलाओं के हाथों में होते हैं। पुरुषों का भी सम्मान किया जाता है तथा वे कुछ अधिकार भी रखते हैं। सभी प्रकार से शक्तिमान खासी महिला अपने पति को अपना स्वामी मानती है। उपर्युक्त वर्णन पारंपरिक स्थिति से संबंधित है तथा खासी भी समय के साथ-साथ परिवर्तित हो रहे हैं।

## नातेदारी

संसार के सभी भागों तथा सभी समाजों में चाहे उनका प्रौद्योगिक स्तर कुछ भी हो विभिन्न प्रकार के बंधनों से एक साथ बँधे रहते हैं। इन बंधनों में से सबसे विश्वव्यापी, सबसे अधिक बुनियादी बंधन वह है जो जनन पर आधारित है तथा जिसे नातेदारी या बन्धुत्व कहते हैं किन्तु नातेदारी के मामलों में देखा जाता है कि सामाजिक मान्यता जैविक तथ्य पर हावी हो जाती है, विशेष तौर पर, पूरे विश्व के आदिम समाजों में।

भारत की जनजातियाँ वंशों में बँटी हैं। अधिकांश जनजातियाँ पितृपक्षीय वंशों में बँटी हैं, किन्तु मेघालय की खासी तथा गारो जनजातियाँ मातृपक्षीय वंश की हैं।

भारत के अन्य लोगों की तरह, जनजातीय लोग भी दोनों प्रकार की नातेदारी को मान्यता देते हैं जिनके नाम हैं समरक्त नातेदारी तथा वैवाहिक नातेदारी। समरक्त संगोत्रता में उन सभी को शामिल किया जाता है, जो रक्त अथवा जैविक बंधनों के द्वारा संबंधित होते हैं। वैवाहिक संगोत्रता में वे लोग शामिल होते हैं, जिन्हें विवाह के माध्यम से मान्यता प्राप्त होती है। किन्तु एक दिलचस्प तथा उल्लेखनीय तथ्य, जैसा पहले कहा जा चुका है, यह है कि उनमें समरक्त संगोत्रता ही केवल जैविक बंधनों को मान्यता नहीं प्रदान करती। नीलगिरि पहाड़ियों के टोडा लोगों का उदाहरण भ्रातृ बहुपति प्रथा को मानने वाले के रूप में दिया जा सकता है। उनमें पितृत्व का निर्धारण "धनुष तथा बाण समारोह" नामक एक रस्म के माध्यम से किया जाता है, जिसमें एक विशेष भाई जो पत्नी को धनुष तथा बाण अपने समूह के समक्ष प्रस्तुत करता है, बच्चे के पिता के रूप में मान्य हो जाता है तथा जब तक दूसरा भाई ऐसा उदाहरण प्रस्तुत नहीं करता, सभी भाइयों के द्वारा उस पत्नी से जन्मे सभी बच्चे उसी भाई के बच्चे माने जाते हैं, जिसने पिछला समारोह किया था। नातेदारी बंधनों का सामाजिक जीवन पर सर्वाधिक प्रभाव का अनुभव प्रत्येक समाज में पाये जाने वाले नातेदारी के व्यवहारों के माध्यम से होता है। भारत की जनजातियों में नातेदारी के व्यवहार (kinship usages) अत्यन्त दिलचस्प तथा उल्लेखनीय दृश्य विधान प्रस्तुत करते हैं। इस प्रकार के व्यवहार प्रतिमान, बोले जानेवाले वे मौन नातेदारी प्रणाली के जटिल पहलुओं की

व्याख्या करते हैं। अनेक जनजातियों में यह पाया गया है कि बहुत से संबंधी एक दूसरे से परिहार (avoidance) करते हैं अर्थात् दूर रहते हैं। पुत्रवधू तथा सास-ससुर के बीच परिहार अत्यन्त सामान्य बात है। इसी प्रकार यद्यपि अपेक्षाकृत कम सर्वव्यापी तथा कम कठोरतापूर्ण दामाद तथा उसके सास-ससुर के मध्य संबंधों में भी परिहार पाया जाता है क्योंकि ये संबंध बहुत से सामाजिक अवरोधों से युक्त होते हैं। अंदमान तथा निकोबार द्वीप समूहों की जनजातियों के मध्य बड़ा भाई अपने छोटे भाई की पत्नी से बात नहीं करता। रैडक्लिफ ब्राउन ने इसकी सर्वाधिक ठीक लगने वाली व्याख्या प्रस्तुत की है। उनका कथन है कि जब लोग एक दूसरे के सम्पर्क में आते हैं तो परस्पर सहयोग तथा संघर्ष की सम्भावनाएं मौजूद रहती हैं। किन्तु नातेदारी के कुछ प्रकार ऐसे होते हैं जहाँ शत्रुता सामाजिक मानकों के विरुद्ध मानी जाती है। इस प्रकार की शत्रुता के प्रकट होने को रोकने का सबसे उत्तम तरीका सन्निकटता की वृद्धि पर प्रतिबंध लगाना है, इसलिए नातेदारी में परिहार होता है। फ्रायड की मनोविश्लेषणवादी व्याख्या यौन आकर्षण पर आधारित है। अतः उनके अनुसार विभिन्न प्रकार के संबंधियों के मध्य यौन सन्निकटता पर रोक की आवश्यकता है।

नातेदारी से संबंधित व्यवहार का एक और रूप, जो परिहार के बिल्कुल विपरीत है, परिहास (Joking Relationship) संबंधों के माध्यम से व्यक्त किया जाता है। इस प्रकार का मज़ाक गाली-गलौज में भी परिवर्तित हो सकता है तथा भोंडे और भद्दे यौन संदर्भों तथा उपहास का रूप ले सकता है। साली तथा बहनोई तथा पत्नी और उसके पति के भाई के बीच मज़ाकिया रिश्तों के अतिरिक्त इस प्रकार के रिश्ते दादा-दादी और पोती-पोतों के बीच उराँव तथा बैगा लोगों में पाये जाने का जिक्र मौजूद है। छोटानागपुर की 'हो' जनजाति के लोग विभिन्न प्रकार के परिहास संबंधों के इच्छुक प्रतीत होते हैं। मजूमदार का मत है कि परिहास संबंध समानता तथा पारस्परिकता का संकेत होते हैं। वे भविष्य में स्थापित होने वाले यौन संबंधों का भी द्योतक हो सकते हैं। पत्नी तथा उसके पति के भाई (देवर) में परिहास-संबंध की व्याख्या इसी रूप से की जा सकती है। प्रत्येक दशा में दोनों सम्भावित संगी हो सकते हैं। जब कोई मज़ाकिया रिश्ता पारस्परिक न होकर एकतरफा होता है तो वह सामाजिक नियंत्रण की भूमिका पूर्ण करता है। यह व्यंग्य तथा हँसी उड़ाने के माध्यम से सुधार लाने का संकेत बन जाता है।

मातुलेय (Avunculate) तथा पितृश्वसेय (Amitate) जैसा कि मानवशास्त्रीय बोल-चाल में जाना जाता है, नातेदारी की दो अन्य रीतियों के उदाहरण हैं जो भारतीय जनजातियों में प्रचलित हैं। खासी, गारो, नायर तथा अनेक दूसरे समाजों में मामा अपने भाँजों तथा भांजियों के जीवन तथा स्नेह में परिपाटी के रूप में एक महत्त्वपूर्ण

स्थान रखता है। उसकी उनके प्रति विशेष जिम्मेदारियाँ होती हैं जो उनके पिता से भी अधिक होती हैं तथा वह अपनी संपत्ति का हस्तान्तरण अपने भाँजे को करता है। इस प्रकार का चलन मातुलेय कहलाता है। स्पष्ट है कि यह मातृवंशीय भूमिका, जैसाकि मांमा के विषय में वर्णित की गई है, बुआ के लिए भी है जिसे पितृश्वसेय कहते हैं। इसका प्रचलन पितृवंशीय जनजातियों में पाया जाता हैं।

खासी, टोडा, हो, ओराँव, तथा अन्य कई जनजातियों में एक दिलचस्प प्रचलन पाये जाने की चर्चा है ज़िसे (कुवाद) सहप्रसविता कहा जाता है। इसका आधार ट्रोब्रियाण्ड द्वीपवासियों की उनकी स्थानीय बोली में उसी नाम से जाना जानेवाला समान चलन है। इस प्रचलन में पति को अपनी पत्नी के साथ एक अशक्त का जीवन व्यतीत करना पड़ता है, जब वह किसी बच्चे को जन्म देती है। वह सक्रिय जीवन से अलग रहता है, वह रोगियों का भोजन खाता है तथा कुछ निषेधों का पालन करता है। इस प्रकार एक खासी पति अपनी पत्नी के समान किसी नदी या धारा को पार नहीं कर सकता अथवा कपड़े नहीं धो सकता, जब तक कि बच्चों के जन्म से संबंधित आत्माओं का आराधन नहीं कर दिया जाता। कभी-कभी, कुछ अन्य जनजातियों में इस प्रचलन को बेंचारे पति को उसकी पत्नी की झोपड़ी के पास (जहाँ वह बच्चे को जन्म देना चाहती है) रखने तक लागू कर दिया जाता है। उसे अपनी पत्नी के प्रसव कष्ट के समय चिल्लाने, कराहने के लिए मजबूर किया जाता है तथा उसने अपनी पत्नी की क्रियाओं का अनुकरण करना पड़ता है। मैलिनोस्की का विश्वास है कि 'कुवाद वैवाहिक जीवन को मज़बूत करता है तथा पितृत्व स्नेह को प्राप्त करने हेतु यह एक सामाजिक क्रिया-विधि है। अन्य मानवशास्त्रियों ने इसकी मनोविश्लेषणवादी व्याख्या प्रस्तुत करने का प्रयास किया है। ऐसे विद्वानों ने इस प्रचलन को आधुनिक चिकित्सा व देखभाल के अभाव में पत्नी के कष्टों को हल्का करने की पति की अभिलाषा माना है, जिसका प्रयोग वह दिखावट के माध्यम से अपने प्रदर्शित व्यवहार के द्वारा करता है। कुछ विद्वानों ने इस प्रचलन को मातृप्रधान तथा मातृवंशीय सामाजिक व्यवस्था की एक विशेषता माना है, किन्तु इस प्रचलन का कुछ पितृप्रधान समाजों जैसे हो ओराँव आदि में पाया जाना इस अभिकथन को नकारता है।

# 6

# आर्थिक संगठन

भारतीय जनजातियों का आर्थिक संगठन विश्व के अन्य भागों के आदिम आर्थिक संगठनों से भिन्न है। बुनियादी तौर पर, उनकी अर्थव्यवस्था, आधारभूत जीविका निर्वाह की आवश्यकताओं को सन्तुष्ट करने की दृष्टि से चलायी जाती है। इसलिये वह उत्पादन-उपभोग अर्थशास्त्र की विस्तृत श्रेणी में आती है। इस प्रणाली के विपरीत अधिक विकसित अर्थव्यवस्था के संबंध में मजूमदार (1967) मत व्यक्त करते हैं "कि आर्थिक अधिवेश (सरप्लस) संचयन के साथ-साथ मानव का ध्यान भोजन, यौन तथा आवास के अतिरिक्त उन विभिन्न आर्थिक आवश्यकताओं की ओर ही अधिक नहीं गया अपितु अपने आर्थिक व्यवहार को परिष्कृत करने के प्रति भी गया जिसमें रहकर वह अपनी तीन प्राथमिक आवश्यकताएँ तथा अन्य द्वितीयक एवं तृतीयक आवश्यकताओं की सन्तुष्टि करता है।" बाद की अर्थव्यवस्था के प्रकार उत्पादन—उपभोग—वितरण अर्थव्यवस्था के प्रकार कहलाते हैं। समकालीन आदिम अर्थव्यवस्थाओं की एक अन्य उल्लेखनीय विशेषता यह है कि आधुनिक विश्व से उनके सम्पर्क के पूर्व उनका संचालन मुद्रा तथा अन्य आधुनिक आर्थिक कारकों के अभाव में किया जाता था। आधुनिक सभ्यता से अलग एकाकी जीवन व्यतीत करनेवाली आदिम जनजातियाँ अब भी मुद्रा उपकरणों के बिना ही इसकी व्यवस्था करती हैं। भारतीय जनजातियों के आर्थिक संगठनों के विषय में चर्चा करने से पूर्व यह आवश्यक प्रतीत होता है कि विभिन्न स्थितियों में संस्कृति के रूपान्तरण के फलस्वरूप मनुष्य द्वारा विकसित विभिन्न प्रकार की अर्थव्यवस्थाओं पर संक्षिप्त दृष्टि डाली जाए।

एडम स्मिथ पहला विद्वान था जिसने आर्थिक संगठन का वर्गीकरण करने का प्रयास किया। उसने शिकारियों, चरवाहों तथा कृषकों के विषय में चर्चा की तथा बाद में इस चर्चा को और अधिक व्यापक बनाने के लिये हस्तशिल्प तथा औद्योगीकरण को जोड़ दिया। अर्नेस्ट ग्रॉस ने विकासात्मक परिप्रेक्ष्य की सहायता से सांस्कृतिक विकास की निम्नलिखित स्थितियाँ प्रस्तुत की हैं :—

(1) संग्रहात्मक अर्थव्यवस्था

(2) यायावर संस्कृति अर्थव्यवस्था

(3) स्थायी ग्रामीण अर्थव्यवस्था

(4) नगरीय अर्थव्यवस्था

(5) महानगरीय अर्थव्यवस्था।

इसी प्रकार एहरेनफेल्स ने दक्षिण एशिया के प्रारम्भिक मानव समाजों में चार प्रकार की अर्थव्यवस्थाओं को प्रस्तुत किया है–

(1) खाद्य संग्रहक

(2) विशिष्ट आखेटक

(3) बागबानी कृषक

(4) खानाबदोश पशुचारक।

भारत के अधिकांश जनजातीय लोग इन श्रेणियों में से प्रथम तथा तृतीय वर्ग में आते हैं। डेरिल फोर्ड (1950) आर्थिक वर्गीकरण के विचार से सहमत नहीं है क्योंकि वह यह विश्वास नहीं करते कि लोग आर्थिक श्रेणियों में रहते हैं तथा वह कोई एक अर्थव्यवस्था में जीते हैं। अपितु अर्थव्यस्थाओं के सम्मिश्रण में जीते हैं। अर्थव्यवस्थाओं के संबंध में गार्डन चाइल्ड का भी लगभग यही मत है। फोर्ड, हर्स्कोविट्ज़ (1952) द्वारा प्रस्तुत अर्थव्यवस्था के पंचखण्डीय विभाजन से सहमत हैं।

(1) संग्रह

(2) आखेट

(3) मत्स्य संग्रहण

(4) कृषि

(5) पशुपालन

दोनों विद्वान इस बात से सहमत हैं कि किसी स्थान के लोगों को एक दूसरी अर्थव्यवस्था ग्रहण करने के लिये अपनी अर्थव्यवस्था को त्यागना आवश्यक नहीं है। थर्नवाल्ड ने विभिन्न प्रकार की अर्थव्यवस्थाओं की योजना प्रस्तुत की है जिनमें से कुछ का हमसे सीधा सरोकार है :–

1. समरूप समुदाय के पुरुष शिकारियों तथा पाशकों के रूप में तथा संग्रहकर्त्ताओं के रूप में महिलाओं के समरूप समुदाय, कदार, चेंचू, खाड़िया, कोरवा आदि कुछ भारतीय जनजातियाँ हैं जो इस श्रेणी में आती हैं।
2. शिकारियों, पाशकों, कृषकों के समरूप समुदाय, कामार, बैगा तथा बिरहोर इस प्रकार के कुछ उदाहरण हैं।

3. शिकारियों, पाशकों, कृषकों तथा शिल्पकारों का श्रेणीकृत समाज– अधिकांश भारतीय जनजातियाँ इस श्रेणी के अन्तर्गत आती हैं।
4. पशुपालक, टोडा तथा महान भील जनजाति के कुछ भाग भारत में इस श्रेणी के उत्कृष्ट उदाहरण हैं।
5. पशुपालक तथा शिकारियों के समरूप समुदाय। इस श्रेणी का प्रतिनिधित्व करने वाली जनजातियाँ भारतीय जनजातियों में नहीं हैं। टोडा न तो शिकार करते हैं और न ही मछली तथा चिड़िया पकड़ते हैं।
6. प्रजातीय (ethnic) रूप में स्तरीकृत पशु पालक तथा व्यापारी। उत्तराखंड के हिमालय की तराई क्षेत्र के भोटिया याक तथा जीवू (याक तथा गाय का वर्णसंकर) पालते हैं तथा भ्रमणशील व्यापारी होते हैं। वे जाड़े के दिनों में मैदानी क्षेत्र में उतर आते हैं तथा ग्रीष्मकाल में पहाड़ों में ऊपर तिब्बत तक चले जाते हैं।
7. सामाजिक दृष्टि से श्रेणी पशु पालक जिनमें शिकारी, कृषक तथा शिल्पकार लोग भी सम्मिलित हैं।

ऊपर दिये गये विश्व के विभिन्न क्षेत्रों में आर्थिक जीवन के विभिन्न पक्षों को अपने में समाविष्ट करने वाले कुछ महत्त्वपूर्ण वर्गीकरण है, लेकिन किसी एक प्रकार के वर्गीकरण के आधार पर भारतीय जनजातियों के आर्थिक संगठन का अध्ययन सम्भव प्रतीत नहीं होता। प्रत्येक जनजाति विविध आर्थिक क्रियाओं को माध्यम से अपना जीवन व्यतीत करती हैं। यह विशिष्ट प्रकार की प्रक्रिया आर्थिक संगठन में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभा सकती है किन्तु कुछ अन्य क्रियायें भी हैं जो पूरक का कार्य करती हैं। फिर भी भारत की जनजातियाँ प्रबल आर्थिक क्रियाओं के आधार पर निम्नलिखित विस्तृत श्रेणियों में विभाजित की जा सकती हैं :–

1. खाद्य संग्रहकर्त्ता व शिकारी
2. 'झूम' कृषक
3. कृषक
4. पशुपालक
5. शिल्पकार
6. औद्योगिक श्रमिक

## खाद्य संग्रहकर्त्ता तथा शिकारी

ये जनजातियाँ तेजी से विलुप्त होनेवाली श्रेणी हैं जो गहरे वनों तथा पर्वत शृंखलाओं में पाई जाती है। तेजी से विस्तारित हो रहे संचार साधनों के फलस्वरूप विकसित प्रौद्योगिकी रखने वाले लोगों से बढ़ते हुए सांस्कृतिक सम्पर्कों के कारण, वे अपने को कृषकों में परिवर्तित कर रहे हैं। फिर भी कुछ जनजातियाँ हैं जो अब भी भोजन संग्रहण तथा शिकार पर निर्भर करती हैं तथा कृषि की तकनीक (प्रविधि) से अनभिज्ञ हैं।

इस श्रेणी में वे जनजातियाँ सम्मिलित हैं जो कन्द-मूल और अन्य फलों तथा मधु इत्यादि का संग्रहण करती हैं तथा भोजन हेतु छोटे पशुओं का आखेट करती हैं। वे मछली भी पकड़ते हैं, यदि वहाँ इसके लिये स्थान उपलब्ध हो। इस प्रकार की जनजातियाँ मोम, गोंद तथा सींग आदि का भी संग्रहण करती है जो वस्तु-विनिमय के प्रयोजन के लिये हैं। इस प्रकार वे अपनी विशिष्ट आवश्यकताओं की पूर्ति अन्न की कृषि के अभाव में भी करने में समर्थ हो जाती हैं।

खाद्य संकलक तथा शिकारी लोगों की प्रकृतिं पर इतनी अधिक निर्भरता होती है कि वे सांस्कृतिक अनुकूलन की उत्कृष्ट नीति प्रदर्शित करने वाले, प्रकृति का अंग ही प्रतीत होते हैं। इस प्रकार की अधिकांश जनजातियाँ दक्षिण भारत में पाई जाती हैं। कोचीन के कदार, तमिलनाडु के मालापत्राम, पलियान, इरुला तथा कुरुम्बा, इनमें से प्रमुख हैं। इसके अतिरिक्त आन्ध्र प्रदेश की अन्नामलाई पर्वत शृंखला में रहने वाले चेंचू भी हैं। साथ ही छोटानागपुर के बिरहोर तथा खड़िया, कमार तथा बैगा, अभुजमड़िया, आन्ध्रप्रदेश के येनादी, तमिलनाडु के कोया और कोणा, कोंडा रेड्डी और महाराष्ट्र के कटकरी को भी इस श्रेणी में सम्मिलित किया जा सकता है।

अंदमान द्वीप समूह के ओंगे, जारवा आदि भी इस श्रेणी में आते हैं। यद्यपि उपर्युक्त सन्दर्भित अधिकांश जनजातियाँ कुछ अन्य द्वितीयक क्रियाओं में भी व्यस्त रहती हैं तथापि इनके आर्थिक संगठन की प्रभावी विधि अब भी भोजन संग्रहण तथा आखेट है। आदिम आर्थिक संगठन की अधिकांश विशेषताएं भोजन संग्रहक तथा शिकारी भारतीय जनजातियों की वर्तमान अर्थव्यवस्था में विद्यमान हैं जिनमें से सर्वप्रथम संसाधनों, औजारों तथा उपकरणों की कमी है। अधिकांशतः वे अपने ओज तथा सामर्थ्य के बल पर तकनीकी विकल्पों के अभाव के मध्य जैसे प्रौद्योगिकी विकास के इस सोपान पर बिताना स्वाभाविक है, अपना जीवन व्यतीत करते हैं। उनकी अर्थव्यवस्था अधिशेष (surplus) की अवधारणा ही अनुपस्थित है, क्योंकि न तो वे आधिक्य को उत्पन्न करने की स्थिति में हैं और न ही वे दैनिक जीवन की अधिक

वस्तुओं को सुरक्षित रखने में ही सक्षम हैं। इसके अतिरिक्त उनका यायावर अस्तित्व भी अपने संरक्षण एवं परिरक्षण की प्रविधियाँ विकसित करने में बाधा डालता है। चूँकि उनका सम्पूर्ण शारीरिक अस्तित्व भोजन संग्रहण में व्यतीत होता है अतः जीवन के किसी अन्य क्षेत्र में तेज विकास के अवसर कम ही मिलते हैं।

## झूम कृषक

आम आकलन के अनुसार भारत की कुल आबादी का 90 प्रतिशत किसी न किसी प्रकार की कृषि करता है। अधिकांश जनजातियाँ जो कृषि पर निर्भर रहती हैं, इसका अनुसरण दो प्रकार से करती हैं, कर्त्तनदहन प्रणाली का आदिम व पारंपरिक तरीका जिसे "झूम कृषि" कहते हैं तथा स्थायी अथवा "हल कृषि" जिसे विभिन्न प्रकार के कृषि औजारों एवं उपकरणों की सहायता से किया जाता है। चूँकि झूम कृषि संबंधित भारतीय जनजातियों की समस्याओं की "झूम कृषि" शीर्षक के अध्याय में विस्तार से चर्चा की गई है, वर्तमान अध्याय में इसकी संक्षिप्त चर्चा पर्याप्त होगी।

झूम कृषि भारतीय जनजातियों में एक प्राचीन संस्था है। सिद्धान्ततः इसका अर्थ एक अस्थायी समय के लिए किसी एक भूमि खण्ड पर कृषि करना तथा बाद में उसे छोड़ देना है। इसके अन्तर्गत वन के ढलान को साफ करना, गिराये हुये पेड़ों तथा घास को जलाना तथा राख से ढकी हुयी मिट्टी में बीजों का प्रसार करना सम्मिलित है। इस प्रकार किसी एक भूखण्ड पर एक या दो बार ही बीज बोये जा सकते हैं, इससे अधिक नहीं। इसके पश्चात् मिट्टी की उर्वरता कम होने लगती है। तब एक दूसरे भूखण्ड की सफाई की जाती है तथा, कृषि कार्य को इसमें स्थानान्तरित कर दिया जाता है।

भारत में इस विधि की कृषि उत्तर-पूर्वी क्षेत्र के दूरदराज पहाड़ी क्षेत्रों, उड़ीसा तथा छत्तीसगढ़, बिहार व झारखंड तथा अपेक्षाकृत कम मात्रा में देश के कुछ अन्य भागों में पायी जाती है। कुछ क्षेत्रों में इसे गैरकानूनी घोषित कर दिया गया है।

झूम कृषि को भारत में विभिन्न क्षेत्रीय नामों से जाना जाता है। असम, त्रिपुरा, अरुणाचल प्रदेश, तथा मिजोरम प्रदेशों की जनजातियों में इसे *झूम* मध्य प्रदेश में *बेवर* अथवा *दहिया*, आंध्र प्रदेश में *पोडू*, उत्तरी उड़ीसा में *कोमन* अथवा *ब्रिंगल* कहा जाता है। इस प्रकार की कृषि करने वाली प्रमुख जनजातियाँ उत्तरी-पूर्वी क्षेत्र की लोहता*, अंगामी नागा, खासी तथा कुकी, बिहार की असुर, उड़ीसा की सओरा व जुआंग तथा मध्य प्रदेश व छत्तीसगढ़ के बैगा, गोड व कोरवा हैं।

झूम कृषकों का दिलचस्प पहलू यह है कि वे स्वयं स्थायी गाँवों में कमोबेश स्थायी

रूप से निवास करते हैं किन्तु अन्न प्राप्त करने के लिये वह कृषि भूखण्ड को निरन्तर बदलते रहते हैं।

कुछ समय पहले तक झूम कृषक अपने कृषि अनुसरण को केवल अनाज के उत्पादन तक सीमित रखते थे, अब वे अपनी युगों पुरानी कृषि विधि से चिपके रहते हुए भी नगदी फसल की खेती भी प्रारम्भ कर रहे हैं। असम, मेघालय तथा नागालैण्ड के झूम कृषक कपास की कृषि नकदी फसल के रूप में तथा मक्का, सब्ज़ी आदि की कृषि घरेलू उपभोग हेतु करते हैं। उड़ीसा के जुआंग तिलहन की कृपि नकदी फसल के रूप में तथा धान स्वयं के उपभोग के लिये करते हैं।

चूँकि अत्यन्त कम उपज के कारण इस विधि की कृषि अत्यन्त अलाभकर होती है, अधिकांश झूम कृषक अपने दिन निर्धनता तथा कष्ट में व्यतीत करते हैं। इस बात का संकेत किया गया है कि यदि झूम कृषि को रोका नहीं गया तो वह इसे व्यवहार में लाने वालों को अल्पविकसित तथा निम्न सामाजिक स्तर में जकड़ देगी। फिर भी इस बात को स्वीकार करना होगा कि झूम कृषि से स्थायी हल कृषि में परिवर्तन अचानक नहीं हो सकता क्योंकि किसी स्थान के लोगों का आर्थिक जीवन उनके जीवन के अन्य पक्षों से ताने-बाने की तरह बुना रहता है।

## कृषक

अधिकतर भारतीय जनजातियों ने देश के शेष कृषकों के समान ही कृषि प्रचलित तरीके अर्थात् स्थायी हल कृषि को अपना लिया है। ऐसे जनजातीय कृषकों के अपने कृषि भूखण्ड होते हैं तथा वे अपने कृषि अनुसरण में विभिन्न पशुओं तथा उपकरणों का इस्तेमाल करते हैं। इस प्रकार की कृषि को अपनाना झूम कृषि के अत्यन्त अलाभकारी तथा अनउत्पादनकारी होंने अथवा पड़ोसी कृषकों से सम्पर्क के कारण सम्भव हुआ है।

मिज़ोरम के मिजो तथा अरुणाचल प्रदेश की अपातानी घाटी के अपातानी झूम कृषि के दो ऐसे उदाहरण हैं जिनका उदय स्थायी कृषकों के रूप में हुआ। मिज़ो लोग विविध प्रकार के चावलों की कृषि करते हैं जो इनका प्रमुख भोजन है। अपातानी भी चावल की कृषि करने वाले कुशल कृषक हैं। पुरुष तथा स्त्रियाँ दोनों ही खेतों में लगन से कार्य करते हैं तथा आधुनिक कृषि उपकरणों तथा उर्वरकों के ज्ञान के अभाबों के बावजूद अच्छी पैदावार करते हैं। वे या तो निचले मैदानों की छिद्रों वाली भूमि अथवा पहाड़ों पर तैयार किये गये सोपानों पर फसल उगाते हैं। सोपान कृषि स्थायी हल कृषि का एक दूसरा प्रकार है तथा इन लोगों के सांस्कृतिक तथा पारिस्थितिक अनुकूलन का शास्त्रीय उदाहरण हैं। ऊपर के वनों से बहकर आने वाली जलधाराओं को इस ढंग

से व्यवस्थित किया जाता है कि प्रत्येक सोपान को समुचित मात्रा में जल उपलब्ध हो, और यदि जरूरत हो तो अतिरिक्त जल को बाहर निकाला जा सके। यद्यपि इसमें अधिक श्रम लगता है, यह कृषक के अति लगाव को प्रदर्शित करती है।

भारतीय जनजातियों में जो विशेष कृषकों के रूप में उभरकर आये हैं उनमें झारखंड तथा बंगाल के संथाल, ओराँव तथा हो, उत्तर प्रदेश के थारु तथा कोरवा, मध्य प्रदेश व छत्तीसगढ़ के भील तथा भिलाना, उड़ीसा के सओरा, तमिलनाडु के नीलगिरि पहाड़ियों के बड़ागा आदि हैं।

उत्तर प्रदेश के थारु तथा कोरवा ने स्थायी कृषि को इस सीमा तक अपना लिया है कि वे कृषि के समस्त साधनों से परिचित हैं। गोबर की खाद बड़े विस्तार से प्रयोग में लाई जाती है तथा सिंचाई के लिए बाँधों का उपयोग किया जाता है, तथा सबसे अधिक वे रबी तथा खरीफ की फसलें उतनी ही सूक्ष्मता एवं परिशुद्धता के साथ पैदा करते हैं जैसे उनके पड़ोसी किसान समुदाय।

यह बात भी आमतौर पर देखी जाती है कि जिन जनजातियों ने ईसाई धर्मग्रहण कर लिया है वे अन्य की तुलना में कृषि में अधिक उन्नत हैं। यह इस तथ्य के कारण हो सकता है कि इन क्षेत्रों में कार्य करने वाले मिशनरियों ने न केवल ईसाई धर्म के संदेश का प्रचार किया है, अपितु अपने अनुयायियों को आर्थिक अनुसरणों के आधुनिक साधनों को ग्रहण करने तथा सरकारी व अन्य विकासात्मक योजनाओं का लाभ उठाने के लिये भी तैयार कर दिया। इस संवंध में मिशनरियों द्वारा संचालित शिक्षण संस्थाओं ने संबंधित जनजातीय लोगों का भाग्य सँवारने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई है।

## पशुपालक

पशुचारण अर्थव्यवस्था भारतीय जनजातियों के आर्थिक संगठन का एक दूसरा पक्ष है। अधिकांश जनजातियाँ विभिन्न प्रयोजनों से पशुपालन करती हैं, किन्तु अब लोग व्यापारिक प्रयोजन के लिये "पशुचारण एवं प्रजनन करते हैं तथा उसे अपनी जीविका-निर्वाह का साधन बनाते हैं तो उन्हें पशुचारण अर्थव्यवस्था के अन्तर्गत अपना जीवनयापन करना कहा जाता है।" भारतीय पशुचारक सामान्यतः एक स्थायी जीवन व्यतीत करते हैं और केवल परिवर्तित मौसम के दबाव में ही घुम्मकड़ बनते हैं। पशुचारक जनजातियाँ पहाड़ी क्षेत्रों में बसती हैं तथा ग्रीष्म ऋतु के प्रारम्भ में अपने स्थायी निवास को वापस चली जाती हैं इसीलिये उन्हें कमोबेश स्थायी पशुचारक की संज्ञा दी जा सकती है। कदाचित यह अतीत के युगों की भोजन-संग्रहण-आखेटक-यायावार जीवन से स्थायी जीवन में प्रवेश की अंतःप्रेरणा की अनुक्रिया है।

भारतीय जनजातियों में तमिलनाडु की नीलगिरि पहाड़ियों में बसने वाले प्रसिद्ध टोडा पशुचारण अर्थव्यवस्था के शास्त्रीय उदाहरण हैं। उनका सामाजिक तथा आर्थिक संगठन उनकी भैसों के इर्दगिर्द बना है। टोडा लोग अपनी जीविका सीधे दूध तथा उससे निर्मित वस्तुओं को बेचकर अर्जित करते हें तथा अपने पड़ोसी लोगों से उसके बदले जीवन की अन्य वस्तुओं का विनिमय भी करते हैं। भैसें व उनका दूध इस जनजाति के सामाजिक-धार्मिक तथा कर्मकांडी जीवन में प्रमुख भूमिका निभाते हैं। टोडा पुरुषों का दैनिक जीवन मुख्यतः अपनी भैसों तथा डेरियों की देखभाल तथा अनुरक्षण में व्यतीत होता है।

हिमाचल प्रदेश के गुज्जर भी प्रमुख पशुपालक हैं तथा वे व्यापारिक उद्देश्य से गायें, भैसें तथा भेड़ें पालते हैं। उत्तराखंड में बसने वाली भोटिया जनज़ाति भी पशुपालक है। साथ ही वह पशुव्यापारी भी हैं। वे याक तथा जीबू (याक तथा गाय का वर्ण संकर) पालते हैं, ऊनी स्वेटर, शाल तथा कम्बल बुनते हैं तथा मैदानी क्षेत्र के शहरों में इन्हें बेचते हैं। इस प्रकार ये घुमन्तू व्यापारी हैं जो जाड़ों में मैदानों में उतर आते हैं तथा ग्रीष्मकाल में पारंपरिक तौर पर तिब्बत की ऊंची पहाड़ियों पर चले जाते थे किन्तु 1962 में चीन के साथ युद्ध छिड़ जाने के बाद तिब्बत से उनका व्यापार समाप्त हो गया है तथा अब वे दूध, गोश्त तथा ऊन के लिये भेड़ों के पालन पर ही निर्भर करते हैं। यह पशु बोझा ढोने वाले पशुओं के रूप में भी प्रयोग किये जाते हैं। तेजी से परिवर्तित होने वाले आर्थिक जीवन के बढ़ते दबाव ने कृषि को भी जीविका निर्वाह के एक साधन के रूप में ला खड़ा किया है।

### शिल्पकार

विविध प्रकार के हस्तशिल्पियों का कार्य करने वाले शिल्पकार भारत के सभी जनज़ातीय क्षेत्रों में पाये जाते हैं किन्तु ऐसे बहुत थोड़े शिल्पकार हैं जो केवल अपने हस्तशिल्प के सहारे ही जीवनयापन करते हैं। बहुत से जनजातीय समुदाय इसे अपनी आय में वृद्धि हेतु अपने अवकाश के समय में प्रायः एक सहायक व्यवसाय के रूप में अपनाते हैं। माड़िया, गोंड, वन-उत्पादों से स्प्रिट तैयार करते हैं, साओरा अपने को धातुकर्म, बुनाई, बेंत का कार्य तथा बर्तन बनाने जैसे कार्यों में व्यस्त रखते हैं। कोरवा तथा अगाड़िया लोग परंपरागत तौर पर लोहा गलाने वाले हैं जो केवल स्थानीय उपभोग हेतु औजार बनाते हैं क्योंकि उनकी तकनीक अत्यन्त अपरिष्कृत है। प्यासी लोग पशुओं के तंतु से तार बनाते हैं। थारु लोग काष्ठोपकरण, घरेलू बर्तन, टोकरी, संगीत वाद्ययंत्र, हथियार, रस्सी तथा चटाई बनाते हैं। इरुला लोग बाँस की चटाई, टोकरियाँ हल का फल और पहिये बनाते हैं। अपातानी लोग चाकू तथा तलवार बनाने

में कुशल हैं तथा उनका निर्माण व्यापारिक प्रयोजन हेतु करते हैं। नीलगिरि पहाड़ियों के कोटा लोग दक्ष बढ़ई, लोहार तथा कुम्भकार होते हैं। उत्तर-पूर्वी क्षेत्र के मिज़ो, रियांग, नागा तथा अपातानी तथा उड़ीसा के साओरा कुशल कपड़ा बुनकर हैं, जिसे वे पास के बाजारों में बेचते हैं। बस्तर के माड़िया तथा मुड़िया अपने मिट्टी तथा धातु के खिलौनों तथा प्रतिमाओं के लिये प्रसिद्ध हैं, जिनका विपणन देश के हस्तशिल्प इम्पोरियमों द्वारा किया जाता है। झाबुआ जनपद के भील तथा भिलाला पुराने कपड़ों तथा सूती रेखों से सुन्दर दरियाँ तथा गद्दियाँ बुनते हैं।

## औद्योगिक श्रमिक

औद्योगिक श्रमिक भारतीय जनजातियों के आर्थिक संगठन में अपेक्षाकृत नयी घटना है। इसके बड़े ही गम्भीर एवं महत्त्वपूर्ण अर्थ हैं। औद्योगिक श्रमिक के रूप में जनजातियों की समस्याओं की "जनजातीय क्षेत्र में औद्योगीकरण पर पृथक् अध्याय में चर्चा की गई है क्योंकि यह समस्या अत्यंत गम्भीर प्रकार की है।" भारतीय जनजातियाँ दो प्रकार से औद्योगिक जीवन के सम्पर्क में आयीं। या तो वे औद्योगिक क्षेत्रों में स्थानान्तरित हो गये अथवा जिन क्षेत्रों में वे बसते है वहाँ उद्योग स्थापित हो गये। बहुत बड़ी संख्या में संथाल, कोंड तथा गोंड असम चले गये तथा चाय बागानों में उन्होंने विविध कार्यों को अपना लिया। औद्योगिक जीवन में सम्पर्क का दूसरा तरीका उसके दूरगामी परिणामों की दृष्टि से अधिक महत्त्वपूर्ण है। मध्य भारत में कुछ जनजातीय क्षेत्र प्राकृतिक संसाधनों जैसे कोयला, लोहा, इस्पात में अत्यन्त सम्पन्न पाये गये हैं तथा अन्य खनिज उधोग भी इन क्षेत्रों में स्थापित हुए हैं। ऐसा मुख्यतः पश्चिमी बंगाल, बिहार, झारखण्ड, उड़ीसा तथा छत्तीसगढ़ में हुआ है। इस प्रकार इन लोगों का औद्योगिकीकरण एक प्रकार का जनजातीय नगरीय सातत्य स्थापित करके हुआ।

उपरोक्त वर्णित स्थिति जनजातियों को दो श्रेणियों में भेद करती है। संथाल, ओराँव, मुंडा, खड़िया, गोंड तथा कुछ अन्य जनजातियों को प्रथम श्रेणी में रखा जाता है। बढ़ती हुई आर्थिक कठिनाइयों की दृष्टि से वे असम को स्थानान्तरित हो गये तथा वहीं चाय बागानों में काम करने लगे, जबकि परिवार के अन्य सदस्य दूसरे नगरों तथा कस्बों में प्रवसित हो गये तथा अकुशल श्रमिक के रूप में काम करने लगे। दूसरी श्रेणी में संथाल, हो तथा अन्य सम्मिलित हैं जो कारखानों में कार्य करते हैं। जमशेदपुर, राँची, राउरकेला, भिलाई तथा बैलाडिला के इस्पात के कारखानों में बड़ी संख्या में जनजातियों को सेवा-योजित किया जाता है।

इन क्षेत्रों में औद्योगीकरण ने निश्चित ही जनजातीय लोगों के लिये जीवन-निर्वाह

के नये तथा स्थायी साधनों को प्रस्तुत किया, किन्तु जनजातियों को इसके लिये जो मूल्य चुकाना पड़ा वह बहुत अधिक तथा भयानक है। औद्योगीकरण तथा नगरीकरण ने उनके सामाजिक ताने-बाने को बहुत अधिक छिन्न-भिन्न कर दिया। उनकी पारंपरिक तथा सामाजिक संस्थाओं का ह्रास तथा विघटन प्रारम्भ हो गया है। औद्योगिक मूल्यों ने उनके अपनी मूल प्रणाली को विकृत कर दिया है। शराबखोरी, जुआ तथा वेश्यावृत्ति उनके सामाजिक संगठन की सजीवता को खाये जा रहे हैं। वे औद्योगीकरण का ऐसे शिकार हैं जिन्हें एक अपरिचित संसार की विपत्तियों का सामना करने हेतु तैयार किए बिना ही एक अजनबी परिवेश में ढकेल दिया गया है।

## श्रम विभाजन

शरीर-क्रियात्मक कारक जैसे लिंग, शैशव अथवा बुढ़ापा तथा शारीरिक अयोग्यता की अनिवार्यता पूर्वनगरीय समाजों में विशेषीकरण का एकमात्र आधार हैं। मजूमदार का मत है कि इस आधारभूत शरीर-क्रियात्मक भिन्नताओं तथा उनके प्रभाव की मान्यता, जो आदिम समाजों में श्रम-विभाजन के क्षेत्र में परिलक्षित होती है, इनके अतिरिक्त भी इस आधारभूत तथ्य के प्रसार अथवा विस्तरण हुए हैं जो लैंगिक श्रम विभाजन को कम करने वाले और अनिवार्य कारकों में प्रतिफलित हुए हैं। किसी स्त्री के स्वस्थ जीवन से संबंधित शरीर-क्रियात्मक प्रक्रियाओं की विविधता को समझने की असमर्थता जैसे मासिक-धर्म तथा बच्चे का जन्म ने विचित्र मान्यताओं को जन्म दिया। अनावश्यक रूप से परितोषित तथा अच्छी प्रकार देखभाल की गई टोडा महिलाओं को उदाहरणार्थ पवित्र भैंस को स्पष्ट करने तथा डेरी में कदम रखने के लिए मना किया गया है।

महिलाओं के शिशु के साथ संबंध ने उन पर नियंत्रण को आरोपित कर दिया है, जिससे उन्हें पुरुषों के कार्यों में पूर्ण सहयोग करने से अवरोधित कर दिया है। उन्हें शिशु की देखभाल तथा भोजन पकाने का कार्य करना पड़ता है, जो सम्भवतः उन्हें अधिक समय तक घर पर रहने के लिये मजबूर करता है। टोडा जनजाति एक अपवाद है जहाँ पुरुष वह सभी भोजन बनाते हैं जिनमें दूध अथवा उससे बनी वस्तुएँ प्रयोग की जाती हैं जिसका आधार स्पष्ट रूप से कर्मकांडी हैं। महिलाएं सामान्यतः पुरुषों द्वारा किये जाने वाले कार्यों को भी करती हैं। भारतीय जनजातियों में स्त्रियाँ भोजन-संग्रह करती हैं, कृषि कार्य करती हैं (बीज बोना व फसल काटना), मछली पकड़ती हैं, टोकरियाँ बनाती हैं तथा वस्त्र एवं बर्तन आदि का निर्माण कार्य करती हैं, किन्तु वे आखेट के लिये कभी नहीं जाती हैं, न तो पेड़ काटने जाती हैं और न ही वे लोहार अथवा बढ़ई बनती हैं।

पहाड़ी क्षेत्रों की जनजातीय स्त्रियाँ सर्वाधिक परिश्रमी होती हैं व उनका पुरुष वर्ग काहिली का उदाहरण है। उत्तराखंड में जौनसार बावर की खासा जौनसारी स्त्रियाँ इस स्थिति का उत्तम उदाहरण हैं। यहाँ स्त्रियाँ सुबह से शाम तक सभी प्रकार के कार्य करती हैं, भोजन संग्रह, तेज ढलानों और मुहानों से पानी लाना तथा बीज बोने और फसल काटने से लेकर पशुओं की देखभाल करने तक, जबकि पुरुष वर्ग चाय की दुकानों पर चाय की चुसकियाँ लेते हुए, बातचीत और धूम्रपान करते हुए दलीय राजनीति तथा घपलों पर चर्चा करते हुए आराम करते रहते हैं। किन्तु औद्योगीकरण ने पुरुषों तथा स्त्रियों दोनों को ही प्रभावित किया है। औद्योगीकरण द्वारा प्रभावित क्षेत्रों में पुरुष लोग लोहा तथा इस्पात के कारखानों, कोयलाखानों, चाय बागानों में काम करते हैं। स्त्रियाँ अभ्रक (Mica) तथा कोयलाखानों, चाय बागानों और प्रस्तरखनित स्थलों में कार्य करती हैं। जनजातीय भारत में दासोचित श्रमिकों को लगाने की बात अनजानी है। इसका अपवाद केवल उत्तराखंड की जौनसारी जनजाति है जहाँ कोल्टा, जो पारंपरिक रूप से जनजातियों में भूमिहीन और कर्मकांडीय अस्पृश्य अनुभाग हैं, को गुलामों के रूप में रखा गया है। इन्हें अन्य जातीय राजपूत, ब्राह्मण, जमींदारों द्वारा सदैव बँधुआ मजदूर के रूप में रखा जाता है। इस प्रकार ऐसे कुछ उदाहरणों के अतिरिक्त मालिक तथा गुलाम जैसा श्रमविभाजन जनजातीय भारत में अनजाना है।

## संपत्ति, स्वामित्व तथा उत्तराधिकार

संपत्ति की अवधारणा समाज के एक स्वरूप से दूसरे स्वरूप में भिन्न-भिन्न है। इसलिये संपत्ति की आधुनिक अवधारणा को आदिम समाजों पर लागू नहीं किया जा सकता। भारतीय जनजातियों में सामाजिक मूल्यों द्वारा नियंत्रित तथा नियमित वस्तुओं को संपत्ति की संज्ञा दी गई है। मिश्रा तथा तिवारी (1975) इस बात की भारतीय संदर्भ में व्याख्या करते हुए विचार व्यक्त करते हैं कि यहाँ तक भोजन संग्रहण तथा आखेट करने वाली जनजातियों में भी वन तथा भोजन संग्रहण एवं आखेट के साधनों अथवा उपकरणों को संपत्ति माना जाता है। यद्यपि समाज के सदस्य वन-उत्पाद तथा प्राणि समूह का स्वतंत्र रूप से प्रयोग करने के लिये अधिकृत होते हैं, तथापि इनका प्रयोग कुछ सामाजिक नियमों तथा मूल्यों के अधीन होता है। पशुचारक जनजातियों से चरागाहों, पशु तथा पशुबाड़ों, घरों, वस्त्रों से प्राप्त वस्तुओं आदि को संपत्ति के विभिन्न रूप माना जाता है। इसी प्रकार भूमि, कृषि उपकरण, घर, वस्त्र आदि कृषक जनजातियों में संपत्ति के रूप हैं, जबकि कच्चे माल के स्रोत, औजार तथा उपकरण परिष्कृत माल, वस्त्र व मकान आदि शिल्पकार जनजातियों में संपत्ति की

संज्ञा पाते हैं। भारतीय जनजातियों में दोनों प्रकार का स्वामित्व अर्थात् सामूहिक तथा वैयक्तिक, पूर्ण विदित हैं। जिस रूप में भी संपत्ति को मान्यता दी जाय, इसकी मान्यता में विरासत के कुछ नियमों के अस्तित्व का अनुराग होता है। विरासत का महत्त्व बढ़ जाता है जब व्यक्ति स्वयं संपत्ति रखते हैं। सामुदायिक विरासत में समूह का कभी भी अचानक एक व्यक्ति की तरह अस्तित्व समाप्त नहीं होता तथा समय-समय पर नयी भर्ती द्वारा पुनः पूर्ति कर ली जाती है। यद्यपि आजकल वैयक्तिक स्वामित्व पर अधिक बल है। नागा जैसे उदाहरण हैं—जहाँ परंपरागत रूप से गाँव की भूमि पर सामूहिक रूप से स्वामित्व होता है। चूँकि वैयक्तिक संपत्ति अत्यन्त कम होती है, बहुत सी जनजातियों में यह प्रथा है कि मृत व्यक्ति के साथ ही उसकी व्यक्तिगत वस्तुओं को जला दिया जाता है।

विरासत के नियम में किसी विशिष्ट समाज की सामाजिक संरचना पर निर्भर करते हुए पितृवंशीय अथवा मातृवंशीय अथवा दोनों का किसी प्रकार का मिश्रित रूप हो सकता है। मातृवंशीय जनजातियों में पुत्री संपत्ति को विरासत में प्राप्त करती है जैसे मेघालय के खासी, और बड़ी संख्या में पितृवंशीय जनजातियों में पुत्र, कुछ मामलों में ज्येष्ठतम पुत्री अथवा पुत्र सम्पूर्ण संपत्ति को विरासत में प्राप्त करते हैं। नीलगिरी पहाड़ियों की टोडा जनजाति में ज्येष्ठतम तथा कनिष्ठतम पुत्रों को एक अतिरिक्त पशु प्राप्त होता है। पड़ोसी बड़ागा लोगों में भिन्न प्रकार के नियमों का प्रचलन है। इन लोगों में ज्येष्ठतम पुत्र अपना विवाह होते ही घर त्याग देता है। सबसे छोटा पुत्र अपने माता-पिता के साथ घर पर रह जाता है तथा केवल वह ही अपने पिता की संपत्ति विरासत के रूप में प्राप्त करता है तथा वैध उत्तराधिकारी बनता है।

## बाज़ार (हाट)

कुछ भोजन संग्रहक तथा शिकारी जनजातियों के अतिरिक्त, बाजार की संस्था किसी न किसी रूप में भारत की सभी जनजातियो में विद्यमान है। फिर भी, नियमित बाजार अब भी उनमें दुर्लभ हैं। अधिकांश मामलों में लोग एक निर्धारित स्थान पर निश्चित समय पर एकत्र होते हैं तथा अपनी वस्तुओं का एक दूसरे से विनिमय करते हैं। इस प्रकार के बाजार साधारणतया साप्ताहिक अथवा पाक्षिक होते हैं। जनजातीय क्षेत्रों में लगने वाले बाजार में लोग सामान्यतः स्थानीय प्रयोग की वस्तुओं का व्यापार करते हैं जैसे सब्जी, मांस, मसाला, नमक, बर्तन, कृषि उपकरण, वस्त्र तथा प्रसाधन सामग्री आदि। जनजातीय लोग भी इनमें से कुछ बाजारों में दिलचस्पी रखते हैं जिनमें वे स्थानीय उत्पाद को सस्ती दरों पर खोजने के उद्देश्य से जाते हैं। उनका सौदा अधिक सरल हो जाता है जब वे सरल जनजातीय लोगों को उत्पाद से आकृष्ट कर लेते हैं तथा बहुत ही सस्ते मूल्य पर स्थानीय उत्पाद ले जाते हैं।

जनजातीय बाज़ार सामान्यतः दिन के समय कुछ घंटों के लिये लगते हैं। कुछ बाज़ार वर्ष में केवल एक बार लगते हैं तथा कई दिनों तक चलते हैं। छत्तीसगढ़ के बस्तर क्षेत्र में इस प्रकार के बाज़ारों को "माराई" कहते हैं। ये बाजार सामान्यतः फसल की कटाई के बाद लगते हैं तथा लोग अपने परिवार के साथ इनमें जाते हैं तथा वर्ष भर के लिये आवश्यक वस्तुओं का क्रय करते हैं। इस प्रकार वे बाज़ार उत्सव का दृश्य प्रस्तुत करते हैं जहाँ लोग गाते-नाचते हैं तथा समस्त प्रकार के हँसी मजाक होते हैं। ये बहु प्रकार के प्रयोजन की पूर्ति करते हैं। दूरस्थ रिश्तेदार एक दूसरे से मिलते हैं, विवाह तय होते हैं, स्थानीय राजनीति की चर्चा होती है तथा इस प्रकार वार्षिक बाजारों का बहुत अधिक सामाजिक तथा सांस्कृतिक महत्त्व होता है। अधिक शुद्ध रूप में जनजातीय बाज़ार न केवल विक्रेता व क्रेता की कुछ आवश्यकताओं की पूर्ति करते हैं वरन् सांस्कृतिक परिवर्तन के एक अभिकर्त्ता के रूप में भी कार्य करते हैं।

# 7

# राजनीतिक संगठन

राजनीतिक व्यवस्था का संबंध सम्पूर्ण सामाजिक व्यवस्था के उस पक्ष से है, जिसका सरोकार समाज के अन्तर्गत भौतिक बल प्रयोग के नियंत्रण एवं सामंजस्य तथा विभिन्न वर्गों एवं उनके सदस्यों के पारस्परिक संबंधों के सामंजस्य से होता है। भारत की जनजातियाँ अपनी विभिन्न औद्योगिक दशाओं और पारिस्थितिकीय परिवेशों के कारण विभिन्न राजनीतिक व्यवस्थाओं को प्रदर्शित करती हैं। एक ओर हम कादार, इरुला, चेंचू आदि दक्षिण भारत की यायावर, संग्रहक-शिकारी जनजातियाँ पाते हैं जो अब भी अत्यन्त निम्न प्रौद्योगिक स्तर पर जीवन व्यतीत कर रही हैं, जबकि दूसरी ओर मेघालय की खासी और गारो पहाड़ियों तथा अरुणाचल प्रदेश की अपातानी जैसी जनजातियाँ हैं, जो कृषि तथा उद्यान, कृषि की उच्च विकसित रीतियों की सहायता से बड़े आराम का जीवन व्यतीत कर रही हैं। हम जनजातियों में भेद उनके हिन्दुओं तथा ईसाइयों के साथ घनिष्ठता के आधार पर भी कर सकते हैं। एक ओर छोटानागपुर क्षेत्र तथा छत्तीसगढ़ की हिन्दू जनजातियाँ हैं तो दूसरी ओर मेघालय, असम, नागालैण्ड तथा मिजोरम की ईसाई जनजातियाँ हैं जो अत्यन्त उच्च एवं विकसित स्तर पर हैं। ये उदाहरण इस बात पर बल देते हैं कि भारत की जनजातियाँ अब एक अखण्ड जनसमूह नहीं हैं बल्कि विभिन्न सामाजिक-सांस्कृतिक परिस्थितियों के अन्तर्गत रहने वाले विविध सामाजिक, आर्थिक तथा सांस्कृतिक समूहों का संग्रह है। इस आश्चर्यजनक विविधता के फलस्वरूप, इन जातियों ने राजनीतिक संगठनों का एक विस्तृत क्षेत्र विकसित कर लिया है। इस प्रकार हम एकतंत्रीय तथा केन्द्रीय सत्ता के साथ-साथ उच्च विकेन्द्रित राजनीतिक संगठनों का एक समूह पाते हैं। अब हमें तीन भौगोलिक मंडलों में विभाजित भारत की जनजातियों के राजनीतिक संगठन का परीक्षण करना चाहिए।

## उत्तर-पूर्वी जनजातियों में राजनीतिक संगठन

इस भौगोलिक मण्डल में असम, अरुणाचल प्रदेश, मेघालय, नागालैण्ड, मिजोरम, मणिपुर तथा त्रिपुरा सम्मिलित हैं। खासी, गारो, लुशाई, जैन्तिया, अपातानी तथा

विभिन्न नागा जनजातियाँ भारत के इस प्राकृतिक सौन्दर्य के धनी क्षेत्र में बसने वाली जनजातियाँ हैं। असम की जनजातियों ने जनतांत्रिक राजनीतिक संगठन को संस्थापित किया है। इनमें से अधिकांश जनजातियाँ भूमि के सामूहिक स्वामित्व को मान्यता प्रदान करती हैं तथा भूमि पर वैयक्तिक अधिकार को सम्मानपूर्वक नहीं देखतीं। एक गाँव के लोग अपनी इच्छा-अनुसार खेती करने के लिए स्वतंत्र होते हैं। यद्यपि विभिन्न परिवारों के आर्थिक स्तर भिन्न हैं फिर भी इस विविधता ने किसी प्रकार के सामाजिक भेदभाव को विकसित नहीं होने दिया।

यद्यपि अधिकांश जनजातियाँ बहिर्वैवाहिक गोत्रों में विभाजित हैं, अन्य लोग बिना गोत्र प्रणाली के ग्राम समुदायों में अपने शासक के अधीन रहते हैं जो शेष ग्रामों से स्वतंत्र हैं। खासी लोगों में मुखिया की मर्यादा ज्येष्ठतम बहिन के ज्येष्ठतम पुत्र द्वारा वंशानुगत होती है। उसकी मृत्यु के पश्चात् उसके ज्येष्ठतम भ्राता अथवा नाती, यदि पुरुष उत्तराधिकारियों का अभाव होता है, ज्येष्ठतम बहिन (अथवा ज्येष्ठतम बहिन की पुत्री) को उत्तराधिकार का हक होता है। राजनीतिक रूप से खासी क्षेत्र अतीत में, बीस खासी राज्यों में बँटा हुआ था, जो स्वतंत्र थे। यद्यपि "सियम" नामक प्रमुख, मुखियागिरी में था तथापि प्रशासन जनतांत्रिक था। खासी प्रमुख को भूमि अथवा वनों पर कोई अधिकार नहीं होता। वह कर तथा नये कानून अथवा नीति नहीं लागू कर सकता था। निर्णय सामान्य सहमति के आधार पर एक संगति में लिये जाते थे जो एक खुला अधिवेशन होता था, जिसमें राज्य के समस्त प्रौढ़ पुरुष भाग लेते थे। इस प्रकार की संगतों में उपस्थिति अनिवार्य होती थी।

इसी प्रकार यद्यपि लुशाई जनजाति का मुखिया खासी "सियम" की अपेक्षा अधिक प्रभुतासम्पन्न होता है, तथापि समान रूप से ग्राम के वरिष्ठ व्यक्तियों की राय अथवा परामर्श की अनदेखी करना उसके लिये कठिन है। यद्यपि यह पद वंशानुगत होते हैं, प्रशासन पूर्णरूपेण जनतांत्रिक सिद्धान्तों के अनुसार चलाया जाता है। उत्तरी कछार जनपद की जनजातियों में वंशानुक्रम तथा निर्वाचन के सिद्धान्त साथ-साथ कार्य करते हैं। जनजातीय समस्यायें एक खुले न्यायालय में ग्राम के सभी पुरुषों की उपस्थिति में सुलझाई जाती हैं। किसी अपराधी के संबंध में लिया गया निर्णय सभी ग्रामीणों द्वारा लिया गया सामूहिक निर्णय माना जाता है। ग्राम के बुजुर्ग एक अनौपचारिक परिषद् का गठन करते हैं तथा वे ग्राम अथवा ग्रामों के समूह के समक्ष आने वाली समस्याओं पर विचार-विमर्श करते हैं।

गारो जनजाति का राजनीतिक संगठन भी जनतांत्रिक नियमों के अनुसार संचालित होता है। वास्तव में गारों लोगों का कोई मुखिया नहीं होता है। एक मुखिया केवल नाम का प्रमुख होता है जबकि महत्त्वपूर्ण मामलों का निर्णय बुजुर्गों अथवा परिवारों

के मुखियों से गठित ग्राम्य परिषद द्वारा किया जाता है। स्टीफेन फूक्स (1973) ने मिकिर लोगों के राजनीतिक संगठन का वर्णन करते हुए कहा है कि उनका ग्रामीण प्रशासन, तिहरा होता है, निम्नपद की पूर्ति, "अचोम असार" द्वारा होती है, जो सामान्यतः एक प्रभावशाली बुजुर्ग तथा मिकिर रस्म रिवाजों से भली प्रकार परिचित व्यक्ति होता है। उसकी नियुक्ति "हैब", जो उससे उच्चतम अधिकारी है, द्वारा की जाती है जो ग्राम का मुखिया होता है तथा जिसका अधिकार क्षेत्र ग्राम की सीमा के बाहर नहीं जाता। "हैब" की नियुक्ति एक "पिन्पो" द्वारा की जाती है जिसकी नियुक्ति जैन्तिया शासक द्वारा मिकिर पहाड़ियों का प्रशासन करने हेतु अपने प्रतिनिधि के रूप में की जाती थी। अब पिन्पो के भी नौ घराने हैं तथा उनका पद वंशानुगत है। प्रत्येक "पिन्पो" का चयन उसी कुल से किया जाता है जिससे उसका पूर्वाधिकारी संबंधित होता था।

नागा जनजातियों के राजनीतिक संगठन में अत्यधिक विविधता पाई जाती है। कुछ नागा जनजातियाँ प्रमुखों के अधीन होती है, जो उन पर लगभग एकतंत्रीय प्रशासन करते हैं, जबकि अन्य जनजातियाँ जनतांत्रिक ग्राम्य परिषदों का गठन करती हैं जिनमें मुखिया को नाममात्र का अधिकार होता है। अधिकांश नागा जनजातियाँ सदैव एक दूसरे से युद्ध करती रही हैं तथा हिंसक प्रतिरोध उनका नियम है किन्तु इसे सामाजिक-ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में देखा जाना चाहिए। बहुत से लोग आश्चर्य करते हैं कि ऐसी अराजकता एवं अव्यवस्था की स्थिति में स्थायी प्रशासन कैसे स्थिर रह सकता है जहाँ प्रत्येक व्यक्ति अपने आप में ही एक कानून है। किन्तु इन सीमाओं तथा ऐसी परिस्थितियों में भी लचीले प्रकार का राजनीतिक संगठन सदैव विद्यमान रहा है। कोन्याक नागा एक प्रमुख के अधीन होते हैं जो अति पवित्र तथा निषिद्ध व्यक्ति होता है तथा प्रायः अनेक ग्रामों पर पूर्ण अधिकार के साथ शासन करता है। उसे जनजातीय भाग्ययुग अथवा उसके जीवन सिद्धान्त का ज्ञाता माना जाता है। कुछ ग्रामों में वह इतना अधिक निषिद्ध होता है, कि उसे भूमि स्पर्श की अनुमति नहीं दी जाती तथा यात्रा में उसे उठाकर ले जाया जाता है।

अंगामी नागाओं में आधारिक इकाई ग्राम नहीं है बल्कि जनसंख्या का एक उपमंडल है, जो इस प्रकार एकत्रित होकर "खेल" अथवा "टेप्फू" कहलाता है; जो बहिर्विवाही होता है तथा जिसका वंश एक ही पूर्वज से माना जाता है। इन लोगों में गुटबाजी तथा हिंसात्मक लड़ाइयाँ बहुत होती हैं। नागा जनजातियों के राजनीतिक संगठन को सदैव दैवीय तथा प्राकृतिक खतरों से सुरक्षात्मक संरक्षा की आवश्यकता रही है। हीमेनडॉर्फ (1976) का मत है कि पवित्र प्रमुखों की संस्था जिन्हें अति-प्राकृतिक के पक्ष में उचित परिवार में जन्म लेकर काम करना पड़ता था तथा

जो समाज की उत्पादक शक्तियों को आन्दोलित कर सकते थे, इन खतरों के विरुद्ध एक सुरक्षा तंत्र की तरह थी।

## मध्य भारतीय जनजातियाँ

झारखंड, छत्तीसगढ़ तथा उड़ीसा की जनजातियाँ भारत की सबसे बड़ी जनजातीय पट्टी का निर्माण करती हैं। इन जनजातियों में कुल एकात्मकता पर आधारित राजनीतिक संगठन के कुछ गुण पाये जाते हैं। वयोवृद्धों की परिषद् की सहायता से ग्राम का प्रमुख, ग्राम का प्रशासन देखता है। इस परिषद् में आम राय अथवा बहुमत के आधार पर निर्णय लिये जाते हैं तथा प्रमुख को बहुमत के निर्णय को उलटने का अधिकार नहीं होता।

ओराँव, गोंड तथा भील संख्या की दृष्टि से इस मंडल की सबसे महत्त्वपूर्ण जनजातियाँ हैं। ओराँव लोगों ने 'परहा' संगठन का विकास किया है जो अनेक पड़ोसी ग्रामों का राज्य मंडल (संघ) होता है जिसके केन्द्रीय संगठन को 'परहा' कहा जाता है। प्रत्येक ओराँव "परहा" में अनेक गाँव होते हैं। इनमें से एक गाँव राजा ग्राम कहलाता है, दूसरा दीवान ग्राम, तीसरा पानेर ग्राम (राजा का लिपिक), चौथा कोतवाल ग्राम आदि-आदि। ऐसे ग्राम, जिनका इस प्रकार कोई नाम नहीं होता है वे प्रजा ग्राम कहलाते हैं। "राजा ग्राम", "परहा" का प्रमुख ग्राम होता है। यद्यपि 'परहा' के प्रत्येक कार्यकर्त्ता के पास अब कोई विशिष्ट पद चिह्न नहीं होता, प्रत्येक परहा ग्राम का अपना विशिष्ट ध्वज तथा बिल्ले होते हैं जिसका प्रयोग किसी दूसरे ग्राम द्वारा नहीं किया जा सकता। कानून तथा व्यवस्था बनाये रखना, किसी दूसरे ग्राम में झगड़ों का निपटाना भी परहा परिषद् के कार्य हैं। टी. बी. नायक (1956) हमें बताते हैं कि 'पहरा' के विभिन्न ग्राम एक साथ युद्ध करते हैं, शिकार करते हैं तथा निर्धारित अवसरों पर नृत्य समारोहों, सामाजिक भोजों तथा विचारण व न्यायिक समितियों के अवसर पर एक दूसरे से मिलते हैं। संथालों तथा मलेरों में निम्नतम राजनीतिक प्राधिकारी ग्राम प्रमुख होता है जिसे "माझी" कहते हैं। वह तथा ग्राम के वयोवृद्ध मिलते हैं तथा ग्राम की समस्याओं के संबंध में बातें करते हैं। ग्राम प्रमुख को विवाहों तथा अन्य भोजों के अवसर पर उपहार पाने का अधिकार होता है तथा उसके पास किराया मुक्त भूमि होती है। माझी दीवानी तथा नैतिक प्राधिकारी होता है। दीवानी मामलों में उपप्रमुख जिसे "परानिक" कहते हैं, द्वारा सहायता की जाती है।

मुंडा जनजाति में ग्राम प्रमुख को उसी नाम से जाना जाता है अर्थात् मुंडा जबकि उसके धार्मिक प्रति स्थायी को "पाहन" कहते हैं। लगभग बारह ग्राम मिलाकर एक पट्टी अथवा "परहा" का निर्माण करते हैं जिस का मुखिया 'मानकी' कहलाता है जो

सामान्यतः ग्राम प्रमुखों के समूह में सर्वाधिक प्रभावशाली होता है। मुंडा तथा पाहन पुश्तैनी अधिकारी होते हैं।

गोंड लोगों की आधारिक राजनीतिक इकाई ग्राम समुदाय है। ग्राम प्रमुख को "पटेल", "मण्डल" अथवा "मोई" कहा जाता है। ग्राम के मामले को तय करने में ग्राम के वयोवृद्ध उसकी सहायता करते हैं यद्यपि बस्तर के हिन्दू राजा के पास गोंडों पर कोई राजनीतिक अधिकार नहीं है, तथापि वह समस्त गोंड समूहों में परंपरागत तौर पर अपार श्रद्धा का केन्द्र रहा है। बाईसन हांर्न मारिया लोगों में एक दिलचस्प राजनीतिक संगठन यह है कि धार्मिक कर्मकाण्डों तथा समारोहों के लिए उत्तरदायी पुरोहित तथा चिकित्सक ग्राम प्रमुख से अधिक प्रभावी होते हैं।

## दक्षिण भारतीय जनजातियाँ

इस तथ्य की दृष्टि से यह जनजातीय मण्डल अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है कि यह संसार की आर्थिक तथा प्रौद्योगिक दृष्टि से सबसे अधिक पिछड़ी जनजातियों का निवास स्थान है। इस मण्डल की अधिकांश जनजातियाँ वनों अथवा कृषक ग्रामों के सीमांत में छोटे-छोटे समूहों में रहती हैं। सामान्यतः वे अपना अलग जीवन व्यतीत करते हैं तथा वे बाहरी लोगों से सम्पर्क करने तथा उनके हस्तक्षेप से बचते हैं। वे अकेले रहना चाहते हैं।

अंदमान तथा निकोबार की जनजातियाँ अब भी आर्थिक विकास के संग्रहण आखेट चरण पर जीवन व्यतीत कर रही हैं। यद्यपि उनमें से अधिकांश यायावर (घुमक्कड़) समूह हैं तथापि वे एक निश्चित भौगोलिक मण्डल के अन्तर्गत भ्रमण करते हैं। प्रत्येक स्थानीय समूह में पाँच से दस परिवार होते हैं तथा प्रत्येक समूह का अपना प्रमुख होता है। स्थानीय समूह स्वतंत्र रूप से रहते तथा कार्य करते हैं, फिर भी विशिष्ट आखेट-आयोजनों अथवा कतिपय त्योहारों के अवसरों पर अस्थायी रूप से मिल जाते हैं। स्थानीय समूहों के प्रमुख अपने-अपने स्थानीय समूहों के मामलों की चिन्ता रखते हैं। कुछ अन्य यायावर जनजातियों में एक बस्ती के प्रमुख जैसी संस्था नहीं होती है। जब कभी समस्यायें उत्पन्न होती हैं तथा उन पर निर्णय लेना आवश्यक होता है तथा एकाकी परिवारों के प्रमुख साधारणतया एकत्र होते हैं तथा समूह के मामलों को तय करते हैं। इसी प्रकार अल्लार तथा अरन्डार जातियों के प्रमुख नहीं होते। समुदाय के मामलों की वयोवृद्धों के समूहों में चर्चा की जाती है तथा लोग इसका निर्णय मानने के लिए बाध्य होते हैं, जो असहमत होते हैं वे उस समूह को त्याग देते हैं तथा दूसरे समूह में सम्मिलित हो जाते हैं। कादार लोगों में, जो भोजन

संग्रहण करने वाली एक जनजाति है, प्रमुख की वंशानुगत संस्था का अस्तित्व समाप्त हो चुका है।

केरल की अदियार जनजाति में प्रमुख का पद वंशानुगत है। यदिं कोई पुत्र इस पद हेतु अनुपयुक्त होता है तो भतीजा उसे विरासत में प्राप्त करता है। प्रमुख का एक विशिष्ट पदनाम होता है किन्तु वह एक निरंकुश शासक नहीं होता। वह केवल वयोवृद्धों की बैठकों की अध्यक्षता करता है जिसमें समुदाय के मामलों पर विचार-विमर्श होता हैं। फिर भी विवाह, तलाक जैसे महत्त्वपूर्ण कार्यों में उसकी स्वीकृति आवश्यक होती हैं तथा वह अंतिम संस्कार संबंधी समारोहों की अध्यक्षता करता है।

# 8

# अद्भुत संसार : धार्मिक विश्वास

धर्म को किसी वस्तु अथवा शक्ति, जो अधिप्राकृतिक (अलौकिक) तथा परम संवेदनात्मक है, के भय के प्रति मानव की एक अनुक्रिया कहा गया है। इसे सभ्यता का उत्पाद माना जाता रहा है जब तक टायलर ने विश्वासप्रद ढंग से साबित नहीं कर दिया कि आदिम समाजों को उनकी अपनी प्रकार की धार्मिक क्रियाएं होती हैं, जो सभ्य समाजों से बहुत अधिक भिन्न नहीं होतीं हैं। जब से उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम चरण में टायलर के विचार प्रकाशित हुए हैं, किसी भी नृजातिशास्त्री ने किसी भी आदिम समाज का वर्णन बिना धार्मिक विश्वासों तथा व्यवहारों के नहीं किया है।

जनजातीय भारत धार्मिक विश्वासों तथा व्यवहारों का रंगीन परिदृश्य प्रस्तुत करता है, जो उनकी सांस्कृतिक-पारिस्थितिक दशाओं के साथ उनके समायोजन की अभिव्यक्ति है। 1940 के दशक के अन्तिम वर्षों तक भारत में जनजातीय धर्मों को विभिन्न जनगणना रिपोर्टों तथा साहित्यों में 'जीववाद' की संज्ञा दी गयी थी। जीववाद का अभिप्राय धर्म के अपरिष्कृत स्वरूप से था। जिसमें जादू अत्यंत प्रधान तत्व है। यह मनुष्य की कल्पना एक ऐसे जीवन से गुजरते हुए करता है जो भुतही संगति की शक्तियों तथा तत्वों से घिरा हुआ है तथा जिसका स्वरूप अधिकांशतः अवैयक्तिक प्रकार का है। इनमें से कुछ को जीवन के विविध अंगों पर अधिवासी शक्तियों के रूप में माना जाता है। प्रत्येक शक्ति के प्रभाव का अपना क्षेत्र होता है। इस प्रकार एक आत्मा विभिन्न प्रकार की बीमारियों पर अधिष्ठात्री शक्ति वाली हो सकती है, चट्टानों, नदियों तथा झरनों में रहने वाली आत्माएँ इत्यादि। इनके प्रभाव से संबद्ध विपत्तियों से बचाव के लिये इनकी बड़ी परिश्रमपूर्वक आराधना की जाती है।

आत्माएं प्रत्येक स्थान पर निवास करती हैं तथा मनुष्यों को रोगों से मुक्ति एवं दीर्घ जीवन हेतु उनके साथ शान्तिपूर्वक रहना पड़ता है। यदि कोई व्यक्ति रोगग्रस्त हो जाता है तो सामान्य विश्वास है कि किसी संबंध का उल्लंघन हुआ है। जादू तथा इन्द्रजाल की कला में कुशल पुरुष तथा महिला निश्चय करते हैं दुखी व्यक्ति के लिए क्या किया जाना चाहिये। अधिक परिष्कृत समाजों में कुछ स्थान यथासम्भव एक दीवार से घिरा हुआ तथा छत से ढँका हुआ विशेष रूप से पवित्र अंकित कर दिया जाता है किन्तु

जीववादी जनजातियों में सभी स्थान पवित्र माने जाते हैं क्योंकि उन्हें आत्मा का स्थान माना जाता है।

कोरवा लोगों में आत्मा फसलों, वर्षा, पशुओं की अधिष्ठात्री होती है। इसके अतिरिक्त अनेक आत्माएँ होती हैं जो कोरवा लोगों के उनके पड़ोसियों, पुरोहितों, प्रमुखों आदि के प्रति अभिवृत्ति को निर्धारित करती हैं। जीववाद, हितकारी तथा अहितकारी दोनों प्रकार की आत्माओं में विश्वास करता है जिन्हें मनुष्य के भाग्य को प्रभावित करने वाला माना जाता है। हितकारी आत्माओं की ओर कोई ध्यान नहीं देता क्योंकि उससे कोई भयभीत नहीं होता है। इस प्रकार उदाहरणार्थ, महान् सूर्य देवता, मुंडा जनजाति के सिंगबोंगा की उपासना बहुत कम ही की जाती है क्योंकि वह सौम्य है तथा किसी को हानि नहीं पहुँचाता। यह आदिम धर्मों का प्रारूप प्रमाणक चिह्न है। उनका अधिक सरोकार सारी शक्तियों, भयों तथा मंशाओं से होता है किन्तु उन लोगों को दोष देना उचित नहीं होगा, जो निरन्तर प्रेतात्माओं एवं आत्माओं के भय से जीवन व्यतीत करते हैं। सभी लोगों की अपनी आशाएँ तथा भय होते हैं, तथा जनजातीय धर्म के इस एक तत्व को ही लक्षित करना तथा यह कहना कि उनका जन्म भय से होता है, उनके प्रति अन्याय करना है।

छोटानागपुर की मुंडा, ओरॉंव तथा 'हो' जैसी जनजातियाँ एक अतिप्राकृतिक (अलौकिक) शक्ति में विश्वास करती हैं, जिसे उनकी बोली में 'बोंगा' कहा जाता है। 'हो' लोगों में बोंगा को अनिश्चितता तथा अवैयक्तिकता की शक्तियों के रूप में अस्पष्ट रूप से समझा जाता है, तथा उनका कोई वस्तुनिष्ठ आभास अथवा अस्तित्व नहीं होता। मुंडा जीवन पर बोंगा की व्यापक श्रेष्ठता केवल मानवत्वारोपण (anthro-pomorphism) की सीमा प्रदर्शित करती है। अवैयक्तिक बोंगा स्वप्न को माध्यम बनाकर पूर्व कथन के लिये प्रयोग करता है। दिवास्वप्नों का प्रयोग बुरी वस्तुओं की पूर्व चेतावनी के रूप में किया जाता हैं। बोंगा एक अस्पष्ट अलौकिक शक्ति का प्रतीक होता है तथा सम्पूर्ण ऊर्जा का कारण होता है। अब बाइसिकिल भी एक बोंगा बन गयी है। शक्तिशाली वाष्पइंजन एक बोंगा है तथा वायुयान उपरोक्त की अपेक्षा और भी बड़ा बोंगा है। लोगों में शक्ति प्रतिष्ठा आदि में अंतर किसी व्यक्ति द्वारा अवशिष्ट बोंगा शक्ति की मात्रा के कारण माना जाता है।

भारत में शायद ही कोई ऐसी जनजाति हो जो मृतक की आत्मा का सम्भाव्य आध्यात्मिक शक्ति के रूप में परिवर्तित होने में विश्वास न करती हो। यह विश्वास किया जाता है कि ये आत्माएँ घनिष्ठ संबंधियों से सम्पर्क बनाये रखती हैं। उनमें पूर्वजों की पूजा इसी विश्वास का तार्किक प्रतिफल प्रतीत होता है। नीलगिरि पहाड़ियों के टोडा तथा छोटानागपुर के हो को अन्तिम संस्कार के पश्चात् से आत्मा की अन्तिम

तथा सदा के लिये विदाई को सुनिश्चित करना होता है। टोडा लोग इस प्रकार के दूसरे समारोह से लौटते समय काँटे फैलाते आते हैं ताकि अपकारी प्रेतात्मा उनके ग्राम में प्रवेश न कर सके।

भारत की अधिकतर जनजातियाँ यह विश्वास करती हैं कि मृत्यु के पश्चात् जीवन समाप्त नहीं होता है तथा वह किसी न किसी रूप में विद्यमान बना रहता है। पूर्वजों की आत्माओं की आराधना तथा पूजा इसी विश्वास का फल प्रतीत होता है। मध्य भारत की जनजातियाँ यह विश्वास करती हैं कि उनके पूर्वजों की आत्माएँ रोगों में अन्य दुष्टात्माओं को दूर भगाने हेतु सहायता में आती हैं। छत्तीसगढ़ की जनजातियाँ विशेष समारोहों द्वारा अपने पूर्वजों की आत्माओं का आह्वान करती हैं।

बहुत सी जनजातियों द्वारा यह विश्वास किया जाता है कि कुछ वस्तुएँ कुछ आध्यात्मिक शक्तियों से आविष्ट होती हैं। इस प्रकार किसी-न-किसी प्रकार उत्सव मनाना इन जातियों को मार्गदर्शन सिद्धान्त देता प्रतीत होता है। इस प्रकार की वस्तुओं की पूजा में जादू का तत्व विद्यमान होता है जिसका विस्तार और आगे धार्मिक जादुई प्रकार के विश्वासों एवं पद्धतियों तक होता है। उड़ीसा के बोण्डा एक विशिष्ट तलवार की पूजा इस विश्वास से करते हैं कि वह उन्हें अतीत युग के शक्तिशाली राजपूत योद्धाओं से संबंधित करती हैं। एक विशेष अवसर पर बोण्डा लोग एक पवित्र पेड़ के निकट एकत्र होते हैं, तथा तलवार को मोटे बेलबूटों में छाप दिया जाता है। कुछ कर्मकाण्डों को करने के पश्चात पुरोहित पेड़ पर चढ़ता है तथा अपने दाहिने हाथ में तलवार पकड़कर उतरता है।

अब एक बकरे तथा मुर्गे की इस तलवार से बलि दी जाती है तथा भक्त इस तलवार से टपकने वाली रक्त बूँदों को प्राप्त करने के लिये एक दूसरे से स्पर्धा करते हैं जो रक्त पा जाते हैं वे उसे अपने मस्तक पर पोतते हैं। पुरोहित प्रार्थनाओं के मध्य, भक्तों के लिये आत्मा का आह्वान करते हैं। इसके पश्चात् तलवार को अगले उत्सव तक के लिए पेड़ की बेल में छुपा देते हैं। बस्तर के मुड़िया लोगों के पास गाँव का एक बड़ा नगाड़ा होता है तथा वे विश्वास करते हैं कि ये उनके प्रमुख देवता लिंगापान का निवास है, जो उनके कल्याण की चिन्ता करता है।

## हिन्दूवाद, ईसाई-धर्म तथा जनजातीय देवकुल

जनजातीय धर्मों तथा विस्तृत हिन्दू धर्म में संबंध की समीक्षा करते हुए मजूमदार सही आलोचना करते हैं कि यद्यपि यह सत्य है कि भारत में जनजातीय धर्मों का जीववाद से संबंध है किन्तु यही समग्र सत्य नहीं है।

इन धर्मों को जीववाद की 'रद्दी की टोकरी' से निकालने का श्रेय हट्टन को जाता है। सम्पूर्ण भारत से प्राप्त प्रमाणों के आधार पर उन्हें हिन्दू धर्म तथा जनजातीय धर्म में तीक्ष्ण रेखा खींचना कठिन लगा। यही नहीं दोनों उसके द्वारा एक दूसरे भिन्न समझे जाते थे अपितु उन्होंने पाया कि दोनों एक दूसरे में संगठित हैं तथा एक ही कोटि के हैं। वह उस प्रसिद्ध कथन के लेखक हैं कि जनजातीय धर्म एक प्रकार की फालतू सामग्री है जिसका निर्माण अब तक के हिन्दूधर्म के मन्दिर में नहीं हुआ है। वह इस सामग्री को उस सामग्री के समान पाते हैं जिसका प्रयोग उत्तर-वैदिक हिन्दू धर्म के निर्माण में हुआ है।

एल्विन ने भी अपने विभिन्न निबन्धों में जनजातीय धर्मों तथा हिन्दू धर्म में भेद करने की व्यर्थता की ओर संकेत किया है। वह आगे संकेत करते हैं कि जनजातीय लोग सदैव कुछ अधिक देवताओं की उपासना करने के इच्छुक रहते हैं यदि ऐसा करने से वे कुछ सामग्री अथवा सामाजिक सुविधाएँ अथवा लाभ प्राप्त कर सकते हों तो यह बात उनके हिन्दुओं तथा ईसाई मिशनरियों के सम्पर्क से प्रमाणित है। अजनजातीय लोगों से सम्पर्क अनेक जनजातीय समूहों के धार्मिक विश्वासों में परिवर्तन लाने में निमित्त सिद्ध हुआ है। अनेक मामलों में इस सम्पर्क ने अनुकूलन हेतु अधिक उत्तम माध्यम प्रदान कर जनजातीय समूहों को एक नया जीवन प्रदान किया है। जैसा कि ए. के. बोस (1971) कहते हैं कि ईसाई धर्म निस्सन्देह अधिक समृद्धशाली जीवन का सन्देश लाया है तथा परिवर्तित लोगों के लिए सम्मान की भावना तथा मित्रता का अधिक विस्तृत क्षेत्र प्रदान किया है। किन्तु यह दिलचस्प बात है कि ईसाई धर्म सदैव ही आधुनिक पाश्चात्य सभ्यता के विश्वास से आकृष्ट रहा है और ऐसा विशिष्ट रूप से ब्रिटिश शासनकाल में रहा है जब धर्मान्तरित व्यक्ति अपने देशवासियों की अपेक्षा ब्रिटिश शासकों से अधिक निकटता अनुभव करते थे। केवल स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् से ही अपनी मूल संस्कृति के प्रति इनको प्रोत्साहित किया गया है। अब इसे स्वीकृति प्राप्त हो रही है कि एक ऐसा ईसाई धर्म हो सकता है जो अपने अनुयाइयों को अपनी संस्कृति तथा सभ्यता से दूर नहीं करता। तथापि अब तक जनजातियों में पश्चिमीकरण का प्रमुख अभिकरण, जिसे प्रायः आधुनिकीकरण समझा गया, ईसाई मिशनरी उद्यम रहा है। छोटानागपुर और उड़ीसा तथा पश्चिम बंगाल और उत्तर-पूर्वी क्षेत्र तक फैले हुए झारखंड क्षेत्र की जनजातियाँ हिन्दू धर्म तथा ईसाई धर्म से सम्पर्क के परिणाम का सर्वोत्तम उदाहरण हैं। जनजातीय लोगों का हिन्दू धर्म अथवा ईसाई धर्म से संबंध एक दूसरे से भिन्न रहा है क्योंकि हिन्दू धर्म एक धर्मान्तरणवादी धर्म नहीं रहा है तथा दूसरी बात यह है कि उत्तर-पूर्वी क्षेत्र की जनजातियों के अतिरिक्त

भारत की अधिकांश जनजातियाँ हिन्दू धर्म से बहुत अधिक प्रभावित रही हैं, यद्यपि हिन्दू धर्म जनजातीय जीवन तथा संस्कृति पर बिना अग्रसर हुए प्रभाव डालता रहा है। ईसाई धर्म ने उन्नीसवीं शताब्दी से गहन प्रभाव छोड़ना प्रारम्भ कर दिया। हिन्दुओं के साथ उनके सम्पर्क ने क्रमशः हिन्दू देवताओं, त्योहारों तथा धार्मिक विश्वासों को ग्रहण करने का मार्ग प्रशस्त कर दिया। इससे उनका अतीत में कोई उल्लेखनीय विघटन नहीं हुआ। जनजातियों ने इन्हें अपने देवताओं के त्यागे बिना ही ग्रहण किया जैसाकि इस अध्ययन से पहले चर्चा की गयी है। जनजातियों ने स्वेच्छापूर्वक कुछ और देवताओं की पूजा करना स्वीकार कर लिया। किन्तु ईसाई धर्म के अपनाने के विषय में ऐसा नहीं था। इसका अर्थ अतीत से पूर्ण विच्छेद था। ईसाई पादरियों तथा मिशनरियों ने उन्हें विश्वास दिलाया कि उनके देवता धर्मनिंदात्मक तथा अश्लील थे। कभी-कभी इससे भी उनके जीवन का विघटन हुआ।

हिन्दुओं से संस्कृति सम्पर्कों के फलस्वरूप महादेव की पूजा किसी-न-किसी रूप में न केवल ओरॉंव अपितु गोंड लोगों में भी पायी हाती है। लक्ष्मी तथा काली की पूजा अनेक जनजातियों में सामान्य तत्व हैं। छोटानागपुर की जनजातियों में विष्णु भगत, ताना भगत जैसे भगत सम्प्रदाय का विकास भी सीधे तौर पर हिन्दुओं के साथ संस्कृति सम्पर्क से संबंधित है। यह भी दिलचस्प बात है कि बहुत सी जनजातियाँ उन पद्धतियों को लाँघना चाहती हैं अथवा कम से कम छोड़ने का दावा करती हैं जो उनके हिन्दू पड़ोसियों को स्वीकार्य नहीं है तथा उनकी दृष्टि में इन लोगों का सम्मान हो।

किन्तु ईसाई मिशन का प्रभाव भिन्न है। उसके प्रभाव को स्वीकार करते हुए सच्चिदानन्द (1964) का कथन है कि सम्पूर्ण विश्व में गिरजाघर सामाजिक परिवर्तन का एक सबसे महत्त्वपूर्ण अभिकरण रहा है। आदिम लोगों का धर्म अवश्यम्भावी रूप से उस समुदाय की संरचना को परिलक्षित करता है जिनमें वह विकसित होता है। यही बात भारतीय जनजातियों पर लागू होती है तथा यहीं पर आधारभूत विरोध पाया जाता है। ईसाई धर्म एक भिन्न प्रकार की सामाजिक प्रणाली को परिलक्षित करता है जिसमें वंशावली संबंध इतना महत्त्वपूर्ण नहीं है। चर्च विश्वव्यापकता का आग्रह करता है तथा एक आधार प्रदान करता है जिसमें मातृत्व की अवधारणा को अधिक विस्तृत किया जाता है जिसमें न केवल रिश्तेदार तथा कुल के लोग अपितु अपरिचितों को भी साथी धार्मिकों के रूप में सम्मिलित किया जाता है। ईसाई धर्म एक नये प्रकार के नेतृत्व से परिचित कराता है तथा सामाजिक नियन्त्रण के एक नये सिद्धान्त से भी पादरी सर्वांगीण नेता बन जाता है—पथप्रदर्शक, मित्र, दार्शनिक तथा मार्गदर्शक। पारंपरिक नेता का महत्त्व एकदम समाप्त हो जाता है। पाप तथा प्रतिफल का भय

सामाजिक नियंत्रण का शक्तिशाली यंत्र बन जाता है।

इसके साथ ही भौतिक संस्कृति, जीवन के प्रति दृष्टिकोण, विश्व दृष्टि आदि में भी परिवर्तन आते हैं। पोशाक, शिक्षा के प्रति बढ़ते हुए लगाव, चिकित्सा की नयी प्रणाली की स्वीकृति तथा जादू-टोना के प्रति विश्वास की कमी से भी परिवर्तन होते हैं। राजनीतिक संबंध के लिये वे पादरी की ओर मार्गदर्शन हेतु मुड़ते हैं। इस प्रकार के परिवर्तन मेघालय, मिजोरम, अरुणाचल प्रदेश तथा नागालैण्ड में देखने को मिलते हैं। यह बात भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है कि मिशन का प्रभाव केवल धर्मान्तरण पर ही दिखाई नहीं देता अपितु उन लोगों पर भी जो ईसाइयों के सम्पर्क में आते हैं तथा जो शिक्षा, उदाहरण आदि द्वारा उनसे प्रभावित होते हैं।

## शिरोच्छेदन-आखेट (Head Hunting)

शिरोच्छेदन-आखेट (शिकार जिसमें व्यक्ति का सिर काटकर लाया जाता है) का ज़िक्र आते ही भारत में बहुतों का ध्यान उत्तर-पूर्वी क्षेत्र के निवासी नागा जनजाति के लोगों की ओर जाता है जबकि तथ्य यह है कि विश्व के अनेक देशों में शिरोच्छेदन-आखेट की प्रथा प्रचलित रही है। इस प्रथा के अंतर्गत व्यक्ति का सिर काटकर लाया जाता था और उसे विभिन्न उद्देश्यों से "स्मृति-चिह्न" के रूप में रखा जाता था। 19वीं शताब्दी तक यह प्रथा विश्व के अनेक असभ्य समाजों की भाँति उत्तर-पूर्वी भारत की नागा जनजाति के कुछ समुदायों में भी प्रचलित थी। किन्तु, 20वीं शताब्दी के प्रारम्भ अर्थात् लगभग 100 वर्षों से भारत में शिरोच्छेदन-आखेट अतीत का आचरण बन चुका है। यदि वह कभी सामने आया भी है तो असाधारण परिस्थितियों में अपवादस्वरूप ही आया है।

शिरोच्छेदन के शिकारियों का विश्वास था कि जिसका सिर काटकर वह लाते हैं उसकी रूह और उसकी सभी ताकतें उसे प्राप्त हो जाती हैं और वह पहले से ज्यादा ताकतवर हो जाता है। इसके अतिरिक्त यह प्रतिष्ठा का द्योतक भी माना जाता था। उससे आखेटक की उसके समाज में प्रतिष्ठा बढ़ती थी। यह भी माना जाता था कि शिरोच्छेदन-आखेट से सौभाग्य, अधिक संतानें पैदा करने की शक्ति और अच्छी फ़सल की प्राप्ति होती है। यह शिकारी की शारीरिक शक्ति का द्योतक तो था ही, साथ ही यह भी माना जाता था कि इससे इसके शिकारी का पौरुष बढ़ता है। नागा नवयुवकों में शिरोच्छेदन करने की कला और उसकी निपुणता विवाह के लिए एक अतिरिक्त योग्यता मानी जाती थी। मेलेनेशिया की जनजातियों में किसी बूढ़ी औरत का कटा हुआ सिर गंडा-तावीज मानकर बाँस के सहारे ऊँचाई पर लटकाने की प्रथा एक आम

बात थी। वे लोग उसे अच्छी पैदावार के लिए "रक्षाकवच" जैसा मानते थे। शिरोच्छेदन-आखेट करने वाले दुनिया भर के सभी समूहों के लोग आमतौर से शत्रु-समुदाय के किसी महत्त्वपूर्ण व्यक्ति को घात लगाकर मारते या उसका सिर काटते थे। इसमें एक विशेष प्रकार की निपुणता का परिचय देना पड़ता था। शिकारियों में औरतों के सिर की लालसा अधिक रहती थी क्योंकि वे अपेक्षाकृत अधिक सुरक्षा में रखी जाती थीं। अतः औरत का शिरोच्छेदन करने वाले को ज्यादा पराक्रमी माना जाता था। जहाँ नागा जनजाति का संबंध है, उसमें यह प्रथा अब पूरी तरह समाप्त हो गयी है। ब्रिटिश सरकार ने इस प्रथा के विरुद्ध बड़ी सख़्ती बरती थी और बाद में स्वतंत्र भारत की सरकार ने भी इस कुरीति को खत्म करने के लिए अनेक प्रकार के सामाजिक व राजनीतिक और प्रशासकीय कद़म उठाये थे। इन प्रयासों के परिणामस्वरूप परम असाधारण परिस्थितियों को छोड़कर, शिरोच्छेदन-आखेट अब यहाँ पूर्णतः गुजरे हुए ज़माने का किस्सा बन गया है।

## शमनवाद (Shamanism)

विश्व भर के जनजातीय और गैर-जनजातीय ग्रामीण समाजों में शमनवाद अथवा शमन (ओझागिरी) व्यापक रूप से पाया जाता है। शमनवाद के अन्तर्गत अंधविश्वास और झाड़-फूँक के वे दक़ियानूसी तरीक़े शामिल हैं जो इस 'सिद्धांत' पर आधारित हैं कि कोई रूह या आत्मा किसी अन्य जीवित व्यक्ति के शरीर में प्रवेश करके तथा उस पर हावी होकर उससे तरह-तरह के कृत्य और अभिचार करा सकती है। इस प्रकार की क्रिया को करने वाले 'शमन' (भारतीय संदर्भ में 'ओझा') कहलाते हैं। भारत के अनेक समाजों में ओझागीरी प्रचलित हैं। अनुयायी लोगों के विश्वास के अनुसार 'शमन' या 'ओझा' लोगों के पास अति-मानुषी शक्तियाँ होती हैं जो शुभ और अशुभ दोनों प्रकार की होती हैं। अधिकांशतः उनका इस्तेमाल परोपकार के लिए किया जाता है।

जिन समाजों में 'शमनवाद' प्रचलित है उनमें ज्यादातर शमन या ओझा 'विश्वास-चिकित्सक' अथवा 'जनसाधारण का नीम हकीम' जैसा काम करता है। ये लोग ऐन्द्रजालिक अभिचार और जादू-टोने की क्रियाएं भी करते हैं। "विश्वास चिकित्सक" के रूप में वे पीड़ित व्यक्तियों के लिए विभिन्न प्रकार के पूजा-अनुष्ठान करते हैं और उन्हें वनौषधियों के नुस्खे बताते हैं। जब ये सभी बातें नाकामयाब सिद्ध हो जाती हैं तो शमन या ओझा "भूत-बयार", "शय या आत्मा" आदि से 'परामर्श' करके बाधा शान्ति का उपाय बताता है। उपायों में हवन, टोना-टोटका, पशुबलि आदि

कोई भी अद्भुत कृत्य हो सकता है। बिहार, मध्य प्रदेश, उड़ीसा और पश्चिमी बंगाल में ओझागिरी की मज़बूत संस्थाएं हैं। जनजाति समाज, खासतौर से पुरातन-संस्कारों की जनजातियों के समुदाय, अपने चारों ओर की अनिश्चितताओं से आशंकित और भयभीत रहते हैं। अन्धविश्वास, महामारी, अप्रत्याशित प्राकृतिक विपत्तियाँ, भिन्न समुदायों में परस्पर युद्ध, भूत बाधा और एक दूसरे पर जादू-टोना करने-कराने का कार्य आदि बातें ओझागिरी के अस्तित्व को अब भी बनाये हुए हैं।

# 9

# युवागृह

भारत की जनजातियों में युवागृह की संस्था को इतना रूमानी व कामुक बना कर प्रस्तुत किया गया है कि मानवशास्त्र की पाठ्य पुस्तकों के अतिरिक्त उसके संबंध में सत्य बहुत कम ही सामने आता है। युवागृह जैसी संस्था आदिम समाजों में सम्पूर्ण संसार में पायी जाती है, तथा इस प्रकार के एक शयनगृह का अत्यन्त सुन्दर वर्णन महान अंग्रेज मानवशास्त्री मैलिनोस्की द्वारा ट्रोब्रियाण्ड द्वीप समूह के बुकूमाटूला का है।

मजूमदार (1967) जनजातीय भारत में युवागृहों का विवरण देते हुए कहते हैं कि उभयलिंगी और एकलिंगी युवागृह देश के उन सभी भागों में पाये जाते हैं जहाँ जनजातीय लोग बसते हैं। वे असम में पाये जाते हैं। कोंन्यक नागा बालकों के युवागृह को 'बान' नाम से पुकारते हैं तथा बालिका युवागृह को 'यो' कहते हैं। आओ नागा इसके लिए 'अरीचू' तथा 'मेमिस' दो नामों का प्रयोग करते हैं। पुरुषों के युवागृह को 'इकूची' तथा महिलाओं के युवागृह को 'इलोइची' कहते हैं। अंगामी नागा इसे किचुकी पुकारते हैं। उत्तराखंड के निचले हिमालय क्षेत्र के भोटिया लोगों में भी युवागृह पाये जाते हैं जो इसे रंगबंग कहते हैं। छोटानागपुर की मुंडा तथा 'हो' जनजातियाँ भी इसे रखती हैं तथा इसे 'गिटिओरा' नाम से पुकारती हैं। औराँव लोग इसे 'जोन्करपा' अथवा 'धुमकुड़िया' मुड़िया उसे 'छंगरबासा' और गोंड 'घोटुल' कहते हैं। दक्षिण भारत में युवागृहों का अस्तित्व मुथुवना, मन्नाम तथा पालियान जनजातियों में पाया जाता है। कुन्नीकर लोग कुमार भवन रखते हैं जो कुमारों तथा आगन्तुक अतिथियों के रहने का प्रयोजन पूरा करता है।

युवागृह की उत्पत्ति का विषय सदैव विवादास्पद रहा है तथा सत्य अतीत के कोहरे तथा अन्धकार में छिपा है। किस प्रकार, कब तथा किन परिस्थितियों में युवागृहों की उत्पत्ति हुई, वाद-विवाद एवं विचार-विमर्श का विषय है। हड्सन का विश्वास है कि ये सामुदायिक गृहों के अवशेष हैं जो गृहों के विकास का प्रथम चरण था और जब सम्पूर्ण गाँव के लोग मिलकर एक साथ रहते थे। कुछ अन्य विद्वान मत रखते हैं कि युवागृह का अभिकल्प अगम्यगमन (इनसेट) रोकने के लिये, बच्चों को यौन संबंधी दृश्य देखने से बचाने के लिये, अथवा माता-पिता को अपने को अविवाहित युवकों

द्वारा देखे जाने से बचाने के लिये, जबकि वे यौन समागम में आबद्ध होते थे, किया गया था। कुछ आदिम समाजों में कृषि कार्य व्यस्तता में समागम निषिद्ध है। अतः पुरुषों के निवास की पृथक् व्यवस्था की जाती है। ऐसे समयों में एकाकी स्त्रियों को एक साथ रखना पड़ता है। इसके अतिरिक्त रजस्वला स्त्रियों को प्रायः अलग कर दिया जाता है। माड़िया तथा मुड़िया लोगों में पति को घर के अन्दर अपनी पत्नियों के साथ सोने की अनुमति तब तक नहीं होती है जब तक नवजात शिशु की नाभिडोरी गिर नहीं जाती। बहुत-सी जनजातियों में जब तक शिशु स्तनपान त्याग नहीं करते, पुरुषों तथा स्त्रियों में यौन संबंध की अनुमति नहीं होती। ग्रिगसन (1938) की रिपोर्ट है कि पहाड़ी माड़िया सामान्यतः गृह को यौन समागम के लिये उचित स्थान नहीं मानता। ऊपर वर्णित सभी या कुछ कारण दोनों लिंगों के लिये समान युवागृह की व्यवस्था के लिए उत्तरदायी हो सकते हैं।

भारत की जनजातियों में दो प्रकार के युवागृह पाये जाते हैं। इनमें से कुछ समान अर्थात् बालकों तथा बालिकाओं दोनों द्वारा प्रयोग किए जाने वाले, जैसा कि मुड़िया घोटुल अथवा केवल एक लिंग तक सीमित हो सकते हैं जैसा कि कोन्याक मोरुंग तथा 'यो' होते हैं।

अधिकतर युवागृह ग्राम के बाहरी छोर पर बने होते हैं ताकि उनके सदस्य गोपनीयता कायम रख सकें तथा बिना किसी बाधा के अपनी कियाएं सम्पन्न कर सकें। युवागृह सामान्यतः विशेष रूप से निर्मित भवन में होता है जो सादा तथा बिना रंग का होता है, जैसा कि ओराँव लोगों का धुमकुड़िया नामक युवागृह एक द्वार तथा नीची छत वाला होता है अथवा नागा लोगों के 'मोरंग' शयनगृह जैसा नक्काशीदार लकड़ी के दरवाजों वाला होता है, यद्यपि सतही तौर पर युवागृहों के अन्दर का जीवन सुगम सहृदयी प्रतीत होता है, किन्तु जैसा मजूमदार प्रस्तुत करते हैं कि इन आवासों के अंतःनिश्चित, गहन, सामाजिक, आर्थिक तथा शैक्षिक प्रयोजन हैं। सायंकाल में युवक युवागृह में एकत्र होते हैं तथा नृत्यगान, खेल, लोककथाएँ तथा लोकवार्ता जैसे कार्यक्रमों में शामिल होते हैं तथा रात में साथ सोते हैं। इसके सदस्य वरिष्ठ तथा कनिष्ठ दो भागों में विभाजित किये जा सकते हैं। वरिष्ठ लोग जो जनजातीय संस्कृति तथा परंपरा में पारंगत होते हैं, जो वह सीख चुके हैं तथा अनुभव किया है, कनिष्ठ को स्थानान्तरित कर देते हैं। जिन अधिकारियों से युवागृह की व्यवस्था की अपेक्षा की जाती है उनका चयन वरिष्ठों में से किया जाता है। उनसे युवागृह के अन्दर की क्रियाओं का नियंत्रण करने तथा अनुशासन बनाये रखने की अपेक्षा की जाती है।

जहाँ भी युवागृह होता है, वहाँ बालकों तथा बालिकाओं को उसका सदस्य बनना आवश्यक होता है, यद्यपि प्रवेश के समय सदस्यों की आयु विभिन्न जनजातियों में

भिन्न-भिन्न होती हैं तथा सामान्य औसत आयु लगभग दस वर्ष होती है तथा इसकी सदस्यता सदस्य के विवाहित होने तक चलती है।

मनोरंजनात्मक क्रियाओं के अतिरिक्त इसके सदस्य अधिकारी के नेतृत्व में अनेक सामूहिक कार्यक्रमों में सहायता करते हैं जैसे विवाह में कार्य करना, गृह निर्माण अथवा फसल तैयार कराना। उसके सदस्य दिन में अपने परिवार के लोगों के साथ रहते हैं किन्तु सायं का भोजन करने के पश्चात् अपने युवागृहों की ओर चले जाते हैं।

सदस्यों से युवागृह की क्रियाओं के संबंध में गोपनीयता बनाये रखने की अपेक्षा की जाती है। मजूमदार का कथन है कि ऐसा मुख्यतः इस तथ्य को दृष्टि में रख कर किया जाता है कि युवागृहों के अन्दर की प्रणयी क्रियाएँ स्वतंत्रतापूर्वक की जाती हैं। यद्यपि यौन समागम की सामान्यतः उसकी चाहरदीवारी के भीतर अनुमति नहीं होती, मुड़िया घोटुल में वरिष्ठ बालिकाएँ छोटे बालकों को यौन प्रशिक्षण देती हैं तथा नेताओं से यौन समागम के लिए अनुमति लेना आवश्यक नहीं होता। एक दिलचस्प पक्ष, किन्तु जिसका अध्ययन भली प्रकार से नहीं किया गया है, युवागृह की सदस्यता अवधि में शयनगृह के अन्दर अथवा बाहर स्थापित अनेक यौन-संबंध हैं। जन्म नियंत्रण की लयात्मक विधि (Rhythm Method) के प्रयोग के भी प्रमाण उपलब्ध हुए हैं। जहाँ तक स्वयं मुड़िया लोगों का संबंध हैं, वे अनेक अलौकिक, व्याख्याएँ प्रस्तुत करते हैं जैसे कि 'घोटुल' की सुरक्षा, इसके संरक्षक देवता लिंगों द्वारा की जाती हैं। घोटुल के अन्दर होने वाले यौन सम्मेलन का प्रतिफल गर्भधारण नहीं होता क्योंकि ऐसा होने से स्वयं लिंगों का असम्मान होता है। वे गर्भ को रोकने के लिये बलि देते हैं तथा प्रार्थनाएं करते हैं, हालाँकि इसे कोई विशेष सामाजिक लांछन नहीं माना जाता। वह केवल बच्चों की उपस्थिति के कारण विवाह के आर्थिक पक्ष को जटिल बना देता है, यद्यपि उसकी माता के उसके पिता अथवा किसी अन्य से विवाह के पश्चात् वह परिवार का पूर्ण सदस्य स्वीकार कर लिया जाता है। युवागृह में प्रदान किया जाने वाला सामाजिक तथा यौन संबंधी प्रशिक्षण सदस्य के आने वाले वैवाहिक जीवन में बहुत निर्णायक सिद्ध होता है और उसे महत्त्वहीन या दूषित मानकर खारिज नहीं किया जा सकता। दिलचस्प बात यह है कि संसार के सर्वाधिक विकसित समाजों में भी इस प्रकार के संस्थागत प्रशिक्षण का अभाव पाया जाता है।

प्रसिद्ध नृजातिशास्त्री एस. सी. रॉय जिन्होंने प्रमुख भारतीय जनजातियों में अग्रणी कार्य किया है, छोटानागपुर के ओराँव जनजाति के युवागृह के लिये त्रिभुजीय उद्देश्य प्रस्तुत करते हैं। प्रथम, यह भोजन की खोज के प्रयोजन हेतु एक प्रभावी आर्थिक संगठन के रूप में कार्य करता है। द्वितीय, अपने सामाजिक तथा अन्य कर्त्तव्यों में नवयुवकों के प्रशिक्षण हेतु एक उपयोगी धर्म गोष्ठी के रूप में, तथा तृतीय आखेट में

सफलता प्राप्त करके तथा नवयुवकों की सन्तति जनन शक्ति के संवर्धन हेतु जादू-धार्मिक समारोहों के सम्पन्न करने के स्थान के रूप में कार्य करता है। गोंड लोगों के विषय में चर्चा करते समय इन्दरजीत सिंह, संयुक्त आर्थिक कार्यों में सम्मिलित होने, सामाजिक तथा यौन व्यवहारों में प्रशिक्षण तथा आवास के प्रावधान में 'घोटुल' के महत्त्वपूर्ण कार्य का जिक्र करते हैं।

## ह्रास (Decline)

हिन्दुओं के साथ सांस्कृतिक सम्पर्क तथा जनजातीय क्षेत्रों में ईसाई धर्म का प्रचार युवागृह संस्था के ह्रास के दो प्रमुख कारण हैं। मजूमदार का विचार है कि अजनजातीय लोगों का सम्पर्क युवागृह की संस्था के लिये घोर विपत्तिकर सिद्ध हुआ है। बारम्बार तथा शहरी जीवन पद्धति के गहरे सम्पर्क के फलस्वरूप उनमें अपनी प्रारम्भिक जीवन पद्धति के प्रति प्रेम तथा विश्वास में कमी आयी है। पड़ोसी अजनजातीय लोगों की नजर में ऊपर उठने के प्रयास किये जाते हैं तथा इस प्रक्रिया में मूल संस्थाएँ न्योछावर कर दी जाती हैं।

इस प्रकार स्कूल जाने वाले बालक न केवल युवागृह में जाना त्याग रहे हैं, अपितु वास्तव में वहाँ जाना बन्द कर देते हैं। ऐसा पाया गया है कि 'हो' जनजाति शहरी अभिकरण से गहरे सम्पर्कों के कारण 'बिटोरा', जो उनकी युवागृह संस्था है, के अस्तित्व को नकारते हैं।

ईसाई धर्म के प्रचार ने भी अपनी भूमिका निभाई है। मध्य भारत तथा उत्तर-पूर्वी क्षेत्र में सभी जनजातियों का, जिनका धर्मान्तरण ईसाई धर्म में हुआ है, मिशनरियों द्वारा युवागृह की संस्था को नष्ट करने के लिए 'बलात्' मत प्रवर्तन किया गया है। इन जनजातीय लोगों को युवागृह में जाने की अनुमति नहीं दी जाती। इस प्रकार के संगठित एवं नियमित प्रयास का परिणाम है कि ईसाई जनजातीय ग्रामों में युवागृह गायब हो गये हैं।

भारत की जनजातियों में एक समय की ओजस्वी, रंगारंग तथा उपयोगी युवागृह संस्था अब एक दुखद अध्ययन का विषय है। छोटानागपुर क्षेत्र में जनजातीय जीवन का सच्चिदानंद द्वारा किया गया अध्ययन, युवागृह की वर्तमान दशा का स्वरूप प्रस्तुत करता है। छोटानागपुर के रात मन्दर तथा चिरीजन ग्रामों का अध्ययन करते हुए वह टिप्पणी करते हैं कि 'धुमकुड़िया' की वर्तमान दशा चालीस-पैंतालीस वर्ष पूर्व की स्थिति से बहुत भिन्न है। ऐसा प्रतीत होता है कि यह संस्था अपनी अंतिम साँसे ले रही है। अनेक ग्रामों में 'धुमकुड़िया' के नाम पर केवल एक जीर्णशीर्ण तथा उपेक्षित घर बचा है, जो जनजातीय लोगों की इस महान् सामाजिक संस्था के स्मारक के रूप में खड़ा है।

# तीन

# नृजातीय विवरण
# (Ethnography)

I. चुनी हुई जनजातियों का नृजातीय विवरण

पशुपालक - **टोडा**

खाद्य संग्रहक - **चेंचू**

मातृ सत्तात्मक - **खासी**

कृषक - **ओराँव**

II. **क्षेत्रीय परिवेश**

मध्य प्रदेश व छत्तीसगढ़, उत्तर प्रदेश व उत्तराखंड तथा बिहार व झारखण्ड का जनजातीय संसार

# 10

# चुनी हुई जनजातियों का नृजातीय अध्ययन

## टोडा

टोडा शब्द का उच्चारण करते ही मस्तिष्क में एक विशेष महत्त्वपूर्ण वैवाहिक विधि की झलक कौंध जाती है। टोडा, बहुतपतिप्रथा का एक शास्त्रीय (classical) उदाहरण है। यह जनजाति सत्रहवीं शताब्दी के प्रारम्भ से ही रुचि का विषय रही है, जब 1602 ईस्वी में पुर्तगाली मिशनरियों ने पहली बार इनकी जानकारी प्राप्त की थी। इनमें अधिकांशतः दक्षिण भारत के नीलगिरि पर्वत के निवासी हैं जो तमिलनाडु के ऊटकामुंड और कुन्नूर जिले के अन्तर्गत हैं जबकि शेष कर्नाटक प्रदेश के दक्षिण केनरा जिले के कोलेगल तालुक क्षेत्र से संबंध रखते है। नीलगिरि लगभग 478 वर्ग मील क्षेत्र का एक ऊबड़-खाबड़ पठार है तथा समुद्री सतह से 3000 से 8000 फुट की ऊँचाई पर स्थित है। टोडा भारतवर्ष की कदाचित् सर्वाधिक विश्लेषित जनजाति है जिसने एक शताब्दी से अधिक समय से मानवशास्त्रियों तथा समाज वैज्ञानिकों का ध्यान आकर्षित किया है। बहुपतिप्रथा के अतिरिक्त वे अपनी पशुचारण संबंधी अर्थव्यवस्था के लिये भी प्रसिद्ध हैं, जिसको उन्होंने "भैंसपूजन" से उपासना पद्धति के स्तर तक उठाया है।

वे स्वयं को "टौरा" कहते हैं तथा पड़ोसियों में भी इसी नाम से प्रचलित हैं। इनके निकटमत पड़ोसियों में भी चार आदिम जनजातियाँ हैं - बड़गा, कोटा, कुरुंबा और ईरुला। सामाजिक सोपान के अनुसार टोडा तथा बड़गा समाज के उच्चतम स्तर पर आसीन हैं जिनका अनुकरण, क्रम से कोटा, कुरुंबा तथा ईरुला करते हैं। इन चारों जनजातियों का "टोडा जनजाति" के आर्थिक जीवन में महत्त्वपूर्ण योगदान है क्योंकि टोडाजन उच्चस्तरीय अन्तःक्रिया को विशेषतया, बड़गा तथा कोटाजनों से बनाये रखने में समर्थ हैं।

नीलगिरि पर्वत का प्रमुख आवासीय क्षेत्र वानस्पतिकी तथा जीवजन्तु दृष्टिकोण से अत्यधिक समृद्ध है। यहाँ पर हाथी, चीते, तेंदुए, साँभर, सुअर, जंगली कुत्ते तथा गौर मुख्य रूप से पाये जाते हैं। इसके वन प्रदेश श्वेत सिडार, आबनूस, यूकेलिप्टस,

साटनवुड, रोजवुड, सिल्वर ओक तथा अन्य विभिन्न प्रकार के वृक्षों से आच्छादित हैं।

टोडा जनजाति की अपनी भाषा तो है किन्तु अपनी लिपि नहीं है। इसकी समानता तमिल भाषा से परिलक्षित होती है किन्तु इसमें कुछ प्राचीन शब्दों का प्रयोग, टोडा जनजाति का संबंध बलूचिस्तान की "ब्रहुई " जनजाति से प्रदर्शित करता है। टोडा शब्द की उत्पत्ति "टुड्रा" से हुई है जो इस जनजाति का एक पवित्र वृक्ष है। पड़ोसी जनजाति बड़गा के लिये टोडा वास्तव में वही है जो "टोड" वृक्ष की पूजा करता है।

इनका हल्का गौरवर्ण, लंबी शारीरिक बनावट, ऊँची पतली नासिका, भूरी आँखें, लम्बी दाढ़ी तथा शरीर पर अत्यधिक बाल, इन्हें एक अलग स्थान प्रदान करता है तथा कृष्णवर्णी द्रविड़ जनसंख्या के परिवेश से भिन्न करते हैं। इस जनजाति के पुरुषों की शारीरिक बनावट हृष्ट-पुष्ट तथा सुगठित होती है तथा स्त्रियाँ सुन्दर और गरिमामय होती हैं। इनका प्रजातीय संबंध अभी भी मानवशास्त्रियों तथा अन्य लोगों के लिये विवादास्पद है। कुछ का मत है कि ये प्राक् आर्यों का एक समूह है जो कई शारीरिक विशेषताओं में जापान के ऐनू के समान है जबकि दूसरों को विश्वास है कि ये इन्डोअफगानी या नॉर्डिक हैं। और इनके विचारों का मतभेद इनकी प्रजातीय संरचना का विवाद स्पष्ट करता है, साथ ही इनका मूल अभी भी रहस्य का ही विषय बना हुआ है।

## व्यवस्थापन तथा आवास

टोडा गाँव अधिकांशतः छः सात झोपड़ियों के समूह होते हैं जिनका संबंध व्यक्तिगत परिवारों से होता है। यह अधिकतर किसी झरने अथवा जंगल के किनारे किसी ऊँचे स्थान पर बसे होते हैं। एक विशिष्ट टोडा झोपड़ी आकृति में अर्धचन्द्राकार होती है, जिसकी अण्ड आकृति दीर्घाकार में फैली होती है। इनमें एक विशाल कक्ष होता है जिसमें कई बिस्तरों की सुविधा होती है। बाँस और फूस इन झोपड़ियों की रचना के आधारभूत पदार्थ हैं। इन कुटियों का प्रवेश द्वार अधिकांशतः इतना नीचा और संकीर्ण होता है कि इनमें प्रवेश लगभग रेंगकर ही किया जा सकता है। इन कुटियों में एक सर्वथा पृथक् स्थान अवश्य निर्धारित होता है, जिसमें दुग्ध उत्पादों को बनाने की सुविधा होती है।

## सामाजिक व्यवस्था

टोडा जनजाति आवश्यक रूप से दो भागों में विभक्त है—"ताराथराल" तथा "ताईवैलिओल", जो दोहरी व्यवस्था को जन्म देती है। ये विभाजन अन्तर्विवाही होते हैं, अर्थात् ये अपनी ही व्यवस्था में अन्य जातियों की भाँति विवाह तो करते हैं, किन्तु

इनमें कुछ अनियमित संबंधों की भी अनुमति होती है। यह अत्यंत रुचिकर विषय है कि दुग्धशालाओं के सभी पवित्र पशु-समूहों के अधिकांश "तार-घर" होते हैं, जबकि "ताईवली" केवल इन समूह की देख-रेख करते हैं। इस प्रकार "तार-घर" सामाजिक सोपान में उच्चतर स्थान रखते हैं। ये दोनों समूह आगे कई गोत्रों में विभाजित हो जाते हैं। ये कुल (गोत्र) अंतर्विवाही होते हैं। प्रत्येक कुल की अपनी एक सीमा होती है और यह अनेक गाँवों के अधिकारी होते हैं, जिसका नामकरण ग्रामों के प्रमुख के आधार पर किया जाता है। किसी कुल के सभी ग्राम पर्वत के एक ही भाग पर स्थित होते हैं। कुल के सदस्यों को हरी चरागाहों की खोज तथा विशेष समारोहों के आयोजन हेतु एक गाँव से दूसरे गाँव जाने की पूर्ण स्वतंत्रता होती है। अतएव टोडा जनजाति में कुल एक विशेष सामाजिक तथा सांस्कारिक महत्त्व रखते हैं।

यह कुल कई परिवारों में विभक्त होते हैं, जिन्हें सामान्यः "कुडुपेली" के नाम से जाना जाता है, क्योंकि भ्रातृय बहुपति प्रथा टोडा जनजाति में सर्वाधिक प्रचलित वैवाहिक विधि है। अतः एक पारंपरिक टोडा परिवार के अन्तर्गत कई भाइयों के एक ही पत्नी या पत्नियाँ तथा उनके विवाहित अथवा अविवाहित पुत्र और अविवाहित पुत्रियाँ होती हैं। परिवार के प्रमुख पुरुष के पास सर्वाधिकार सुरक्षित होते हैं। परिवार में परिश्रम संतुलित नहीं होता। ज्येष्ठ पुरुष सदस्य पशुओं की देखभाल, दूध दुहना, मथना, ईंधन एकत्रित करना, खाना पकाना तथा अन्य कार्य करते हैं, तथा स्त्रियाँ साधारण गृह-कार्य जैसे पानी भरना, कपड़ों पर कढ़ाई करना, अनाज साफ करना, झाडू लगाना, बर्तन साफ करना आदि कार्य करती हैं। यही मिथता पर्याप्त नहीं है, क्योंकि पुरुप राजनीतिक, धार्मिक, सांस्कारिक क्रियाओं पर नियंत्रण करके जनजाति जीवन में अपने स्थान को अधिक महत्त्व प्रदान करते हैं। ऐसे ढाँचे ने एक ऐसी व्यवस्था को जन्म दिया है जिसमें स्त्रियों को पुरुपों की तुलना में निम्नस्तरीय माना गया है।

स्त्रियों को यह विश्वास दिलाया जाता है कि उनका निम्न स्तर जनजाति की आर्थिक स्थिति में नगण्य होने के कारण पूर्णतया उचित है। किन्तु फिर भी उनके साथ क्रूर अथवा तिरस्कारपूर्ण व्यवहार नहीं किया जाता। परन्तु सत्य तो यह है कि स्थितियों को अतिसाधारण बनाने का यह एक ढंग है। यह निश्चित रूप से उस अतीत को न दोहराने का क्रम है जब शिशु बालिका हत्या का प्रचलन था। सौभाग्यवश यह कुत्सित तथा नृशंस व्यवहार अब लगभग समाप्त हो गया है तथा स्त्रियों का सम्मान भी निरन्तर बढ़ता जा रहा है। यद्यपि इन्हें आज भी किसी दुग्ध उत्पादन में हस्तक्षेप की अनुमति नहीं है तथापि कई बार इन्हें भोजन पकाने की अनुमति प्रदान की जाती है। स्त्रियों पर थोपे गये विषाक्त संस्कार भी शनैः शनैः

तिरोहित हो रहे हैं तथा दीर्घकाल से दमित "अछूत" टोडा समाज में सम्मान तथा सामाजिक व आर्थिक क्षेत्रों में स्वीकृति प्राप्त कर रहे हैं।

टोडा जनजाति में विवाह का सर्वाधिक प्रचलित रूप आज भी भ्रातृय बहुपतिप्रथा है यद्यपि एकविवाह तथा बहुविवाह भी अप्रचलित नहीं है। इन्होंने बहुपतिप्रथा को इस प्रकार अपनाया है कि एक ही पत्नी होने पर भी पतियों में कभी ईर्ष्याभाव नहीं उत्पन्न होता है। आवश्यक रूप से सबसे बड़ा भाई ही विवाह करता है और अन्य भाई प्रथानुसार पति बन जाते हैं। यदि अन्य भाई किसी अन्य अन्य स्त्री से भी विवाह करना चाहते हैं तो वास्तविक वर वही रहता है। जब पति, भाई नहीं होते हैं अर्थात्, अपैतृक बहुपतिप्रथा, जिसकी पूर्ण अनुमति है, ऐसी स्थिति में सबसे बड़ा भाई स्त्री से विवाह करके उसे "अतिथि पत्नी" के रूप में अपने भाइयों के पास भेजता है। यह क्रम लगभग एक दो महीने चलता है।

अधिकांश भारतीय जनजातियों से भिन्न टोडा "बालविवाह" का अनुकरण करते हैं। कभी-कभी तो यह विवाह दो या तीन वर्ष की उम्र में ही हो जाता है। ऐसी स्थिति में नवजात वर-वधू के माता-पिता वैवाहिक संबंध निर्धारित कर देते हैं तथा वधू यौवनारम्भ होने तक अपने ही माता-पिता के पास रहती है। प्रारम्भिक अनुसंधानकर्त्ताओं द्वारा सूचित की हुई एक प्रथा इस संदर्भ में अति महत्त्वपूर्ण है, यदि हम टोडा समाज में नारी स्तर का विश्लेषण करना चाहते हैं, यद्यपि इस प्रथा का सत्यापन आज सरल नहीं है। इस अनुसंधान के अनुसार वधू यौवनारम्भ होने के पूर्व ही अपने पति के घर भेज दी जाती है जहाँ उसे यौनजीवन के प्रति प्रेरित किया जाता है। वधू के यौवनारम्भ होने के पूर्व एक समारोह आयोजित किया जाता है जिसमें किसी अन्य गोत्र के युवक को वधू से यौनसंबंध स्थापित करने हेतु आमंत्रित किया जाता है। कुछ समय के पश्चात् वर वस्त्राभूषण लेकर आता है और वधू को अपने घर ले जाता है। ऐसी प्रथायें इस बात का सशक्त प्रमाण हैं कि स्त्रियों को विश्वास दिलाया जाता था कि वे एक चल संपत्ति अथवा भौतिक वस्तु के अतिरिक्त और कुछ नहीं जिसे उसका अधिकारी किसी भी रूप में प्रयोग कर सकता है। इच्छा अथवा अनिच्छा से पत्नी का एक पुरुष से दूसरे पुरुष के पास स्थानान्तरण भी इसी प्रथा का एक प्रमाण है। ऐसी परिस्थितियों में यौन संबंध की अनुमति, विवाह के अतिरिक्त यौन संबंध की भी पूर्ण अनुमति है। इसके अतिरिक्त दुग्धशाला के पवित्र पुरुष को अपनी इच्छा से किसी भी स्त्री से यौन संबंध स्थापित करने का सामाजिक अधिकार है। ऐसे लचीले दृष्टिकोण से प्रभावित होकर कुछ विद्वानों ने टिप्पणी की है कि टोडा "अनियत सम्भोग" अथवा खुले यौन के वातावरण में रहते हैं, जिसमें पवितत्रा या परस्त्रीगमन जैसे कोई विचार नहीं है।

टोडा जन पितृपक्ष का वंशानुक्रम मानते हैं, किन्तु शारीरिक दृष्टिकोण से पितृपक्ष महत्त्वहीन है क्योंकि बहुपतिप्रथा होने के कारण वास्तविक पिता को जानना असम्भव है। अतएव इन्होंने "धनुष-बाण समारोह" का प्रतिस्थापन किया है जिसमें सामाजिक पिता का अधीक्षण होता है। गर्भावस्था के सातवें मास में सामान्य पतियों में से कोई एक सर्वसम्मति से धूमधाम से आयोजित एक समारोह में पत्नी को एक धनुष-वाण का उपहार देता है और यही पति न केवल गर्भ स्थित शिशु का बल्कि भविष्य में होने वाली सभी शिशुओं का पिता कहलाने का अधिकारी तब तक होता है जब तक कोई दूसरा पति सर्वसम्मति से उसी प्रकार से पत्नी को धनुष-बाण का उपहार नहीं देता। यह एक महत्त्वपूर्ण बात है कि टोडा शिशु केवल एक व्यक्ति मात्र का न होकर पूरे गोत्र का शिशु होता है। साथ ही यह भी एक महत्त्वपूर्ण तथ्य है कि सभी पति, चाहे वे भाई न भी हों, समान स्नेह व प्रेम का व्यवहार बच्चों को देते हैं, और जैविक पिता होने के रहस्य की कभी चिन्ता नहीं करते। "धनुष बाण समारोह" को आज भी इतनी महत्ता है कि इस समारोह के बिना बच्चे को जन्म देना स्त्री के लिये लज्जा का विषय होता है।

टोडा जनजाति में तलाक की खुली अनुमति है और इसे कभी लाँछन नहीं माना जाता। तलाक का आधार बहुधा आलस्य व बुद्धिहीनता होता है, न कि अन्य जनजातियों की भाँति बांझपन या परस्त्रीगमन। यदि पुरुष, स्त्री को तलाक देता है तो उसे दण्डस्वरूप पत्नी के संरक्षकों को एक भैंस देनी पड़ती है और बदले में अनेक भैंसे वापस लेने का अधिकारी होता है जिसे उसने समय-समय पर मृत्योपरान्त दाह-संस्कार सहयोग के रूप में दिया हुआ होता है।

टोडा जनजाति की "नातेदारी संज्ञाएं" वर्गीकृत प्रकार की होती हैं। उदाहारणस्वरूप "पिता" का अर्थ मात्र दैहिक या वैधानिक पिता होना नहीं बल्कि पैतृकवंश के चाचा आदि, मातृवंश की मौसियों के पति तथा पितृकवंश तथा पीढ़ी के सभी पुरुष इसके अन्तर्गत आते हैं। यही मातृवंश के साथ होता है। ऐसा संबंध संगठन किसी दुर्घटना तथा "मृत्यु" के समय प्रदर्शित होता है जब सभी संबंधियों को मृतक के दाहसंस्कार में योगदान देना पड़ता है। टोडा जनों में सास या ससुर का नाम लेना वर्जित होता है तथा ससुर के समकक्ष सभी पुरुषों को एक विशेष प्रकार से सम्मान देने की अपनी विशेष प्रथा होती है। ऐसे पुरुष संबंधियों को लम्बवत् लेटकर चरणस्पर्श करने की प्रथा है।

टोडा जनजाति में संपत्ति तथा उत्तराधिकार के स्पष्ट नियम हैं। विभिन्न प्रकार की संपत्तियों में व्यक्तिगत, पारिवारिक तथा गोत्र को अधिकार मानते हैं। वस्त्राभूषण, बर्तन तथा छोटी-मोटी चल संपत्ति व्यक्तिगत होती है। साधारणतया कुछ व्यक्तिगत

या पारिवारिक संपत्ति होती है किन्तु पवित्रतम भैंसें जिन्हें "टी" कहा जाता है, केवल गोत्र की ही संपत्ति होती हैं। अचल संपत्ति के रूप में घर तथा छोटे गाँव परिवार के अधिकार में होते हैं जबकि भूमि तथा प्रमुख गाँव व दुग्धशालायें गोत्र के अधिकार में होते हैं। संपत्ति के अधिकारी पैतृकवंश के अनुसार होते हैं अर्थात् केवल पुत्र ही संपत्ति के अधिकारी होते हैं। वैधानिक अथवा सामाजिक पुत्र या तो पिता की संपत्ति का समान उपभोग करते हैं अथवा आपस में बराबर बाँट लेते हैं। ऐसी परिस्थिति में सबसे बड़े तथा सबसे छोटे पुत्र को एक-एक भैंस अधिक दी जाती है। यदि किसी की ऋण ग्रस्तता में ही मृत्यु हो जाती है तो उसके दायित्व समान रूप से विभाजित किये जाते हैं।

इनका राजनीतिक संगठन जनजाति के किसी प्रमुख पर आधारित नहीं होता। इसके स्थान पर पाँच वयोवृद्धों की सभा जिन्हें "नैत्र" कहा जाता है, लोगों पर शासन करती है। इसकी संरचना रुचिकर है। इसके तीन सदस्य परंपरागत रूप से "तार्थार" के होते हैं, एक ताईवाली का तथा पाँचवाँ बड़गा का होता है जो एक पड़ोसी जनजाति है तथा टोडा से पृथक जिसका कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं होता। बड़गा का यह प्रतिनिधि सामान्यतः दोनों जनजातियों के झगड़े संबंधी विषयों में ही बैठता है। अपराध संबंधी विषयों में इन सभासदों के पास कोई विशेष अधिकार नहीं होते तथा इनका अधिकार व्यक्तिगत, पारिवारिक तथा गोत्र संबंधी झगड़ों में होता है। किन्तु न्याय के सीमित क्षेत्र में भी ये पूर्णतया शक्तिशाली नहीं होते, यदि इन पर निरन्तर व्यक्तिगत प्रभाव, रिश्वत तथा धमकियों का दवाव पड़े। इसके अतिरिक्त गोत्र का एक अनौपचारिक प्रमुख होता है और हर पविार का भी एक प्रमुख होता है, जो गोत्र के व्ययों के लिये एक निश्चित धनराशि एकत्रित करने का अधिकारी होता है।

यद्यपि कुछ टोडा ईसाई धर्म के अनुयायी हो गये हैं तथापि अधिकांश "बहुदेववाद" वाले अपनी ही जनजाति के धर्म से जुड़े हुए हैं। वे असंख्य आत्माओं तथा देवी-देवताओं पर अदम्य विश्वास रखते हैं।

इनकी दो प्रमुख देवी-देवता "ताइकिरजी" तथा "ओन" हैं। ताइकिरजी वरिष्ठ देवी हैं जो पृथ्वी के लोगों पर शासन करती हैं। ''ओन'' इनका छोटा भाई है जो मृतकों के संसार पर शासन करता है। अन्य महत्त्वपूर्ण देवियाँ विभिन्न पर्वतशिखरों से संबद्ध हैं। दो प्रमुख क्षेत्रीय नदियों से संबंधित दो जलदेवियाँ भी हैं। समग्र रूप में टोडा धर्म वृहद् धार्मिक संस्कारों से रचित है। दुग्धशालायें टोडा जनों के लिये मंदिर होती हैं तथा दुग्धशाला-पुरुष पुजारी। किन्तु सभी दुग्धशालायें समान रूप से पूज्य नहीं होतीं तथा इनके सांसारिक महत्त्व में अंतर होता है। ये "अलौकिकता" तथा "जादूगरी" पर भी विश्वास रखते हैं। मृतकों का दाह संस्कार ये बड़े नियमित रूप से तथा विभिन्न वाद्यों

की ध्वनि से करते हैं जिसके अन्तर्गत भैंसों की बलि तथा अन्य प्रकार के दान दिये जाते हैं किन्तु मांस को स्वयं न खाकर ये दूसरों को देते हैं।

## अर्थव्यवस्था

टोडा इतने बुद्धिमान नहीं हैं कि नीलगिरि पर्वत पर आने वाले नवागतों के शोषण तथा हिंसक प्रतियोगिता के बदलते हुए परिवेश के प्रति सचेत रहें। इनकी संपूर्ण अर्थव्यवस्था भैंसों के ही चारों तरफ घूमती है तथा अपनी स्थिरता या प्रगति को इन्होंने सर्व महत्त्वपूर्ण भैंस पद्धति के सामाजिक विकास द्वारा ही की है। ये न तो कृषि करते हैं न ही उद्यानकृषि या किसी प्रकार की हस्तकला जानते हैं। ये आखेट करना या मछली पकड़ना जैसे भोजन एकत्रित करने के साधनों का भी प्रयोग नहीं करते जो संचित अर्थव्यवस्था के लिए अपेक्षित रूप से महत्त्वपूर्ण है। ये शाकाहारी हैं तथा जो थोड़ा बहुत खाद्य एकत्र करते हैं वो केवल फल, कन्द-मूल का ही होता है जिससे वे अपने मुख्य आहार दूध की पूर्ति करते हैं।

इनकी "चरवाही अर्थव्यवस्था" के प्रमुख तत्वों पर विचार करने से पूर्व इनकी आर्थिक व्यवस्था के एक महत्त्वपूर्ण पहलू पर भी दृष्टि पात करना आवश्यक है। वह है पड़ोसी जनजातियों से इनका निकटवर्ती आर्थिक संबंध। टोडा के अतिरिक्त, बड़गा, कोटा, कुरुंबा तथा ईरुला जनजातियों का निवास स्थान भी यही पठार है। पूरे भारतवर्ष में जनजातियों की ऐसी कोई पट्टी नहीं जहाँ विभिन्न जनजातियों के समूह इतनी परस्पर निर्भरता के साथ रहते हों। इन सभी में कोटाजन-टोडाजनों के सहजीवी हैं। परंपरागत रूप से ये लुहार तथा संगीतज्ञ होते हैं, जो टोडा तथा कुछ बड़गा गाँवों के आसपास के सात गाँवों में रहते हैं। यद्यपि कोटाजनों की अपनी व्यावसायिक विशेषता होती है किन्तु इनके जीवनयापन का मुख्य स्त्रोत कृषि है। इनकी अपनी भाषा है। ये परंपरागत रूप से टोडा, बड़गा तथा कुरुंबा लोगों की लुहार तथा संगीतज्ञ के रूप में सेवा करते हैं। वे लोहे के यन्त्र, काठ के बर्तन तथा उपयोग की अन्य वस्तुयें बनाते हैं। ये विभिन्न समारोहों व संस्कारों में संगीत भी देते हैं तथा पारिश्रमिक के रूप में बलि किये हुए या मारे गये मवेशियों के ढाँचे तथा मांस प्राप्त करते हैं। टोडाजनों का ये सम्मान करते हैं तथा अपनी पड़ोसी चरवाही जनजाति को श्रद्धा के रूप में अनाज दान देते हैं। संस्कारों के आधार पर ये टोडा तथा बड़गा जनों के घरों में प्रविष्ट नहीं हों सकते। इनके स्पर्श मात्र को ही टोडा दूषित मानते हैं तथा कभी भी इस घटना के होने पर स्नान अवश्य करते हैं। बड़गा कृषक हैं तथा मुख्यतः आलू का उत्पादन करते हैं। काफी बड़ी संख्या में इन्होंने हिन्दुत्व स्वीकार किया है तथा ये बहुत समृद्ध व महत्त्वाकांक्षी हैं। स्थानीय सोपान में निम्नस्तरीय होने के कारण

कुरुंबाजन कृषि श्रमिक के रूप में बड़गाजनों की सेवा करते हैं। ईरुला जन आर्थिक तथा सामाजिक सीमा पर होने के कारण इस अर्थ-समाज की परजीवी व्यवस्था में कोई विशेष महत्त्व नहीं रखते।

भैंस पर आधारित आर्थिक तथा सामाजिक जीवन टोडाजन का मेरुदण्ड है। भैंस पद्धति को इन्होंने एक 'पंथ' (cult) के स्तर तक ऊँचा उठा दिया है। अपनी भैंसों के उत्पाद पर ही इनका जीवन-निर्वाह होता है। सामान्यतया प्रत्येक घर में आठ से बारह भैंस तक होती हैं, जो भारत की साधारण भैंसों से अधिक अच्छे स्तर की होती हैं। हर भैंस को अलग नाम दिया जाता है तथा इनकी वंशावली को अच्छी तरह से याद रखा जाता है। किन्तु पवित्रता में सभी समान नहीं होते। बालक तथा साधारण पुरुष इन भैंसों की देखरेख करते हैं तथा दुग्धशाला की सभी गतिविधियाँ, जैसे दूध मथना आदि, कार्य घर में ही सम्पन्न होते हैं। किन्तु पवित्र भैंसें पवित्र की हुई अलग शालाओं में रखी जाती हैं जो पवित्र दुग्धशालाओं की भाँति पूज्य होती हैं तथा दुग्धशालाओं की समस्त क्रियाएं, जैसे विभिन्न उत्पादों का निर्माण आदि, विभिन्न संस्कारों द्वारा इन दुग्धशालाओं में ही सम्पन्न होती हैं। संस्कारों का स्तर दुग्धशाला भैंसों की पवित्रता के अनुसार पुरुष निर्धारित करते हैं।

यह तो पहले ही बताया जा चुका है कि दुग्धशाला के क्रियाकलाप पुरुष अधिकार के अन्तर्गत आते हैं क्योंकि मासिक धर्म तथा अन्य कारणों से स्त्रियाँ सांस्कारिक रूप से अपवित्र मानी जाती हैं तथा भैंसों का स्पर्श करने के अधिकार से सर्वथा वंचित होती हैं। कुछ परिस्थितियों में स्त्रियाँ उस मार्ग पर चल भी नहीं सकतीं, जिस पर पवित्र भैंसे चलती हैं। इस प्रकार, आर्थिक क्षेत्र के सभी कार्यों में पुरुषों का एकाधिकार है, जो स्त्रियों को उनके स्तर में बहुत पीछे छोड़ देते हैं। दुग्धशालाओं को पुजारी के उच्चासन तक ऊपर उठा दिया जाता है तथा वे कार्यालय में केवल वैधानिक आज्ञा से ही प्रविष्ट हो सकते हैं।

ये अपने दिन का प्रारम्भ भैंसों को चराने से करते हैं जिन्हें युवक, चरागाहों पर ले जाते हैं। गोधूलि के पूर्व ही इन्हें वापस इनकी पवित्र शालाओं में दूध दुहने हेतु लाया जाता है। निष्कर्ष के रूप में यह कहा जा सकता है कि ये "भैंसों को जीते हैं, भैंसों की ही सोचते हैं, तथा भैंसों पर ही कार्य करते हैं जो इनके जीवन के सभी क्षेत्रों में सर्वशक्तिमान हैं।"

दुग्ध उत्पादों को मैदानी क्षेत्रों में बड़गाजनों द्वारा बेचा जाता है जो शक्तिशाली मध्यस्थता का कार्य करते हैं। व्यक्तिगत प्रयोग हेतु पर्याप्त दूध रखने के पश्चात् अन्य पड़ोसी जनजातियों को दैविक प्रयोग में आने वाली वस्तुओं के बदले ये शेष दूध दे देते हैं।

दुग्धनिर्मित भोजन, सब्जियाँ तथा अनाज टोडाजनों का ठोस आहार है। यद्यपि मृगमांस भक्षण की इन्हें अनुमति होती है यथापि किसी प्रकार का मांसाहारी भोजन या मछली भी ये खाना कम पसन्द करते हैं। अन्य भारतीय जनजातियों के विपरीत जो मद्य, अफीम तथा अन्य नशीले पदार्थों के व्यसनी होते हैं, टोडाजन ऐसी आदतों से सर्वथा स्वतन्त्र ही रहे हैं। यदि इन्हें किसी नशे का सेवन पसन्द है तो वह दही का बचा हुआ पानी है।

## समस्याएं तथा सम्भावनायें

टोडाजन परिवर्तनों के प्रति अधिक सजग नहीं हैं। वे लगभग स्थिर ही रहे हैं अथवा बड़गा जनों के अनुसार उन्होंने विकास किया जो नीलगिरि पर्वत पर आ बसे थे तथा आर्थिक रूप से टोडाजनों के समकक्ष काफी बाद में उन्नत हुए थे। किन्तु टोडाजनों की मुख्य समस्या है–जनसंख्या में निरन्तर पतन जों विभिन्न रोगों–विशेषतया संक्रामक रोगों, अबोध बालिका शिशुओं की हत्या तथा इनकी विषम आर्थिक अवस्था के कारण हैं। संक्रामक रोग तो अंग्रेज़ों तथा भारतीय पर्यटकों की देन है जिन्होंन ग्रीष्मकालीन तपिश से बचने हेतु नीलगिरि को ग्रीष्म आवास बना लिया। अंग्रेजों के शासनकाल में ही टोडाजनों का परिचय प्रथमवार हर प्रकार के पर्यटकों से हुआ था। विभिन्न चिकित्सीय प्रतिष्ठान इस प्रदूषण को समाप्त करने में अति सराहनीय कार्य कर रहे हैं तथा आज टोडा जनजाति कल के लिये आशान्वित हो गई है– विशेषतया अपनी जनसंख्या की सीमा पर।

वेनलौक डाउन्स में ऊटकामंड के निकट टोडाजन परंपरागत भूस्वामी रहे हैं। यह 18,000 एकड़ क्षेत्रफल की भूमि है तथा सन् 1822 में ऊटकामंड के कलेक्टर को टोडाजनों से यह भूमि प्रथम बंगला बनाने के लिए खरीदनी पड़ी। जब बड़ी संख्या में अंग्रेज़ यहाँ आकर बसने लगे तथा भूमि पर विचित्र दूषित प्रभाव बढ़ने लगे तो सरकार को एक नई नीति "टोडापट्टा भूमि नीति" क्रियान्वित करनी पड़ी, जिसके अन्तर्गत वह भूमि टोडाजनों के लिये चरवाही कार्यों हेतु सुरक्षित थी। किन्तु आधुनिक काल में जब भूमि वन विभाग के अन्तर्गत हो गई तो टोडाजनों का भूमि पर से अधिकार भी समाप्त हो गया। फिर भी उन्हें पशु चराने, ईंधन एकत्र करने तथा वन उत्पादकों व कृषि की वैधानिक अनुमति प्रदान की गई। टोडाजनों की पृथक् मानसिकता के कारण उन्हें भैसों से अलग नहीं किया जा सका। अतः भूमि का पट्टा बड़गा जनजाति के नाम पर दिया गया तथा टोडाजनों को अनुपस्थित भूस्वामी माना गया। टोडाजनों के कृषि संबंधी अधिकारों का हर वर्ष नवीनीकरण किया जाता है किन्तु वे इससे सन्तुष्ट नहीं है। वे इस भूमि की स्थायी माँग करते हैं। अपने मनोवैज्ञानिक लगाव तथा गहन

धार्मिक विश्वासों के कारण ये अपने पारंपरिक आवास को त्याग कर किसी दूसरे स्थान पर प्रवास नहीं चाहते। यदि इन्हें पशुपालन से हटाकर अन्य दूसरे कार्यक्षेत्रों के प्रति उनमुख नहीं किया जा सकता है तो पशुपालन को ही अधिक कल्पनाशील योजना तथा सोद्देश्य सहयोग से अधिक लाभकारी बनाया जा सकता है।

## चेंचू

चेंचू जनजाति भारत की जनजातीय जनसंख्या के उस भाग का प्रतिनिधित्व करती है जिनकी आर्थिक स्थिति में पिछले कई दशकों से कोई महत्त्वपूर्ण परिवर्तन नहीं हुआ है। आंध्र प्रदेश के मध्य में केन्द्रित एक छोटे से क्षेत्र में प्रसिद्ध कृष्णा नदी के दोनों तरफ, दक्षिण दिशामें नल्लाभलाई वन तथा ऊबड़-खाबड़ तथा सघन वनों वाले पठार जो उत्तरी दिशा में हैं, ऐसे क्षेत्र में यह जाति रहती है। जिला स्तर पर अधिकांश चेंचू महबूबनगर, कुरुनूल तथा प्रकाशम जिलों में फैल गए हैं।

यह खाद्य संकलक जनजातियों में प्रमुख हैं, जो कृषि पूर्व स्तर पर अपनी जीविका के लिये कन्द-मूल, फल, शहद तथा छोटे-छोटे पशुओं पर निर्भर करते हैं। खोदने वाली छड़ी तथा धनुष-बाण लेकर ये निरुद्देश्य अप्रचलित खाद्य एकत्रण के लिए निरन्तर घूमते रहते हैं। कहा जाता है कि जब दक्षिण भारत में खाद्य एकत्रण की अर्थव्यवस्था के स्थान पर खाद्य उत्पादन व्यवस्था को लाया गया तथा जनजातीय समूहों को ग्राम्य व्यवस्था में स्थानान्तरित किया गया तो अधिकांश चेंचूजनों ने इस परिवर्तन का स्पष्ट विरोध किया और स्वयं को व्यवस्थित जीवन के प्रतिकूल तथा असहाय पाकर इस तकनीकी नवीनता से अलग वन की गहराइयों जा छिपे। शेष जन गाँवों की सीमा पर बस गये। अतः बाकी से अत्यधिक भिन्न हो गये। वे लगभग सुव्यवस्थित लोग हैं, जिन्होंने पड़ोसी मैदानी लोगों की भाँति सांस्कृतिक नियमों तथा आर्थिक व्यवस्था को अपना लिया है।

चेंचू मध्यम कद के होते हैं, तथा इनका वर्ण गेहुआँ तथा रंग हल्का भूरा होता है। अपनी शारीरिक विशेषताओं के आधार पर अधिकतर मानवशास्त्रियों ने इन्हें आस्ट्रेलायड प्रजातीय समूह के समकक्ष रखा है तथा साथ ही वे इस बात से भी सहमत हैं कि इनमें कुछ नीग्रीटो तत्व भी होते हैं। शर्मीले तथा दुर्बल दिखाई देने पर भी इनकी शारिरिक सहनशीलता उच्चस्तरीय होती है। यह एक मिश्रित भाषा का प्रयोग करते हैं, जिसका मूल द्रविड़ भाषा में है।

### व्यवस्थापन तथा आवास

हाल ही तक चेंचू पूर्णतया खानाबदोश जीवन व्यतीत करते थे। ये आज भी अपनी

विगत मधुर स्मृतियों को अपनी लोक कला में दर्शाते हैं, आर्थिक दबावों के कारण इन्होंने अपना पूर्ण खानाबदोश जीवन एक पर्याप्त सीमा तक समाप्त कर दिया है तथा छप्पर की अस्थिर झोपड़ियों में रहना प्रारम्भ कर दिया है। किन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं कि इन्होंने अपने अतीत पर पर्दा डाल दिया है। आज भी प्रत्येक दो वर्षों में ये अपनी पूर्ण व्यवस्था को स्थानान्तरित कर देते हैं। ये छप्पर की नोकदार झोपड़ियाँ बनाते हैं जिसमें पत्तियाँ धरती को छुती रहती हैं। इनका प्रवेश द्वार इतना छोटा होता है कि इसमें प्रवेश के लिए बहुत अधिक झुकने की आवश्यकता पड़ती है। अधिकांश चेंचू व्यवस्था दो से पन्द्रह घरों तक होती है, जिन पर व्यक्तिगत परिवारों का अधिकार होता है। अपने नये आवास के लिये वे पहाड़ी ढलानों तथा ऊँची चट्टानों को ही चुनते हैं ताकि दूर से शत्रुओं को देखकर उनके पास भागने का अधिक समय रहे। अभिन्न रूप से यह आवास जल स्रोतों से दूर होते हैं ताकि जल पीने के लिये आने वाले वन्य पशु इनकी सीमा से बाहर रहें। सुरक्षा की इनकी आन्तरिक विधि इन्हें हिंसक पशुओं से दूर रखती है, जिन्हें मात्र धनुष-बाण से नहीं रोका जा सकता।

## सामाजिक व्यवस्था

ये बहिर्विवाही गोत्रों में विभाजित होते हैं, जिनका आधार पशु टोटम होता है जो सामान्यतया सम्भव नहीं है। यौन विषयों पर इनकी एक निश्चित मुद्रा होती है तथा ये यौन विषयों व समस्यओं पर किसी प्रकार की बातचीत से दूर रहना पसन्द करते हैं। अधिकांशतः वरपक्ष ही विवाह संबंधी निर्णय लेता है किन्तु वधू पक्ष भी यह निर्णय ले सकता है। पूर्ण निर्णय के उपरान्त वर का सबसे प्रमुख दायित्व वधू के लिये साड़ी, चोली तथा अपनी सास के लिए चोली का प्रबन्ध करना होता है। तत्पश्चात् सामुदायिक भोज का आयोजन होता है, जो वरपक्ष के लिये समुचित आर्थिक भार सिद्ध होता है।

वैवाहिक संबंधों की भंगुरता विवाहितों के लिये परेशानी का कारण है। निरन्तर तलाक होने के कारण इनके परिवार में अस्थिरता रहती है। स्त्री स्वेच्छा से अपने जीवन साथी का चयन कर सकती है जिसके साथ वह जीवन व्यतीत करती है तथा पति को भी इस स्वतंत्रता के साथ ही यह प्रथानुसार अधिकार होता है कि पत्नी के साथ संबंधों का निर्वाह न होने पर वह उसे उसके माता-पिता के पास वापस भेज सकता है। यदि पत्नी संबंधों को तोड़ती है तो पति हर्जाने के रूप में विवाह पर व्यय किये हुये धन की माँग कर सकता है। पारंपरिक रूप से एक तलाकशुदा स्त्री अपने पूर्वपति के जीवित होने तक पुनर्विवाह नहीं कर सकती किन्तु औपचारिक विवाह के बिना भी स्वेच्छा से किसी पुरुष के साथ रह सकती है। यद्यपि चेंचुओं को बहुपति प्रथा की छूट है किन्तु विवाह की एकपतिप्रथा ही इनमें अधिक प्रचलित है।

इस जनजाति के संबंधों का एक महत्त्वपूर्ण तथा रोचक पहलू भी है, जिसकी जड़ें रक्त संबंधियों, विशेषतया भाइयों, के प्रति बहुत गहरी होती हैं। यह उस समय बहुत अधिक प्रदर्शित होता है जब यह आखेट अभियान तथा शहद एकत्रण के समय अपने भाइयों तथा निकट संबंधियों से दूरी बनाये रखते हैं तथा अपने दूर के संबंधियों जैसे सालों से मदद लेना श्रेयस्कर मानते हैं। इस जनजाति ने वृद्धों के लिये भी एक संस्था बनाई है। हर व्यवस्था का एक पारंपरिक नेता है, जिसे स्थानीय भाषा में "पद्दोमंशी" कहते हैं, किन्तु समूह पर उसका नियन्त्रण लचीला होता है तथा वह सख्ती से उन पर शासन नहीं कर सकता। वह बाहरी लोगों के समक्ष अपने गाँव का प्रतिनिधित्व करता है, अन्य वृद्धजनों की सहायता से छोटे-मोटे झगड़ों का निर्णय करता है तथा विवाह के समय पुजारी के रूप में नव विवाहितों को आशीर्वाद देता है। यद्यपि इनका कार्यालय वंशानुगत होता है किन्तु सर्वसम्मति से अन्य कोई भी ज्ञानी तथा सम्मानित वृद्ध भी नियुक्त हो सकता है।

चेंचू सामाजिक व्यवस्था के अन्तर्गत केवल चल संपत्ति पर ही व्यक्तिगत अधिकार में होता है। अचल संपत्ति जैसे भूमि,वन, वृक्ष आदि सामुदायिक अधिकार में होते हैं तथा सम्प्रदाय के प्रत्येक सदस्य का उन पर समान अधिकार होता है। वन विभाग के नियमों तथा कानून के क्रियान्वित होते ही परिस्थिति की जटिलता पर्याप्त रूप से परिवर्तित हो गई और अब प्रत्येक व्यक्ति को उनका अनुसरण करना है।

अपने साधारण आर्थिक जीवन की भाँति ही इन्होंने अपने धार्मिक विश्वासों की भी एक साधारण विधि बनाई है। यद्यपि मैदानी क्षेत्र के पड़ोसी हिन्दुओं से सांस्कृतिक सम्पर्कों में वृद्धि होने के कारण इनके धर्म में भी कुछ परिवर्तन हो रहे हैं, किन्तु इनके कुछ तत्व आज भी सर्वथा भिन्न है। "भैरव" इनका प्रमुख स्थानीय देवता है, जिसे आखेट किए हुए पशु का कुछ भाग चढ़ाया जाता है, किन्तु देवी "गरेल मैसमा" का आज भी चेंचूजनों के उस खण्ड पर एकछत्र साम्राज्य है जो पूर्णतया आखेट तथा अन्य स्त्रोतों से निर्वाह पर निर्भर करते हैं। वह उन्हें आखेट अभियान की सफलता के लिये शक्ति तथा निपुणता प्रदान करती है। समस्त रूप में इनका धर्म उत्सवों तथा स्पष्ट संस्कारों के अभाव में निर्जीव सा लगता है। पारंपरिक रूप से चेंचूजन मृतकों को गाड़ते हैं किन्तु बढ़ते हुए हिन्दू प्रभाव के कारण इन्होंने दिवंगतों के शरीर का दाह संस्कार करना प्रारम्भ कर दिया है।

मूल परिवार पति-पत्नी तथा अविवाहित बच्चों का संगठन होता है जो इनके मध्य अत्यंत प्रचलित विधि है। सांसारिक तौर पर पति-पत्नी के समान अधिकार होते हैं, किन्तु अधिकार की योजना के अन्तर्गत व्यक्तिगत उपयोग की कुछ वस्तुओं के अतिरिक्त सामान्यतया पति सम्पूर्ण संपत्ति का अधिकारी होता है। यद्यपि निवास

स्थान पितृ-केन्द्रित ही होते हैं, किन्तु विवाह के तुरन्त बाद मातृ-केन्द्रित घरों में भी कुछ समय के लिये रहना असाधारण नहीं है। अन्य जनजातियों की भाँति बाल विवाह इस जनजाति में प्रचलित नहीं है। अधिकांशतः जीवनसाथी का चुनाव किसी बाहर के ही गोत्र से किया जाता है, किन्तु कुछ विशेष परिस्थितियों में जीवन-साथी मातृकुल से चुना जाता है तथा मामा की पुत्री को वरीयता दी जाती है। विवाह की यह विधि इतनी प्रचलित है कि मामा तथा ससुर से लगभग समान ही संबंध होते हैं। यद्यपि विवाह एक सुनियोजित कार्य है किन्तु वर तथा निर्णय लेने के पूर्व वधू की इच्छाओं को भी प्राथमिकता दी जाती है। वैवाहिक विषयों में बलिकाएं अपना दृष्टिकोण व्यक्त करने में पूर्ण स्वतंत्र होती है। चेंचू जनजाति की अपनी स्त्रियों के प्रति इतनी अधिक स्वतंत्रता से इस विषय में स्पष्ट प्रदर्शित होती है कि विवाह से पूर्व बालिकाएं कुछ विषयों में स्वतंत्र होती हैं। वे पिंजरे में बन्द पक्षी नहीं होतीं। वे उन गोत्रों के पुरुषों से बहुत स्वतंत्र रूप से मिलती हैं जो कदाचित् उनका जीवन साथी बन सकता है। दूसरे शब्दों में प्रेम की प्रथा काफी प्रचलित है, विशेषतया उत्सव काल में, जबकि प्रत्येक व्यक्ति जीवन का पूर्ण आनन्द ले सकता है। किन्तु ये क्रियाकलाप जनसामान्य के मध्य नहीं किये जा सकते हैं तथा कुछ निजी वातावरण की आवश्यकता होती है, ताकि समाज के वयोवृद्धों की भावनाओं को आघात न पहुँचे तथा उन पर इन कार्यों का प्रतिकूल प्रभाव न पड़े। ऐसे संबंधों में यौन-अंतरंगता भी हो सकती है, किन्तु वयोवृद्धों के क्रोध के कारण प्रायः ऐसा नहीं होता है।

## अर्थव्यवस्था

चेंचू जनजाति आधिकांशतः प्राकृतिक साधनों पर निर्भर है। इनकी अर्थव्यवस्था, आखेट तथा खाद्य एकत्रण पर आधारित है। भविष्य के लिये बचत करने की प्रवृत्ति ने इनके मन में एक भय उत्पन्न कर दिया है जिसके कारण इनका अस्तित्व निश्चित रूप से सुरक्षित नहीं है।

बदलती हुई ऋतुएं इनके जीवन में भारी परिवर्तन करती हैं। वर्ष के एक भाग में यह कन्द-मूल खोदते हैं, दूसरे भागों में आखेट पर पूरा ध्यान केन्द्रित करते हैं। इस प्रकार सम्पूर्ण वर्ष संकलन तथा आखेट में ही व्यतीत होता है।

अपनी दिनचर्या में चेंचू प्रातःकाल उठता है तथा घर में भोजन के अभाव के कारण अपनी पत्नी के साथ जड़ों तथा फलों को एकत्रित तथा उपभोग करने के लिये वनों की तरफ प्रस्थान करता है। दो सालों के बाद जब वैवाहिक बंधन थोड़े ढीले पड़ जाते हैं तो पुरुष व स्त्री तीन से छः व्यक्तियों के समूह में अलग-अलग कार्य करने जाते हैं। सभी उपलब्ध फल इमली, महुआ आदि इनके ठोस शाकाहारी भोजन हैं। ग्रीष्म

काल के आते ही झाड़ियाँ तथा पत्तियाँ शुष्क हो जाती हैं तथा इनके लिये खाद्य कन्द-मूल की खोज करना अति दुष्कर होता है। अतः ये आखेट के प्रति केन्द्रित हो ज़ाते हैं। यद्यपि इनके आस-पास के जंगल वानस्पतिक रूप से घने होते हैं तथा यहाँ सभी प्रकार के छोटे बड़े शिकार किए जा सकते हैं किन्तु यह निपुण शिकारी नहीं होते। अतः अपनी आवश्यकतानुसार आखेट करना इनके लिये कठिन कार्य होता है। जब एक पशु मार दिया जाता है तब जंगल में एक जगह आग तैयार की जाती है और उसे भूनकर खाल सहित खा लिया जाता है। वे पक्षियों, खरहों, गिलहरियों, लंगूरों इत्यादि का शिकार करने के लिए अपने तीर-धनुष लेकर निकलते हैं एवं जब गिलहरी या लंगूर जैसे अपने शिकार को देख लेते हैं तो वे छड़ी और पत्थर चलाकर उसका पीछा करते हैं और उन्हें बाहर निकालते हैं ताकि यह उनके निशाने में आ जाए। इनका शस्त्र रूप में प्रयोग करके पक्षियों, गिलहरियों का शिकार अत्यंत सुविधा से कर लेते हैं। "उदमु" इनका प्रिय शिकार है, जो वर्षाकाल में अपने बिल से बहुत अधिक संख्या में बाहर निकलते हैं तथा प्रतीक्षारत चेंचू उनकी पीठ छड़ी से तोड़ देते हैं और अनका स्वादिष्ट भोजन करते हैं।

कुछ चेंचू समूह जिन्होंने कुछ पशुओं को पालतू बनाने की कला में निपुणता प्राप्त की है, आखेट में कुत्तों का प्रयोग करते हैं। प्रकृति पर इनकी निर्भरता इस सीमा तक है कि अभाव के दिनों में जंगली कुत्तों द्वारा छोड़े हुए जानवरों का सड़ा हुआ मांस खाने में भी इन्हें कोई हिचक नहीं होती। कुछ चेंचुओं ने मवेशियों, जैसे गाय, भैंस तथा बकरियों को पालना प्रारम्भ कर दिया है, किन्तु इनकी आर्थिक विषमताओं के कारण यह अपने पालकों के पास अधिक समय तक नहीं रुक पाते। जीविका हेतु इन्हें बेच दिया जाता है।

मछली पकड़ना भी इनके निर्वाह का एक साधन है, किन्तु सीमित है, क्योंकि इनके बहुत कम गांव नदियों तथा झरनों के किनारे बसे होते हैं। मछली पकड़ने की पारंपरिक विधि विष द्वारा होती है, तथा यह विषाक्त पदार्थ एक स्थानीय वृक्ष के चूर्ण में रेत तथा झिंगुर मिलाकर बनाया जाता है। किन्तु अब चेंचू जनों ने यथासम्भव जाल तथा छड़ी से मछली पकड़ना प्रारम्भ कर दिया है।

शहद इनके भोजन का एक महत्त्वपूर्ण अंग है। वृक्षों तथा पर्वत शिखरों से लटकते हुऐ शहद के छत्तों को प्राप्त करने में ये बड़े निपुण होते हैं। मधु छत्ता प्राप्त होने पर ये मोम तथा नवजात मक्खियों सहित उसे खा लेते हैं। मधु प्राप्त करने में उन्होंने इतनी महारत पायी है कि उन्हें छत्तों को ढूँढना नहीं पड़ता। वे जानते हैं कि इन्हें कब, कहाँ और कैसे पाया जा सकता है। महुआ फलने का मौसम इनमें एक नवीन उत्साह व हर्ष भर देता है जिसकी ये व्यग्रता से प्रतीक्षा करते हैं। डाली से टूटे हुए पुष्पों को

पूरे साल अति उत्साह तथा तूर्यनाद से एकत्रित किया जाता है। इसका विशाल भाग उबाल कर खाया जाता है तथा शेष से मधु बनाया जाता है। बहु प्रतीक्षित यह मधु इनके शुष्क तथा नीरस जीवन में हर्ष तथा मनोरंजन का संचार कर देता है। यही मात्र वह समय होता है जब ये अपनी विषमताएं कठोर जीवन संघर्ष को भूल जाते हैं तथा अपना अधिकांश समय नृत्य तथा प्रेम में व्यतीत करते हैं। विभिन्न भोज्य पदार्थों के होने पर भी इनके भोजन के पोषक तत्वों में सन्तुलन नहीं होता। वास्तव में ग्रीष्म काल में केवल अनाज तथा वर्षाकाल में पत्तियों का सेवन किसी सीमा तक ही पर्याप्त है। वसा, चीनी, गुड़, सब्जी तथा दुग्ध पदार्थों का अभाव होता है। इस असंतुलित आहार के फलस्वरूप इनमें विटामिन "ए" व कैल्शियम का निरन्तर अभाव रहता है। अतः इनमें कुपोषण एक अपवाद के बजाय नियम है।

## समस्याएँ तथा सम्भावनाएँ

बदलते हुए समय के अनुसार इन्हें उपने खाद्य एकत्रण के स्तर से बाहर निकलना है और अब ये भौगोलिक तथा सांस्कृतिक रूप से पृथक् तथा खंडित नहीं हैं और यही समस्या की गम्भीरता है। अब परिस्थिति यह है कि वन-स्त्रोतों के अभाव तथा विभागीय नियम, जनसंख्या की सघनता, अजनजातीय प्रतियोगिता, वनों के व्यवसाय तथा अफसरों के रूक्ष व्यवहार के कारण वनों से ये सहजता से खाद्य एकत्रण नहीं कर सकते। अतएव भोजन के लिये पड़ोसी कृषकों की भाँति कृषि, पशु चिकित्सा तथा कुटीर उद्योगों के द्वारा इनका जीवन स्थानान्तरित हो रहा है। ये एक अनिश्चित से भ्रम में हैं तथा परिवर्तनशील समाज में सर्वथा अनुपयुक्त हैं।

वस्त्रों तथा अच्छे यन्त्रों की बढ़ती हुई आवश्यकता और खाद्य एकत्रण तथा आखेट के साधनों के कारण इनका आर्थिक दबाव बढ़ता जा रहा है। धनाभाव के कारण इन्हें बदले में कुछ देना पड़ता है। प्रारम्भ में तो ये मधु तथा महुआ ही दिया करते थे, किन्तु बढ़ती हुई माँग के कारण इन्हें उपने मवेशी भी देने पड़ते हैं, किन्तु यह भी अन्त नहीं है। अजनजातीय व्यापारियों की बढ़ती हुई माँग तथा रूक्ष व्यवहार के कारण अपने मवेशियों को बेचने के लिये इन्हें विवश होना पड़ा और एक विशाल संख्या में चेंचूजनों ने अपनी स्वतंत्रता को समाप्त करके ठेकेदारों के लिये पशुवत कार्य किया है। दुर्भाग्यवश इनका शंकालु स्वभाव इनकी दुःखद स्थिति का बहुत बड़ा कारण है। इनका सांसारिक दृष्टिकोण आने वाले कल से पूर्णतया वंचित है। इन्होंने सदैव लापरवाही तथा अनिश्चित अस्तित्व को ही बनाये रखा जिनका प्रगतिशील अवसरवादी पड़ोसियों ने पूर्ण शोषण किया। असहयोग भावना भी इनकी वर्तमान परिस्थिति का कारण है। किसी रोगी संबंधी की सुश्रुषा तथा झोपड़ियों के निर्माण में

ही इनकी सहयोगी भावना प्रदर्शित होती है तथा प्रत्येक चेंचू समान रूप से एकत्रित वस्तुओं को विभाजित करने की बजाय स्वयं अपनी ही टोकरी भरना चाहता है। आखेट अभियान काल में भी वे एक-दूसरे की मदद लेने से कतराते हैं। आधुनिक आर्थिक परिप्रेक्ष्य में इनके इस दृष्टिकोण ने आशातीत विनाश को और अधिक भयावह बना दिया है।

स्वतंत्रता प्राप्ति के साथ ही जनजातीय कल्याण तथा विकास के कई कार्यक्रम प्रारम्भ किए गये किन्तु चेंचूजनों के लिये कुछ विशेष उपलब्धि न हुई। अल्प जनसंख्या तथा बिखरे आवासों के कारण इनके मध्य कोई भी जनजातीय विकास खंड स्थापित नहीं किया जा सका है। आदिम जनजाति के रूप में इनकी पहचान होने के पश्चात् नई विकास योजनाओं ने जन्म लिया है किन्तु अपेक्षित परिणामों की अभी भी प्रतीक्षा है।

इनके क्षेत्र में "वन सहकारी समितियाँ" भी अधिक समय तक जीवित न रह सकीं। यद्यपि चेंचू सहकारी समिति जिसका प्रारम्भ वन विभाग ने किया था आज केवल इसका नाम ही शेष है। सन् 1940 के दशक में इनके अव्यवस्थित जीवन में कृषि, पशु चिकित्सा तथा कुटीर उद्योगों के लिये प्रयत्न किया गया था, किन्तु इससे अपरिचित होने के कारण ये भूमि-विहीन होकर वनों में वापस लौट गए। अतएव अधिक सुनिश्चित योजना की समूल आवश्यकता है जिससे इनके सांस्कृतिक परंपरा, दृष्टिकोण तथा मूल्य विस्थापित न हों। ऐसा प्रतीत होता है कि इनकी सम्पूर्ण आशा कृषि पर ही केन्द्रित है, जिसके लिये अभी तक इन्होंने किसी रुचि अथवा उत्साह का प्रदर्शन नहीं किया है।

## खासी

खासी जनजाति विश्व की शेष बची हुई मातृवंशीय जातियों में से एक है। यह भारत के सर्वाधिक प्रगतिशील जनजाति सम्प्रदायों में से एक है, जिनकी अर्थव्यवस्था ठोस व्यवसाय, उद्योग तथा नगरीकरण में परिवर्तित हो गयी है। शैक्षिक रूप में ये भारत के बहुत से अजनजातीय समुदायों से अधिक उच्च स्तरीय हैं तथा देश की उच्च सेवाओं में इनका विशेष प्रतिनिधित्व है। असम के संयुक्त खासी तथा जैन्तिया पहाड़ी ज़िले जो खासीजनों के पारंपरिक आवास हैं, अब नवजात मेघालय प्रदेश के अन्तर्गत हैं जिसे सन् 1972 में पूर्ण प्रदेश घोषित कर दिया गया है। अब मेघालय में बहुसंख्या खासी, गारो तथा अन्य अल्पसंख्यक जनजातियों की है जिसमें खासीजनों की संख्या अधिक है तथा प्रदेश के राजनीतिक अधिकार भी इनके पास सर्वाधिक है।

सामाजिक रूप में खासी चार समूहों में विभक्त हैं, यथा-खाईनरियन खासी—जो खासी पहाड़ के शिलांग पठारी प्रदेश में है, जैन्तिया पहाड़ के पठार, जिले की पश्चिमी तथा दक्षिणी ढलानों पर स्थित वारजन तथा नीचे सतह पर स्थित भोइ जन। इन चार समूहों के अतिरिक्त दो अन्य समूह जिन्हें हाल में ही खासीजनों ने मान्यता प्रदान की है वह है जैन्तिया पर्वत के हदेम तथा खासी पर्वत के लंगम। चूँकि उपर्युक्त खासियों के सभी समूहों ने भूतकाल में अन्तःविवाह की क्षेत्रीय सीमाओं का अनुकरण किया है, अतः इन्हें खासी उप जनजातियाँ माना जा सकता है।

संयुक्त खासी तथा जैन्तिया पहाड़ी जिला जो खासीजनों का अपना आवास क्षेत्र है, इसका क्षेत्रफल 5,541 वर्ग मील है। उत्तर में यह ब्रह्मपुत्र घाटी से (असम के कामरूप तथा नौगांग जिले) पूर्व मे संयुक्त मिकिर व उत्तरी कद्दार पहाड़ जिले से, दक्षिण में सिलहट (अब बांग्लादेश का एक भाग) व कद्दार से तथा पश्चिम में गारो पहाड़ से यह घिरा हुआ है। खासी भूमि चार पठारों से निर्मित है जो सिलहट के निचले मैदानों से 4,000 फीट की ऊँचाई पर अव्यवस्थित रूप से उठे हुये हैं। ये ऊँचाई चेरापूँजी की समुद्री सतह से 4,000 फीट ऊँची है तथा जहाँ विश्व की सबसे भारी वर्षा होती है। उत्तरी भाग में इससे अधिक ऊँची पठार माओफलांग है जो समुद्री स्तर से 6,000 फीट की ऊँचाई पर है जहाँ कुछ गाँव शेष बचे हुये हैं। यह जिले का उच्चतम क्षेत्र है तथा प्रदेश की राजधानी शिलांग भी इसी भाग में है।

इस क्षेत्र की विशिष्टता इसका मनोहारी प्राकृतिक सौन्दर्य है। असम के कुछ सर्वश्रेष्ठ फलोद्यान जहाँ सन्तरा, अनन्नास तथा केले की सर्वोत्तम जाती है, इसी क्षेत्र की देन है। प्रकृति का सर्वाधिक आकर्षक रूप इसकी अनगिनत नदियों, छोटी-छोटी पहाड़ी धाराओं, कल-कल निनाद करते हुये झरनों तथा चित्रात्मक परिवेश में है। समस्त क्षेत्र अत्यंत मनोरम है तथा शिलांग एक अत्याधुनिक प्रचलित स्वास्थ्य केन्द्र के रूप में विकसित हो गया है। यह पहाड़ी क्षेत्र साल, ओक, चीड़ तथा अन्य वनस्पतियों से आच्छादित हैं। उत्तरी तथा पश्चिमी पहाड़ियों के निचले स्थानों पर बाँस (Bamboo) उत्पन्न होता है। पशुओं में विशाल रूप से शूकर, हाथी, बन्दर, चीते, हिरन, जंगली कुत्ते आदि पाये जाते हैं।

प्रजातिगत तौर पर खासी चारों ओर बिखरी हिन्द मंगोली जनजातियों से सर्वथा भिन्न हैं। अधिकांश मतों के अनुसार ये भारतीय मोन जाति की शाखा से ही संबंधित हैं तथा "मलय" जनों से निकट सान्निध्य को प्रकट करते हैं। भाषागत रूप में ये "मोनखमेर" परिवार के अन्तर्गत आते हैं क्योकि जिस भाषा का ये प्रयोग करते हैं वह आस्ट्रिक परिवार के मोनखमेर शाखा में बोली जाती है। कदाचित् इस परिवार के ये

भारत में एकमात्र प्रतिनिधि हैं। ईसाई मिशनरियों से प्रभावित होकर इन्होंने रोमन लिपि अपना ली है यद्यपि अभी भी कई स्थानों में बंगला लिपि ही प्रचलित है।

"खासी" शब्द का अपना विशेष महत्त्व है। "खा" का अर्थ है उत्पत्ति तथा "सई" का अर्थ है प्रचीन माता। इनके सामाजिक मूल में जाने पर यह शब्द विशिष्ट हो जाता है। क्योंकि स्पष्टतया "खासी" नाम इनके मातृ वंशानुक्रम संगठन के प्रति संकेत करता है। वर्तमान में लगभग 55 प्रतिशत खासियों ने ईसाई धर्म स्वीकार कर लिया है, कुछ ने इस्लाम तथा हिन्दुत्व अपनाया है जबकि कुछ शेष बचे हुए आज भी अपने मूल धर्म के ही अनुयायी हैं।

## व्यवस्थापन तथा आवास

सामान्यतया खासी गाँव पर्वत शिखरों के नीचे बसे हुए हैं; अधिकांशतः सतह से भी निचली स्तर पर हैं जो पड़ोसी नागा तथा कुकी जनजातियों से सर्वथा भिन्न हैं क्योंकि वे पर्वत के उच्चत्तम क्षेत्रों में ही रहना पसंद करते हैं। उत्पादन हेतु ये अपनें खेतों से अपने आर्थिक जीवन के लिये जुड़े होते हैं। अतः ये अपने ग्रामीण स्थलों को शीघ्र नहीं बदलते। इसके अतिरिक्त इनका अपने मृतकों के स्मृति पत्थरों से भावात्मक लगाव होता है।

एक पारंपरिक खासी घर लकड़ी, बाँस तथा पत्थरों से निर्मित होता है। ये अण्डाकार होते हैं तथा छत नीची व प्रवेशद्वार छोटा होता है। घर भूमि से दो-तीन फीट ऊँचे चबूतरे पर होता है। एक सामान्य खासी घर के तीन भाग होते हैं—बरामदेनुमा बंद भाग, मध्यकक्ष तथा एक शयनकक्ष। साधारणतया आतिशदान (गरम रखने का अग्नि स्थान) शयन कक्ष में होता है तथा धुएँ को बाहर निकालने का कोई उचित प्रबन्ध नहीं होता। बढ़ती हुई समृद्धि तथा आधुनिकता के नूतन आयामों के कारण पारंपरिक रचना के बजाय अब आधुनिक डिजाइनों को अधिक मान्यता प्राप्त हो रही है। अब आयताकार घरों का निर्माण किया जाता है जिसमें लोहे अथवा टीन की लहरदार शीटों से दीवारें तथा छतें बनाई जाती हैं। आर्थिक रूप से पुष्ट खासी आधुनिक ढंग के बंगले बनाते हैं जिनमें लोहे के छतें, चिमनियाँ, काँच की खिड़कियाँ तथा सुन्दर दरवाजे होते हैं।

## सामाजिक व्यवस्था

उपर्युकत लिखित तथ्य के अनुसार खासी जनजाति में अनेक उपजनजातियाँ भी हैं जिनका अपना अलग तौरतरीका तथा भिन्न बोली होती है किन्तु वे सभी सामाजिक-सांस्कृतिक परंपरा के समान भागीदार होते हैं। इनमें से प्रत्येक समूह या

उपजाति गोत्रों में विभक्त है, जिन्हें स्थानीय भाषा में "कुर" कहते हैं। ये गोत्र बहिर्विवाही होते हैं, तथा इनके सदस्यों को अपने ही गोत्र में विवाह करने की अनुमति कदापि नहीं होती। वास्तव में अपने ही कुल में विवाह करना किसी खासी के लिये भीषण पाप होता है। इस अन्तःकुल के सदस्य स्वयं को एक पूर्वज स्त्री का वंशज मानते हैं जिसे स्थानीय भाषा में "काइ आव बाई तिनराई" कहते हैं जिसका अर्थ मातृ प्रजनक है। वे ऐसी मातृ पूर्वजों को अत्यधिक सम्मान देते हैं, तथा इनकी याद में श्रद्धा वश पत्थर के कीर्तिस्तंभों का निर्माण करते हैं।

यह आश्चर्य का विषय है कि कुछ गोत्र पशुओं और वृक्षों के नाम पर निर्धारित किए जाते हैं, जो टोटम का संकेत अवश्य होते है परन्तु सम्मान के योग्य नहीं रह जाते हैं। खासी अन्तःकुल अपनी मातृक वंश-परंपरा के कारण विशिष्ट होते हैं जिसका अर्थ यह है कि वंश-परंपरा स्त्रियों के अनुसार चलती है। अन्तःकुल का सर्वप्रमुख समारोह है विवाह बन्धन तथा अन्तःकुल जनों के मध्य संबंध स्थापित करना, जिसका प्रदर्शन एक सुनियोजित अवसर पर किया जाता है, जिसमें किसी मृत सदस्य की अदग्ध अस्थियाँ स्थायी रूप से उनके दग्ध होने के पूर्व अन्तःकुल की अस्थिशाला में स्थानान्तरित की जाती हैं। सामान्यतः धार्मिक समारोहों, देवियों तथा आत्माओं की पूजा तथा मृत व्यक्ति के लिये शोक प्रकट द्वारा सामाजिक बंधन को विशेषता प्रदान की जाती है। भूमि पर समान आधिकार गोत्र के सदस्यों के मध्य आर्थिक बन्धन को प्रदर्शित करता है। अन्तःकुल उपकुलों में विभक्त होता है, जिन्हें स्थानीय भाषा में "कपोह" कहते हैं। इसकी संरचना एक नानी माँ के वंशजों द्वारा होती है।

परिवार इस उपकुल की सबसे छोटी सामाजिक इकाई होता है। इसे "ईग" शब्द से जाना जाता है तथा इसका कोई विशेष महत्त्व नहीं होता। एक परिवार में नानी माँ, उनकी पुत्रियाँ, उनके पति तथा उनके बच्चे होते हैं। अपने जीवित रहने तक नानी-माँ ही परिवार की प्रमुख होती हैं। परिवार की स्थायी सदस्य पुत्रियाँ होती हैं जो अपने विवाह के पश्चात् पतियों सहित माँ के परिवार में ही व्यवस्थित होती हैं। विवाहोपरांत पुत्र अपनी पत्नियों के परिवार में चले जाते हैं। अतः खासी परिवार की मातृगत व्यवस्था निरंतर बनी रहती है। एक नियमित मातृक परिवार में सबसे छोटी पुत्री का सर्वप्रमुख स्थान होता है क्योंकि मुख्य घर में रहने की अधिकारिणी केवल वही होती है, जबकि अन्य पुत्रियों को उसी क्षेत्र अथवा साथ में जुड़े हुए स्थानों में नवगृह निर्माण करना पड़ता है। यद्यपि माँ को गृहस्वामी माना जाता है, किन्तु वास्तविक अधिकार पिता का ही होता है। यह इस तथ्य का विरोध करता है कि मातृक समाज में पुरुषों को अपने गौण स्तर में संतुष्ट रहना पड़ता है। स्त्रियों को साधारण गृह कार्य तथा कभी-कभी फलोद्यानों में कार्य करना पड़ता है।

किसी खासी को अपनी उपजाति में ही विवाह करना पड़ता है किन्तु इस विषय में ये बहुत अंधविश्वासी नहीं होते। ये एक विवाह पर विश्वास रखते हैं। बहुपतिप्रथा से इनका परिचय नहीं है तथा मातृक समाज में बहुविवाह को भी अधिक मान्यता नहीं दी जाती। अन्य भारतीय जनजाति की भाँति वे कुल अन्तर्विवाही होते हैं, अर्थात् अपने कुल के बाहर इन्हें विवाह करना पड़ता है। जीवनसाथी का चुनाव-कार्य अति सरल है। एक युवक, एक युवती के प्रति आकर्षित होकर उसे पंसद करने लगता है तथा उसके संरक्षकों के पास संदेश भेजता है। शेष कार्य वृद्धजनों द्वारा सम्पन्न होता है तथा नियमित समारोह तूर्यनाद के साथ होता हैं। जीवनसाथी के चुनाव का क्षेत्र संकीर्ण होता है, क्योंकि विवाह सगे चचेरे भाई-बहनों तथा दूर के चचेरे भाई-बहनों में भी सम्भव नहीं है। परंपरागत रूप से कोई युवक अपनी माँ के भाई की पुत्री से केवल उसके पिता की मृत्यु के बाद ही विवाह कर सकता है। यही स्थिति पिता की बहन की पुत्री के साथ भी होती है। एक पुरुष अपनी मूल पत्नी की छोटी बहन से भी विवाह कर सकता है किन्तु अपनी पत्नी का परित्याग कर देने के बाद उसके जीवित रहने तक वह विवाह नहीं कर सकता। बाल विवाह की प्रथा इनमें नहीं है।

वैवाहिक संबंधों की समाप्ति भी एक साधारण घटना है तथा तलाक भी सरलता से लिया जा सकता है। तलाक के कारण बाँझपन, परस्त्रीगमन तथा प्रवृत्तियों की असमानता है। जब दोनों पक्ष वाले उस तलाक के लिये सहमत होते हैं तो यह कार्य सरल हो जाता है, किन्तु एक पक्ष के असहमत होने पर यह कार्य अति जटिल हो जाता है। ऐसी स्थिति में इच्छित पक्ष को दण्डित किया जाता है। गर्भावस्था के समय स्त्री का परित्याग नहीं किया जा सकता तथा तलाकशुदा पक्ष आपस में पुनर्विवाह नहीं कर सकते, किन्तु अलग-अलग कर सकते हैं। सामान्यतया तलाक दो साक्षियों के समक्ष ही होता है जो प्रायः दोनों पक्षों के मामा होते हैं।

मातृक समाज के अनुरूप माँ के भाई का एक महत्त्वपूर्ण स्थान होता है। वह माता की पुश्तैनी संपत्ति की देखभाल करता है तथा सामाजिक समारोहों का उचित प्रबन्ध भी करता है। इस प्रकार महत्त्व तथा अधिकार की कमी की पूर्ति पुरुष अपनी बहन के परिवार में विशिष्ट स्थान द्वारा करता है।

घर तथा चल संपत्ति की स्वामिनी पत्नी होंती है तथा पति परिवार का प्रमुख अधिशासी होते हुये भी संपत्ति का अधिकारी नहीं होता। पुरुष की विवाहपूर्व स्वयं अजि[illegible] उसके अधिकार में नहीं होती तथा नानी तथा माता के परिवार कोष में चली [illegible] है। विवाह के उपरान्त पुरुष द्वारा प्राप्त की गई संपत्ति का एक भाग कुल के सदस्यों के पास तथा शेष पत्नी व बच्चों के अधिकार में चला जाता है। समस्त चल संपत्ति तथा पारिवारिक घर की अधिकारिणी छोटी पुत्री होती थी। किसी

वसीयत के अभाव में संबद्ध संपत्ति सब से छोटी पुत्री के अधिकार में जाती है। यदि मृतक माता संपत्ति को सभी पुत्रियों में विभाजित करना चाहती है तो सबसे बड़ी पुत्री को सबसे बड़ा भाग प्राप्त होता है। सबसे छोटी पुत्री होने के कारण उसे स्थानीय भाषा में 'ईग खद्दुह' के पद का गौरव प्राप्त होता है अर्थात् वह परिवार के सभी धार्मिक तथा अन्य समारोहों को सम्पन्न करती है, विशेषतया पूर्वजों से संबंधित और इसी कारण उसके कंधों पर यह दायित्व रखा जाता है। आधुनिक शिक्षा के प्रसार तथा ईसाई धर्म के बढ़ते प्रभाव के साथ ही परिस्थितियों में लगातार परिवर्तन हो रहा है। ईसाई खासी परिवारों में सबसे छोटी पुत्री या परिवार के अन्य किसी सदस्य को सभी धार्मिक समारोहों को सम्पन्न कराने की अनुमति नहीं होती बल्कि धर्म परिवर्तन के कारण सभी पुत्रियों को समान अधिकार होते हैं। किन्तु कई बार सबसे छोटी पुत्री इस स्थिति से समझौता नहीं करती तथा संपत्ति पर एकाधिकार की माँग से स्थिति को जटिल बना देती है।

आज भी खासी जनजाति में पारंपरिक राजनीतिक संगठन प्रचलित है यद्यपि अंग्रेजी राज तथा फिर संविधान के प्रवर्तन के कारण यह कुछ सीमा तक सुधर गया है। इसकी विशेषता राजनीतिक व्यवस्था, उसके प्रमुख तथा मंत्रिमंडल है। खासी प्रदेश की रचना गाँव की स्वयंसेवी संस्थाओं या ग्रामसमूहों द्वारा होती है। प्रदेश का प्रमुख "सिएम" कहलाता है किन्तु इसके अधिकार सीमित होते है। 'सिएम' स्वतंत्र रूप से कोई महत्त्वपूर्ण व्यापार नहीं कर सकता तथा उसे अपने अधिशासी दरबार पर निर्भर रहना पड़ता है। मंत्रिमंडल के पास न्यायिक शक्तियाँ होती हैं। अतः 'सिएम' राज्य का कोई भी कार्य मंत्रिमंडलीय सदस्यों के प्रबन्ध द्वारा करता है, अपने न्यायिक अधिकारों का प्रयोग जूरी की सहमति से करता है। भूमि कर व्यवस्था के अभाव में खासी प्रदेश की आय बहुत दुर्बल है। न्यायिक दण्ड के अतिरिक्त प्रदेश की आय का मुख्य साधन मार्ग-कर का एकत्रण है जो बाजार में बेची जाने वाली सामग्री तथा वस्तुओं से आता है। राज्य का प्रमुख अधिशासी होने के कारण 'सिएम' ग्राम पंथों की व्यवस्था, फलोद्यानों की सुरक्षा, बाजारों की व्यवस्था, मार्ग-कर के एकत्रण तथा अन्य अंसख्य छोटे-छोटे दायित्वों का उत्तरदायी होता है। मूलरूप से 'सिएम' वंशानुगत रूप से संचालित होता था तथा उसका स्थान सदैव सबसे बड़ी बहन का सबसे बड़ा पुत्र लेता था तथा इसका नियंत्रण एक निर्वाचन समूह करता था जो कुल विशेष के पुजारियों के प्रमुखों द्वारा निर्मित होना था।

पारंपरिक खासी धर्म की विशेषता ईश्वरवादी तथा जीववादी विश्वास है। आत्माओं की आराधना इनके धार्मिक संस्कार का प्रमुख खण्ड है। 'का लाओबाई' इसकी सर्वाधिक प्रचलित तथा श्रद्धेय पूर्वजा है तथा अनगिनत महापाषाण खासी देवकूल में

इनकी प्रधानता के साक्षी हैं। इनके अतिरिक्त कुछ पूर्वजीय आत्मायें भी हैं। खासीजनों पर इनकी क्षेत्रीय नैसर्गिक सुषमा का अद्भुत प्रभाव है तथा प्रत्येक गाँव में पवित्र वृक्षनिकुंजों का निशिचित कोटा होता है। ईसाई तथा हिन्दू धर्म के प्रभाव के कारण इनके मूलधर्म में महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हो रहे हैं। अपरिवर्तित खासीजनों का पारंपरिक दृष्टिकोण भी पाश्चात्य शिक्षा तथा नवीन जनसंख्या व नूतन विचारों के कारण परिवर्तित हो रहा है। मूल खासी मृतकों के शव को कुछ समय तक घर में रखने के बाद दाह संस्कार कर देते हैं।

## अर्थव्यवस्था

इनके प्राकृतिक परिवेश ने खासीजनों पर अमिट छाप छोड़ी है तथा इनके जीवन व संस्कृति को विभिन्न वस्तुओं द्वारा एक निश्चित आकृति प्रदान की है। यद्यपि इनकी सुशिक्षित जनसंख्या सरकारी कार्यालयों में, शिक्षकों के रूप में, चिकित्सकों, नर्सों, विभिन्न अधिकारियों, शासकों व व्यापरियों के रूप में कार्यरत हैं किन्तु अभी भी बड़ी संख्या में लोग भू-संबंधी कार्यों में व्यस्त हैं। अपने स्थानीय भौतिक वातावरण के प्रति इनका लगाव इस बात से स्पष्ट हो जाता है कि वे जो अन्य व्यवसायों में व्यस्त हैं तथा भूमि पर जिनकी निर्भरता नहीं है, अपने अवकाश काल में कुदाल लेकर कृषि कार्य करने में रंचमात्र भी नहीं हिचकते। ऐसे व्यस्त लोग जंगल में शिकार करने में तथा मछली पकड़ने में अत्यधिक हर्ष का अनुभव करते हैं।

खासीजन खाद्य उत्पादन अर्थव्यवस्था में हैं। कृषि, खाद्य तथा फल संरक्षण व पशुपालन अधिकांश खासीजनों का प्रमुख व्यवसाय है। इनकी आर्थिक स्थिति का एक विनिबंधात्मक अध्ययन यह निष्कर्ष देता है कि खाद्य पदार्थों की प्रमुखता तथा कृषि की प्रबुद्ध विशेषता में अन्य कोई भी पहाड़ी जनजाति खासीजनों से प्रतियोगिता नहीं कर सकती।

ऊबड़-खाबड़ तथा अनियमित प्राकृतिक वातावरण के कारण भूमि का बड़ा भाग पानी के नीचे रहता है या नम रहता है जबकि अन्य भाग सर्वथा शुष्क रहता है। इस परिस्थिति पर नियन्त्रण करने के लिये इन्होंने कृषि की दो विधियाँ विकसित की हैं: शुष्क तथा गीली कृषि। शुष्क कृषि मिट्टी में की जाती है। इसके अन्तर्गत शरद् काल में कुदाल से मिट्टी को गहराई से खोदकर दो महीने के लिये छोड़ दिया जाता है तब घास को एकत्रित करके जलाया जाता है, तथा पूरे खेत पर राख बिखेर दी जाती है। पुनः धान तथा बाजरे के बीज बोये जाते हैं। निचली घाटियों तथा दो पहाड़ियों के मध्य स्थान गीली कृषि के लिये आदर्श माना जाता है, ऐसी भूमि विभिन्न भागों में विभक्त की जाती है तथा इन पर ऊँचे बाँध बनाये जाते हैं। इसके पश्चात् इन बाँधों

के मध्य में एक सिंचाई नहर को इस प्रकार से निर्मित किया जाता है कि प्रत्येक भाग को केवल इच्छित मात्रा में ही जल मिले। बीज बोने के लिये भूमि को कुदाल तथा हल द्वारा तैयार किया जाता है। जब फसल तैयार हो जाती है तो पकी हुई बालियाँ एकत्रित की जाती हैं। रीति के अनुसार फसल काटने का कार्य हाथ से ही किया जाता है।

कृषि की उपर्युक्त विधियों के अतिरिक्त वन भूमि पर कृषि करने की भी एक विधि होती है जिसे "झूम" कृषि कहते हैं। यह विस्थापित कृषि का एक साधारण रूप है। भारतवर्ष की पहाड़ी जनजातियों की यह एक युगों पुरानी संस्था है। इस विधि के अन्तर्गत किसी भूमि पर अस्थायी काल तक कृषि की जाति है, तब उसे परती भूमि के रूप में छोड़ दिया जाता है। इसमें जंगलों ढलानों को साफ किया जाता है, गिरे हुए वृक्षों तथा झाड़ियों को जलाया जाता है तथा राख से आच्छादित मिट्टी पर बीज फैला दिये जाते हैं, शेष कार्य प्रकृति पर छोड़ दिये जाते हैं। "झूम" कृषकों के लिये मकई तथा अन्य मोटे अनाज मुख्य फसल होते हैं। कृषि की यह विधि वनोन्मूलन का बहुत बड़ा कारण है तथा इस दिशा में प्रयास किये जा रहे हैं कि "झूम" कृषकों को भी खासी कृषकों की भाँति कृषि की एक उचित विधि में स्थापित किया जा सके। धान के अतिरिक्त इनकी प्रमुख फसलें हैं, विभिन्न प्रकार के बाजरे, मकई, आलू, संतरा, पान, सुपारी, अनन्नास, दाल तथा सब्जियाँ। आलू तथा सन्तरा इन्हें उचित मात्रा में धन उपलब्ध कराते हैं।

खासीजन शिकार करते हैं तथा मछली पकड़ते हैं और अपने भोजन की पूर्ति स्वस्थ मांस द्वारा करते हैं। वास्तव में समय-समय पर शिकार तथा मछली पकड़ने को ये आर्थिक गतिविधि के बजाय एक क्रीड़ा अथवा समय व्यतीत करने का एक साधन मात्र मानते हैं। धनुष-बाण तथा भाले इनके आखेट करने के मुख्य अस्त्र होते हैं और कभी-कभी प्रशिक्षित कुत्ते भी इनकी मदद करते हैं। बड़े पशु गड्ढों तथा जाल द्वारा पकड़े जाते हैं, जबकि छोटे पशु-पक्षियों का शिकार तीर-कमान द्वारा किया जाता है। चीतों का शिकार करने में ये सामूहिक आखेट का सहारा लेते हैं। वैधानिक प्रतिबन्ध के कारण चीतों का शिकार लगभग समाप्तप्राय है, किन्तु इनका संक्षिप्त वर्णन कदाचित् पाठकों को रुचिकर लगे। सर्वप्रथम प्रशिक्षित कुत्तों को चीते की गंध मिल जाती है तथा झाड़ी को चारों तरफ से घेर लिया जाता है। जब समूह प्रशिक्षित कुत्तों के साथ अलग हो जाता है तो कुछ व्यक्ति एक तरफ से ढोल बजाने या चिल्लाकर आवाज करने के लिए दूसरी तरफ हो जाते हैं। जब भयभीत चीता बाहर निकलता है तो निपुण आखेटक अपने कुत्तों के साथ उसका पीछा ताजे खोदे हुये गड्ढे की तरफ

करते हैं। शिकार के गड्ढ़े में गिरने पर उसे सूखी पत्तियों तथा लकड़ियों से ढक दिया जाता है तथा आग लगाकर चीते को जला दिया जाता है। मछली पकड़ने के संबंध में यह सत्य है कि सबसे प्रचलित व पारंपरिक विधि तालाब को विषाक्त करना है। जाल से परिचय होने पर छोटी मछलियाँ इसकी मदद से पकड़ी जाती हैं। सामूहिक आखेट की भाँति सामूहिक मछली मारना इनके लिये अत्यन्त हर्ष का विषय है।

यद्यपि खाद्य संग्रह की अर्थव्यवस्था को ये पूर्णतया त्याग चुके हैं तथापि कंद-मूल, फल तथा ईंधन एकत्रित करने की पारंपरिक विधि में यह व्यवस्था कहीं हस्तक्षेप नहीं करती। इन्हें इस विधि द्वारा कई आवश्यक पोषक तत्व प्राप्त होते हैं तथा इनके पारंपरिक आवास से इनके संबंध निरन्तर बने रहते हैं।

पशुपालन भी इनका एक व्यवसाय है तथा इनकी शालाओं में अधिकांशतः सुअर, गाय, भेड़ तथा बकरियाँ होती हैं। जब यह मवेशी परिपक्व होते हैं, तो मैदानी क्षेत्र के व्यापारियों को बेच दिये जाते हैं। ये मधुमक्खियों का व्यापार भी विशाल स्तर पर करते हैं; इच्छानुसार शेष मधु बेच देते हैं।

कुछ हस्ताकलाएँ जैसे रेशम उत्पादन, बुनना, कातना तथा खाना पकाना ऐंसी हैं, जिसमें खासीजन सिद्धहस्त हैं, यद्यपि मिल के वस्त्र अधिक प्रचलित होते जा रहे हैं। ये मिट्टी के बर्तन भी बनाते हैं तथा विभिन्न बर्तनों को काली मिट्टी से निर्मित करने में काफी निपुण होते हैं। ये बाँस का कार्य भी करते हैं तथा दैनिक जीवन में प्रयोग होने वाली वस्तुएँ चटाई, टोकरी इत्यादि बनाते हैं। जल संचित करने के लिये बाँस की नलियों का प्रयोग स्थानीय बुद्धि का प्रतीक हैं। इन्हें लोहा गलाने की कला भी आती है तथा ये कुशल लोहार भी होते हैं।

इनका मुख्य आहार चावल है तथा ये आलू भी बड़ी मात्रा में खाते हैं। विभिन्न पशुओं का मांस इन्हें प्रिय होता है तथा भैंस, बकरे, मुर्गी तथा बत्तख का सुस्वादु मांस खाते हैं। हिन्दू खासी भैंस का मांस नहीं खाते। ताजी मछली भी इनका प्रिय आहार है। पहले इन्हें दूध से लगभग वितृष्णा थी किन्तु ईसाई धर्म के प्रसार के साथ ही दूध के उपयोग में वृद्धि हो गई। ये मद्य प्रेमी होते हैं तथा चावल व बाजरे से निकाली हुई मदिरा का अधिक उपयोग करते हैं।

खासी पान चबाने तथा सुपारी खाने के शौकीन हैं। अधिकांश लोग चाहे वे किसी भी उम्र या लिंग के हों, यह शौक़ रखते हैं। सुपारी के प्रति इनकी आसक्ति इस बात से स्पष्ट होती है कि इनकी भूमि के आन्तरिक भागों में दूरी का मापदण्ड विशिष्ट अवधि में चबाई हुई सुपारियों की संख्या होती है। यह आसक्ति एक मनोग्रन्थि का रूप ले लेती है और कई खासी स्वर्ग को सुपारी का विशाल उद्यान समझते हैं।

## समस्याएँ तथा सम्भावनाएँ

खासीजनों की समस्याएँ देश के अन्य पहाड़ी लोगों से अधिक भिन्न नहीं हैं और इस संदर्भ में उनकी अपनी आर्थिक समस्या के अतिरिक्त अन्य कोई समस्या नहीं है। कुछ राजनीतिक तथा सामाजिक-राजनीतिक समस्याओं के होते हुए भी उन्होंने नागा तथा मिजो लोगों की विधिओं को अपना लक्ष्य नहीं बनाया। आन्तरिक तथा बाह्य रूप से खासी जनजाति में सदैव यह अनुभूति रही है कि वे भारत देश का ही एक अंग हैं। यह महत्त्वपूर्ण विषय है कि विदेशी मिशनरियों से प्रभावित होकर मिजो तथा नागाजनों से भिन्न खासीजनों ने भारत से अलग होने पर कभी विश्वास नहीं किया। उनकी महत्त्वाकांक्षाएँ उनकी आर्थिक दशा से ही प्रेरित होती हैं, जिसे वे आर्थिक रूप से विकसित पड़ोसी सम्प्रदायों से बचाना चाहते हैं तथा भारत के विशाल समुद्र में अपने सांस्कृतिक अस्तित्व को सुरक्षित रखने में रुचि रखते हैं।

सन् 1970 में असम में एक नवजात प्रदेश मेघालय की उत्पत्ति जैन्तिया पहाड़ के संयुक्त खासी व गारो पहाड़ के लोगों के राजनीतिक आन्दोलनों का परिणाम हैं। सन् 1972 में मेघालय का पूर्ण प्रदेश घोषित कर दिया गया तथा आन्दोलनकारियों को उनका इच्छित उद्देश्य प्राप्त हो गया। इस घटना ने निश्चित रूप से विनाशकारी परिस्थिति के प्रसार को रोका है।

खासीजनों की एक अन्य समस्या है जिसे बदलते हुए समय के प्रभाव में इन्होंने यथासंभव ईसाई धर्म, हिन्दू धर्म तथा कुछ सीमा तक इस्लाम धर्म से समायोजन स्थापित करने की चेष्टा की है। विंभिन्न सांस्कृतिक सम्पर्कों के दबाव के होने पर भी इनके समाज का मूल आकार आज भी आश्चर्यजनक रूप से ठोस बना हुआ है, किन्तु खासी समाज का मातृक आकार काफी दुर्बल हो गया है।

ईसाई धर्म से उनका प्रथम सम्पर्क उन्नीसवीं सदी के प्रारम्भ में हुआ था। किन्तु ईसाई धर्म का प्रसार करने के लिये संयुक्त प्रयत्न पहली बार वेल्श मिशन द्वारा सन् 1950 में किए गये थे और तब ये यह कार्य उत्तरोत्तर चल रहा है। अब लगभग 60 प्रतिशत खासी जनसंख्या ईसाई धर्म को स्वीकार कर चुकी है।

यद्यपि, हिन्दुओं से उनके सम्पर्क ईसाइयों से अधिक प्राचीन हैं किन्तु धर्मान्तरण के संगठित प्रयासों के अभाव में हिन्दू धर्म का अधिक प्रसार नहीं हो सका। किन्तु हिन्दू धर्म के कुछ तत्व इनके अंदर गहनता से प्रवेश कर गए हैं तथा उनकी सामाजिक संरचना में किसी प्रकार का हस्तक्षेप नहीं करते। कुछ प्रसिद्ध खासी लेखकों की कृतियाँ भी इस बात की प्रतीक हैं कि वे एक सीमा तक हिन्दू साहित्यिक परंपराओं से प्रभावित रहे हैं। अब कुछ निश्चित हिन्दू खासियों की संख्या पाई जाती है जिन्होंने

भिन्न सांस्कृतिक दिशा को अपनाया है, उदाहरणार्थ ऐसे खासीजनों ने भैंस का मांस खाना त्याग दिया है।

खासी जंनजातिं का इस्लाम धर्म से सम्पर्क इनके पारंपरिक सामाजिक ढाँचे में महत्त्वपूर्ण विकास का द्योतक है। ईसाई धर्म से भिन्न खासीजनों को इस्लाम धर्म में परिवर्तित करने के संगठित प्रयास नहीं हुए हैं। इस्लाम धर्म की स्वाभाविक प्रक्रिया के कारण मुसलमानों के छोटे समूह हैं, जिन्होंने खासी स्त्रियों से विवाह किया था। दूर स्थानों जैसे उत्तर प्रदेश, कश्मीर, केरल, पंजाब के मुसलमान खासी जनजाति के मध्म व्यापारी तथा घुमक्कड़ों के रूप में आये। इनमें से कुछ यहीं बस गए तथा स्थानीय खासी स्त्रियों से उन्होंने विवाह कर लिया। ये अल्पसंख्यक मुसलमान स्थानीय सामाजिक ढाँचे में विभिन्न परिवर्तनों के कारण रहे हैं। प्रारम्भ में ये अपने विजातीय भाइयों के साथ धार्मिक कृत्यों के अतिरिक्त सभी स्थानीय सामाजिक कार्यों में समान रूप से भाग लेते थे। कालान्तर में ये महत्त्वपूर्ण परिवर्तनों के वाहक सिद्ध हुए। खासी समाज में सबसे छोटी पुत्री के सर्वोच्च स्थान का पतन तथा मातृक विधान के ह्रास का कारण मुस्लिम तत्वों को ही माना जा सकता है। यह रोचक विषय है कि मुसलमान खासी इस बात की स्पष्ट घोषणा करते हैं कि उनके धर्म का जनजातीय अस्तित्व से कोई संबंध नहीं है। उनका यह कथन ईसाइयों तथा हिन्दू खासियों की भाँति सत्य माना जाना चाहिये, किन्तु खासीजनों की भूमि के प्रति हिन्दू, ईसाई, मुसलमान तथा जनजातीय लोगों के पारस्परिक विवाद ने सीधे-सादे खासी समाज को एक जटिल रूप प्रदान कर दिया है। खासीजन विभिन्न दबावों की विषम परिस्थितियों के कुचक्र में उलझ गए हैं, जिससे वे सर्वथा अनभिज्ञ हैं।

## ओराँव

ओराँव भारत की उन प्रमुख जनजातियों में से एक है, जो जनजातीय लोगों के मध्य कृषकों का प्रतिनिधित्व करती हैं। ये पूर्वी भारत के विशाल क्षेत्र में फैले हुए हैं तथा अधिकांशतः छोटानागपुर पठार में केन्द्रित हैं तथा राँची, पलामू तथा झारखंड से जुड़े हुए कुछ और जिले तथा उड़ीसा व छत्तीसगढ़ के पड़ोसी प्रदेशों में भी बसे हुए हैं। भूमिहीनता, जनसंख्या के दबाव तथा उन पर विभिन्न अत्याचारों के कारण बहुत से ओराँव ने अपने पारंपरिक निवास स्थान को त्याग दिया तथा वे असम व पश्चिम बंगाल के चाय बागनों में श्रमिक के रूप में व्यवस्थित हो गये।

ओराँवजनों का परंपरागत आवास छोटानागपुर, वानस्पतिक तथा जीव-जन्तुओं के दृष्टिकोण से अति समृद्ध है। वहाँ साल तथा महुआ वृक्षों की बहुसंख्या है। बाँस बड़ी संख्या में उत्पन्न होता है। पशुओं में चीते, तेंदुए, शेर, भालू, साँभर, बारहसिंगा, जंगली

खरगोश, हिरन, विभिन्न प्रकार के सर्प इत्यादि तथा अनेक प्रकार के पक्षी भी पाये जाते हैं।

अधिकांश जन अपनी ही भाषा का प्रयोग करते हैं जो द्रविड़ जनों जैसी है। अपने पड़ोसियों की बोलियाँ भी इन्होने अपनाई हैं। परिणामस्वरूप इनकी भाषा में उड़िया, बांग्ला तथा हिन्दी भाषा का प्रभाव अत्यधिक दृष्टिगत होता है। इस जनजाति को पूर्वी-द्रविड़ अथवा प्रोटो-आस्ट्रेलायड श्रेणी में रखा जाता है। शारीरिक रूप से इनका गहरा भूरा रंग, काले बाल तथा काली आँखें होती हैं तथा ये साधारण कद के होते हैं।

## व्यवस्थापन तथा आवास

इनकी आवासीय व्यवस्था उच्च स्थानों के प्रति रुचि व्यक्त करती है। अधिकांश ओराँव गाँव योग्य बंजर भूमि के ऊँचे स्तर पर बसे होते हैं। इनके आवास साधारणतया अनियमित ढंग से समूहों में बने होते हैं। ये मिट्टी से निर्मित होते हैं तथा छत खपरैल की होती है। समृद्ध लोग सब्जियों का छोटा बगीचा भी गृह प्रयोग के लिये लगाते हैं।

## सामाजिक व्यवस्था

ओराँव परिवार का संगठन पति-पत्नी तथा अविवाहित बच्चों से होता है। विवाह के पश्चात वधू अपने पति के घर रहने आती है, किन्तु कभी-कभी पति के माता-पिता तथा अन्य सदस्य भी उसके साथ रहते हैं। पितृबंशीय जनजाति होने के कारण परिवार के समस्त अधिकार ज्येष्ठ पुरुष सदस्य के पास होते हैं। श्रम विभाजन में पुरुष खेतों में कार्य करते हैं तथा स्त्रियां उनको सहयोग देती हैं और साधारण गृहकार्य भी करती हैं। वयस्क बच्चे भी परिवार की आर्थिक सहायता करते हैं।

ओराँव जनजाति में स्वरक्तीय तथा स्वजनीय दोनों प्रकार के नातेदारी संबंध होते हैं। पितृवंशीय होने के कारण पिता के बाद पुत्र को गोत्र का नाम प्रदान किया जाता है। यह बहिर्विवाही गोत्रों में विभक्त हैं। इनके गोत्रों का निर्धारण इनके टोटम (कुलचिह्नों) से होता है जो पक्षियों, मछलियों, सब्जियों, पौधों, खनिजों या अन्य किसी भी चिह्न पर आधारित हो सकते हैं। उदाहारणार्थ टिकरी गोत्र का नामकरण एक चूहे के आधार पर, 'लकड़', एक शेर के आधार पर, 'बेक' का नामकरण नमक के आधार पर हुआ है। कुलचिह्नों को पूज्य मानने वाले अन्य जनजातीय समूहों की भाँति ओराँव जन भी अपने कुलचिह्नों को न तो खाद्यप्रयोग में लाते हैं और न ही उन्हें नष्ट करते हैं तथा उन्हें पवित्र कुल संपत्ति मानते हैं। यद्यपि इनकी बाकायदा पूजा नहीं की जाती

है तथा ये भी नहीं माना जाता है कि इनकी (ओराँव की) उत्पत्ति इनसे हुई है तथापि ये कुलचिह्न सम्मानित होते हैं और कभी-कभी इनकी प्रतिकृति प्रदर्शित की जाती है।

वैवाहिक रीतियों में ये एकविवाही प्रथा का ही अनुकरण करते हैं। कभी किसी विशेष स्थिति में किसी पुरुष को एक से अधिक विवाह करने कीं अनुमति प्रदान कर दी जाती है किन्तु बहुपतिप्रथा की कदापि अनुमति नहीं है। अपनी जनजाति में विवाह को ही ये श्रेयस्कर मानते हैं तथा जाति के बाहर विवाह करने वाले को जाति से निष्कासित कर दिया जाता है। समान पूर्वजों के कारण, ये उसी वंश या अंतःकुल में विवाह नहीं करते। इसके अतिरिक्त एक ही गाँव के बालक, बालिका में विवाह नहीं होता है। बाल विवाह के पक्ष में ये नहीं हैं। "सेवा द्वारा विवाह" की परंपरा भी इनमें प्रचलित थी जिसके अनुसार भावी वर कुछ समय तक भावी वधू के परिवार की सेवा करता था, किन्तु जीवनसाथी के चंयन की यह रीति अनेक गाँवों से लगभग समाप्तप्राय है। परिवर्तित सामाजिक मूल्यों के कारण परस्पर स्वीकृति या भागकर विवाह करने की विधि का सर्वाधिक प्रचलन है।

ये पर्याप्त रूप से स्वतन्त्र विचारों के हैं। जैसे "विधवा विवाह" और "देवर विवाह" को ये मान्यता प्रदान करते हैं जिसमें विधवा स्त्री अपने मृत पति के छोटे भाई से विवाह करती है। यदि छोटा भाई विवाह नहीं कर सकता तो वह अन्य किसी से भी विवाह करने के लिये स्वतन्त्र होती है। अब विधवा ऐसे विवाह को अस्वीकार भी कर सकती है। तलाक की भी पूर्ण आजादी है तथा यह अक्सर होता रहता है। तलाक के कारण बहुधा आलस्य, पलायन, परस्त्रीगमन, बाँझपन, नपुंसकता, उन्माद आदि होते हैं। पत्नी के दोषी पाये जाने पर उसके संरक्षकों को "वधू धन" जो वर ने विवाह के समय दिया था, वापस करना पड़ता है; तभी वह किसी अन्य पुरुष से विवाह की अधिकारिणी हो सकती है।

पितृवंशी समाज होने के कारण, पिता की मृत्यु के पश्चात् सभी पुत्रों में संपत्ति का विभाजन होता है। भूमिगत संपत्ति में सबसे बड़े पुत्र को भूमि का एक टुकड़ा अन्य भाईयों से अधिक प्राप्त होता है। विभिन्न माताओं द्वारा उत्पन्न पुत्रों में से प्रथम पत्नी के पुत्रों को संपत्ति का अधिक भाग मिलता है। समुदाय से निष्कासित पुत्र को तब तक संपत्ति का कोई अधिकार नहीं प्राप्त होता जब तक उसका जनजातीय सम्प्रदाय में पुनः प्रवेश न हो जाये। विधवा को भी संपत्ति का कोई भाग नहीं मिलता परन्तु समुचित निर्वाह हेतु उसे पर्याप्त धन दिया जाता है। अविवाहित पुत्री भी विवाह न होने तक निर्वाह हेतु पर्याप्त धन की अधिकारिणी होती है। मृत पिता के सभी उत्तराधिकारियों को अपनी बहन के विवाह का सम्पूर्ण भार समान रूप से वहन करना पड़ता है।

ओराँवजनों का परंपरागत राजनीतिक संगठन क्षेत्रीय अधिकारी मंडल के आधार

पर होता है जिसे "परहा पंचायत" कहते हैं। एक परहा (क्षेत्र) सीमाबद्ध इकाई होती है जिसमें एक से तीस तक सामूहिक गाँव होते है। प्रत्येक परहा अपनी खेतिहर भूमि ग्रामस्थानों, वनपथों, चरागाहों, जलस्त्रोंतों, मत्स्य तालाबों आदि की रक्षा करता है। परहा गाँवों में एक गाँव "राज गाँव" कहलाता है, दूसरा "दीवान गाँव" (प्रधानमंत्री), तीसरा "पनरे गाँव" (लिपिका), चौथा कोटवार गाँव (शासक) तथा शेष गाँव प्रजागाँव कहलाते हैं। राज गाँव का प्रमुख या "महतो" मुखिया का कार्य करता है। वास्तव में ग्राम सम्प्रदाय के शासकीय अधिकारी "गहन" (ग्रामपुजारी) तथा "महतो" (लौकिक प्रमुख) होते हैं। ये दोनों पद वंशानुगत होते हैं। परहा के सभी गाँव सामूहिक आखेट, सामूहिक लड़ाई तथा उत्सवों में सामूहिक नृत्य करते हैं। यद्यपि "पहन" तथा "महतो" को पर्याप्त अधिकार है किन्तु ग्रामपंचायत की सहमति के बिना आर्थिक निर्णय लेने तथा न्याय प्रदान करने का इन्हें कोई अधिकार नहीं है।

ओराँवजनों का धार्मिक विश्वास जीववादी है। इनके सर्वप्रमुख देवता "धर्मेश" हैं जो जीवन तथा प्रकाश दान देने से सूर्य के समकक्ष माने जाते हैं। तांत्रिक तथा जादुई विधा में भी इनका विश्वास है। ये अपने मृतकों का दाह संस्कार करते हैं।

ओराँवजन अपने सुन्दर विविधवर्णी युवागृहों के लिये बहुत प्रसिद्ध हैं, जिन्हें स्थानीय भाषा में "धुमकुड़िया" कहा जाता है। ईसाई धर्म के प्रसार तथा बाह्‌य प्रभावों के कारण यह संस्था लगभग समाप्तप्राय है किन्तु जहाँ भी यह अभी शेष है वहाँ विभिन्न समारोहों का आयोजन होता है। ओराँव धुमकुड़िया में आठ वर्ष की आयु में बालकों को सदस्यता प्राप्त हो जाती है। बालकों को पुरुष पर्यवेक्षक जिसे "धनगर महतो" कहते हैं तथा बालिकाओं को महिला पर्यवेक्षक जिसे "ढंगरिन" कहा जाता है, सामाजिक तथा धार्मिक कर्तव्यों की शिक्षा देते हैं। धुमकुड़िया के बालक तथा बालिकायें स्काउट के रूप में भी कार्य करते हैं। वे विवाह समारोहों में खाना पकाने का कार्य, गृहनिर्माण में श्रमिक का कार्य, संदेशवाहकों का कार्य, दैविक विपत्तियों में सहायता कार्य अत्यन्त कुशलतापूर्वक करते हैं। सेवाओं के पुरस्कार रूप यदि इन्हें धन प्राप्त होता है तो उसका उपयोग धुमकुड़िया पर ही किया जाता है। या तो विभिन्न वाद्य खरीदे जाते हैं अथवा धुमकुड़िया की समुचित व्यवस्था में इस धन का व्यय किया जाता हैं। बालक, बालिकाएँ सामूहिक नृत्य करते हैं तथा इन्हें एक दूसरे से मिलने जुलने का उन्मुक्त वातावरण प्रदान किया जाता है। बालक, बालिकाओं के इस प्रकार के स्वच्छन्द व्यवहार के कारण स्त्रियों के प्रति अपराध बहुत कम सुनाई देते हैं। तथाकथित "नूतन सभ्यता" ने इस संस्था पर कुठाराघात किया है, जिसने सम्पूर्ण क्षेत्र के जनजातीय समाज की विभिन्न प्रकार से सेवा व सहायता की है। कुछ गाँवों में धुमकुड़िया के नाम पर कुछ घरों के अवशेष भर रह गये हैं, जो ओराँव जनजाति की इस महान् सामाजिक संस्था का आज भी मौन साक्षी हैं।

## अर्थव्यवस्था

छोटानागपुर की अन्य प्रमुख जनजातियों की भाँति ओराँव जनजाति भी कृषि प्रधान है। आखेट-एकत्रण, मछली पकड़ना, पशुपालन तथा हस्तकला अब इनके प्रमुख व्यवसाय न होकर अवकाश-कार्य अथवा आवश्यकता पड़ने पर किये जाने वाले कार्य ही रह गये हैं। कुछ विषयों में ये गौण व्यवसाय मात्र हैं। जो व्यक्ति भूमिहीन हो गये हैं अथवा जिनके पास आर्थिक दृष्टि से व्यर्थ भूमि है—वे मार्ग निर्माण तथा अन्य कार्यों में श्रमिकों का कार्य करते हैं। इनमें से बड़ी संख्या में लोग खानों तथा चाय बागानों में कार्यरत हैं। ये मोटा चावल, बाजरा, दालें तथा तिलहन का उत्पादन कार्य करत हैं। इनकी अधिकांश खेतिहर भूमि असिंचित होने के कारण इन्हें प्रकृति की दया पर निर्भर रहना पड़ता है। ये खाद्य एकत्रण तक सीमित हैं तथा मधु-छत्तों के उपलब्ध होने पर मधु भीं एकत्रित करते हैं।

परिवार की अर्थव्यवस्था में पशुधन महत्वपूर्ण कार्य करता है। ये गाय, भैंस, बकरी, सूअर, भेड़ तथा जंगली मुर्गा पालते हैं। भेड़-बकरी इन्हें भोजन प्रदान करते हैं। तथा साथ ही पशुबलि के भी काम आते हैं। सूअर भी इनका प्रिय आहार है किन्तु इसे केवल उत्सवों में ही खाते हैं। पक्षियों में ये बत्तख पालते हैं जो अंडे तथा मांस की स्थाई स्रोत हैं। दूध के ये प्रेमी नहीं हैं जो केवल चाय अथवा रोगी बच्चों के लिये प्रयुक्त किया जाता है। इनका ठोस आहार चावल-दाल है तथा सब्जी की आवश्यकता जंगली पौधों, पत्तियों, जड़ों तथा कन्द से पूरी होती है। धूमपान तथा तम्बाकू चबाना भी इन्हें प्रिय है।

## समस्याएँ तथा सम्भावनायें

चूँकि अन्य अध्यायों में यह शीर्षक वृहद् रूप में वर्णित किया जा चुका है अतः यहाँ पर केवल संक्षिप्त विवरण ही देना पर्याप्त है। झारखण्ड के अधिकांश जनजातीय क्षेत्र, ओरांव क्षेत्र सहित, प्रदेश के बाकी क्षेत्रों से बिल्कुल कटे हुए कभी नहीं रहे हैं। शताब्दियों से अजनजातीय हिन्दू तथा मुस्लिम लोग जनजातियों के मध्य रह रहे हैं। ऐसी कोई जनजातीय गाँव शायद ही हो जहाँ हिन्दू जातीय परिवार न रहते हों। ये जनजातीय लोगों को कुछ आावश्यक सेवायें प्रदान करते हैं तथा उन्हीं की भाषा बोलते हैं, किन्तु कई प्रकार से ये जनजातीय सामाजिक संगठन के विघटन तथा उनके शोषण का भी कारण बने हैं। सांस्कृतिक परिवर्तन में भी ये सहायक रहे हैं।

इनकी सर्वाधिक ज्वलन्त समस्या बढ़ती भूमिहीनता है। सच्चिदानन्द (1972) ने सत्य कहा है कि जनजातीय क्षेत्रों की अधिकांश भूमि इनके अथवा इनके पूर्वजों द्वारा वनरहित करके कृषि के लिये उपयोगी बना दी गई है। प्रमुखतः कृषक होने के कारण

ये अपनी भूमि से अन्तर्मन से जुड़े हुए हैं। भूमि इनके लिये जीवन का साधनमात्र नहीं है वरन इनके तथा पूर्वजों के मध्य यह एक घनिष्ठ आत्मिक संबंध है। अतः भूमि विहीनता इनके लिये अनन्त दुःख का कारण है। धन की बढ़ती हुई आवश्यकता अकालों की पुनरावृत्ति तथा मद्यपान के कारण ये साहूकारों के चगुंजों में फँस गये, जो इन्हे भूमिहीन बनाने के उत्तरदायी हैं। औद्योगीकरण के आगमन के साथ ही भूमि अधिकार में कर ली गई ('समस्याएँ' अध्याय देखिये) जो इनकी भूमिविहीनता का बहुत बड़ा कारण बनी।

योजनाबद्ध विकास में इन्हें उपेक्षा की अनुभूति हुई। यह स्वाभाविक है कि जनजातीय क्षेत्रों में कृषि तब तक उन्नतिशील नहीं हो सकती। जब तक सिंचाई के साधनों की आवश्यक रूप से अत्यधिक वृद्धि न की जाय। इन्हें औद्योगीकरण का भी बहुत अधिक लाभ नहीं हुआ। योजनाओं का अति बाहुल्य होते हुए भी, अकुशल कार्यों के लिये भी इनके आवेदन को नगण्य समझा गया तथा इनके औद्योगिक प्रशिक्षण की कोई मूर्त व्यवस्था नहीं की गई।

सम्पूर्ण जनजातीय क्षेत्र में अच्छी शैक्षिक सफलता के कारण इनकी आकांक्षायें भी जाग्रत हो गई हैं। शिक्षित ओराँवजनों में बेकारी की समस्या उनके लिये कुंठा का कारण बन गई है।

इस क्षेत्र के अधिकांश जनजातीय कृषक अपनी जीविका हेतु पर्याप्त कृषिकार्य नहीं कर पाते; अतः चार माह के अल्प खेतिहर मौसम में उन्हें अपने क्षेत्र से बाहर जाकर कार्य करना पड़ता है। इसलिएः प्रवसन भी इनकी समस्याओं में से एक है। ये असम के चाय बागानों में, उत्तरी बंगाल की जूट मिलों में, कलकत्ता के ईंट भट्टों में तथा पंजाब व हरियाणा के खेतों में श्रमिक कृषक के रूप में जाते हैं।

जैसा कि ज्योति सेन (1972) ने सत्य ही संकेत किया है, ईसाई मिशनरियों के अतिरिक्त कोई भी ऐसा स्वयंसेवी संगठन नहीं है जिसने जनजातीय कल्याण के प्रति प्रबुद्ध व प्रभावशाली रुचि दिखाई हो।

समय के साथ यह सभी क्षेत्र विशाल 'झारखंड आन्दोलन' का भाग बन गये। जिन विषमताओं ने इस आन्दोलन को जन्म दिया वे आर्थिक, प्रशासकीय, सामाजिक, मनोवैज्ञानिक तथा राजनीतिक हैं ( विस्तृत वर्णन हेतु 'क्षेत्रीयता' अध्याय देखिये)। प्रशासनिक वितृष्णा तथा उदासीनता के कारण परिस्थिति गम्भीर होती रही है। जो लोग इनकी वर्तमान असहाय स्थिति के लिए उत्तरदायी हैं उन्हें यह समझना चाहिये कि ये जनजातीय लोग भी साधारण मनुष्य हैं तथा इनके धैर्य की भी एक सीमा से अधिक परीक्षा नहीं ली जा सकती।

# 11

# क्षेत्रीय परिवेश : मध्य प्रदेश, छत्तीसगढ़, उत्तर प्रदेश, उत्तरांचल बिहार व झारखण्ड का जनजातीय संसार

## मध्य प्रदेश/छत्तीसगढ़

जनजातीय भारत के दृष्टिकोण से मध्य प्रदेश व छत्तीसगढ़ का बहुत ही महत्त्वपूर्ण स्थान होना चाहिये। यद्यपि कुल जनसंख्या का जनजातीय प्रतिशत निकालने पर इन राज्यों का स्थान छठा माना गया, लेकिन केवल जनजातीय जनसंख्या के आधार पर मध्य प्रदेश व छत्तीसगढ़ का स्थान प्रथम है। यद्यपि यहां की जनजातीय जनसंख्या कुल जनसंख्या की 22.97% है, परन्तु इनकी कुल आबादी एक करोड़ बीस लाख के लगभग है। जनगणना 1981 देश के सात राज्यों उत्तर प्रदेश, राजस्थान, गुजरात, महाराष्ट्र, आन्ध्र प्रदेश, उड़ीसा और बिहार से मध्य प्रदेश की सीमायें जुड़ी हैं इस कारण उपरोक्त सभी राज्यों की सीमावर्ती जनजातियों का विस्तार मध्य प्रदेश के जिलों में भी हुआ है। मध्य प्रदेश के लगभग पचास प्रतिशत जिले जनजातीय जनसंख्या की दृष्टि से अधिक महत्वपूर्ण है। मध्य प्रदेश न केवल क्षेत्रफल की दृष्टि से भारत को सबसे बड़ा प्रदेश है, वरन् इसका एक बड़ा भाग लगभग 33% वनों से आच्छादित है जो कि जनजातीय सघनता का मुख्य कारण है।

मध्य प्रदेश/छत्तीसगढ़ की कुल जनजातीय जनसंख्या लगभग 58 छोटे-बड़े समूहों में बँटी हुई है। इन समूहों में गोंड एवं संबंधित जनजातियों/उपजनजातियों को समूह जनसंख्या के आधार पर प्रथम स्थान पर है। द्वितीय स्थान पर भील आते हैं। ये दोनों समूह कुल जनजातीय जनसंख्या का दो-तिहाई हिस्सा है। शेष जनसंख्या का एक बड़ा हिस्सा कोल समूह की जनजातियों का है। कुल जनसंख्या में जनजातीय जनसंख्या का प्रतिशत झाबुआ, बस्तर, मण्डला, धार तथा सरगुजा जिलों में अधिक है। बस्तर में यह प्रतिशत सर्वाधिक है।

निम्न तालिका में इस संबंध में बारह महत्त्वपूर्ण जिलों का जनसंख्या के क्रमानुसार विवरण दिया गया है :—

| *क्रम* | *जिला का नाम* | *जिला की कुल जनसंख्या का प्रतिशत* |
|---|---|---|
| 1. | झाबुआ | 84.7% |
| 2. | बस्तर | 68.0% |
| 3. | मण्डला | 60.84% |
| 4. | सरगुजा | 56.0% |
| 5. | धार | 53.38% |
| 6. | शहडोल | 48.23% |
| 7. | रायगढ़ | 47.2% |
| 8. | खरगौन | 39.55% |
| 9. | सिवनी | 37.49% |
| 10. | छिन्दवाड़ा | 35.0% |
| 11. | सीधी | 32.53% |
| 12. | बेतुल | 30.4% |

मध्य प्रदेश/छत्तीसगढ़ की जनजातीय जनसंख्या का अध्ययन इतना सहज नहीं है। यहाँ की एक जनजाति अनेक उपसमूहों/उपजातियों में विभाजित है। 1981 की जनगणना में मध्य प्रदेश में 46 जनजातियों को अधिकृत रूप में स्वीकार किया गया है। इसमें गोंड जनजाति की पचास से भी अधिक उपजातियाँ अधिकृत रूप से स्वीकार की गयी हैं। इस जनगणना में एक ही जनजाति की उपजातियों की एक से अधिक रूप में भी गणना कर ली गयी है और भिन्न-भिन्न जनजातियों के रूप में गिन लिया गया है। मूलतः प्रयास यह था कि कोई भी जनजाति गणना से वंचित न रह जाय और सभी को विकासकारी योजनाओं का लाभ मिल सके। अतः इस गणना संबंधी त्रुटि को क्षमा किया जा सकता है।

## अनूसूचित जनजातियों की सूची

अगरिया, आंध, बैगा, भैना, माड़िया। भुमिया, भुईहार, भरता, भील, भिल्लाला भुंजिया, बियार, बिंझवार, बिरहुल, बिरहोर, धनवार, गदवा, गोदा/गोंड, छलवा, हलवी, कमार, कारका, कवर, चरेवा, राठिया, छट्दी, कीट, खैरवार, खाड़िया, कोल, कोलाम, कोंध, खोंद/कंध, कोरका, कोड़ाकु, कोरवा, मांझी, मझंवार, मवासी, मीना मोंगिया, मुंडा नगेसिया, नट, नवदीगर, सपेरा, कुवुत्तर, निहाल, उरांव धंका (धनगड सहित), पनिका, पाओं, परधान/पथारी/सरौटी, पारधी, परजा, सहारिया, सौंता, सौर, सवर/सवरा, सेहारिया, सौज

मध्य प्रदेश छत्तीसगढ़ पर इस विशेष परिशिष्ट में कुछ प्रमुख जनजातियों का नृजातीय वर्णन दिया जा रहा है, जो कि इन जनजातियों का संक्षिप्त नृजातीय परिचय भी है।

## भील

जनसंख्या के दृष्टिकोण से भील को भारतवर्ष की सबसे बड़ी जनजाति माना जा सकता है। सभी उपजातियों सहित भील जनजाति की कुल जनसंख्या लगभग साठ लाख है। इस जनजाति का मुख्य निवास स्थान मध्य प्रदेश, महाराष्ट्र, राजस्थान तथा गुजरात का मिश्रित क्षेत्र है। कर्नाटक तथा आंध्र प्रदेश में भी यह जनजाति कहीं-कहीं सीमावर्ती क्षेत्रों में निवास करती है। मध्य प्रदेश में इनकी कुल जनसंख्या पन्द्रह लाख के लगभग है। आर्थिक दृष्टिकोण से भील जनजाति को स्थायी कृषक समुदाय के रूप में देखा जा सकता है। यह जनजाति परंपरागत उत्कृष्ट तीरन्दाज रही है। भौगोलिक दृष्टिकोण से इस जनजाति का मूल निवास अरावली, विन्ध्य तथा सतपुड़ा की पहाड़ियाँ तथा रेवाकांठा के पठार हैं। ऐसा कहा जाता है कि "भील" द्रविड़ भाषा के "बील" शब्द से उद्धृत है जिसका अर्थ है धनुष। अतः धनुष धारण करने वाली जनजाति को भील कहा गया।

इस जनजाति के लोगों की त्वचा का रंग कालापन लिये हुये, सिर के बाल घुँघराले तथा शरीर पर रोयें कम होते हैं। अधिकतर विद्वान इन्हें द्रविड़ मानते हैं, जबकि गुहा इन्हें प्रोटो-आस्ट्रोलाएड प्रजाति समूह का मानते हैं। भील आपस में मिलती-जुलती अनेक बोलियाँ बोलते हैं जिनमें क्षेत्रीय भिन्नतायें स्पष्ट रूप से नजर आती हैं। सामूहिक रूप से इन सभी बोलियों को "भिल्ली" कहा जा सकता है। इस बोली में मुंडारी तथा द्रविड़ भाषा के शब्दों का अधिक प्रयोग हुआ है, परन्तु क्षेत्रीय भिन्नताओं के कारण गुजराती, मराठी और मारवाड़ी बोलियों का प्रभाव स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर है। भीलों की परंपरागत पड़ोसी जनजातियों में गोंड, भुइया और कोलार जनजातियों को सम्मिलित किया जा सकता है।

इस जनजाति के लोग पहाड़ी टेकरियों पर झोपड़ी बना कर निवास करते हैं। यह लोग अपने घरों का निर्माण अत्यन्त साधारण रूप से कहते हैं। दीवारों का निर्माण लकड़ी के खम्भों में बाँस जोड़ कर उस पर मिट्टी का लेप लगा कर किया जाता है। छतों का निर्माण छप्पर पर खपरैल बिछा कर किया जाता है। इस प्रकार निर्मित घरों में खिड़कियों का अभाव बहुत खटकता है।

### सामाजिक संगठन

यह एक अन्तर्विवाही जनजाति है, जो दो बहिर्विवाही अर्द्धांशों (मोंइटी) से मिल

कर बनी है। यह दोनों अर्द्धांश अनेक बहिर्विवाही गोत्रों में बँटे हैं। गोत्र अनेक वंशों (lineage) में बँटे हैं और प्रत्येक वंश परिवारों में विभक्त है। एक वंश पाँच-छह पीढ़ियों तक होता है। भीलों की पारिवारिक इकाई को "वसीलु" कहते हैं। एक परिवार में पुरुष उसकी पत्नी और उनके अविवाहित बच्चे आते हैं। अन्य रिश्तेदारों के सम्मिलित हो जाने पर कभी-कभी कोई परिवार विस्तृत परिवार का रूप धारण कर लेते हैं। इस पारिवारिक इकाई का मुखिया घर का सबसे अधिक आयु वाला पुरुष होता है और परिवार के सभी सदस्य अपनी आय उसी के पास एकत्रित करते हैं। घर की आय-व्यय एवं कार्य विभाजन की जिम्मेदारी मुखिया की होती है और उसका निर्णय सर्वमान्य होता है। इस प्रकार भील परिबार को दृढ़ पितृसत्तात्मक परिवार कहा जा सकता है।

भील अपनी जनजाति के बाहर विवाह संबंधों को अनुचित मानते हैं और ऐसा करने वाले को समुदाय से निष्कासित कर दिया जाता है और समुदाय की पंचायत उस व्यक्ति को अर्थदण्ड भी देती है। इस दंड के भुगतान के पश्चात् ही उसे क्षमा किया जाता है। इस समुदाय में बहुपत्नी प्रथा सामान्यतः नहीं है। अपवादस्वरूप कुछ लोग एक से अधिक पत्नियों के स्वामी हैं, परन्तु बहुपति विवाह का प्रचलन बिल्कुल नहीं है। इस जनजाति में चचेरे, मौसेरे भाई-बहनों के विवाह संबंध को अधिमान्य विवाह के रूप में सर्वोच्च माना जाता है। विधवा विवाह की प्रथा इस समुदाय में सामान्य प्रक्रिया है। सामान्यतः किसी भी विधवा स्त्री का विवाह उसके मृत पति के छोटे भाई के साथ हो जाता है, परन्तु यह कोई कठोर नियम नहीं है। यदि विधवा किसी अन्य पुरुष से विवाह करना चाहती है तो उस पर कोई प्रतिबन्ध नहीं लगाया जाता। इस प्रकार पत्नी की मृत्यु के पश्चात् उसकी छोटी बहन से उसी व्यक्ति के विवाह की प्रथा भी आम है।

विवाह विच्छेद पर भी कोई प्रतिबन्ध नहीं है। परन्तु विवाह विच्छेद के पश्चात् बच्चे सामान्यतः पिता के पास रहते हैं।

किसी व्यक्ति की मृत्यु के पश्चात् उसकी संपत्ति का बँटवारा पुत्रों में उनकी आयु के अनुपात में कर दिया जाता है अर्थात् ज्येष्ठ पुत्र को सबसे अधिक और सबसे छोटे को सबसे कम। पिता द्वारा छोड़े गये ऋण भुगतान की जिम्मेदारी भी इसी क्रम में विभाजित होती है। पुत्री का पैतृक संपत्ति पर कोई अधिकार नहीं होता है।

सामान्यतः इस जनजाति के लोग अपने मृतकों के शरीर का दाह संस्कार करते हैं परन्तु बच्चों और अप्राकृतिक कारणों से मरने वालों को भूमि में दबा देते हैं। भीलों के धार्मिक विश्वास आमतौर पर आत्मावाद या जीववाद पर आधारित हैं। ये लोग प्रेतात्माओं में विश्वास रखते हैं और पूर्वजों की आत्माओं की पूजा की प्रथा भी इस

जनजाति में है। हिन्दू समुदायों से सांस्कृतिक सम्पर्क के कारण ये लोग होली, दीवाली, दशहरा आदि त्योहार भी मनाते हैं, इसके साथ ही अपने स्थानीय पर्व भी मनाते हैं। इस समुदाय में ओझाओं को विशेष स्थान प्राप्त है।

### अर्थव्यवस्था

वर्तमान भील जनजाति की अर्थव्यवस्था अब स्थायी रूप से कृषि पर आधारित है, यद्यपि इस जनजाति के बहुत से लोग आज भी घुमक्कड़, शिकारी के रूप में ही पहचानना चाहते हैं। पहले ये लोग अस्थायी खेती करते थे। एक चुने हुये जमीन के टुकड़े पर उगे हुये झाड़-झंखाड़ को काट कर गिरा दिया जाता था, फिर उसे जला कर उसमें बीज डाल कर फसल उगाई जाती थी। दो-एक फसल के बाद खेत बदल दिया जाता था। परन्तु अब स्थायी खेती का चलन सामान्य हो गया है। इनकी मुख्य उपज मक्का है और यही इनका भोजन भी है। कपास का सम्पूर्ण उत्पादन व्यापारिक उद्देश्य से किया जाता है। ये लोग इसके अतिरिक्त धान, दालें, गन्ना, तिलहन तथा गेहूँ की भी फसल उगाते हैं। कृषि कार्य में इन लोगों का पारस्परिक सहयोग दर्शनीय है। कटाई आदि कार्यों में आपसी सहयोग को 'हेल्मा' कहा जाता है।

वनों से संबंधित व्यवसाय भीलों की अर्थव्यवस्था का एक महत्त्वपूर्ण अंग है। मूलतः वनवासी होने के कारण ये लोग कुशल शिकारी हैं और खूँखार जंगली जानवरों का साधारण हथियारों द्वारा आज भी शिकार कर लेते हैं। भीलों की छवि आज भी एक तीरंदाज जनजाति के रूप में प्रचलित है। ये कुशल लकड़हारे भी हैं। वनों से शहद निकालने व खाने योग्य फल और महुआ बीनने में इनका कोई सानी नहीं है। ये लोग मछली भी पकड़ते हैं। अब ये लोग मुर्गी व पशुपालन में भी रुचि लेने लगे हैं। अपने उपयोग के लिये वस्त्र ये लोग बाजार से खरीदते हैं, स्वयं नहीं बुनते।

जनसंख्या वृद्धि के दबाव, पड़ोसी कृषक समुदायों द्वारा इनकी भूमि पर अतिक्रमण, वनों में वनाधिकारियों के उत्पीड़न एवं साहूकारों के शोषण ने इनके स्वच्छन्द जीवन निर्वाह को दुष्कर बना दिया है। जनजातीय विकास परियोजनाओं से इनका आंशिक शैक्षिक व आर्थिक विकास अवश्य हुआ है परन्तु अभी बहुत कुछ होना शेष है।

## गोंड

गोंड मध्य भारत का एक विशाल जनजातीय समुदाय है। यह समुदाय अनेक उपजनजातियों के समूहों से मिल कर बना है। नृजातीय साहित्य में गोंड अपने रंगारंग युवागृहों के कारण बहुचर्चित रहे हैं। गोंड समुदाय मध्य प्रदेश व छत्तीसगढ़, उड़ीसा, महाराष्ट्र, आंध्र प्रदेश, झारखंड, कर्नाटक, पश्चिम बंगाल और गुजरात में निवास करते

हैं। परन्तु इनका मूल निवास स्थान छत्तीसगढ़ का बस्तर क्षेत्र माना जाता है। गोंड समुदाय की कुल जनसंख्या पचास लाख से भी अधिक है. केवल मध्य प्रदेश व छत्तीसगढ़ में ही इनकी संख्या तीस लाख से भी अधिक है। अपनी पचास से अधिक उपजातियों में बँटे हुये प्रदेशों के मध्यवर्ती पठारी भाग (मंडला, सिवनी, छिन्दवाड़ा और बैतूल) तथा बस्तर क्षेत्र में फैले हुये है। आज भी मंडला जिले की लगभग आधी जनसंख्या गोंड है।

इस समुंदाय के लोगों की एक विशेषता है। यह लोग अपना परिचय मूल गोंड जाति के रूप में न देकर अपनी उपजाति के नाम से या "कोतार" कह कर देते हैं। "कोय", "कोयतोर" या "कौतोर" शब्द का अर्थ है पर्वतीय मनुष्य या गिरिवासी। इनकी परंपरागत पड़ोसी जनजातियाँ है बैगा, खोण्ड, अगड़िया, भूमिज तथा गदबा आदि।

इस समुदाय के लोगों की त्वचा का रंग कत्थई या कालापन लिये हुए होता है। इनके बाल मोटे, काले तथा घुमावदार, चेहरा गोल, आंखें काली, होंठ मोटे और नाक फूली हुयी होती है। जनमत के अनुसार इनको प्राक्द्रविड़ समूहों में रखना उचित होगा जबकि गुहा उन्हें प्रोटो-आस्ट्रेलायड प्रजातीय समूह में रखना पसन्द करते हैं। गोंड समुदाय की अपनी अलग भाषा है जिसे "गोंडी" कहा जाता है। ग्रियर्सन के अनुसार गोंड लोग द्रविड़ भाषा समूह की बोलियों का प्रयोग करते हैं। बहुत से गोंड अपने पड़ोसी गैर-जनजातीय समूहों की भाषाओं का प्रयोग करने में भी दक्ष होते हैं। अधिकतर ये लोग द्विभाषीय होते हैं।

अपनी बस्तियों और गांवों को बसाने में इस समुदाय के लोगों पर भौगोलिक परिस्थितियों, विशेषकर जल उपलब्धि का प्रभाव स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर है। पर्वतीय क्षेत्रों में गाँवों का निर्माण चोटी पर और मैदानी क्षेत्रों में नदी के तटों पर किया गया है। गृह निर्माण हेतु समीपवर्ती जंगलों से प्राप्त वस्तुओं का ही उपयोग किया जाता है। इनकी झोपड़ियाँ काठ, बाँस, मिट्टी और घास-फूस द्वारा निर्मित है। परंपरागत रूप में ये प्रत्येक गाँव या दो-तीन गांवों के बीच एक युवागृह भी बनाते हैं जिसे "घोटुल" कहा जाता है। इसके अतिरिक्त प्रत्येक गाँव में एक अतिथि गृह भी होता है।

## सामाजिक संगठन

जैसा कि पहले उद्धृत किया गया है, ये लोग अपना परिचय अपनी उपजाति के रूप में देते हैं। बस्तर में ये मुड़िया के नाम से जाने जाते हैं। ये लोग दो बहिर्विवाही अर्धांशों से मिल कर बने होते है। प्रत्येक अर्धांश कई गोत्रों में और गोत्र कई परिवारों

में बँटा होता है। सामाजिक संगठन की मूल इकाई परिवार होती है। सामान्यतः परिवार छोटे-छोटे होते हैं परन्तु कोई-कोई परिवार काफी विस्तृत हो जाता है। परिवार में सत्ता घर के सबसे बड़े पुरुष सदस्य की होती है। वयस्क पुरुष कृषि कार्य और शिकार करते हैं जबकि स्त्रियाँ गृह संबंधी कार्यों को देखती हैं।

गोंड समुदाय में सामान्य रूप से एक विवाह की प्रथा है। कुछ लोग एक से अधिक विवाह भी करते हैं, परन्तु इसे इन लोगों में अच्छा नहीं माना जाता। एक से अधिक पत्नी रखने का कारण है पहली पत्नी का बाँझ होना या धन संपत्ति का प्रदर्शन। जनजातीय अंतर्विवाह सर्वमान्य है। इसमें देवर विवाह प्रचलित है और यदि विधवा किसी और पुरुष से विवाह करती है तो उस पुरुष को वधू-धन देकर क्षति पूर्ति करनी पड़ती है। इनमें साली विवाह भी प्रचलित है। इस समुदाय में दूर के रिश्ते के भाई-बहनों में विवाह वर्जित है, इस समुदाय में विवाह विच्छेद भी प्रचलित है और स्त्रियों को भी इसका समान अधिकार प्राप्त है। विधवा विवाह अच्छी दृष्टि से देखा जाता है।

सामान्य रूप से इस समुदाय के लोग अपने मृतकों का दाह संस्कार करते हैं परन्तु बीमारी या अप्राकृतिक कारणों से हुयी मृत्यु में मृतक के शरीर को मिट्टी में दबा दिया जाता है। धार्मिक रूप से ये लोग जीववाद पर विश्वास रखते हैं। परन्तु पिछले पाँच-छः दशकों से हिन्दू संस्कृति के सम्पर्क में आ जाने के कारण ये लोग हिन्दू देवी-देवताओं की भी आराधना करने लगे हैं। इस प्रकार के सांस्कृतिक एवं धार्मिक परिवर्तन का प्रभाव इस समुदाय में स्पष्ट रूप से दिखाई पड़ता है।

अस्थाई कृषि कार्य हेतु प्रयोग में आने वाली भूमि का स्वामित्व सामुदायिक होता है। एक भू-भाग पर परिवारों के एक समूह का समान अधिकार होता है। किसी भी संपत्ति का उत्तराधिकारी पिता के बाद पुत्र होता है। पुत्री का पैतृक संपत्ति पर कोई अधिकार नहीं होता। जायदाद विभाजन होने पर घर सबसे छोटे पुत्र को मिलता है और भूमि बराबर-बराबर बाँटी जाती है। वह पुत्र जिस पर विधवा माँ और अविवाहित बहनों की जिम्मेदारी होती है सबसे बड़े भाग का अधिकारी होता है। पुत्र न होने की स्थिति में सम्पूर्ण चल-अचल संपत्ति दामादों में बाँट दी जाती है।

इस समुदाय के लोग गाँवों में निवास करते हैं। प्रत्येक गाँव की एक अपनी पंचायत होती है जिसमें दो मुख्य व्यक्ति होते हैं। एक सामान्य जनकार्यों की और दूसरा धार्मिक कार्यों की देख-रेख करता है। छोटे-मोटे झगड़ों व मुकदमों को जुर्माना आदि दंड देकर निपटा दिया जाता है।

गोंड अपने मिश्रित युवागृहों के लिये बहुचर्चित रहे हैं। इन युवागृहों को "घोटुल"

कहा जाता है। इन युवागृहों में अविवाहित लड़के और लड़कियाँ रहते हैं। तथाकथित सभ्य समाज ने घोटुल जैसे युवागृहों को मुक्त संभोग की संस्था की दृष्टि से देखा है, जबकि वास्तविक़ता यह है कि आधुनिक शिक्षा संस्थानों के प्रादुर्भाव के पूर्व ऐसी ही परंपरागत संस्थायें शैक्षिक एवं सांस्कृतिक गतिविधियों का केन्द्र रही हैं। यद्यपि इन संस्थाओं में युवकों एवं युवतियों के बीच यौन संबंध भी हो सकते हैं, परन्तु उनको अपनी मध्यवर्गीय्र नैतिकता के मापदंड पर नापना सरासर अन्याय होगा। "घोटुल" में युवा वर्ग को शिकार, धार्मिक क्रियाओं और सामाजिक कार्यों की शिक्षा देकर निपुण बनाया जाता है। पारिवारिक एवं वैवाहिक जीवन की शिक्षा भी यहीं पर दी जाती है। दुर्भाग्यवश जीवन संघर्ष की कठिन परीक्षाओं और तथाकथित सभ्य समाज की "सुधारवादी" मानसिकताओं के दबाव में घोटुल जैसी संस्थायें अपना अस्तित्व लगभग खो चुकी हैं।

## अर्थव्यवस्था

ये लोग स्वावलम्बी होते हैं और अपनी अधिकतर आवश्यकतायें स्वयं पूरी कर लेते हैं। गोंडों का एक बड़ा भाग स्थायी कृषि कार्य में लग गया है, परन्तु अब भी एक बड़ी संख्या अस्थायी खेती ही करती है जिसे स्थानीय भाषा में पेण्डा तथा दिप्पी कहते हैं। स्थायी खेती मैदानी इलाकों में और अस्थायी खेती पहाड़ी क्षेत्रों में होती है। इनकी मुख्य फसलों में कुटवी, कोदों, बाजरा, उड़द तथा मूँग शामिल हैं। चावल तथा कुटवी इनका प्रमुख भोजन है। इसके अतिरिक्त ये शिकार का मांस, जंगली, फल, मछली तथा अंडे के भी शौकीन हैं।

इस समुदाय का मुख्य व्यवसाय शिकार है, परन्तु पाबंदी के कारण अब यह कार्य चोरी-छुपे होता है। जंगली वस्तुओं की पहचान में इन्हें महारत हासिल़ होती है। चिरौंजी, शहद, गूलर, महुआ, आदि इनकी प्रमुख उपयोग की वस्तुयें रही हैं परन्तु आजकल गोंडों और यहाँ रहने वाले अन्य समुदायों का प्रमुख व्यवसाय बीड़ी के लिये तेन्दु पत्ता चुनना है। पारंपरिक रूप से यह लोग पशुपालन, सामान ढोने और मांस सेवन का कार्य करते हैं, परन्तु विकासकारी योजनाओं के अन्तर्गत सूअर और मुर्गीपालन जैसे कार्य जीविकोपार्जन के लिये अपना लिये गये हैं। अपनी आवश्यकता के औजार एवं हथियार ये लोग स्वयं बनाते हैं। आर्थिक विषमताओं के कारण बहुत से गोंड खानों या अन्य सार्वजनिक निर्माण के कार्यों में मजदूरी भी करने लगे हैं। अन्य जनजातियों की तरह गोंड समुदाय भी आर्थिक शोषण का शिकार है। मध्य भारत के क्षेत्रों में होने वाले अनेक छोटे-बड़े विद्रोहों का मूल कारण इन जनजातियों का निर्मम शोषण ही है।

## उत्तर प्रदेश/उत्तराखंड

उत्तर प्रदेश विभिन्न जातियों, जनजातियों, सम्प्रदायों, धर्मों व परंपराओं का केन्द्र रहा है। यह दूसरी बात है कि प्रदेश का जनजातीय संसार हाल के वर्षों तक आम जनता की चेतना के कगार पर ही स्थित रहा है। यह भी सच है कि हमारी वर्तमान अभिजात संस्कृति का यहां की आदिम जनजातियों के साथ कोई मेल नहीं बैठता परन्तु यह भी सच है कि यह अभिजात संस्कृति इन्हीं आदिम संस्कृतियों की कोख से जन्मी है। सांस्कृतिक विकास के इस सफर ने बहुत से उतार-चढ़ाव देखे हैं।

शायद यह बात कुछ अजीब लगे परन्तु सत्य है कि 1967 से पूर्व प्रदेश में कोई "अनुसूचित जनजाति" नहीं थी। जून 1967 में पहली बार यहाँ पाँच जनजातियों को अनुसूचित जनजाति घोषित किया गया। यह हैं--

1. भोटिया
2. भोक्सा (बुक्सा)
3. जौनसारी
4. राजी, तथा
5. थारु।

इनकी कुल जनसंख्या 2.88 लाख है जो प्रदेश की कुल जनसंख्या का 0.33 प्रतिशत है ज़बकि प्रदेश की अनुसूचित जातियों की कुल जनसंख्या का प्रतिशत 21. 16 है। 1971-81 के बीच यहाँ की अनुसूचित जनजातियों की जनसंख्या वृद्धि 17. 19% थी जबकि प्रदेश की औसत जनसंख्या वृद्धि 25.49% रही।

प्रदेश की पाँचों अनुसूचित जनजातियाँ मुख्यतः उत्तरी पहाड़ी क्षेत्रों तथा पड़ोसी भब्बर व तराई क्षेत्रों में केन्द्रित हैं। जनसंख्या की दृष्टि से थारु सबसे बड़ी (1991 : 1,18558) तथा राजी या बनरावत सबसे छोटी (1991 : 755) जनजाति है।

जनसंख्या के आँकड़ों के अनुसार प्रदेश के दो जिलों अर्थात् देहरादून में प्रदेश की अनुसूचित जनजातियों का करीब 33% तथा नैनीताल में करीब 32% निवास करता है जिसका अर्थ है कि केवल इन्हीं दो जिलों में मिला कर अनुसूचित जनजातियों की करीब 65 प्रतिशत जनसंख्या निवास करती है। यही जिले प्रदेश की प्रमुख जनजातियों थारु, भोक्सा तथा जौनसारियों का निवास स्थान हैं। बाकी जिलों में लखीमपुर खीरी, पिथौरागढ़, गोंडा, चमौली, बहराइच और बिजनौर शामिल हैं जहाँ क्रमशः थारु, भोटिया तथा राजी के अंश निवास करते हैं।

उत्तर प्रदेश में कुछ जनजातियाँ अनुसूचित होने का इंतजार कर रही थीं व सरकार

उनको कुछ सहायता "गैर-अनुसूचित जनजातियों" (Non-Scheduled Tribes) के नाम से कर रही थी। ऐसी जनजातियों में कुछ और जनजातीय समूहों को जोड़कर The Scheduled Castes & Scheduled Tribes Order (Amendment) 2002 के अंतर्गत अनुसूचित जनजातियों के श्रेणी में रख दिया गया है। इनमें से अधिकतर महाराजगंज, सिद्धार्थ नगर, बस्ती, गोरखपुर, देवरिया, मऊ, आजमगढ़, जौनपुर, बलिया, गाजीपुर, वाराणसी, मिर्जापुर व सोनभद्र जिलों में निवास करती हैं। जिनकी सूची निम्नलिखित है : **गौंड, धुरिया, नायक, ओझा, पठारी, राजगोंड खरवार व खैरवार, सहरिया, परहीया, बैगा, पंखा व पनिका, अंगारिया, पटारी, चेरु, पुहिंया व पुँहिया।**

उत्तराखंड बनने के बाद थारु व बोक्सा जनजातीयां ही उत्तर प्रदेश में बच गई थीं। नई अनुसूचित जनजातियों के जुड़ जाने से उत्तर प्रदेश फिर एक बार जनजातीय भारत के पटल पर एक महत्त्वपूर्ण क्षेत्र के रूप में उभरा है। इन जनजातीय समूहों पर शोध की तुरन्त आवश्यकता है।

## बुक्सा

बुक्सा (भोक्सा), उत्तर प्रदेश उत्तराखंड की पाँच अनुसूचित जनजातियों में एक थी। यह चार उत्तरी जिलों नैनीताल, पौढ़ी-गढ़वाल, देहरादून तथा बिजनौर की छोटी-छोटी ग्रामीण बस्तियों में पाये जाते हैं। सन् 1991 की जनगणना के अनुसार बुक्सा जनजाति की कुल जनसंख्या 42027 है जिसका 60 प्रतिशत भाग नैनीताल जिले के विभिन्न विकास खण्डों में निवास करता है। जिन क्षेत्रों में यह जनजाति बसी है उसे "भोक्सार" कहते हैं।

शारीरिक गठन की दृष्टि से यह जनजाति कद में छोटी और मध्यम, चौड़ी मुखाकृति तथा समतल चपटी नासिका वाली है। साधारणतया पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियाँ अधिक सुन्दर होती हैं। स्त्रियों में गोल चेहरा, गेहुंआ रंग, मंगोल नाक-नक्श स्पष्ट रूप से दिखाई पड़ते हैं। पुरुषों में श्याम वर्ण के लोग मिलते हैं जिनके अन्य शारीरिक लक्षण भी पड़ोस के हिन्दुओं की निम्न जातियों जैसे चमार, पासी, धीमर, नाई, लुहार आदि से मिलते हैं और अपने ही समूह की स्त्रियों से भिन्न हैं। शारीरिक लक्षणों से प्रतीत होता है कि इनमें प्रजातीय मिश्रण हुआ है। भोक्सा जनजाति की भाषा हिन्दी एवं कुमाँयूनी का सम्मिश्रण है परन्तु जो लोग लिखना जानते हैं वे देवनागरी लिपि का ही प्रयोग करते हैं।

विलियम क्रुक ने बुक्सा की उत्पत्ति के विषय में कहा है कि ये लोग अपने को

राजपूतों का वंशज मानते हैं। उनके अनुसार कुछ लोगों का कहना है कि वे दक्षिण से आये, कुछ का मत है कि वे उज्जैन के धारानगरी नामक स्थान से आए।

कुछ इतिहासकारों का अनुमान है कि भारत पर मुगलों के आक्रमण के समय चित्तौड़ की राजपूत जातियों की अनेक स्त्रियाँ निम्न वर्ग के अनुचरों के साथ भाग आईं और उन्होंने तराई के क्षेत्र में शरण ली। यह भोक्सा जनजाति इन्हीं की संतति हैं। सम्भवतः इसी कारण भोक्सा जनजाति की पारिवारिक योजना में स्त्रियों की प्रधानता है। इसी कारण अब भी पुरुष को घर के बाहर भोजन करना होता है। बुक्सा सबसे पहले तराई में "बनबसा" नामक स्थान जो कि वनों से ढका था, में आकर बसे। इनके अधिकतर गाँव केला, जामुन एवं शहतूत के पेड़ों से घिर हुए होते हैं। इनकी झोपड़ियाँ एक सीधी पंक्ति में बनी होती हैं तथा झोपड़ियों के मुँह आमने-सामने खुलते हैं। इनकी झोपड़ियों के सामने संयुक्त चौड़ा आँगन मिलता है, जिसमें इनके बच्चे खेलते हैं, अनाज सुखाया जाता है एवं रात में पलंग डालकर इसी आँगन में सोते हैं। झोंपड़ी के सामने की दीवार पर स्त्रियाँ हाथी, चिड़ियों, घोड़े इत्यादि के चित्र बनाती हैं। झोपड़ियों की पंक्ति में ही बीच-बीच में जानवर एवं भूसा और चारे के लिए भी झोपड़ियाँ बनी होती हैं। जिन्हें ये "बाड़ा" कहते हैं।

## सामाजिक संगठन

बुक्सा जनजाति में क्रय-विवाह पद्धति आज भी प्रचलित है। वधू प्राप्त करने के लिए वधू धन देय है क्योंकि बुक्सा पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों की संख्या काफी कम है। बुक्सा जनजाति में कन्या, परिवार की आर्थिक क्रियाओं में सक्रिय सहयोग देती हैं। विवाह के पूर्व वह परिवार के आर्थिक उत्पादन में महत्त्वपूर्ण स्थान रखती है। विवाह के पश्चात् कन्या पक्ष, कन्या के सहयोग से प्राप्त लाभ से वंचित हो जाता है। अतः इसी क्षतिपूर्ति के रूप में कन्या का पिता वधू धन प्राप्त करने का अधिकारी माना गया है। यह राशि विवाह के पूर्व वर पक्ष द्वारा कन्या पक्ष को दी जाती है, जो 'मालगति' कहलाती है। बुक्सा जनजाति में एक पुरुष का विवाह तभी सम्भव है जब उसके पास खेती के लिए इतनी भूमि हो जिससे वह अपना और परिवार का भरणपोषण कर सके। बुक्सा जनजाति में विवाह अधिक आयु में किये जाते हैं, कन्या की विवाह योग्य आयु 18-20 वर्ष तथा वर की आयु 20-24 वर्ष है। भोक्सा जनजाति में "अन्तर्जातीय-बहिर्गोत्रिय विवाह-प्रथा" प्रचलित है अर्थात् रक्त संबंधियों में विवाह नहीं करते तथा जिस गाँव में निवास करते हैं उसमें संबंध स्थापित नहीं करते। बहुपत्नी विवाह, यहाँ तक कि द्विपत्नी विवाह, निन्दनीय समझा जाता है। इनमें दहेज प्रथा भी प्रचलित है। साधारणतया दहेज में वस्त्र, आभूषण इत्यादि दिया जाता है।

भोक्सा जनजाति में विवाह-विच्छेद की सुविधा या छूट है परन्तु विवाह विच्छेद प्रायः नगण्य है। इसके कई कारण हैं : विवाह-प्रथा में जिस पत्नी को धन देकर प्राप्त किया जाता है उसे त्यागने का अर्थ है प्रत्यक्ष आर्थिक क्षति। अतः कोई भी पति आसानी से अपनी विवाहिता को तलाक नहीं देता। बहुपत्नी-प्रथा के प्रचलित न हो सकने का अन्यतम कारण यह भी हो सकता है कि पुरुषों की संख्या स्त्रियों की संख्या से काफी अधिक है। अतः विवाह-विच्छेद के पश्चात् पुरुष का विवाह होना कठिन हो जाता है। इनमें विधवा स्त्री का विवाह तो सरलता से हो जाता है किन्तु विधुर का विवाह आसानी से नहीं होता है पत्नी द्वारा विवाह विच्छेद करने पर पूर्व पति, पिता अथवा नवीन पति से, क्षति पूर्ति की माँग करता है। पत्नी यदि पति को छोड़ दे तो पिता द्वारा "मालगति" वापस करनी पड़ती है।

भोक्सा जनजाति में पितृसत्तात्मक, पितृवंशीय एवं पितृस्थानीय परिवार पाए जाते हैं। पिता के नाम पर वंश चलता है। परिवार का ज्येष्ठ पुरुष ही अनियंत्रित सत्तासम्पन्न मुखिया होता है तथा विवाह के पश्चात स्त्री पति के घर जाकर रहती है। इस जनजाति में संयुक्त तथा वैयक्तिक दोनों प्रकार के परिवार पाए जाते हैं। संयुक्त परिवार में पति, पत्नी, इनके बच्चों के अतिरिक्त दादा, दादी, चाचा, चाची, फुफेरे भाई और बहन आदि एक साथ रहते हैं तथा सबका भोजन एक साथ बनता है। परिवार के समस्त सदस्य खेती करते हैं। खेती पर सबका अधिकार माना जाता है। मुखिया, जो अनिवार्यतः परिवार का वयोवृद्ध व्यक्ति होता है, असीमित अधिकारों का उपभोग करता है तथा एक निरंकुश शासक की तरह कार्य करता है। उसके आदेश परिवार के सभी सदस्यों को पालन करने होते हैं। परिवार की समस्त आय मुखिया को सौंप दी जाती है, जो यथायोग्य व्यय करता है। भोक्सा जनजाति में संयुक्त परिवारों की अपेक्षा वैयक्तिक या मूल परिवार प्रचलित होते जा रहे हैं। मूल परिवार में पति, पत्नी तथा उनके अविवाहित बच्चे ही रहते हैं। परिवार में पुरुषों की प्रधानता रहते हुए भी स्त्रियाँ अधिक प्रभावशाली एवं महत्त्वपूर्ण स्थान रखती हैं। स्त्रियों में शिक्षा यद्यपि बहुत कम है फिर भी परिवार में उनकी बात अधिक चलती है। अशिक्षित होते हुए भी भोक्सा जनजाति की स्त्रियों में पर्दा-प्रथा बिल्कुल नहीं है। भोक्सा स्त्रियाँ न तो पुरुषों की दासियाँ हैं और न स्वामिनी, वरन् वह साथी के रूप में समतुल्य स्थान प्राप्त किये हुये हैं।

भोक्सा जनजाति में नातेदारी संबंधी प्रथाओं का बहुत महत्त्व है। परिवार की पुत्र-वधू अपने ससुर एवं पति के ज्येष्ठ भ्राता (जेठ) को न तो देख सकती है और न मुँह खोल कर बात कर सकती है। वह ससुर व जेठ के सामने चारपाई पर भी नहीं बैठ सकती। जेठ या ससुर से वह (पुत्र वधू) सास या ननद के माध्यम से ही अपनी

बात कर सकती है। इनमें जीजा-साली, देवर-भाभी परिहास प्रचलित है। पति के मरने के बाद स्त्रियाँ प्रायः अपने देवर से विवाह कर लेती हैं। अतः भोक्सा जनजाति देवर-भाभी के मध्य पति-पत्नी संबंध संभावित माना गया है फिर भी देवर-भाभी, जीजा-साली में विवाह से पूर्व यौन संबंध अवैध माना जाता है।

भोक्सा जनजाति में शादी, तलाक, आपसी झगड़े अपनी बिरादरी की पंचायत द्वारा तय होते हैं। इनके पंचायती प्रशासन में सबसे बड़ा, आदमी तख्त कहलाता है तथा "दरोगा", "मुंसिफ" तथा "सिपाही" उसके अधीन होते हैं। इन सभी के अपने-अपने काम बँटे होते हैं। "तख्त" का काम है कि सभा की तारीख एवं दिन निश्चित करे तथा निष्पक्ष होकर फैसला तथा दण्ड सुनाए। मुंसिफ का काम बात की तह तक पहुँचना तथा छानबीन करना है, दरोगा का काम दंडित करना है तथा सिपाही का कार्य ग्राम प्रधानों को सूचना पहुँचाना है कि अमुक दिन, दिनांक पर बिरादरी की पंचायत गठित की जायेगी। वह यह बात लिखित चिट्ठी द्वारा सूचित करता है। दस से बीस गाँवों के बीच इस प्रकार की एक बिरादरी पंचायत होती है, परन्तु अब इस प्रकार की पंचायत का महत्त्व कम हो रहा है। इनके स्थान पर नैनीताल जिले में तराई क्षेत्र के अन्तर्गत पंचायती राज की स्थापना की गयी तथा "भुक्सा परिषद्" की स्थापना हो गई है, जो महत्त्वपूर्ण कार्य कर रही है।

भुक्सा जनजाति में धर्म का पारंपरिक रूप हिन्दू धर्म का ही प्रतिरूप है। ईश्वर में इनकी आस्था है, जिसकी पूजा कई देवी-देवताओं के रूप में की जाती है। शंकर (महादेव), "काली-माई", दुर्गा, लक्ष्मी, राम एवं कृष्ण की पूजा की जाती है। काशीपुर की चामुंडा देवी सबसे "बड़ी देवी" मानी जाती हैं। व्रत एवं त्योहार भी हिन्दुओं के समान हैं। होली, दीपावली, दशहरा, जन्माष्टमी इनके प्रमुख त्योहार हैं। ये 25 दिसम्बर को ईसाइयों के समान बड़ा दिन भी मनाते हैं। इसका कारण यह है, कि ये अंग्रेज अधिकारियों के सम्पर्क में बहुत दिनों तक रहे हैं। इनमें पहाड़ी ब्राह्मण पुरोहित धार्मिक अनुष्ठान एवं विवाह सम्पन्न कराने आता है। अनेक प्रकार के अन्धविश्वास, जादू-टोने भी भोक्सा जनजाति में प्रचलित हैं। रोग के प्रति सामान्यतः इनकी यह धारणा है कि झाड़-फूँक करने से यह ठीक हो जाता है। वैद्य या चिकित्सक से परामर्श करने से पूर्व रोगी को स्याने (जिसे यहाँ "भण्डारे" कहते हैं) को दिखाया जाता है। यह रोगी की नब्ज दोनों हाथों से देखता है, तन्त्र-मन्त्र से झाड़-फूँक करता है। देवी-देवताओं को प्रसन्न करते हेतु स्याने के आदेश से मुर्गे या बकरे की "भेंट या बलि" चढ़ाई जाती है। भोक्सा जनजाति भूत-प्रेत, जादू-टोने में विश्वास करती है। अतः कोई कार्य बिगड़ने, रोग लगने, दुर्घटना होने का कारण ये भूत-प्रेतादि की अप्रसन्नता मानते हैं। प्रेतात्माओं को खुश करने के लिए मुर्गा, वस्त्रादि निश्चित

एकान्त स्थल में रखे जाते हैं और यह विश्वास किया जाता है कि प्रेतात्माएँ उसे ग्रहण करने वहाँ जाती हैं। बकरे की बलि चढ़ा कर उसे देवी या आत्मा के प्रसाद रूप में प्रसन्नतापूर्वक वितरित एवं स्वयं ग्रहण किया जाता है। शक्ति के प्रतीक रूप में भोक्सा लोग पीपल के वृक्ष की पूजा करते हैं।

## अर्थव्यवस्था

तराई का क्षेत्र होने के कारण यहाँ भूमि बहुत उर्वरक है और फसल अच्छी होती है। इसी कारण आकर्षित होकर बाहर के लोग भी इस क्षेत्र में बसना चाहते हैं। प्रारम्भ में भोक्सा इन्हीं तराई के घने जंगलों में रहते थे तथा जंगलों से प्राप्त लकड़ी, शहद, कन्द-मूल, फल, जंगली जानवरों के शिकार आदि तथा पास के तालाबों में मछली पकड़ कर जीवन निर्वाह करते थे तथा स्थानान्तरित खेती भी कर लेते थे। धीरे-धीरे जंगलों के कट जाने के कारण भोक्सा, जिनके जीवन की अर्थव्यवस्था जंगलों पर निर्भर थी, परेशान हो गये जिसके परिणामस्वरूप वे अब केवल खेती तथा खेतों में मजदूरी करने लगे हैं। भोक्सा जनजाति में पुरुष आलसी प्रवृत्ति के होते हैं। प्रारम्भ में इनके पास खेती लायक भूमि की कमी नहीं थी परन्तु उधार, कर्ज तथा नशे की आदत तथा अशिक्षित होने के कारण इनकी अधिकतर भूमि पहाड़ियों, पंजाबी शरणार्थियों एवं वन विभाग द्वारा हथिया ली गई। एक ओर जहाँ कुछ भूमि के स्वामी हैं वहीं कुछ ऐसे भी हैं जो भूमिहीन हैं तथा अन्य जातियों के खेतों में कार्य करते हैं। जो भोक्सा किसी समय इन जमीनों के मालिक थे, वे इस समय मजदूर बनकर कार्य कर रहे हैं। वर्ष भर खेतों में मजदूरी नहीं मिलती इसीलिए खाली समय में घर बैठ कर नशा करते तथा ताश इत्यादि खेलते हैं। अधिक भूमि न होने के कारण वे अपने खाने हेतु ही अनाज उत्पन्न कर पाते हैं, नगद फसलों में गन्ना बोते हैं जिसे बाजपुर एवं काशीपुर शुगर मिल में बेचते हैं तथा मेलों इत्यादि में अधिक उत्पन्न अनाज को बेचते व खरीदते हैं। 10 वर्ष से ऊपर की आयु के परिवार के सभी सदस्य खेतों में मजदूरी करते हैं जिन्हें 15 से 25 रुपये पारिश्रमिक, जिसे ये दिहाड़ी कहते हैं, के रूप में मिलते हैं जिससे यह अपना जीवनयापन करते हैं। कभी-कभी पूरा गाँव मछली पकड़ने चला जाता है, डलिया, जाल अथवा कपड़े से यह खाने भर की मछलियाँ पकड़ लेते हैं। कुल मिलाकर इनकी आर्थिक स्थिति कमजोर है।

चावल और मछली ये बड़े चाव से खाते हैं तथा दालें, रोटी और सब्जी का प्रयोग अपने भोजन में प्रचुरता से करते हैं। मर्द देसी मदिरा और कच्ची ताड़ी एवं सुल्फे का प्रयोग अधिक मात्रा में करते हैं। मादक पदार्थों एवं द्रव्यों में हुक्का, बीड़ी, सिगरेट, सुल्फा एवं शराब का चलन है।

## समस्याएँ

भोक्सा जनजाति में निम्न समस्याओं के कारण इनके जीवन में असन्तोष व्याप्त है : भू-अतिक्रमण, ऋणग्रस्तता की समस्या, पेयजल, सुगम यातायात, स्वास्थ्य एवं सफाई, शिक्षा एवं मनोरंजन के साधन। इन समस्याओं के अतिरिक्त सरकार की बनाई गई विकास योजनाओं का पूर्ण रूप से उनका लाभ नहीं मिल पा रहा है परन्तु भविष्य में पूर्ण न सही परन्तु आंशिक रूप से धीरे-धीरे सरकार की नीतियों का प्रभाव उनके सामाजिक-आर्थिक जीवन पर पड़ेगा, जिसकी शुरुआत हो चुकी है तथा वे भी गरीबी की रेखा से उठकर समाज के अन्य वर्गों के साथ बेहतर जीवनयापन कर सकेंगे।

## थारु

थारु, उत्तर प्रदेश की पाँच अनुसूचित जनजातियों में एक थी। यह जनजाति नैनीताल से लेकर टनकपुर तक फैली हुई है। यह लोग नैनीताल (खटीमा एवं सितारगंज तहसील) लखीमपुर खीरी, गोंडा, बहराइच, गोरखपुर आदि जिलों में तथा बिहार के चम्पारन और दरभंगा जिलों में एवं भारत के पूर्व में जलपाई गुड़ी (असम) से पश्चिम में कुमाऊँ "गढ़वाल" तक तथा नेपाल में—पूर्व में "भेंची" से पश्चिम में "महाकाली" के अंचल तक व्याप्त है। अब केवल नेपाल में ही इनकी चार लाख की जनसंख्या है। नेपाल सीमान्तर्गत लुंबिनी, आंचलिक कपिलवस्तु जिले की जनसंख्या में 40 प्रतिशत थारु जनजाति है। उत्तर भारत में 1991 की जनगणना के अनुसार थारु जनजाति की जनसंख्या 1,18,558 है। थारु जनजाति का जीवन खेती एवं पशुपालन पर आधारित है। थारु किरात वंशज हैं और कई जातियों तथा उपजातियों में विभाजित हैं।

ये लोग कद के छोटे, पीतवर्ण, चौड़ी मुखाकृति तथा समतल नासिका वाले होते हैं, जो मंगोल प्रजाति के लक्षण हैं। इस जनजाति के उद्भव के विषय में भी विद्वानों में मतैक्य नहीं है। एक वर्ग इन्हें राजपूतों का वंशज कहता है, दूसरा इनका उद्गम मध्येशिया के मूल निवासी मंगोलों से बताता है और कुछ लोग इन्हें भारत-नेपाल के आदिम निवासी सिद्ध करते हैं। वस्तुतः "थारु" शब्द अपने पड़ोसी समुदायों के लिये विशिष्ट वनवासी जाति, धर्म, संस्कृति भाषा गँवार (मूर्ख) लोकजीवन, दर्शन आदि का बोधक हो चुका है। थारु नाम की उत्पत्ति और उसके अर्थ के विषय में विभिन्न मत हैं। इनकी भाषा हिन्दी व नेपाली से प्रभावित है।

थारुओं के घर की दीवारें मिट्टी की नहीं होती। वे मकान बनाने के लिए लकड़ी

के लट्ठे और नरकुल आदि का प्रयोग करते हैं क्योंकि इन क्षेत्रों में प्रायः बाढ़ आया करती है। इनके मकान उत्तर-दक्षिण और द्वार हमेशा पूर्व की ओर होता है। मकान में प्रवेश द्वार दक्षिण के आखिरी कमरे से होता है। इनमें एक उपजाति है जिसे "उलटहवा" कहते हैं। इनके मकान तो अन्य थारुओं की तरह ही उत्तर दक्षिण की ओर होते हैं, परन्तु प्रवेश द्वार दक्षिण के बजाय उत्तर की ओर होता है। इसी उलटी प्रथा के कारण यह जाति "उलटहवा" कहलाती है। थारुओं के घर में रसोई और पूजा-घर भी उत्तर की ओर आखिरी कमरे में होता है।

## सामाजिक संगठन

थारुओं में विवाह प्रथा बड़ी विचित्र है। इनमें वर पक्ष की ओर से किसी मध्यस्थ व्यक्ति द्वारा विवाह की बातचीत चलती है। पहले इनमें बदला अर्थात् बहनों के आदान-प्रदान की प्रथा थी किन्तु अब यह प्रथा कम होती जा रही हैं और अब "तीन टिकठी" नामक प्रथा जोर पकड़ रही है। इसमें एक-दूसरे की बहन से विवाह न करके उसी परिवार की किसी निकटतम लड़की से करते हैं। इनमें विवाह फाल्गुन के शुक्ल पक्ष में होते हैं परन्तु कभी-कभी वैसाख के शुक्ल पक्ष में भी विवाह सम्पन्न होता है। इसे "लठमखा" भोज कहते हैं। दोनों पक्षों की ओर से जब विवाह तय हो जाता है तो उसे "पक्की पोढ़ी" कहते हैं। ये एक विवाही हैं, लेकिन बहुपत्नी विवाह भी हो सकता है।

संयुक्त परिवार की प्रथा प्रायः प्रत्येक जनजाति में टूटती नजर आ रही है, जिसे देख कर सहज ही यह अनुमान लगाया जा सकता है कि भविष्य में संयुक्त परिवार का वर्णन केवल पुस्तकों में शेष रह जायेगा परन्तु आज भी कुछ ऐसे क्षेत्र हैं जहाँ जातियों एवं जनजातियों में संयुक्त परिवार नजर आते हैं। इतने बड़े परिवार को सुव्यवस्थित और संतोषजनक ढंग से चलाने वाला उस परिवार का सबसे वृद्ध व्यक्ति अपने विशाल कुटुम्ब की धुरी समान है जिसके बल पर सारा परिवार उसके चारों ओर चक्कर काटता है। इनमें संयुक्त परिवार की प्रथा आज भी स्थिर रहने के कारण इनमें समानता का व्यवहार मुख्य है। इनमें आपस में कोई व्यवहार ऐसा नहीं होगा जिससे परिवार के किसी भी सदस्य की भावना को ठेस लगे। वृद्ध व्यक्ति ही सम्पूर्ण परिवार का संरक्षक होता है। थारुओं की कार्य विभाजन प्रणाली भी अत्यन्त आकर्षक है। भिन्न-भिन्न कार्य भिन्न-भिन्न व्यक्तियों के सुपुर्द होते हैं और वे ही पूर्ण रूप से उन कामों के लिए उत्तरदायी होते हैं। पखवाड़े और ऋतु के अनुसार उनके कार्यों में परिवर्तन होता रहता है। थारु अपने परिवार की स्त्रियों विशेषतः पुत्र वधुओं को अपेक्षाकृत अपनी कन्याओं से अधिक सम्मान करते हैं। वे प्राणोत्सर्ग करके भी उनकी

रक्षा करते हैं। इनमें पितृसत्तात्मक, पितृवंशीय एवं पितृस्थानीय पारिवारिक परंपरा पाई जाती है।

थारु जनजाति में नातेदारी व्यवस्था हिन्दुओं से मिलती-जुलती है। करीबी नातेदारों में ये यौन संबंध निषिद्ध हैं। एक थारु पुरुष का सगे छोटे भाई की पत्नी से परिहार होता है। उसी प्रकार एक स्त्री की पति के बड़े भाई से दूरी होती है। यदि किन्हीं त्योहारों या विशेष अवसरों पर अपनी बात पहुँचानी होती है तो घर के किसी तीसरे सदस्य के द्वारा यह काम होता है। एक स्त्री अपने जेठ (पति के बड़े भाई) को भोजन एवं पेंय जल परोस सकती है परन्तु यह कार्य आदर भाव के द्वारा होता है। यह नियम परिवार में कड़ाई से लागू होता है। दूसरे प्रकार का परिहार एक पुरुष एवं उसकी पत्नी की बड़ी बहन तथा एक स्त्री के पति की छोटी बहन के मध्य होता है। इन संबंधों के मध्य मजाक नहीं होता तथा एक निश्चित दूरी होती है।

एक पुरुष तथा उसकी पत्नी के छोटे भाई एवं बहन से परिहास संबंध होता है। इसी प्रकार एक स्त्री की छोटी बहन का पति तथा छोटे भाई बहनों से परिहास होता है। इस परिहास में गालियाँ तक शामिल होती हैं।

राजनीतिक व्यवस्था को कायम रखने के लिए अन्य वनवासी एवं पड़ोसी पिछड़ी जातियों के समुदायों की भाँति इनकी भी अपनी बिरादरी की पंचायतें होती हैं। यही इनकी ग्रामीण अदालतें हैं। इस प्रसंग में यह जनजाति भी बड़ी कट्टरपंथी है। "मद्यप पंचगण मदिरा" के घूँट के साथ तर्क-वितर्क करते हैं। इस प्रकार न्याय में भी मदिरा की प्रमुख भूमिका रहती है। "वाद" की विभिन्न धाराओं पर प्रश्नों की झड़ी लग जाती है। निर्णय में नीर-क्षीर का विवेक दिखाई पड़ता है। पराजित पक्ष को शारीरिक और आर्थिक दण्ड सहना पड़ता है। कारण यह है कि बिरादराना निर्णय की किसी अन्य कोर्ट में अपील असम्भव है। यह रूढ़िगत आस्था इनके समाज में घर किये हुए है। बदलती हुई परिस्थितियों में अब तो सरकारी अदालतों के दरवाजे पर भी दस्तक दी जाने लगी है। ग्राम्य स्तरीय दलगत नीति से थारु पंचायत की नीर क्षीर विवेक की पवित्र परंपरा अब विषाक्त हो चुकी है। पारंपरिक लोकास्था की दीवारें धसक चुकी हैं। स्वार्थमूलक शक्ति एषण ने जड़ पकड़ ली है। आज का थारु ग्राम्य जीवन का आदर्श स्वार्थपूर्ण कटुता के विषाक्त यथार्थ में परिणत हो चुका है।

थारु हिन्दू धर्म को मानते हैं। हिन्दुओं की तरह इनके भी अनेक देवी-देवता हैं। ये लोग तन्त्र-मन्त्र भूत-प्रेत आदि में भी विश्वास रखते हैं। देवताओं को प्रसन्न रखने के लिए सूअर और बकरी की बलि देते हैं किन्तु जगन्नाथी देवता पर केवल दूध चढ़ाते हैं। इनके देवी-देवताओं की संख्या लगभग छत्तीस है। दशहरा, होली, माघ की खिचड़ी, कृष्णाष्टमी और बजहर इनके प्रमुख त्योहार हैं। इसके अतिरिक्त ये मकर

संक्रान्ति, गुड़िया आदि त्योहार भी उत्साह के साथ मनाते हैं। होली के दिनों में मदिरा पी-पीकर ये खूब गाते हैं तथा स्त्रियाँ भी ऐसा ही करती हैं। बजहर नामक त्योहार बरसात के दिनों में होता है। उस दिन गाँव की समस्त स्त्रियाँ गाँव छोड़कर खाना बनाने के आवश्यक सामान के साथ निकट के किसी ऐसे स्थान पर चली जाती हैं जहाँ पीपल का पेड़ होता है। वहाँ ये खाना बनाकर, खाकर, पूजा-पाठ और नाच-गाना इत्यादि करती हैं। परन्तु पुरुष वहाँ उनके साथ रात में नहीं रहते। थारु मुर्दों को दफनाते हैं तथा दसवाँ, तेरहवीं इत्यादि करते हैं। जब वे मिट्टी देकर लौटते हैं तो चौराहे पर एक छोटी सी पुलिया बनाते हैं। उनका विश्वास है कि इसके सहारे मृतात्मा संकटों को पार कर लेगी।

## अर्थव्यवस्था

अन्य जनजातियों की भाँति थारुओं का प्रमुख व्यवसाय व आय का स्रोत कृषि है। इसके अतिरिक्त मछली का शिकार दूसरा आवश्यक कार्य है, जो व्यवसाय तो नहीं कहा जा सकता, पर पारिवारिक व्यय को कम करने में अत्यधिक सहायक है। जंगली क्षेत्रों से लगे हुए ग्रामों में थारु शिकार के भी शौकीन हैं जिसमें यह प्रायः पाड़ा, चीतल, सूअर व इसी प्रकार के जंगली जानवरों का शिकार करते हैं। अधिकतर थारु स्वभाव से सुस्त व ढीले हैं। जितनी उर्वरा जमीन उनको खेती के लिए प्राप्त है, उसके अनुपात में उनकी उपज बहुत कम है, जिसका कारण प्रमुख रूप से आदिम कृषि यन्त्र व प्रविधियां हैं। फसल के बोने से लेकर बाजार में बेचने तक के सभी ढंग परंपरागत हैं और फलस्वरूप थारुओं की कृषि से प्राप्त आय उनको जीवित रखने भर के लिए ही पर्याप्त होती है।

मछली मारना थारुओं का पारिवारिक कार्य व आवश्यकता के रूप में किया जाता है। गाँव के सभी स्त्री व पुरुष 20 या 30 के समूहों में दूर पर बहती हुई शारदा नदी या नहर में जाल व "छपरिया" (बेंत की बनी मछली मारने की टोकरियाँ) लेकर जाते हैं और शाम तक मछलियाँ मारने के बाद घर की ओर लौटते हैं। स्त्री व पुरुष मछलियों का शिकार अलग-अलग करते हैं, और अपनी मछलियाँ अलग टोकरों में ही भरते हैं, कारण यह है कि स्त्रियाँ अपने द्वारा मारी हुई मछलियाँ ही खाती हैं। पुरुषों के स्पर्श मात्र से ही उसको अधिकतर नहीं खातीं। इस संबंध में मुख्य बात यह है कि यह मछलियाँ बेचने के कार्य में नहीं आतीं अपितु थारु केवल उतनी ही मछली मारते हैं, जितनी वे स्वयं उपभोग कर सकें। वर्षा के आरम्भ के साथ ही नदी व नहरों के तीव्र बहाव के कारण मछलियाँ यहाँ प्राप्त नहीं होतीं और वहाँ पहुँचने के मार्ग भी दुर्गम हो जाते हैं। ऐसी परिस्थितियों में थारु गाँव के आस-पास के तालाबों व पोखरों

से ही मछली पकड़ते हैं, लेकिन यह मछलियाँ किस्म व आकार में उतनी अच्छी नहीं होतीं।

अधिकतर थारु जनसंख्या निर्धन है। उनको अकुशल व अपर्याप्त कृषि से पेट भर भोजन प्राप्त नहीं हो पाता और जो कुछ आय होती है उसका एक बड़ा भाग कच्ची शराब व किसी अन्य प्रकार के अपव्यय में समाप्त कर दिया जाता है। सामाजिक उत्सवों व कन्या मूल्य पर किये गये व्यय भी उनकी आय को समाप्त करने में महत्त्वपूर्ण हैं। अधिकतर थारु गहरे ऋणों में डूबे हुए हैं और अपनी ईमानदारी के कारण, जिसको वर्तमान सभ्यता व औद्योगीकरण भी समाप्त नहीं कर सका है, थारु सबसे पहले ब्याज का भुगतान व निश्चित बातों का पालन करते हैं, चाहे उनको इसमें कितना भी नुकसान क्यों न उठाना पड़े। यद्यपि थारुओं की आय साधारण ग्रामीणों की दशा देखते हुए अधिक कम नहीं, फिर भी परिवार का आकार तुलनात्मक रूप से बड़ा होने के कारण उनकी आर्थिक स्थिति उनको निरन्तर भुखमरी व निर्धनता की ओर ले जाती है।

## समस्याएँ एवं सम्भावनायें

थारुओं की अनेक समस्याएँ हैं, जिनमें मुख्य रूप से अशिक्षा, अकाल मृत्यु आदि हैं। इन क्षेत्रों में मलेरिया भयंकर रूप से सदैव बना रहता है जिसके कारण हजारों व्यक्ति असमय काल के गर्त में समा जाते हैं। ऋणग्रस्त रहना भी थारुओं की एक बड़ी समस्या है। वर्षा के दिनों में बाढ़ आने से वे बेघर हो जाते हैं। जानवरों की मृत्यु बड़ी संख्या में हो जाती है तथा तमाम बीमारियों का उदय होता है। पेय जल व आवागमन के साधनों की कमी, कच्चे रास्तों की दुर्गमता, विद्युतीकरण, शिक्षा, बाल विकास आदि अनेक ऐसी समस्याएँ हैं जिनके अभाव में थारु जनजाति के तमाम गाँव पिछड़ेपन का जीवन व्यतीत कर रहे हैं।

थारु व अन्य जनजातियों के कल्याण के लिए हरिजन एवं समाज कल्याण विभाग की विभिन्न योजनाएँ चलाई जा रही हैं तथा एकीकृत जनजाति विकास परियोजनाओं द्वारा लाभ पहुँचाने की चेष्टा की जा रही है। इसके द्वारा शैक्षिक कार्यक्रम, आर्थिक उत्थान, स्वास्थ्य एवं आवास संबंधी योजनाएँ, स्पेशल कम्पोनेंट प्लान आदि प्रमुख रूप से शामिल हैं। इन योजनाओं का लाभ थारु जनजाति के सामाजिक एवं आर्थिक जीवन पर निरन्तर पड़ रहा है तथा इस जनजाति का भविष्य उज्ज्वल दीख पड़ रहा है।

## बिहार/झारखण्ड

जनजाति आबादी की दृष्टि से भारत में बिहार/झारखण्ड का महत्त्वपूर्ण स्थान है। इसके छोटानागपुर-प्रस्थ में देश की कुछ सबसे बड़ी जनजातियों जैसे ओराँव, मुंडा, हो, संथाल आदि रहती हैं। यह स्थान झारखण्ड आन्दोलन का भी स्नायु-केन्द्र रहा है।

बिहार/झारखण्ड में जनजातियों की आबादी लगभग 60 लाख है जो राज्य की कुल आबादी का लगभग 8.5 प्रतिशत है। यद्यपि अनुसूचित जनजातियों की आबादी के प्रतिशत के मामले में बिहार का देश में 12वाँ स्थान है, फिर भी उनकी कुल आबादी की दृष्टि से बिहार केवल मध्य प्रदेश और उड़ीसा से पीछे है। देश भर में अनुसूचित जनजाति की कुल आबादी का लगभग 5वां हिस्सा बिहार में रहता है। जनजातियों की ज्यादातर आबादी राँची, हजारीबाग, धनबाद, सिंहभूम, पलामू और संथाल परगना में है। इसके अलावा सासाराम, भभुआ, भागलपुर, मगहर, पूर्णिया और चम्पारन में भी काफी संख्या में जनजातियों के लोग रहते हैं। प्रमुख और अपेक्षाकृत विदित जनजातियाँ हैं : मुंडा, ओराँव, हो, संथाल, पहाड़िया और बिरहोर।

सम्पूर्ण जनजातीय भारत की भाँति बिहार जनजातीय समाज भी एकरस नहीं है। उसमें वंश, भाषा और आर्थिक विकास के स्तरों से संबंधित अनेक विविधताएं हैं। बिरहोर और पहाड़ी खड़िया जाति के लोग आज भी खाद्य संग्रह और शिकार करने वाले हैं जबकि असुर, कोरवा और मल पहाड़िया विवर्ती कृषि (Shifting Cultivation) करते हैं अर्थात् अपनी खेतीबाड़ी का स्थान बदलते रहते हैं। मुंडा, ओराँव, हो, संथाल आदि ग्रामीण कृषक बन गये हैं। जीवात्मावाद (Animism) में विश्वास के अलावा हिन्दू और ईसाई धर्म की प्रचार-प्रक्रिया ने जनजातियों के धार्मिक लगाव के कई महत्त्वपूर्ण आयाम प्रस्तुत किये हैं। जनांकिकी की दृष्टि से बड़ी संख्या में जनजातियों में आबादी की सामान्य वृद्धि हो रही है किन्तु सापेक्षतया कम संख्या वाली जनजातियों में वृद्धि थम गयी है या उनकी संख्या कम हो रही है।

### जनजातियों की सूची

असुर, बैगा, बन्जारा, बथुड़ी, बेदिया, भूमिजी, बिरजिया, बिरहोर, विर्जिया, चेरो, चुकवरैका, गोंड, गोरैत, हो, करमाली, खड़िया, खरवार, खोंद, किसान, कोरा, कोरवा, लोहरोह, लोहर, महली, मल पंहाड़ी, मुंडा, ओराँव, परहैया, संथाल, सओरिया, फहरिया, सवार और अन्य जनजातियाँ (अवर्गीकृत)।

ऊपर दी गयी जनजातियों में असुर, बिरहोर, बिरजिया, सवार, हिलखड़िया, कोरवा, मल पहाड़िया, पहाड़िया और सओरिया, फहरिया नामक जनजातियाँ बहुत ही

अल्पविकसित स्तरों पर जीवन गुजार रही हैं। विशिष्टि व्यवहार के लिये उन्हें "आदिम जनजाति समूहों" (Identified Primitive Tribal Communities) में वर्गीकृत किया गया है बिहार की दो प्रमुख जनजातियों का नृशास्त्रीय विवरण इस प्रकार है :

## संथाल

संथाल खेतीबाड़ी करने वालों की व्यवस्थित जनजाति है। यह भारत की सबसे बड़ी जनजातियों में से एक है। देश में संथालों की कुल संख्या 40 लाख से अधिक है। ये लोग बिहार/झारखंड, उड़ीसा और पश्चिम बंगाल में बड़े विस्तृत इलाकों में बसे हुए हैं बिहार/झारखंड में यद्यपि इनकी आबादी बिखरी हुई है लेकिन वहाँ के छोटानागपुर प्रस्थ की पूर्वी सीमा पर स्थित संथाल परगना में इनकी घनी आबादियाँ हैं। इस क्षेत्र को इस जनजाति का परंपरागत निवास स्थान माना जाता है। पूरा क्षेत्र प्राकृतिक सम्पदाओं (पुष्प, पादप व पशुओं) से सम्पन्न है और लता-पत्रों से लदा रहता है। संथाल परगना के अतिरिक्त संथाल लोग भागलपुर, मगहर, हज़ारीबाग, राँची, सिंहभूम, धनबाद और पलामू में भी रहते हैं।

माना जाता है कि संथाल जनजाति "प्रोटो-आस्ट्रेलायड" प्रजाति समूह की सदस्य हैं। उनकी त्वचा का रंग काले से लेकर गहरे भूरे तक होता है और बाल मोटे काले, खड़े और किन्हीं-किन्हीं मामलों में घुँघराले होते हैं। सिर चौड़ा तथा कद मध्यम से छोटा होता है। पड़ोसी जनजातियों के लोगों की तुलना में इन्हें अधिक परिश्रमी और उद्यमी पाया गया है। उनकी अपनी भाषा है जिसे संथाली कहते हैं और जिसकी उत्पत्ति मुंडा भाषा से हुई मानी जाती है। मुंडरी भाषा आस्ट्र-एशियन उप-परिवार की भाषा मानी जाती है। यद्यपि संथाली भाषा में अनेक भाषाओं के शब्द हैं फिर भी बहुतायत बंगाली शब्दों की है।

संथाल सुव्यवस्थित गाँवों में रहते हैं। संथाली गाँव आमतौर से छोटा होता है और उसमें 10 से 50 तक घर परिवार होते हैं। प्रत्येक गाँव में कई "टोला" होते हैं। हर "टोले" का एक मुखिया होता है। घर बहुत पास-पास या एक-दूसरे से सटे होते हैं तथा उनके द्वारा सड़क की तरफ खुलते हैं। गाँव के भीतरी मार्ग इतने चौड़े होते हैं कि दो बैलगाड़ियाँ आसानी के साथ उन पर साथ-साथ चल सकती हैं। ज्यादातर घर मिट्टी के बने होते हैं और उनकी छत बाँस और लकड़ी की झापों से पटी होती है। अब पक्के या ईंट-सीमेंट से बने मकान भी दिखाई पड़ते हैं। मकान कैसे भी हों, संथाल लोग उन्हें अत्यधिक साफ-सुथरा रखते हैं।

## सामाजिक संगठन

संथाल जनजाति में 12 पितृवंशीय एवं बहिर्विवाही गोत्र (Clans) हैं। इनके नाम हैं : हंसदा, मुरमू, किस्कू, हेम्ब्रोम, मण्डी, सौरेन, टुटू, बास्के, बेश्रा, पौरिया, चोरे और बैदिआ। बेश्रा और बैदिया, जिन्हें कुछ नीचा समझा जाता है को छोड़कर उपर्युक्त सभी गोत्र सामाजिक प्रतिष्ठा की दृष्टि से समान स्तरीय माने जाते हैं। अधिकांशतः मूल परिवार में पति, पत्नी और उनकी अविवाहित संतानें होती हैं। कहीं-कहीं यह परिवार बढ़ा भी लिया जाता है जैसे विवाहित पुत्र, उसकी पत्नी व बच्चे अथवा विवाहित भाई, उसकी पत्नी और बच्चे आदि साथ रहते हुए अपने परिवार को बृहत् रूप दे देते हैं। परिवार का सबसे वरिष्ठ पुरुष सदस्य सर्वेसर्वा होता है। परिवार में श्रम का विभाजन इस प्रकार होता है कि घर के सभी वयस्क पुरुष बाहर का काम देखते हैं, औरतों पर घरेलू कामों की जिम्मेदारी होती है। घर की अर्थव्यवस्था में योगदान अनेक प्रकार से होता है। उसमें बच्चों और किशोरों का भी अंशदान शामिल है।

संथालों में आमतौर से एकविवाह की प्रथा है। अत्यंत असाधारण परिस्थितियों जैसे पत्नी का बाँझ होना, में वे एक से अधिक पत्नी रखते हैं। कभी-कभी साली से विवाह करने की मिसालें भी मिलती हैं किन्तु चचेरी, ममेरी, फुफेरी या मौसेरी बहन से विवाह करना निषिद्ध है। जीवन संगी प्राप्त करने के लगभग दर्जन भर तरीके संथालों में प्रचलित हैं। विधवा या परित्यक्ता से विवाह असामान्य नहीं माना जाता किन्तु ऐसी शादियों में धूमधाम या तड़क-भड़क नहीं की जाती। इन्हें बड़े सादे ढंग से किया जाता है। शादियाँ तोड़ी भी जा सकती हैं और इस मामले में स्त्री, पुरुष दोनों को समान अधिकार होते हैं। व्यभिचार और जादू टोने व चुड़ैलपन के कारण ही ज्यादातर शादियाँ टूटती हैं और तलाक होते हैं।

संथालों का राजनीतिक संगठन गाँव-पंचायत पर आधारित है। पंचायत का मुखिया या चौधरी पुश्तैनी होता है। यदि कोई समस्या या संकट पंचायत में नहीं हल होता तो पूरे गाँव की सभा में उस मसले को हल किया जाता है। संथालों की परंपरा के अनुसार जो लोग गाँव बसाने या खेती करने के लिए जंगल की जमीन साफ करते हैं उन्हें भूमि प्राप्त करने का अधिकार होता है। किन्तु, आजादी के बाद द्वितीय राष्ट्रीय वन-नीति लागू हो जाने से स्थितियों में बुनियादी परिवर्तन हो गया है। पिता के मरने पर सारी चल-अचल संपत्ति उसके पुत्रों में बराबर-बराबर बाँटी जाती है। पुत्र के न होने पर वह उसी प्रकार दिवंगत मालिक के भाइयों में बाँटी जाती है। संथालों में स्त्रियों को उत्तराधिकार का अधिकार प्राप्त नहीं है।

संथालों के देवालय में अनगिनत देवी, देवता और आत्माएं होती हैं। उनके

कर्मकाण्ड, संस्कार-अनुष्ठान आदि भी असंख्य हैं। उनका प्रधान देवता "ठाकुर" होता है जिसे वे सृष्टि का रचयिता मानते हैं। जन्तर-मन्तर, अभिचार और जादू टोने में संथाल पक्का यकीन करते हैं। उनके सांस्कृतिक जीवन में इन चीजों का विशेष स्थान है। जन्तर-मन्तर द्वारा वे अनेक बीमारियों का उपचार कर लेने में विश्वास करते हैं। जादू-टोने में औरतों को विशेषज्ञ माना जाता है। आस-पड़ोस के ग्रामीण समाज से निरंतर सांस्कृतिक सम्पर्क के फलस्वरूप संथालों के धर्म में काफी परिवर्तन आया है। संथाल मृतकों के दाह-संस्कार में विश्वास रखते हैं।

## अर्थव्यवस्था

संथाल बुनियादी रूप से खेतिहर हैं जो कालांतर में धीरे-धीरे कृषक बन गये हैं। वे वर्ष के मौसम के अनुसार विभिन्न प्रकार की भूमि पर सोरगम (चरी, गन्ना आदि चारा), मक्का, ज्वार-बाजरा आदि मोटे अनाजों, दालों, कपास और धान की खेती करते हैं। खेतों को जोतने के लिए वे हल में बैलों या भैंसों का इस्तेमाल करते हैं। यद्यपि उन लोगों ने विवरों, खाई-खंदकों और कन्दराओं पर बाँध या ऊँचे कटिबन्ध बनाकर कृत्रिम सिंचाई के तरीके विकसित कर लिये हैं फिर भी उन्हें मुख्यतः वर्षा पर निर्भर रहना पड़ता है। उनके कृषिगत कार्यों में स्त्रियों का बहुत महत्त्वपूर्ण योगदान रहता है। अभाव के समय अथवा पूरक खाद्य के रूप में वे लोग कुछ विशेष प्रकार के जंगली पेड़ों के फूल, फल, या कोपलें कच्ची या पकाकर खाते हैं। ये पेड़ साल, महुआ, बाँस आदि के होते हैं।

संथाल शिकार करने और मछली पकड़ने के भी शौकीन होते हैं। मुर्गी, सुअर, गाय, भैंस, भेड़ भी पालते हैं जिनसे उन्हें मांस के अलावा और भी कई तरह की उपयोगी चीजें प्राप्त होती हैं। चावल से बनने वाली शराब जिसे वे लोग "हंडिया" कहते हैं, के अलावा वे महुआ की तेज शराब का इस्तेमाल भी करते हैं। स्थानीय पेड़ साल की पत्तियों से बनी बीड़ी पीने का प्रचलन भी उन लोगों में है।

जनसंख्या वृद्धि और बड़े पैमाने पर भूमि का विसंवर्द्धन हो जाने के कारण आज संथाल खुशहाल नहीं हैं। कुछ बड़े कुलीनों को छोड़कर उन सबका जीवन चिरकालिक ऋणभार, भूमि-विसंवर्द्धन, स्थान परिवर्तन और जमींदारों, ठेकेदारों एवं ऋणदाता सूदखोरों के उत्पीड़न से ग्रस्त हैं। कुछ संथाल कोयला खदानों में काम करने लगे हैं। देशान्तरगामी संथालों में से ज्यादातर लोग मजदूरी करते हैं।

## बिरहोर

खाद्य संग्रहण और शिकार पर निर्भर रहने वाली जनजातियों में बिरहोर की गणना

आर्थिक रूप से सर्वाधिक पिछड़े हुए लोगों में की जाती है। उन्हें आदिम जनजाति समूहों के विशेष वर्ग में शामिल किया गया है। ये लोग छोटानागपुर-प्रस्थ और पलामू के दक्षिण पूर्वी किनारों पर रहते हैं। छोटी पर्वत शृंखलाओं का यह हरा-भरा जंगली इलाका वनस्पतियों से परिपूर्ण है। बिरहोर उन जनजातियों में है जिसकी जनसंख्या एक अरसे से उत्तरोत्तर कम हो रही है। फलस्वरूप आज इस जनजाति समुदाय में कुल 5000 के आस पास व्यक्ति हैं जो लगभग 700 परिवारों में बँटे हुए हैं।

बिरहोरों का वर्गीकरण ऐसे प्रोटो-आस्ट्रेलायड समूह में किया गया है जिसमें कुछ तत्व नीग्रोकल्प के भी मिलते हैं, जैसे काला वर्ण, चमकीले-घुँघराले बाल, चौड़ी, नासिका और मध्यम या छोटा कद। वे आस्ट्र-एशियाई परिवार की भाषा बोलते हैं किन्तु अपने पड़ोसी संथाल, मुंडा और हो नामक जनजातियों के निरन्तर सांस्कृतिक सम्पर्क के कारण वे उनकी भाषाओं को भी समझ व बोल लेते हैं।

## सामाजिक संगठन

बिरहोर मुख्यतः दो समूहों में बँटे हुए हैंः उथालो और जाघी। उथालो मुख्यतः यायावर हैं जबकि जाघी लोगों ने लगभग स्थिर जीवन अपना लिया है। उथालो बरसात का मौसम छोड़कर लगभग प्रति मास अपना स्थान बदल देते हैं। उनकी बस्ती का लोक-विदित नाम "टांडा" है। प्रत्येक "टांडा" में लगभग दस झोपड़ियाँ होती हैं। कुछ लोग बकरे या अन्य मवेशी पालते हैं। प्रत्येक "टांडा" का एक मुखिया होता है जिसे "नाया" कहते हैं और जिसे धार्मिक और दुनियावी अधिकार प्राप्त होते हैं। बिरहोरों के दोनों समूहों में सामाजिक अंतर तेजी से बढ़ता जा रहा है। उन्होंने वस्तुतः एक साथ मिलकर योजना बनाना और परस्पर शादी-विवाह के संबंध करना बन्द कर दिया है।

बिरहोर जनजाति में मिल परिवार (माता-पिता और छोटे बच्चे) पाया जाता है। 10-12 वर्ष की आयु और उससे बड़ी सन्तानें शयनगृह अथवा रैनबसेरा में रहते हैं जिसे वे लोग "गत्योरा" कहते है। युवा लड़कों और लड़कियों के "गत्योरा" अलग-अलग होते हैं। हालांकि उनके यहाँ एक पत्नी रखने का आम रिवाज है फिर भी एक से अधिक पत्नी रखने का निषेध नहीं है। बाल-विवाह का प्रचलन भी नहीं है। आपसी विवादों का निपटारा स्थानीय पंचायत में होता है। यह पंचायत अस्थायी होती है और समूह के बुजुर्ग इसके सदस्य होते हैं। प्रत्येक मामले के लिए पंचायत नये सिरे से गठित या पुनर्गठित की जा सकती है।

बिरहोरों का देवालय बड़ा और विस्तृत होता है। "बोरा बोगा" इनका प्रमुख देवता

है। वस्तुतः प्रत्येक जंगल, बाग या चश्में में इनके किसी न किसी देवी-देवता का निवास स्थान होता है।

## अर्थव्यवस्था

बिरहोर जनजाति की सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था खाद्य-संग्रहण और शिकार के इर्द-गिर्द घूमती है। वे झुण्ड बनाकर जंगल में जाते हैं। वहाँ खाने योग्य कन्द-मूल और फल एकत्र करने के साथ ही शिकार भी करते हैं। औरतें आमतौर पर घर में रहकर घरेलू काम व बच्चों की देखभाल करती हैं। महुआ के फूल खाने का उन्हें शौक है। बन्दरों के गोश्त का इस्तेमाल भी ये लोग करते हैं। आम और इमली भी उन्हें बहुत प्रिय है। मुर्गी, बकरी, सुअर, और कुत्ते उनके पालतू जानवर हैं। कुत्ता उनका बड़ा ही प्रिय जानवर है। वह शिकार के समय उनकी सहायता करता है और घर पर एक मुस्तैद पहरेदार सिद्ध होता है। वे रस्सी, तुरन्त, सेंठा, नरकुल आदि के अच्छे बुनकर होते हैं। लकड़ी की चीजें भी ये बनाते हैं। अपनी बुनी और बनाई हुई चीजें वे आस-पड़ोस के बाजारों में बेचते हैं। बन्दरों को पकड़ना भी उनकी जीविका का एक साधन है।

चूँकि बिरहोर जनजाति की गुजर-बसर ज्यादातर जंगलों पर निर्भर है और जंगल से उनकी अधिकांश आवश्यकताएं पूरी होती हैं इसलिए बड़े पैमाने पर जंगलों की कटाई से उन्हें काफी क्षति पहुँची है। नई राष्ट्रीय वननीति के कारण वनवासियों के अनेक अधिकारों का हनन होता रहा है। वन-विभाग के अधिकारियों द्वारा लगाये गये वन-कानूनों विकृत और कभी-कभी अमानवीय अर्थ ने भी वनों में रहने वाली जनजातियों के जीवन को दयनीय बनाया है। यही हाल बिरहोर जनजाति का भी है। वे शायद लड़ाई हार चुके हैं।

# चार

# समस्यायें

# 12

# जनजातीय समस्याओं के प्रति विभिन्न उपागम

हजारों वर्षों से जनजातियाँ जंगलों और पहाड़ी इलाकों में रह रही हैं। खुले मैदानों के निवासियों और सभ्यता के केन्द्रों से उनका सम्पर्क आकस्मिक से अधिक नहीं रहा। "यदा-कदा किसी सैनिक अभियान के दौर में यदि किसी सैन्य काफ़िले को अति संक्षिप्त काल के लिए जनजातियों के विस्तृत क्षेत्र में रुकना पड़ा तो वे अस्थायी रूप से राजाओं और वृत्त लेखकों की जानकारी में भी आये अन्यथा सच्चे अर्थों में उनके और हिन्दू समाज के बीच एक संघर्षहीन सह-अस्तित्व दीर्घकाल से चला आ रहा था।" (हेमन्डॉर्फ, 1960) परन्तु अधिकांश आदिम जनजातियों का सांसारिक अलगाव तब समाप्त हो गया जब उन्नीसवीं सदी के अन्तिम वर्षों से लेकर बीसवीं सदी के प्रारम्भ होने तक सड़कों और रेल आदि के आधुनिक संचार साधनों का प्रादुर्भाव और प्रचलन हुआ और साथ ही देश की आबादी में भी वृद्धि हुई। इससे भूमि के भूखे मैदानी कृषकों ने मध्य और दक्षिण भारत के विरल आबादी वाले जनजाति क्षेत्रों पर धावा बोल दिया। दूसरी ओर उन क्षेत्रों में जहाँ कुछ अरसे पहले तक वस्तुतः किसी प्रकार का कोई प्रशासन नहीं था, वहाँ शान्ति और व्यवस्था संबंधी कानूनों के विस्तार ने व्यापारियों, सूद पर रुपया चढ़ाने वाले साहूकारों और अनेकानेक प्रशासकों एवं सामाजिक कार्यकर्त्ताओं को उनके गाँवों में घुसने और वहाँ बसने का अवसर भी प्रदान कर दिया।

मैदानी इलाकों के साहूकारों और व्यापारियों के भीषण आक्रमण ने जनजाति समाज को तबाही के गर्त में धकेल दिया। ऐसे अनेक उदाहरण मिलते हैं कि मैदानों से आये इन धूर्त, चालाक और पेशेवर लोगों के सम्पर्क में आने के बीस से तीस वर्षों के भीतर जनजातीय लोग अपनी आर्थिक आत्मनिर्भरता और अधिकांश भूमि खो बैठे। इन गरीब और सभी तरह से दुर्बल जनजातियों की व्यथा-कथा लगभग सौ वर्षों से समय-समय पर प्रतिध्वनित होती रही है। देश की स्वतंत्रता के बाद भी उन्हें सरकार ने और उनके अपेक्षाकृत सभ्य देशवासियों ने एक "समस्या" की संज्ञा ही दी।

प्रशासकों ने, नृ-विज्ञानियों ने, ईसाई धर्म प्रचारकों और सामाजिक कार्यकर्त्ताओं ने इस "समस्या" को अलग-अलग नज़रिये से देखा जिससे अनेक एवं भिन्न-भिन्न दृष्टिकोण सामने आये। अध्ययन की सुविधा के लिए इन विचारों और दृष्टिकोणों को तीन वर्गों में बाँटा जा सकता है। यह वर्गीकरण मुख्यतः निम्नलिखित तीन मतों को प्रस्तुत करता है। जिनकी पर्यालोचना आगे की गयी है :

1. यथास्थितिवाद/अलगाववाद (No change/Isolationism)
2. परिपाचन अथवा आत्मसात्करणवाद (Assimilationism)
3. एकीकरणवाद (Integrationism)

अब तक जो भी लोग निकट सम्पर्क में आये हैं, लगभग उन सबने तथाकथित आदिवासी या जनजाति के लोागें को सरल-सीधे, सच्चे-ईमानदार, रंगीले एवं आमतौर पर खुशमिजाज और निर्द्वन्द्व बताया है। उनका अपना एक अनोखा और विशिष्ट संगठन था जिसे उनमें से कुछ ने अंग्रेजों के सम्पर्क में आने से पहले तक ज्यों-का-त्यों सुरक्षित रखा था। "यहाँ तक कि ब्रिटिश सम्पर्क, जिसने हिन्दुओं के साथ उनके सम्पर्क को और भी तेज़ी प्रदान की, के बाद भी उनमें से कुछ जनजातीय समुदायों ने, विशेष रूप से उन्होंने जिनकी जीवन-शैली पुराने सामाजिक संगठन से प्रभावित थी, अपनी परंपराओं को सुरक्षित रखा। दूसरों ने चाहे वे हिन्दुओं के प्रभाव में थे या नहीं, अपने पुराने सामाजिक संगठन को बिल्कुल तो नहीं खत्म किया किन्तु उसमें पहले जैसी शक्ति और जीवन्तता नहीं रहीं।" (घुर्ये, 1963)। आइए, पहले हम उनके सामाजिक एवं आर्थिक संगठन पर और फिर उनके फलस्वरूप पैदा होने वाली समस्याओं पर विचार करें।

(1) अधिकतर जनजातियाँ अनगढ़ खेती करती रहीं हैं। इसे "झूम-कृषि" अथवा अलग-अलग बोलियों में अलग-अलग नामों से पुकारा जाता है। "झूम-कृषि" में बहुत कम मेहनत या देखभाल करनी पड़ती है, किसी महत्त्वपूर्ण वस्तु या बल कीं जरूरत भी नहीं पड़ती। इसमें वर्षा ऋतु के पहले कुदाल या कुल्हाड़ी से वन-भूमि पर लगे पेड़ व झाड़ काट डाले जाते हैं, फिर उनमें आग लगाकर उन्हें राख में बदल दिया जाता है। इसके बाद उस भूमि पर मनमाफ़िक बीजों को छितरा दिया जाता है और सब कुछ प्रकृति पर छोड़कर फ़सल की प्रतीक्षा की जाती है। भोजन की कमी की पूर्ति के लिए वे लोग जंगल से सभी प्रकार के खाने योग्य कन्द-मूल और फल एकत्र करते या फिर अपने प्रिय जानवरों का शिकार करते हैं।

(2) इसके अलावा ज्यादातर जनजातीय समुदाय मद्यपान के आदी हैं। पहले वे अपने स्थान पर ही चावल, महुआ के फूल तथा अन्य अनेक वस्तुओं की शराब बनाते और पीते थे। बाद में वे हर तरह की खींची हुई शराब पीने लगे। जौनसारी, भील, गोंड तथा अन्य बहुत-सी जनजातियों में सामूहिक मदिरापान का चलन है। यहाँ तक कि बच्चे भी आजादी के साथ शराब का सेवन करते हैं। बहुत हद तक स्थानीय परिस्थितियाँ और परिवेश इसके लिए जिम्मेदार हैं। मदिरा उनके धार्मिक अनुष्ठानों और सामाजिक कर्मकाण्ड का भी एक आवश्यक अंग है।

(3) ईसाई धर्म प्रचारकों के सम्पर्क ने बिहार व झारखंड और देश के उत्तर-पूर्वी प्रदेशों को जनजातियों की आध्यात्मिक दुनिया को नष्ट-भ्रष्ट करके उन्हें विभ्रम में डाल दिया। अपने देवी-देवताओं में उनकी जो आस्था थी वह डगमगा गयी; जनजातीय मान्यता की सभी बातों को ईश्वर विरोधी बताया गया।

(4) विवाह और उत्तराधिकार संबंधी रीति-रिवाज प्रत्येक जनजाति में उनके अपने और अलग-अलग हैं। सामाजिक मान्यताप्राप्त उनकी प्रथाओं और रूढ़ियों को सही तरीके से नहीं समझा गया और उन लोगों को उन कार्यों के लिए भी दण्डित किया गया ज़ो उनकी परंपराओं के अनुसार उचित और सामाजिक मान्यताओं के अनुकूल थीं। नतीजा यह हुआ कि इस प्रकार के कार्यों से उनकी भावनाओं को गहरी चोट पहुँची।

(5) स्वाभाविक है कि जनजातियों के लोग निरक्षर रहे हैं। जब-जब उनके शैक्षिक उत्थान के लिए विभिन्न योजनाएँ अपनायी गयीं तब-तब उनकी अपनी मातृभाषाओं में उन्हें प्रारंभिक शिक्षा देने का कोई खास ख्याल नहीं रखा गया, यहाँ तक कि अनौपचारिक शिक्षा भी नहीं।

"कष्टप्रद आर्थिक स्थितियों के परिणामस्वरूप अधिकांश भारतीय आदिम जनजातियों के जीवन-मृत्यु संघर्ष पर टिप्पणी करते हुए डी. एन. मजूमदार (1938) ने उसके ग्यारह कारण बताये हैं। : (1) आबकारी कानूनों ने उन पर मर्मान्तक चोट की। (2) प्रशासन में मौजूद लोगों द्वारा जनजाति अधिकारियों के तबादलों ने जनजातीय जीवन को सभी मामलों में विघटित कर दिया। (3) 'झूम' खेती में इस्तेमाल होने वाली समस्त भूमि जनजातियों से छीन ली गयी। (4) अपने स्वामित्व की भूमि के उत्खनन पर रोक या फिर उसके लिए भारी लाइसेन्स फीस की अदायगी। (5) ज्यादातर क्षेत्रों में "झूम-कृषि" को निषिद्ध कर दिया गया। विवश होकर उन्हें

खेती के उस तरीके को अपनाना पड़ा जो उनके लिए बिल्कुल ही अनुकूल नहीं है या जिसके लिए उन्हें उन अनुष्ठानों या बलि देने संबंधी कर्मकाण्डों की पर्याप्त जानकारी नहीं है जिससे खेती के देवता 'प्रसन्न' होकर अच्छी फसल प्रदान करते हैं। (6) भारतीय दण्ड संहिता के अंतर्गत 'अपहरण विवाह' को जर्म माना गया। यह प्रथा भारी वधू-धन की अदायगी से बचने के लिए आमतौर से अपनायी गयी थी और यह विकल्प बहुत अच्छे ढंग से चल भी रहा था। इस प्रथा को कानूनन दण्ड के योग्य जुर्म मानने से उनकी सामाजिक मजबूती का उन्मूलन होगा और फलस्वरूप प्रजातीय असमन्वय पैदा होगा। यह हम जानते हैं कि जनजातीय समाज में देर से या अधिक आयु में विवाह करने का रिवाज हैं और प्रत्येक जनजाति-समुदाय में ऐसे व्यक्तियों की बड़ी संख्या है जिनमें मौजूदा सामान्य परिस्थितियों में विवाह करने का सामर्थ्य नहीं है। (7) मेले और साप्ताहिक बाजार, जिनकी ओर उनका समाज उत्तरोत्तर आकर्षित हुआ, जनजाति समुदाय का वित्तीय दृष्टि से विनाश कर रहे हैं। (8) शिक्षा जो उन्हें दी जा रही है, लाभ पहुँचाने के बजाय उनके लिए अपेक्षाकृत अधिक हानिप्रद सिद्ध हुई है। (9) न्यायिक अधिकारी, उन्हें संतोषप्रद न्याय दिलाने में असफल रहे हैं। (10) मिशनरी पादरियों के प्रयासों ने उनमें अपनी संस्कृति के लिए भयानक निराशा और उन वस्तुओं के लिए जर्बदस्त लालसा पैदा कर दी है जिन्हें प्राप्त करने के लिए उनके पास कोई साधन नहीं है। (11) विभिन्न प्रकार के सम्पर्कों में आने के कारण जनजातीय लोगों में अनेक प्रकार के ऐसे नये रोग पैदा हो गये हैं जिनके इलाज के लिए उनका सीमित, स्थानीय एवं परंपरागत औषधि ज्ञान अपर्याप्त सिद्ध हुआ है। सरकार की ओर से प्रदत्त चिकित्सा सुविधाएं नगण्य हैं।

ए. वी. ठक्कर, जो "ठाक्कर बापा" के नाम से प्रसिद्ध थे और जनजातियों के 'कल्याण' के हंगामेबाज उद्घोषक माने जाते हैं, ने एक सामाजिक कार्यकर्त्ता के तरीके से स्थिति की सीधी और दो-टूक विवेचना की। उनके अनुसार आदिवासियों की समस्या निम्नलिखित बातों में वर्गीकृत की जा सकती हैं :—

(1) गरीबी (2) निरक्षरता (3) अस्वास्थ्य (4) आदिवासी क्षेत्रों तक पहुँचने की दुर्गमता (5) प्रशासन के दोष और (6) नेतृत्व का अभाव।

एक नृविज्ञानी और एक सामाजिक कार्यकर्त्ता की प्रतिक्रियाओं को देखने के बाद हम हट्टन के दृष्टिकोण पर विचार करेंगे। हट्टन आदिवासियों के मामलों में अंग्रेजों की नीति के पक्षपोषक थे। उनके अनुसार, आदिवासियों की सर्वाधिक नृशंस और बर्बर प्रथाएं समाप्त कर दी गयीं, परस्पर युद्धों को रोका गया। आधुनिक चिकित्सा प्रणाली का सूत्रपात किया गया और उससे शिशु-मृत्यु संख्या कम हुई। उन्हें पढ़ने-लिखने की

कला से परिचित कराया गया और सड़कों, डाकघर आदि के जरिए उन्हें मिलने-जुलने और संचार की सुलभ सुविधाएं प्रदान की गयीं। फिर भी, जिन बुराइयों और खराबियों का शिकार आदिवासियों को होना पड़ा वे ब्रिटिश शासन के दो किंचित् भिन्न पक्षों से आईं :

(i) ऐसी प्रशासकीय पद्धति का प्रारम्भ जो उनकी विशेष आवश्यकताओं को समझने या उन पर ध्यान देने में पूरी तरह असफल रहा।

(ii) इन आदिम जनजातियों की स्थितियों में सुधार करने की सद्इच्छा से उठाए गये खरे कदम।

"तीन बड़ी ख़राबियाँ इन सूत्रों से आईं। (क) भूमि की हानि और आदिम जनजातियों के गाँव के स्थानीय मुखिया के स्थान पर बाहरी आदमी को बैठा देना। यह कार्य ख़ास तौर से मैदान से आये हिन्दुओं ने किया चाहे वे किसान, महाजन, व्यापारी अथवा केवल भूमि हड़पने वाले थे। (ख) जीवन निर्वाह के साधनों की हानि और अन्य बुराइयाँ। (ग) आदिवासी एकता एवं उनके परस्पर निर्भर सामाजिक संगठन का ह्रास।" जनजातीय समुदायों की दुर्दशा के विवेचन के बाद हम जनजाति समाज की समस्याओं से संबंधित उन तीन प्रमुख दृष्टिकोणों पर पुनः विचार करते हैं जिससे उनके प्रभाव का मूल्यांकन हो सके।

पहले दृष्टिकोण के प्रवक्ताओं का मत है कि सभी बाहरी संबंध जो आधुनिक दुनिया से अनियंत्रित और अनियमित सम्पर्क के लिए जिम्मेदार हैं और जिसके परिणामस्वरूप आदिम जन-समुदाय का जीवन दयनीय बन गया है, कतई खत्म कर देने चाहिए और आदिम समुदाय को अपने आदिम परिवेश और परिस्थितियों में पुष्पित, पल्लवित और फलित होने के लिये मुक्त छोड़ देना चाहिए।

इस दृष्टिकोण में वह नया विचार और शामिल है जो आज वेरियर एल्विन के व्यापक रूप से "नेशनल पार्क सिद्धान्त" के नाम से प्रसिद्ध हैं। उसका सुझाव था कि पहली आवश्यकता "नेशनल पार्क" की स्थापना करने की है जहाँ न केवल "बैगा" बल्कि उनके पड़ोसी सीधे-सरल गोंड भी हजारों की संख्या में शरण लें। इस कार्य के लिए अत्यधिक बड़ा और विस्तृत क्षेत्र पृथक् करके उसे सीमाबद्ध किया जाना चाहिए। यह क्षेत्र सीधे जनजाति कमिशनर के नियंत्रण में होना चाहिए और इस कमिशनर को उनमें उसी प्रकार विशेषज्ञ की भूमिका अदा करनी चाहिए जैसा कि "हो और संथालों" के मामले में हुआ था अर्थात् उसे विभिन्न आदिवासी समूहों के मुखियों के जरिए काम करना चाहिए। गैर-जिम्मेदार दुःसाहसियों के शोषण से आदिवासियों के रक्षार्थ गैर-आदिवासी लोगों के लिए उस क्षेत्र में प्रवेश के लिए लाइसेन्स जारी करने

की पद्धति जैसे सभी यथारीतिं कदम उठाये जाने चाहियें। संक्षेप में, वहाँ का प्रशासन इस ढंग का होना चाहिए कि आदिवासी अपने जीवन को यथासम्भव अधिकतम प्रसन्नता और स्वतंत्रता से जी सकें। किसी भी धर्म के प्रचारक को उस क्षेत्र में जाने और आदिवासी जीवन शैली में व्यवधान पैदा करने की इजाजत नहीं देनी चाहिए। इस दृष्टिकोण की इस आधार पर बड़ी खरी और गम्भीर आलोचना की गई है कि आदिवासियों की संस्कृति की रक्षा के नाम पर उन्हें शेष भारत से अलग-थलग नहीं किया जा सकता। वे काई पालतू-पशु या प्राणि-उद्यान के प्रदर्श नहीं हैं। इसके विपरीत वे स्वतंत्र भारत के एकसमान नागरिक हैं और इस नाते उन्हें अपने देश की प्रगति में योगदान करने तथा परिणामतः विकास एवं स्वतंत्रता के लाभों का उपयोग करने का पूरा अधिकार है।

दूसरे दृष्टिकोण अर्थात् परिपाचन को चूँकि सामाजिक कार्यकर्त्ताओं द्वारा उसके पक्ष में काफी प्रचार किया गया था, अपेक्षाकृत अधिक समर्थन प्राप्त हुआ। परिपाचन अर्थात् आत्मसातीकरण के हिमायतियों ने यह विचार प्रस्तुत किया कि आदिम समुदाय को उनके पड़ोसी गैर-आदिवासी निवासियों की संस्कृति के साथ घुलने-मिलने की प्रक्रिया को बढ़ावा देना चाहिए। पूर्ण आत्मसात की नीति भारतीय इतिहास की प्रवृत्तियों से मेल भी नहीं खाती। हज़ारों वर्षों के सांस्कृतिक सम्पर्क और परस्पर सांस्कृतिक आदान-प्रदान के बावजूद भारतीय समाज पूर्णतः एकरूप नहीं हो पाया। यह सही है कि कुछ ऐसे सांस्कृतिक लक्षण अवश्य उभरे हैं जो सच्चे अर्थों में "राष्ट्रीय" हैं किन्तु यह भारतीय समाज के ऐतिहासिक विकास का उप-परिणाम ही कहा जायेगा। फिर भी, इस तथ्य से इंकार नहीं किया जा सकता कि भारतीय समाज का निर्माण संथाल, गोंड, उड़िया, तेलुगू, कश्मीरी आदि अनेक सांस्कृतिक धाराओं के मिलन से हुआ है। ऐसी स्थितियों में जनजातियों की संस्कृति के पूर्ण आत्मसात को उनकी समस्याओं का समाधान कहना अनुचित भी है और एक असम्भव प्रयास भी है। बलात् आत्मसात या उसे भाग्य के साथ जोड़ने की बात में निरंकुशता की गंध भी आती है।

जवाहर लाल नेहरू ने बड़े स्पष्ट शब्दों में भिन्न परंपराओं में पली जनजातियों की आबादी पर हिन्दू जीवन-शैली लादने की कड़ी भर्त्सना की थी। जनजातियों के प्रति अपनी तीव्र संवेदना तथा उनकी समस्याओं के प्रति अपनी गहरी दिलचस्पी के कारण जनजातीय समाज के प्रति भारत सरकार का दृष्टिकोण राष्ट्रीय एकता, समन्वय और समाकलन पर आधारित रहा है।

नृ-विज्ञानियों ने भी समानता और परस्पर सम्मान के आधार पर जनजातियों की आबादी का भारत की शेष आबादी के साथ समाकलन के दृष्टिकोण को आगे बढ़ाया

है। समन्वित एकीकरण और बलात् परिपाचन के बीच के अंतर का स्पष्टीकरण किया जाना चाहिए। हमारे यहाँ अनेक भाषाई और धार्मिक समूह हैं जिनको भारतीय राष्ट्र के निर्माण के लिए समन्वित और एकीकृत किया जा रहा है। इस कार्य में कोई भी यह माँग नहीं कर रहा है कि अल्पसंख्यक अपनी संस्कृति, पहचान त्याग कर बहुमत में आत्मसात हो जायें। अधिक सार्थक और दीर्घजीवी एकता, कदाचित तभी हो सकेगी जब प्रत्येक अल्पसंख्यक समुदाय अपने को सुरक्षित समझेगा, जब अनेकता के भारतीय समाज में लोग हिन्दू, मुसलमान, सिख, ईसाई आदि के रूप में रह सकते हैं, जब यहाँ का व्यक्ति तमिल, उड़िया, गुजराती, बंगाली या पंजाबी के रूप में अपना अस्तित्व बनाये रख सकता है तब यहाँ कोई व्यक्ति संथाल, गोंड, थारु, मीना और येनाडी कहलाता हुआ पूरे सम्मान और गौरव के साथ क्यों नहीं रह सकता? एकता का फूल अंदेशों की परछाई में नहीं खिलता। कोई भी अनेकतापूर्ण समुदाय अपने यहाँ अल्पसंख्यकों को असंतुष्ट, अशांत, विपन्न और निराश रखते हुए देश की सामंजस्यपूर्ण सर्वतोमुखी उन्नति करने की आकांक्षा नहीं कर सकता। इस प्रकार वांछित एकता के लिए आदिवासियों की भाँति गैर-आदिवासियों को भी शिक्षा की आवश्यकता है।

# 13

# प्रमुख समस्यायें

## (i) ऋणग्रस्तता (Indebtedness)

भारतीय जनजातियों की समस्याओं में संभवतः ऋणग्रस्तता की समस्या सबसे जटिल है, जिसके कारण जनजातीय लोग साहूकारों के शोषण का शिकार होते हैं। ठेकेदारों तथा अन्य लोगों से सीधे सम्पर्क के कारण उत्तरपूर्व के कुछ क्षेत्रों को छोड़कर समस्त भारतीय जनजातीय जनसंख्या ऋणों के बोझ से दबी हुई है।

इस ऋणग्रस्तता का कारण है, निर्धनता, भुखमरी तथा दुर्बल आर्थिक व्यवस्था। नृजातीय अध्ययनों तथा प्रमाणों से यह स्पष्ट पता चलता है कि ठेकेदारों तथा अन्य लोगों के द्वारा इनके क्षेत्रों में हस्तक्षेप से पूर्व ये जनजातियाँ इतनी दुर्बल, निर्धन तथा विवश नहीं थीं। ये लोग आर्थिक रूप से आत्मनिर्भर थे। वन सम्पदा पर इनका अधिकार था। दुर्भाग्यवश जब आर्थिक विकास की योजनाओं के अन्तर्गत जनजातीय क्षेत्रों में विकास का झोंका आया तथा इनके क्षेत्र सभी प्रकार के लोगों के लिए खोल दिये गए, तो विकास का लाभ उठाने के लिए ये जनजातियाँ तैयार नहीं थीं। प्रशासन के संगठित प्रयास की अनुपस्थिति में बाहरी तथा तथाकथित सभ्य लोगों ने इन जनजातियों की संवेदनशीलता का भरपूर लाभ उठाया। समय के साथ-साथ ये जनजातियाँ कठिन स्थितियों में पहुँच गयीं जिनमें आज रही हैं। यद्यपि हमारे पास ऋणग्रस्तता से संबंधित वैज्ञानिक तरीकों से इकट्ठा किये गए आँकड़े बहुत कम हैं फिर भी यह कहा जा सकता है कि यह समस्या गंभीर है। जनजातियों में ऋणग्रस्तता के आर्थिक पक्ष के साथ सामाजिक व मनोवैज्ञानिक पक्ष भी महत्त्वपूर्ण हैं। ये लोग समस्त प्रणाली में प्रसन्नता या शांतिपूर्ण जीवन की आशा छोड़ चुके हैं। बहुत से क्षेत्रों में ये जनजातीय लोग ऋणग्रस्तता के कारण ऋणबंधक होने पर विवश होते हैं तथा यह बंधन पीढ़ी दर पीढ़ी चलता है। अधिकतर जनजातियों में ऋणबंधक होना इनके जीवन का अभिन्न अंग बन चुका है। सभी जनजातीय समुदायों की ऋणग्रस्तता के कुछ मुख्य कारण हैं :—

(1) भूमि तथा वनों पर जनजातीय अधिकारों का हनन

(2) कृषि के पुराने तरीकों के कारण कम उत्पादन

(3) उपेक्षा तथा ज़हालत

(4) विवाह, मृत्यु, मेलों तथा उत्सवों में अपनी क्षमता से अधिक व्यय करने की प्रवृत्ति

(5) भाग्यवादी प्रवृत्ति व संकुचित विचारधारा

(6) बिरादरी से निष्कासित किये जाने के भय से जुर्मानों के संबंध में पंचायत के आदेशों का पालन।

उपरोक्त स्थितियों के कारण जनजातीय लोगों को सदैव रुपये की आवश्यकता रहती है, जिसके कारण यह लोग आसानी से साहूकारों के शोषण का शिकार हो जाते हैं। समय-समय पर लिये गए ऋण, जिनकी ब्याज दरें बहुत अधिक होती हैं मिलकर ऐसी धनराशि में परिवर्तित हो जाते हैं जिसे वापस करना इनके सामर्थ्य से परे होता है, जिसके फलस्वरूप इनकी भूमि साहूकारों द्वारा ले ली जाती है। "आर्थिक विकास के किसी भी कार्यक्रम का जनजातीय व्यवस्था पर तब तक कोई प्रभाव नहीं पड़ेगा जब तक उन्हें साहूकारों के चंगुल से बचाने की समुचित व्यवस्था न की जाये।" (जनजातीय विकास पर अध्ययन कर रहे दल की रिपोर्ट, 1969)। कुछ क्षेत्रों में धन के अतिरिक्त वस्तुयें उधार लेने का भी प्रचलन है। यह प्रचलन विशेषतया त्रिपुरा तथा महाराष्ट्र में अधिक है। महाराष्ट्र में इस प्रथा को पलेमोड के नाम से जाना जाता है। इस प्रथा के अन्तर्गत ये लोग बुवाई के समय बीच उधार लेते हें तथा फसल होने पर बीज की मात्रा का तिगुना या चौगुना अनाज वापस करते हैं। खाने के लिए लिया गया अनाज भी इसी प्रकार वापस किया जाता है। इस प्रकार फसल के समय उपज का मुख्य भाग या पूरी उपज साहूकार को मिल जाती है। इसी से मिलती-जुलती परंपरा त्रिपुरा में भी प्रचलित हैं जिसे 'ददान' कहते हैं। लेनदार पहले से ही सारी फसल बहुत कम दरों पर क्रय कर लेता है।

## साहूकार की भूमिका

जनजातीय लोगों को महाजनों के चंगुल से छुड़ाने में विभिन्न सरकारी तथा अर्द्ध-सरकारी संस्थाओं द्वारा किये गए प्रयासों की असफलता के कारणों को समझने के लिए साहूकारों की भूमिका का अध्ययन करना आवश्यक हैं।

पारंपरिक साहूकारों की कार्य पद्धति जनजातीय लोगों के लिए बहुत आसान तथा सरल है। ये साहूकार, अधिकतर इन्हीं जनजातियों के बीच ही रहते हैं। धन की आवश्यकता पड़ने पर जनजातीय लोगों को बहुत दूर नहीं जाना पड़ता तथा साहूकारों

के द्वार इनके लिये सदैव खुले रहते हैं। साहूकार इन्हें बिना किसी शर्त के ऋण दे देता है अधिकतर इनके पास गिरवी रखने या सुरक्षा के रूप में देने के लिए कुछ नहीं होता। अपनी आय तथा थोड़ी बहुत भूमि की सहायता से ऋण चुकाने का निश्चय इनके मन में होता है। साहूकार इस निश्चय को एक निधि के रूप में मान्यता देते हैं। परन्तु कहीं-कहीं इन्हें अपनी भूमि गिरवी रखनी पड़ती है। मध्य प्रदेश व छत्तीसगढ़ के कुछ जनजातीय क्षेत्रों में यह प्रथा है। औपचारिकताओं तथा कागजी कार्यवाही के नाम पर इन्हें एक सादे कागज पर या किसी मसौदे पर अंगूठा लगाना होता है, जिसे यह लोग पढ़ नहीं सकते।

राज्य सरकारों द्वारा स्थापित सहकारी ऋण समितियों की तुलना उपरोक्त ऋण प्रणाली से की जाय तो सर्वप्रथम यह बात सामने आती है कि अधिकतर समितियाँ जनजातीय बस्तियों से दूरी पर स्थित हैं। ऋण लेने वाले को तमाम उबाऊ औपचारिकताओं को पूरा करने के साथ-साथ गारण्टी लेने वाले को भी इन्हीं स्थितियों से गुजरना पड़ता है। ऋण के लिए प्रार्थना पत्र देने तथा ऋण मिलने में अक्सर दो महीने तक लग जाते हैं तथा भ्रष्ट अधिकारी रिश्वत भी माँगते हैं। इन सबके अतिरिक्त ये सहकारी समितियाँ केवल उत्पादक उद्देश्यों के लिए ही ऋण देती हैं जबकि निर्धन व परेशान हाल जनजातीय लोगों को जीवनयापन के लिए, उपभोग के लिए तथा विभिन्न सामाजिक रीतिरिवाजों को पूरा करने के लिए भी ऋण की आवश्यकता होती है। साहूकार किसी प्रकार की शर्त नहीं रखता या सभी उद्देश्यों के लिए ऋण दे देता है।

साहूकार द्वारा व्यक्तिगत संबंध बनाये रखना भी एक महत्त्वपूर्ण तथ्य है। वह जनजातीय भाषा बोलता है, सम्पूर्ण परिवार के बारे में भलीभाँति जानता है तथा इन लोगों की उन स्थितियों से अवगत रहता है जब इन्हें धन की आवश्यकता होती है।

## ऋणग्रस्तता के परिणाम

अधिकतर जनजातीय जनसंख्या अशिक्षित है जिसके कारण इन्हें यह पता नहीं रहता कि साहूकार के खातों में क्या प्रविष्टियाँ की गई हैं। साहूकार की इच्छानुसार ये लोग अंगूठा लगा देते हैं जिससे हमेशा के लिए इनके भाग्य का निर्णय हो जाता है। अधिकतर ऋण के मामले मौखिक रूप से तय होते हैं जिनके कारण ये लोग न्यायालय में भी नहीं जा सकते। इन मामलों में भी ऋण लेने वाले ही परेशान होते हैं। जिन मामलों में लिखा-पढ़ी नहीं की गई है, उन खातों में खूब बढ़ा-चढ़ा कर प्रविष्टियाँ की जाती हैं। ये लोग यदि ग्राम पंचायत का सहारा लें तब भी कोई लाभ नहीं होता क्योंकि ग्राम पंचायत भी साहूकारों का ही पक्ष लेती है। विभिन्न जनजातीय

क्षेत्रों के अध्ययन से यह पता चलता है कि ऋणग्रस्तता के कारण बहुत से जनजातीय लोग बंधुआ मजदूर बन जाते हैं तथा उनकी भूमि भी चली जाती है। ऐसी परिस्थितियों में ऋण लेने वाले निम्न परिणामों का शिकार होते हैं :–

(1) स्वतंत्रता की समाप्ति अथवा उनकी श्रमशक्ति का साहूकारों द्वारा मनमाना प्रयोग।

(2) भूमि का हस्तांतरण तथा ऋणदाता द्वारा अधिग्रहण।

(3) युवतियों की विकृत वेश्यावृत्ति;

(4) यौन बीमारियाँ।

बढ़ते ऋणों के बोझ से दबे ये ऋणी जिन्हें साहूकारों या जमींदारों ने बंधुआ मजदूर बना लिया है, इस ऋणग्रस्तता से बाहर निकलने में असमर्थ हैं। उन्हें अब जीवन में किसी प्रकार की कोई आशा नहीं होती। जीवन के आर्थिक मूल्यों को उनके लिए अब कोई महत्त्व नहीं रह जाता है जौनसार बावर (उत्तराखंड) की कोल्टा जनजाति इन स्थितियों का ज्वलंत उदाहरण है।

## वैधानिक क़दम व मुक्ति के प्रयास

संविधान की पाँचवीं अनुसूची राज्य के राज्यपाल को जनजातीय क्षेत्रों में साहूकारों तथा ऋणदाताओं के व्यवसाय को जनजातीय क्षेत्रों में नियमित करने का अधिकार देती है। इस प्रावधान के अन्तर्गत राज्य सरकारों ने विभिन्न नियमों, अधिनियमों की संरचना की है। ऋण से मुक्ति तथा ऋण बंधन के उन्मूलन के नियंत्रण के संबंध में विभिन्न राज्यों द्वारा बनाये गये कुछ महत्त्वपूर्ण नियम निम्नलिखित हैं :–

(1) आन्ध्र प्रदेश अनुसूचित क्षेत्र साहूकार विनियम, 1963

(2) एजेंसी ऋण बंधन उन्मूलन, 1964

(3) असम साहूकार विनियम, 1968

(4) बिहार महाजन (लेनदेन का नियमन) अधिनियम, 1939

(5) बम्बई कृषि ऋणदाता सहायता अधिनियम, 1947

(6) केरला महाजनी अधिनियम, 1958

(7) मध्य प्रदेश अनुसूचित जनजाति ऋणी सहायता अधिनियम, 1966

(8) मद्रास ऋणग्रस्त कृषक (ऋण की वापसी) अधिनियम, 1955

(9) मैसूर अधिव्यवसायी (पॉन ब्रोकर्स) अधिनियम, 1961

(10) उड़ीसा साहूकार (निश्चित प्रावधानों का क्रियान्वयन) विनियम, 1950

(11) राजस्थान सगरी प्रथा उन्मूलन अधिनियम, 1961 (परिशिष्ट में इन नियमों, विनियमों तथा अधिनियमों की विस्तृत सूची संलग्न हैं।)

विभिन्न संस्थाओं के अध्ययन से यह पता चलता है कि इन अधिनियमों के बाद भी जनजातियों का शोषण लगातार हो रहा है। नियमों तथा विनियमों का उल्लंघन किया जा रहा है तथा साहूकार अपने ऊपर लगाये गये नियंत्रणों पर बहुत कम ध्यान देते हैं। अनुसूचित क्षेत्र व अनुसूचित जनजाति की रिपोर्ट के साथ-साथ योजना आयोग के अध्ययन दल की रिपोर्ट भी उपरोक्त तथ्यों की पुष्टि करती है। इन स्थितियों के कारण निम्नलिखित हैं :–

(अ) बंधुआ मजदूरी की प्रथा से जनजातियों को बचाने के लिये पाँचवीं अनुसूची में किये गये सुरक्षात्मक प्रावधानों का राज्य सरकारों ने समुचित उपयोग नहीं किया।

(ब) साहूकारों द्वारा नियमों के उल्लंघन पर राज्य सरकार दंड प्रावधानों के प्रभावी उपयोग करने में असमर्थ रहीं।

(स) सुरक्षात्मक प्रावधानों के क्रियान्वयन तथा मुक्ति दिलाने की इच्छा तथा समर्पण में कमी के कारण आज भी इन साहूकारों द्वारा इन जनजातियों का शोषण हो रहा है।

जनजातीय विकास कार्यक्रमों पर योजना आयोग के अध्ययन दल की रिपोर्ट ने इस स्थितियों को स्पष्ट रूप से उजागर किया है। इसके अनुसार ऋणग्रस्तता को समाप्त करने के लिये दोहरी नीति का पालन किया जाना चाहिये। एक ओर साहूकारों के चंगुल से मुक्ति दिलाने के लिए जनजातियों को दीर्घकालीन ऋण प्रदान करने चाहियें तथा दूसरी ओर उनकी आर्थिक स्थितियों में सुधार लाकर उन्हें ऋण वापस करने में सक्षम बनाना चाहिये। सहकारी ऋण संस्थाओं को इन जनजातियों के बीच में कार्य करने के साथ-साथ ऋण प्राप्त करने की औपचारिकताओं को भी सरल बनाना चाहिए। इन परिवर्तनों से जनजातीय लोग सहकारी सहितियों द्वारा ऋण वितरण की सुविधा से अधिक लाभान्वित हो सकेंगे। इन सबके अतिरिक्त सबसे महत्त्वपूर्ण पक्ष है राजनीतिक इच्छा, जो लोग जनजातीय कल्याण कार्यों में लगे हैं उनकी ईमानदारी तथा उनका समर्पण भी बहुत महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाता है। इस गम्भीरता, ईमानदारी तथा समर्पण की कमी होने पर कोई भी नियम या प्रावधान प्रभावी नहीं हो सकता।

## (ii) भूमि हस्तांतरण (Land Alienation)

नवीनतम आँकड़ों के अनुसार जनजातीय जनसंख्या का लगभग 88 प्रतिशत भाग कृषक है। जनजातियों का अपनी भूमि से बहुत भावनात्मक लगाव रहता है। जीवनयापन के लिये कृषि ही एक ऐसा साधन है जिस पर ये लोग सदियों से निर्भर हैं। अनुसूचित क्षेत्रों व अनुसूचित जनजाति आयोग की रिपोर्ट में इन स्थितियों का वर्णन स्पष्ट रूप से किया गया है। इस रिपोर्ट के अनुसार मैदानों में रहने वालों की भाँति जनजातीय लोग भी भूमि के स्वामित्व की तीव्र इच्छा रखते हैं। झूम भूस्वामी होने के और विभिन्न कारण हैं। अस्थायी कृषकों की संख्या लगातार बढ़ रही हैं तथा झूम का दायरा सिकुड़ रहा है तथा इसके साथ स्थायी कृषकों की भी संख्या में वृद्धि हुई है। बढ़ती जनसंख्या के कारण भूमि की माँग में वृद्धि हुई है।

हमारे देश में प्रति व्यक्ति भूमि एक एकड़ से भी कम है। जबकि यह दर अमेरिका में 7.5 एकड़ तथा रूस में 4.5 एकड़ है। कृषि पर निर्भर प्रत्येक व्यक्ति के पास औसत रूप से 1.6 एकड़ भूमि है। यह औसत विभिन्न क्षेत्रों में अलग-अलग है।

| | |
|---|---|
| उत्तरी क्षेत्र | 1.01 एकड़ |
| पूर्वी क्षेत्र | 1.25 एकड़ |
| दक्षिणी क्षेत्र | 1.17 एकड़ |
| पश्चिमी क्षेत्र | 2.29 एकड़ |
| मध्य क्षेत्र | 2.57 एकड़ |
| उत्तर-पश्चिमी क्षेत्र | 2.59 एकड़ |

आँकड़ों की कमी के कारण प्रत्येक क्षेत्र में जनजातियों की भूमि का अलग-अलग निर्धारण सम्भव नहीं है, परन्तु विभिन्न राज्यों के कुछ उदाहरणों के द्वारा स्थितियों का अनुमान लगाया जा सकता है। अनुसूचित क्षेत्र तथा अनुसूचित जनजाति आयोग की रिपोर्ट के अनुसार गुजरात विद्यापीठ ने 1959 में गुजरात के साबरकंठा जिले के खेदब्रहम जनजातीय विकास खण्ड में एक सामाजिक-आर्थिक सर्वेक्षण किया। इस सर्वेक्षण से पता चला कि 459 परिवारों में से केवल 12 परिवार भूमिहीन थे तथा प्रत्येक परिवार के पास औसतन 5.32 एकड़ भूमि थी।

मध्य प्रदेश सरकार ने अपने जनजातीय विकास खण्डों के कुछ गाँवों में एक आर्थिक सर्वेक्षण किया है जिससे यह पता चला कि एक परिवार के पास औसतन 15. 59 एकड़ भूमि थी। राजस्थान सरकार द्वारा डूंगरपुर तथा बाँसवाड़ा जिलों में किए गये आर्थिक-सामाजिक सर्वेक्षण से स्पष्ट हुआ कि डूंगरपुर में औसत रूप से 4.95 एकड़ भूमि है। मणिपुर में किये गये ऐसे ही सर्वेक्षण द्वारा यह पता चला कि वहाँ औसत रूप

से प्रति परिवार 2.80 एकड़ भूमि है।

उपरोक्त तथ्यों से स्पष्ट हो जाता है कि सभी जनजातीय क्षेत्रों के भूस्वामित्व में समानता नहीं है। इन जनजातियों की भूमि अधिकतर अनुपजाऊ है यद्यपि इन लोगों की भूमि का क्षेत्र अजनजातीय कृषकों से अधिक है। इससे इन्हें कोई लाभ नहीं होता। इसके कारण हैं : अनुपजाऊ मृदा (Soil), पुरानी तथा घिसी-पिटी तकनीक तथा लगातार बढ़ती ऋणग्रस्तता।

भूमि हस्तांतरण जैसी समस्या के मूल में पहुँचने से पूर्व सामान्य स्थितियों का विवरण देना अनुचित न होगा। संचार व्यवस्था में विस्तार होने के कारण समस्त जनजातीय क्षेत्र बाहरी लोगों के लिये खुल गया। ये बाहरी वर्ग इन क्षेत्रों में अपने-अपने उद्देश्यों व स्वार्थों के साथ प्रवेश कर गया। इनमें से भूमि अधिग्रहण करने वाले शक्तिशाली लोगों ने जनजातियों को सबसे अधिक परेशान किया।

## कारण

धन की कमी भूमि हस्तांतरण के मुख्य कारणों में से एक है। जब से ये जनजातियाँ सभ्य समाज तथा इसकी वित्त संस्थाओं के सम्पर्क में आयीं, धन की कमी के कारण उनकी भूमि का हस्तांतरण बढ़ता गया। विवाह, उत्सवों, कपड़ों, मदिरा तथा अन्य आवश्यकताओं के लिये जनजातीय लोगों को सदैव धन की आवश्यकता रहती है। कम उपज तथा दुर्बल कृषि व्यवस्था के कारण इन्हें खाद्य सामग्री भी बाजार से खरीदनी पड़ती है। इस प्रकार भूमि हस्तांतरण से साहूकारों तथा दुकानदारों के ऋण एक महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। साहूकार इन्हें किसी भी समय, किसी भी उद्देश्य के लिये, बिना शर्त व बगैर जमानत के ऋण देने को तैयार रहते हैं। इन जनजातीय लोगों को केवल एक सादे कागज या किसी मसौदे पर अँगूठा लगाना होता है जिसे ये अनपढ़ आदिवासी पढ़ नहीं सकते। मौखिक बातचीत के द्वारा भी ऋण प्राप्त हो जाता है जो बाद में हानिकारक साबित होता है। इन लोगों को अपनी भूमि गँवाने के साथ-साथ दासता का जीवन व्यतीत करना पड़ता है।

कुछ समय से इन जनजातियों ने राज्य की सहकारी ऋण समितियों से ऋण लेना प्रारंभ किया परन्तु इन सामितियों के साथ उनके अनुभव अच्छे नहीं रहे। अधिकतर सहकारी समितियाँ कम समय के लिये ऋण देती हैं तथा यह ऋण केवल उत्पादक उद्देश्यों जैसे कृषि आदि के लिये ही दिये जाते हैं। जनजातीय लोगों को अपनी अन्य आवश्यकताओं के लिए भी ऋण की आवश्यकता होती है। इसके अतिरिक्त सहकारी समिति का ऋण न चुका पाने की स्थिति में जेल जाने या उनकी संपत्ति जब्त कर लिये जाने की घटनाओं से भी ये लोग डरते हैं। उपरोक्त तथ्यों को ध्यान में रखते हुये ये

लोग बढ़ी हुई ब्याज दरों पर भी साहूकारों से ही ऋण लेना अधिक सुरक्षित समझते हैं।

## उत्तर प्रदेश व उत्तराखंड, बिहार व झारखंड, तथा मध्य प्रदेश व छत्तीसगढ़ की स्थिति

यद्यपि जनजातियों की भूमि हस्तांतरण समस्या पूरे देश में व्याप्त है परन्तु उत्तर प्रदेश व उत्तराखंड, बिहार व झारखण्ड, मध्य प्रदेश व छत्तीसगढ़ में यह अपनी चरम सीमा पर है। अतः इन प्रदेशों की स्थिति को समझने से इस सम्पूर्ण समस्या की विवेचना में सहायता मिलेगी।

छत्तीसगढ़ के सरगुजा जिले की कोरवा जनजाति तथा उत्तराखंड की तराई क्षेत्र की थारु तथा भोक्सा जनजातियाँ भूमि अधिग्रहण व हस्तांतरण की सबसे अधिक शिकार हुई हैं। कोरवा जनजातियों का पूरा क्षेत्र मुस्लिम साहूकारों से भरा पड़ा है जिन्हें मियाँ के नाम से जाना जाता है। ये साहूकार किसी भी समय ऋण देने को तैयार रहते हैं। इनकी केवल एक ही शर्त होती है कि ऋण लेने वाला अपनी भूमि का एक हिस्सा गिरवी रख दे। भुखमरी व निर्धनता के कारण कोरवा लोग ऋण चुकाने में असमर्थ होते हैं जिसके कारण साहूकार इनकी भूमि हड़प लेते हैं। स्थानीय मदिरा की लत भी ऋण लेने का एक महत्त्वपूर्ण कारण है। यद्यपि जनजातियों को आबकारी विभाग ने अपने उपयोग के लिये मदिरा बनाने के छूट दे रखी है फिर भी इन लोगों को साहूकारों की गैर-कानूनी भट्टियों पर बनी मदिरा क्रय करनी पड़ती है। साहूकारों के इस मदिरा व्यवसाय में आबकारी अधिकारियों की मौन सहमति प्राप्त होती है। इस प्रकार एक बार ऋण के घेरे में आने पर कोरवा लोगों के पास अपनी भूमि गँवाने तथा दासता का जीवन व्यतीत करने के अतिरिक्त कुछ नहीं बचता।

उत्तराखंड के तराई क्षेत्र के थारु तथा भोक्सा पंजाबी जमींदारों, साहूकारों तथा व्यवसायियों के शोषण का शिकार हैं जिन्होंने इनकी हजारों एकड़ भूमि हथिया ली है। इस क्षेत्र की जलवायु बाहर के लोगों के अनुकूल न थी। मलेरिया के फैलाव के साथ-साथ जहरीले कीड़े-मकोड़ों से यहाँ की भूमि भरी पड़ी थी। इन कारणों से बाहरी लोग इन क्षेत्रों में नहीं आते थे। इस प्रकार की जलवायु तथा वातावरण के अभ्यस्त थारु तथा भोक्सा लोगों ने जंगलों को साफ़ करके हजारों एकड़ भूमि को उपजाऊ बनाया। सर्वप्रथम बँटवारे के समय बड़ी संख्या में पंजाबी शरणार्थी इन क्षेत्रों में आये। मेहनती पंजाबी शरणार्थियों ने इन जनजातियों की उदासीनता तथा आर्थिक अनिश्चितताओं का लाभ उठाते हुये इनकी भूमि हथिया ली। इन नये पंजाबी

साहूकारों ने भी देश के अन्य लोगों में प्रचलित सस्ती मदिरा उपलब्ध कराने तथा बिना शर्त ऋण देने की प्रणाली को ही अपनाया।

## अन्य तरीके

अनुसूचित क्षेत्र व अनुसूचित जनजाति आयोग की एक रिपोर्ट के अनुसार अन्य बहुत से तरीके हैं, जिनके द्वारा बाहरी लोग जनजातियों की भूमि हड़प लेते हैं। इनमें सबसे प्रचलित तरीका है न्यायालय, जहाँ पर जनजातीय लोग बिल्कुल शक्तिहीन होते हैं। उनकी कोई पहुँच नहीं होती। अपने ही विरुद्ध गवाही देने का तरीका भी प्रचलित है। इसमें साहूकार ऋण लेने वाले को प्रलोभन देकर उसी के विरुद्ध उसी से गवाही दिलवाता है। तीसरा तरीका है 'बाजदावा।' इसके अन्तर्गत ऋण लेने वाला न्यायालय द्वारा जारी की गयी डिग्री को मानने के लिये राजी कर लिया जाता है। चौथी पद्धति में आदिवासी न्यायालय के समक्ष यह स्वीकार करता है कि साहूकार के पास उसकी भूमि लिये गये ऋण की सुरक्षा के रूप में है। ऋणी व्यक्ति के सरल स्वभाव तथा ईमानदार प्रवृत्ति का लाभ उठाते हुये, साहूकार इन्हें उपरोक्त स्वीकृति देने के लिये बहला-फुसलाकर न्यायालय में ले जाते हैं।

इन स्थितियों के कारण स्पष्ट हैं। सबसे महत्त्वपूर्ण कारण है प्रशासनिक उपेक्षा तथा जनजातीय क्षेत्रों की स्थितियों का विस्तृत ज्ञान न होना। जनजातियाँ अधिकतर साहूकारों पर निर्भर रहती हैं। ऐसे साहूकार जो बाहर से आते हैं तथा जिन्हें जनजातियों के सामाजिक ढाँचे को बनाये रखने या उनकी आर्थिक व्यवस्था को सुधारने में कोई रुचि नहीं है। दूसरा कारण है पेचीदा न्याय कानून व्यवस्था, पहले सारे मामले पंचायतों में तय हो जाते थे जिसके कारण इन लोगों को न्यायालय के चक्कर नहीं लगाने पड़ते थे। इन न्यायालयों में अधिक धन व समय दोनों ही की आवश्यकता होती है जो कि जनजातीय लोगों के लिये एक समस्या बन जाती है। इन सबसे बढ़कर ऋण मिलने के अन्य क्षेत्रों की कमी है जिसके कारण ये लोग सदैव साहूकारों के ऋणों तथा एहसानों से दबे रहते हैं।

## मुक्ति के प्रयास/कदम

भूमि हस्तांतरण के तीन मूल कारणों—(अ) न्याय व्यवस्था में कमी (ब) जनजातीय लोगों की उपेक्षा तथा (स) पेचीदा न्याय व्यवस्था को ध्यान में रखते हुये विभिन्न राज्य सरकारें जनजातियों की सहायता के लिये प्रयास कर रही हैं परन्तु असम, मणिपुर तथा मिजोरम के पहाड़ी क्षेत्रों को छोड़कर अन्य स्थानों पर अधिक लाभ नहीं हुआ है।

जनजातियों की भूमि की सुरक्षा के लिये उठाये गये विभिन्न वैधानिक कदमों की चर्चा से पूर्व अनुसूचित क्षेत्र व अनुसूचित जनजाति आयोग की सलाह का अध्ययन करना उचित रहेगा जिसके आधार पर विभिन्न राज्यों ने अलग-अलग नियम बनाये। इस आयोग की मुख्य सलाह थी :

1. "जनजातीय भूमि से संबंधित सभी नियमों के पुनर्वालोकन की आवश्यकता है। जटिल व्यवस्थाओं, जिनके कारण जनजातियों को समुचित सहायता नहीं मिली, का भी परीक्षण होना चाहिये। सभी राज्यों तथा केन्द्र शासित प्रदेशों में लागू नियमों तथा अधिनियमों का पुनर्निरीक्षण होना चाहिये तथा जनजातीय भूमि के अजनजातीय लोगों के पक्ष में हो रहे हस्तांतरण पर कुछ समय के लिये रोक लगनी चाहिये। बहुत से वर्तमान नियमों में संशोधन की आवश्यकता है। यदि इन व्यवस्थाओं में समय लगे तो ऐसी दशा में राज्यपालों को पाँचवीं अनुसूची द्वारा दिये गये अधिकारों का प्रयोग करके तुरन्त नये विनियमों की घोषणा करनी चाहिये।"
2. "हम यह भी सलाह देते हैं कि सभी प्रकार के भू-हस्तांतरण पर रोक होनी चाहिये। किसी भी क्रय, रेहन, उपहार या पट्टे या किसी समझौते के अन्तर्गत जनजातीय लोगों की संपत्ति का अजनजातीय लोगों के पक्ष में हस्तांतरण बिना उपायुक्त या कलेक्टर की अनुमति के मान्य नहीं होना चाहिये। जनजातीय सलाहकार समिति की सलाह से सरकार को नियम बनाने चाहियें जो प्रत्येक क्षेत्र की स्थितियों को ध्यान में रखते हुये उपायुक्त या कलेक्टर की अनुमति पर नियंत्रण रखें।"
3. इस संबंध में उपायुक्त या कलेक्टर द्वारा जारी किये गये आदेशों पर किसी भी प्रकार के वाद या प्रार्थना-पत्र पर रोक होनी चाहिये। न्यायालय को इस प्रकार के विक्रय, रेहन, उपहार या पट्टे से संबंधित मामलों पर ध्यान नहीं देना चाहिये। किसी भी प्रकार की डिक्री (decree) जारी करने से पूर्व यह सुनिश्चित कर लेना चाहिये कि उपायुक्त या कलेक्टर से ऐसे हस्तांतरण की पूर्व अनुमति ली गयी थी या नहीं।
4. उपायुक्त या कलेक्टर को शोषित जनजातीय लोगों के प्रतिनिधित्व पर 12 वर्ष के भीतर किसी भी प्रकार की जाँच करने तथा बिना किसी भुगतान के भूमि वापस दिलाने का अधिकार होना चाहिये। इस प्रावधान के अन्तर्गत सभी प्रकार के भूमि हस्तांतरण (जनजातियों की भूमि का अजनजातीय लोगों के पक्ष में हस्तांतरण) जो 26 जनवरी 1950 के बाद हुये हैं, आने चाहियें।

इन नियमों के पालन तथा लागू करने के लिये समुचित व्यवस्था की जानी चाहिये।

5. "अन्त में, हम यह सलाह देते हैं कि सभी प्रकार के समर्पण या स्वीकृति राज्य सरकार के समक्ष होनी चाहिये जो इनकी भूमि को ट्रस्टी की भाँति अपने पास रखें।"

उपरोक्त सलाह के समय निम्नलिखित नियम लागू थे जो कि अधिक प्रभावी तथा सुरक्षात्मक बनाये जाने के उद्देश्य से या तो संशोधित किये गये या उनमें परिवर्तन किया गया।

1. आन्ध्र प्रदेश अनुसूचित क्षेत्र भूमि हस्तांतरण, विनियम, 1959
2. अनुसूचित क्षेत्र में संपत्ति (किराये में कमी-संशोधन) विनियम, 1951
3. मध्य भारत अनुसूचित जनजाति (भूमि आवंटन एवं हस्तांतरण) विनियम, 1954
4. मध्य प्रदेश भूमि राजस्व कोड, 1959
5. बम्बई काश्तकारी तथा कृषि भूमि सुधार अधिनियम, 1948
6. उड़ीसा अनुसूचित क्षेत्र अचल संपत्ति हस्तांतरण (अनुसूचित जनजाति) विनियम, 1956
7. राजस्थान काश्तकारी अधिनियम, 1955। इत्यादि

(परिशिष्ट भाग में विस्तृत सूची संलग्न है)।

उपरोक्त नियमों को दो भागों में बाँटा जा सकता है। एक तो बाहरी लोगों को जनजातीय भूमि हथियाने से रोकने तथा दूसरे भूमि सुधार के प्रयास करने से संबद्ध हैं। दोनों प्रकार के नियम आवश्यकतानुसार नहीं है। सुरक्षात्मक कानून अधिक लाभप्रद नहीं सिद्ध हुये तथा ऋणों की वैकल्पिक सुविधाओं का समुचित प्रबन्ध न हो सका। भूमि सुधार नियम भी जनजातीय लोगों की सहायता नहीं कर सके क्योंकि इनसे सहायता लेना जनजातीय लोगों को कठिन प्रतीत होता है। परन्तु इन स्थितियों के सबसे अधिक उत्तरदायी हैं प्रशासन की उपेक्षा तथा जनजातियों की स्थिति में सुधार लाने के कार्यों में प्रशासनिक ढील। जनजातियों का शोषण अब भी चल रहा है। कभी ये शोषक लोग प्रशासनिक उपेक्षा का लाभ उठाते हैं तथा कहीं पर इन्हें निम्न स्तर के अधिकारियों के बढ़ते हुए राजनीतिक संबंधों तथा कृषकों के हितों की रक्षा के लिए कार्यरत व्यावहारिक संस्थाओं के बढ़ते हुये प्रभावों के कारण आन्दोलन की स्थितियाँ शीघ्रता से बढ़ रही हैं। नक्सलबाड़ी आन्दोलन या श्रीकाकुलम विद्रोह को

केवल एक संयोग नहीं मानना चाहिये क्योंकि लम्बे समय से शोषित जनजातियों में अब असंतोष व्याप्त हो गया है तथा ये लोग धीरे-धीरे अपने अधिकारों के प्रति जागरूक होते जा रहे हैं।

## (iii) अस्थायी कृषि (Shifting Cultivation)

भारतीय जनजातियों में अस्थायी कृषि का प्रचलन बहुत पुराना है। अस्थायी कृषि का अर्थ है कि कुछ समय तक एक भूमि पर कृषि करना तथा फिर उसे खाली छोड़ देना। इसके अन्तर्गत जंगली ढलानों की सफाई, गिरे हुये पेड़ों तथा पत्तों को जलाना तथा फिर राख से ढकी भूमि पर बीज को छितराने जैसे कार्य होते हैं। इसके बाद सब कुछ प्रकृति पर निर्भर होता है। यह कार्य अधिकतर ग्रीष्म ऋतु से पूर्व प्रारम्भ होता है जबकि पेड़ काटे जाते हैं। गर्मी के मौसम में यह पेड़ व झाड़ियाँ सूख जाते हैं। इनमें आग लगाकर इन्हें जला दिया जाता है, तथा इसी राख पर पहली बरसात के समय बीज बोये जाते हैं। इसके पश्चात इसे प्रकृति की दया पर छोड़ दिया जाता है। एक या दो फसलों के बाद इस भूमि की उपजाऊ शक्ति नष्ट हो जाती है और इसे ऐसे ही छोड़ दिया जाता है तथा कृषि के लिये दूसरा स्थान ढूँढ़ लिया जाता है।

अस्थायी कृषि का इतिहास नवपाषाण काल तक अर्थात् 8,000 से 10,000 वर्ष पुराना है। इसके प्रादुर्भाव को लेकर कई विचारधारायें हैं। प्लाइस्टोसीन युग के तुरन्त बाद बढ़ती हुई जनसंख्या के कारण अधिक खाद्यान्नों की आवश्यकता पड़ी। अधिक खाद्यान्न उपलब्ध कराने के लिये तब के मानव को कृषि का विचार आया होगा। विस्तृत भूमि उपलब्ध थी ही जिन पर अनाज, बाजरा, जौ तथा दाल के बीज फैला दिये जाते थे तथा वर्षा ऋतु के बाद उपज काट ली जाती थी। दो या तीन वर्षों के बाद जब उस भूमि पर उपज कम हो जाती थी तब भूमि के दूसरे टुकड़े पर यही कार्य किये जाते थे। इस प्रकार अस्थायी कृषि का चलन प्रारम्भ हुआ।

लीच (1949) के अनुसार अफ्रीका, एशिया तथा नयी दुनिया के उष्णकटिबंधीय क्षेत्रों में अस्थायी कृषि, कृषि का एक अभिन्न अंग रही है।

भारत में इसका प्रचलन असम के सुदूरवर्ती पहाड़ों, उड़ीसा, मध्य प्रदेश व छत्तीसगढ़ और बिहार व झारखंड में अधिक है। कुछ अन्य भागों में भी इसका सीमित प्रचलन है। यद्यपि अधिकतर क्षेत्रों में इस प्रकार की कृषि को गैर-कानूनी घोषित कर दिया गया है फिर भी इसका प्रचलन सीमित स्तर पर अब भी देखा जा सकता है। भारत में इस प्रकार की कृषि के विभिन्न क्षेत्रीय नाम हैं। असम, मेघालय, त्रिपुरा, मिजोरम तथा अरुणाचल प्रदेश में इसे *झूम* के नाम से जाना जाता है जबकि मध्य प्रदेश में *बेवार* या *दहया* आन्ध्र प्रदेश में 'पोडु' तथा उत्तरी उड़ीसा में 'कोमान' या

'विंगा' के नाम से प्रचलित है। अस्थायी कृषि की समस्या आन्ध्र प्रदेश, उत्तर-पूर्वी क्षेत्र, बिहार झारखंड तथा उड़ीसा में बहुत गम्भीर है।

अस्थायी कृषि उपरोक्त क्षेत्रों में बहुत प्रचलित है तथा इन क्षेत्रों में रहने वालों का जीवन इस पर निर्भर रहता है। परन्तु इसे नियमित रूप से केवल मध्य प्रदेश व उड़ीसा की बैगा जनजाति ने अपनाया है। इनकी पौराणिक कथाओं के अनुसार भगवान ने उन्हें इस प्रकार की कृषि करने का आदेश दिया है। यह विचार धरती को माँ मानने की विचारधारा से उत्पन्न हुआ। उनके अनुसार धरती माँ पर हल चलाकर इसे कष्ट नहीं देना चाहिये। अस्थायी कृषि में किसी प्रकार से भूमि को जोतने की आवश्यकता नहीं होती, इसके कारण धरती माँ बैगा जनजाति को आर्शीवाद देती है। बैगा जनजाति में यह विश्वास है कि हल के प्रयोग से अनेकानेक समस्याएँ उत्पन्न होंगी।

## दो विचार

अस्थायी कृषि वन विभाग की दृष्टि में एक ऐसी बुराई है जिसके कारण वनों की बहुत हानि होती है। अनुसूचित क्षेत्र व अनुसूचित जनजाति आयोग की रिपोर्ट में उड़ीसा के भूतपूर्व वनपालक 'निकलसन' की टिप्पणी को प्रस्तुत किया है।

अस्थायी कृषि से वनों को बहुत हानि होती है। जिन क्षेत्रों में भूमि अधिक है तथा जनसंख्या कम वहाँ पर ऐसी कृषि से कम हानि होती है। वन शोध संस्थान के वनस्पति विज्ञानी एम. एल. बौर ने 1942 में भारतीय विज्ञान कांग्रेस के वनस्पति विज्ञान विभाग को संबोधित करते हुये अपनी अध्यक्षीय भाषण में कहा कि "मनुष्य द्वारा जीवनयापन के लिये अन्वेषित सभी क्रियाओं में सबसे अधिक चिंताजनक है अस्थायी कृषि।" आधुनिक विचारधारा अधिक उदार है तथा अस्थायी कृषि को निश्चित भू-भौतिक स्थितियों के कारण उत्पन्न एक जीवनयापन का साधन मानती है। भूतपूर्व वन महानिरीक्षक एम. डी. चतुर्वेदी के अनुसार " इस विचार को त्यागना चाहिये कि भूमि कटाव (soil erosion) के लिये मुख्यतः अस्थायी कृषि ही उत्तरदायी है। अस्थायी कृषि निश्चित रूप से बुराई है। इस दृष्टिकोण को बदलकर इस प्रकार की कृषि को जीवनयापन के एक तरीके के रूप में मान्यता देनी चाहिये। इसे बुराई समझ कर इसकी निंदा करने के स्थान पर इसे एक प्रकार की ऐसी कृषि प्रणाली मानना चाहिये जिसका उद्भव भूमि की भौतिक स्थितियों के कारण हुआ। बहुत समय से झूमिंग की निंदा की जाती रही है तथा इसे अच्छी दृष्टि से नहीं देखा गया। यह प्रवृत्ति एक प्रकार की हीन भावना को जन्म देती है जिसके कारण किसी भी विकास योजना के क्रियान्वयन के लिये समुचित वातावरण नहीं मिल पाता।"

एक और भूतपूर्व वन महानिरीक्षक एस. एच. हावर्ड के अनुसार इस प्रकार की कृषि को प्रोत्साहन दिया जाना चाहिये। उनके अनुसार यदि कटाई के बीच की समयावधि बढ़ी दी जाय तो मृदा कटाव का खतरा कम हो जायेगा। जे. पी. मिल्स, जो लम्बे समय तक असम के जनजातीय क्षेत्रों में रह रहे हैं, अपने अनुभव के आधार पर यह मत प्रकट करते हैं कि यदि इस प्रकार की कृषि को नियमित कर दिया जाय तो इससे किसी प्रकार की हानि होने का अंदेशा नहीं है तथा इसे सदैव अभ्यास में रखा जा सकता है।

## वास्तविक स्थितियाँ तथा व्यावहारिक पक्ष

उपरोक्त सभी तथ्यों के पश्चात् भी इस वास्तविकता से मुँह नहीं मोड़ा जा सकता कि भारतीय जनजातीय जनसंख्या का लगभग दस प्रतिशत भाग अस्थायी कृषि पर निर्भर है। किसी भी सैद्धान्तिक आधार पर उन्हें उनकी भूमि, जीवनयापन के साधन तथा रहन-सहन के तरीकों से वंचित नहीं किया जा सकता, विशेष रूप से ऐसी स्थिति में जबकि सभी विशेषज्ञ किसी एक विचारधारा से सहमत नहीं है।

मध्य प्रदेश/छत्तीसगढ़ तथा उत्तर-पूर्व के कुछ क्षेत्रों को छोड़कर सभी स्थानों पर अस्थायी कृषि को गैर-कानूनी घोषित कर दिया गया है। उपरोक्त सभी क्षेत्रों में यह कृषि अधिकारियों की अनुमति से की जाती है। मध्य प्रदेश के बैगा चक (मंडला जनपद) तथा अबूझमाड़ (बस्तर) तथा कुछ और बैगा आंतर निवासों में अस्थायी कृषि की अनुमति है, यद्यपि यह अनुमति सरकार ने अपनी इच्छा के विरुद्ध दी है। वेरियर एल्विन तथा स्वर्गीय प्रधानमंत्री नेहरू के कठिन प्रयत्नों से उत्तर पूर्वी क्षेत्र के कुछ भागों में इसकी अनुमति मिल गई थी। अन्य स्थानों पर अस्थायी कृषि करने वालों के लिए दण्ड देने का प्रावधान है। यदि अपराधी गिरफ्तार कर लिया जाता है तो उसे कैद के साथ-साथ जुर्माना भी देना पड़ता है, अन्यथा उस क्षेत्र के सभी लोगों को सामूहिक जुर्माना देना पड़ता है।

सभी का मत है कि इस प्रकार की कृषि एक आदर्श पद्धति नहीं है। जहाँ कहीं भी सम्भव हो सीढ़ीदार कृषि (terrace cultivation) तथा कृषि के अन्य साधनों पर अधिक बल दिया जाना चाहिये। जनजातियों से जुड़े कुछ और लोगों को आलसी व अकर्मण्य बनाती हैं।

इस प्रकार की कृषि करने वाली जनजातियों का अपना तर्क है। मध्य प्रदेश/छत्तीसगढ़ की कोड़कू, बैगा, कोरवा तथा माड़िया जनजातियों तथा असम तथा आसपास के क्षेत्रों की नागा जनजातियों के कथनानुसार अस्थायी कृषि में कुदाल, फावड़ा, कुल्हाड़ी तथा हँसिया आदि यन्त्र प्रयोग में लाये जाते हैं जिन्हें ये लोग

आसानी से खरीद सकते हैं तथा जिनके रखरखाव में भी अधिक धन नहीं लगता। दूसरी ओर जुताई द्वारा खेती के महँगे यन्त्रों, धन तथा समर्पण की आवश्यकता होती है तथा इसमें नियमित रूप से कार्य करना पड़ता है। इन सबके साथ अस्थायी खेती इनके यायावरी जीवन के अनुरूप भी होती है।

अस्थायी कृषि की हानियों को देखते हुये भी इसे एकदम से समाप्त नहीं किया जा सकता क्योंकि इस प्रकार की कृषि करने वाली जनजातियों का जीवन पीढ़ियों से इस पर निर्भर है। बहुत से स्थानों पर जहाँ सीढ़ीदार कृषि सम्भव नहीं है, इस प्रकार की कृषि को रोका नहीं जा सकता। ऐसी स्थितियों में अस्थायी कृषि की वैज्ञानिक विधियों से नियमित करने के सम्पूर्ण प्रयास किये जाने चाहिये जिससे कि इस कृषि से होने वाली हानियाँ न हों तथा इन खेतों की उपजाऊ शक्ति भी बनी रहे।

## समस्या का हल

अनुसूचित क्षेत्र व अनुसूचित जनजाति आयोग की रिपोर्ट में कुछ महत्त्वपूर्ण सुझाव दिये गये हैं। कुछ प्रमुख सुझाव निम्नलिखित हैं :–

1. इस प्रणाली को पूर्ण रूप से समाप्त करने में समय लगेगा। इस बीच इसे नियमित करने, सुधारने तथा अन्य सम्भावित विधियों का प्रयोग करने के प्रयास किये जाने चाहिए। अस्थायी कृषि जनजातीय जीवन से जुड़ी है, अतः यह केवल कृषि संसाधनों को सुधारने की तकनीकी समस्या ही नहीं है बल्कि यह भूमि की स्थिति तथा सामाजिक रीतिरिवाजों, परंपराओं तथा विश्वासों की मिली-जुली समस्या है। शीघ्रता से लिया गया कोई भी निर्णय स्थितियों को और भी खराब कर सकता है।
2. जहाँ भी पहाड़ी ढलानें अच्छी हैं तथा मिट्टी गहरी है वहाँ अस्थायी कृषि को सीढ़ीदार कृषि में परिवर्तित किया जा सकता है। परिवर्तनों में सुधार की अधिक संभावनायें हैं तथा बहुत से जनजातीय क्षेत्रों में यह कार्य पूरे उत्साह के साथ किया जा रहा है।
3. कृषि-बस्तियों की स्थापना से बहुत से जनजातीय लोगों को स्थायी कृषि की ओर आकर्षित किया जा सकता है। आन्ध्र प्रदेश, पश्चिमी बंगाल तथा मध्य प्रदेश के कुछ भागों में कृषि बस्तियाँ स्थापित की गई हैं। यहाँ पर प्रत्येक जनजातीय परिवार को कृषि भूमि के साथ-साथ मकान बनाने, भूमि सुधार करने, बैलों, कृषि यन्त्रों तथा बीज के लिये वित्तीय सहायता भी दी गयी थी। पीने के पानी, सिंचाई, स्वास्थ्य व संचार व्यवस्था उपलब्ध कराने की भी

योजना थी। इन सबके पश्चात् भी इस योजना को अधिक सफलता नहीं मिली जिसके कारण थे कुछ तो पूरी योजना का सुचारु रूप से क्रियान्वयन न किया जाना तथा दूसरे जनजातीय मानसिकता द्वारा समतल तथा बाहरी भूमि को अस्वीकार किया जाना।

योजना आयोग के अध्ययन दल की रिपोर्ट (1969) के अनुसार जनजातीय कृषकों को आधुनिक तकनीकों को अपनाने के लिये प्रोत्साहित किया जाना चाहिये जिससे कि कृषि उत्पादकता में वृद्धि हो। इस उद्देश्य के लिये निम्न कदम उठाये जाने चाहिए :

(a) अच्छे व प्रदर्शनी हेतु खेती की स्थापना।

(b) विकसित कृषि यंत्रों, अच्छी खादों तथा बीजों का वितरण।

(c) ऋण सुविधा उपलब्ध कराना।

वितरित किये जाने वाले विकसित कृषि यंत्र जनजातियों की आवश्यकतानुसार होने चाहिये।

## (iv) ग़रीबी (Poverty)

निःसन्देह दीर्घकालीन व्यापक गरीबी भारत के औपनिवेशिक इतिहास में शुरू से ही चली आ रही है। अपनी आर्थिक समस्यायें हल करने और सर्वतोमुखी विकास करने के हमारे प्रयास हमारी पंचवर्षीय योजनाओं के साथ शुरू हुए। उन्होंने कई मामलों में देश का कायाकल्प भी क्रिया, जैसे ठोस औद्योगीकरण, हरित क्रांति जिससे देश में आवश्यकता से अधिक खाद्यान्न पैदा होने लगा, औसत जीवनावधि में वृद्धि हुई, मध्य वर्ग की समृद्धि में तेज़ी से वृद्धि हुई। हमारे नियोजन का विरोधाभास यह है कि वह भारत के गरीबों के जीवन-स्तर को ऊँचा उठाने में असफल रहा। गरीबी नीचे स्तर की प्रति व्यक्ति आय में स्पष्ट रूप से निरन्तर दृष्टिगोचर होती रही है और देश की आबादी का एक बड़ा हिस्सा गरीबी की रेखा के नीचे ही गुजर-बसर कर रहा है। गरीबी की यह रेखा पहले 3,500 रुपये के उपभोग-स्तर पर थी और बाद में वह अपने संशोधित रूप में 6,400 रुपये के उपभोग स्तर पर पहुँच गई।

योजना आयोग ने गरीबी की प्रतिशत का अनुमान 1983-84 में 37.4 प्रतिशत और 1987-88 में 29.9 प्रतिशत लगाया। यह प्रतिशत कुल आबादी का है। ग्रामीण आबादी और अनुसूचित जाति एवं अनुसूचित जनजाति के मामले में तो यह प्रतिशत इससे काफी अधिक है। योजना आयोग द्वारा संयोजित विशेषज्ञ समिति ने गरीबी की घटना को 1983-84 में 44.8 प्रतिशत और 1987-88 में 39.3 प्रतिशत आंका है।

1993-94 के एन. एस. एस. के आँकड़े अभी जारी नहीं किये गये हैं। अतः देश के 49 करोड़ 30 लाख लोगों के लिए जो गरीबी की रेखा के नीचे रह रहे हैं विकास एक दूर का सपना है। (यू. एन. डी. पी. 1993)।

गरीबी की इस स्थिति के लिए बहुत से पहलू जिम्मेदार हैं और वे सभी हमारे नियोजन के प्रतिमान और देश की सामाजिक-राजनीतिक संरचना में मौजूद हैं। हमारी योजनाओं ने औद्योगिक उन्नति, विशेषरूप से विनिर्माण और कृषि पर, आवश्यकता से अधिक बल दिया। कृषि के क्षेत्र में हमने बड़े पैमाने की सिंचाई योजनाओं और रासायनिक उर्वरकों आदि को प्रोत्साहित किया है जो वास्तविक रूप से बड़े और सम्पन्न किसानों के लिए लाभप्रद है, लेकिन छोटे और गरीब किसानों के लिए नहीं। आमतौर पर मान यह लिया गया कि औद्योगिक विस्तार कृषि उत्पादन और रोजगार के अवसरों की वृद्धि से जो लाभ होंगे वे समाज के नीचे से नीचे तबके तक पहुँचेंगे। सर्वथा असमान और पुरोहितराजवाद से ग्रसित समाज में आय के वितरण जैसी छोटी चीज के आधार पर पूरे समाज में व्याप्त अंतरों को कम करने के सभी प्रयास पूर्णतः अनुपयुक्त सिद्ध हुए। विश्लेषकों ने यह भी कहा कि राज्य सरकार ने हस्तक्षेप करने की जितनी भी कार्यवाइयाँ की, जैसे भूमि सुधार, कृषिगत आय और आधिक्य का पुनः वितरण और रोजगार बढ़ाने की दृष्टि से शिक्षा संबंधी बाह्य संरचनाओं (स्कूल, हॉस्टल आदि) का निर्माण आदि, वे सभी पूरे मन से या उत्साह के साथ नहीं की गयीं। उन सब पर उद्यमी और पूंजीवादी वर्ग ही आदि से अंत तक छाया रहा और उन्होंने धीरे-धीरे राजनीतिक और आर्थिक मामलों पर अपना पूरा क़ब्जा जमा लिया।

इन प्रवृत्तियों के परिणामस्वरूप चौथी योजना अवधि में और उसके बाद भी ग्रामीण इलाकों की गरीबी हटाने के लिए किसी समूह विशेष को निशाना बनाकर ग़रीबी हटा देने का लक्ष्य ही निर्धारित किया जाता रहा। इसके अतिरिक्त भूमि सुधार की, जो सबसे जरूरी कार्रवाई थी, उसकी 'गरीबी हटाओ' कार्यक्रम के अंतर्गत एक आय विशेष और रोजगार पैदा करने की योजनाओं पर बल दिया गया। इनमें जो और योजनाएँ शामिल की गयीं वे थीं : रोजगार के अवसर पैदा करने वाली योजनाएँ, आई. आर. डी. पी. जिन्हें ऋणों और 'मार्जिन मनी' देकर खेती और अतिरिक्त आय के जरिए पैदा करने में मदद करनी थी, रोजगार के लिए वैयक्तिक दक्षताएं पैदा करने और प्रशिक्षित करने के लिए ट्राईसम (TRYSEM) के साथ ही ऐसे अनेक कार्यक्रम जिनसे ग्रामीण महिलाओं के अतिरिक्त आय बढ़ सके। 1980 के प्रारम्भिक वर्षों में आई. आर. डी. पी. का विस्तार और सर्वथा लाभहीनों तक पहुँचने के लिए उस कार्यक्रम को ज्यादा से ज्यादा पैना करने के बाद वह स्थिति पर थोड़ा बहुत प्रभाव डालने में सफल हो सका।

दूसरों की तुलना में अनुसूचित जनजातियों में गरीबी का स्तर बहुत अधिक शोचनीय है। 1983-84 के काल में ग्रामीण जनजाति समुदाय में 58.4 प्रतिशत व्यक्ति गरीबी की रेखा से नीचे थे। स्मरण रहे लगभग 94 प्रतिशत जनजाति के लोग ग्रामीण इलाकों में ही रहते हैं। शहरी आबादी में गरीबी की रेखा के नीचे रहने वाले 39.9 प्रतिशत थे। आठवीं योजना के दौरान जनजातियों पर काम करने वाले कार्यकारी समूह ने अनुमान के अनुसार 1991 में 99.24 लाख जनजाति परिवार गरीबी की रेखा के नीचे थे। आई. आर. डी. पी. की एक योजना ने आठवीं योजना अवधि में लगभग 42 प्रतिशत परिवारों की सहायता की। फिर भी, ऐसा कोई अनुमान उपलब्ध नहीं है जिससे सही रूप से यह जाना जा सके कि जनजातियों के कितने परिवार गरीबी की रेखा से ऊपर आ सके हैं। आई. आर. डी. पी. के मूल्यांकन के अनुसार गरीबी की रेखा पार करने वाले परिवारों का प्रतिशत बहुत ही कम है। कार्यकारी समूह का अनुमान था कि गरीबी की रेखा पार करने के लिए प्रति परिवार 8,000 रुपयों का निवेश होना जरुरी हैं लेकिन वास्तविक रूप से प्रति परिवार केवल 3,481 रुपए का निवेश ही किया जा सका। यही नहीं, अनुसूचित जनजाति के प्रति परिवार पर जो निवेश किया गया वह उन परिवारों पर जो अनुसूचित जनजाति के नहीं थे, किये गये निवेश से भी बहुत कम था। यह भी अनुभव किया गया है कि जनजाति समुदाय के ज्यादातर हिस्सों को दरिद्र बनाने और उन्हें हाशिये पर फेंक देने की जिम्मेदारी राष्ट्रीय विकास के बड़े पैमाने के लक्ष्यों को पूरा करने की कार्रवाइयों पर रही हैं। जनजातीय समुदाय धीरे-धीरे एक ऐसी प्रक्रिया का शिकार होता गया जिसमें एक ओर तो उनके साधनों के आधार और उत्पादन राष्ट्रीय एवं अंतर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था से अस्तव्यस्त हुये और दूसरी ओर उनके परंपरागत सामुदायिक अधिकारों और आर्थिक भूखण्डों का अपहरण राज्य सरकारों और व्यापारी हितों द्वारा किया गया। अनुसूचित जातियों और अनुसूचित जनजातियों के भूतपूर्व कमिशनर डा. बी. डी. शर्मा के कथनानुसार मौजूदा परिस्थितियों की गहरी जाँच से स्पष्ट है कि इस जनसमाज को पाँच स्तरों पर वंचित किया गया। (1) साधनों पर जो उनके परंपरागत अधिकार थे उनको मान्यता नहीं दी गयी और उनके लिए उन साधनों का इस्तेमाल पर पर पाबन्दी लगाई गयी। (2) काम करने वालों को उत्पादन के साधनों से अलग किया गया। (3) मजदूरों को उनकी किश्ते नहीं दी गई। (4) उनकी स्वाधीनता का सौदा किया गया, तथा (5) मनोवैज्ञानिक रूप से उन्हें अपने को हीन और वंचित समझने के लिए विवश होना पड़ा जिसके फलस्वरूप उनमें अपनी इज्जत और अपनी आत्मसम्मान की भावना समाप्त हो गयी। दूसरे शब्दों में जंगलों से वन-उत्पाद संबंधित उनके परंपरागत अधिकार पूरी तरह छिन गये। जनजातियों की अच्छी उपजाऊ जमीनें उन लोगों के

हाथों में चली गयीं जो उनके समाज के नहीं हैं। जनजाति के लोग दिन-प्रति-दिन गरीब होते जा रहे हैं। यही नहीं, वे बड़ी संख्या में मजदूरी करने लगे हैं और इन मजदूरों को न्यूनतम मजदूरी भी नहीं मिलती। स्वयं सरकारी विभाग भी इन्हें उतनी मजदूरी नहीं देते जो सरकार द्वारा निर्धारित न्यूनतम मजदूरी है। औद्योगिक विकास और सिंचाई की बड़ी-बड़ी परियोजनाओं से जहाँ बड़े और सम्पन्न काश्तकारों को लाभ पहुँचा है वहीं जनजाति के परिवारों को अपने मूल स्थान छोड़ने और विस्थापित होने के लिए मजबूर होना पड़ा है।

हमारी कानून व्यवस्था इतनी लचर है कि न उन्हें पर्याप्त मुआवजा मिला और न उनके साथ इंसाफ हो सका है। इन विस्थापितों के पुनःस्थापन का कार्य भी जैसा होना चाहिए था वैसा नहीं हो सका है। आन्ध्र प्रदेश के 22 जिलों के अध्ययन (1990) से स्पष्ट है कि सरकारी कार्यक्रमों से अनुसूचित जातियों और पिछड़ी हुई जातियों ने तो लाभ उठाया है किंतु जनजाति के लोग उनकी तुलना में भी घाटे में रहे हैं। गरीबी की रेखा के मामले में भी अनुसूचित जातियों और पिछड़ी हुई जातियों को लाभ हुआ है उनका एक बड़ा हिस्सा उस रेखा से ऊपर आया है किंतु अनुसूचित जनजातियों पर 'गरीबी हटाओ' कार्यक्रम कुछ ज्यादा प्रभाव नहीं डाल सका है। अतः अनुसूचित जनजातियों की गरीबी दूर करने के लिए एकदम नई कल्पनाशील और प्रभावपूर्ण पद्धतियाँ अपनानी होगीं। विकास के लिए विश्व भर में जो प्रगति हो रही है उससे संपत्ति पर अधिकार ज्यादातर बड़े शक्ति सम्पन्न लोगों का ही हो रहा है जबकि प्रकृति और उस पर आश्रित रहने वाली मनुज-संतान उत्तरोत्तर गरीब होती जा रही है। इस प्रकार आदिवासी समाज सदा से दमनकारी बाहरी लोगों से एक ऐसा संघर्ष या युद्ध करते हैं जिसमें दोनों पक्ष समान नहीं हैं और इसमें आदिवासियों को ही पराजित होना पड़ता है। (बाविस्कर, 1995)

जनजातियों को वंचित करने और दरिद्र बनाने के इस व्यापक प्रयास के संदर्भ में गरीबी हटाओ और ग्रामीण लोगों को रोजगार दिलाने के कार्यक्रमों के अलावा जनजाति क्षेत्रों में सार्वजनिक वितरण पद्धति में संशोधन या सुधार, सहकारी योजनाएँ तथा अन्य अनेक क्षेत्रों में सरकार द्वारा की जा रही इसी प्रकार की समस्त कार्रवाइयाँ अभी तक विस्तृत रूप से प्रभावशाली या परिणामकारी सिद्ध नहीं हो सकी हैं।

## (v) बेरोजगारी (Unemployment)

जनजातियों की स्थिति और उससे संबद्ध रोज़गार की समीक्षा करने से पहले हमें भारत की जनजाति आवादी के व्यावसायिक ढांचे के बारे में थोड़ा बहुत समझ लेना चाहिए। जनजातियों का एक बहुत बड़ा बहुमत (लगभग 85 प्रतिशत) कृषि क्षेत्र में

काम करता है। उसमें कुछ किसान हैं, कुछ सीमांतक खेती करते हैं और शेष खेतिहर मजदूर हैं। उनका एक छोटा हिस्सा औद्योगिक क्षेत्र में है। वे कारखानों में मज़दूरी करते हैं। कुछ समूह जिनमें नीलगिरि पर्वत (तमिलनाडु) के टोडा, उत्तराखंड में हिमालयी उपक्षेत्र के भोटिया, जम्मू-कश्मीर क्षेत्र के बकरवाल आदि आते हैं, पशुपालक हैं। कुछ दस्तकार हैं, जैसे पश्चिम बंगाल के महली, बिहार और मध्य प्रदेश के असुर और अगेरिया लोहारी का काम करते है। लगभग 70 जनजातियाँ शिकार करती हैं और जंगलों से वस्तुएं एकत्र करके अपनी उदर पूर्ति करती हैं। इनमें से ज्यादातर दक्षिणी भारत में हैं। अभी हाल में जनजातियों के काफी लोगों ने या तो प्रवासी खेतिहर मजदूरी का पेशा अपना लिया है या फिर वे ईंट के भट्ठों पर और इमारत बनाने के काम में अदक्ष मजदूरों का काम करने लगे हैं। जनजातियों की कुल आबादी के बीच कुछ बहुत कम ऐसे व्यक्ति भी हैं जो पढ़े लिखे हैं। वे या तो सरकारी नौकरियों में हैं या फिर डॉक्टरी, अध्यापकी, उद्यमी आदि विभिन्न पेशों में काम कर रहे हैं। गरीबी और दरिद्रता जनजातियों की किस्मत में है। केवल उत्तर-पूर्व भारत की जनजातियाँ खुशनसीब हैं क्योंकि उन क्षेत्रों में उनके विकास का आदर्श "शिक्षा-पहले" के सिद्धान्त पर आधारित रहा है।

इस वर्तमान परिदृश्य में राष्ट्रीय ग्रामीण रोज़गार कार्यक्रम पर (एन.आर.ई.पी.) जिसमें केन्द्र और राज्य की सरकारों ने बराबर की पूँजी लगाई है, पर 1980 से काम हो रहा है। ग्रामीण भूमिहीन रोज़गार गारन्टी कार्यक्रम (आर.एल.ई.जी.पी.) को 1983 से अमल में लाया जा रहा है। इन दोनों कार्यक्रमों का लक्ष्य ग्रामीण भूमिहीन को न्यूनतम सुनिश्चित स्तर का रोजगार दिलाना है। इन भूमिहीनों में ज्यादातर अनुसूचित जाति या अनुसूचित जनजाति के लोग हैं। इन्हें वर्ष के उन महीनों में रोज़गार दिलाना आवश्यक है जब इनके पास कोई काम नहीं होता।

1989 से एन.आर.ई.पी. और आर.एल.ई.जी.पी. दोनों को एक राष्ट्रीय ग्रामीण रोजगार कार्यक्रमों में, जिसे जवाहर रोज़गार योजना (जे.आर.वाई.) कहते हैं, आत्समात कर दिया गया। इस कार्यक्रम में 80 प्रतिशत धन केन्द्र सरकार और 20 प्रतिशत धन राज्य सरकार लगा रही है। जवाहर रोज़गार योजना के उद्देश्य हैं : अतिरिक्त लाभकर रोजगार की व्यवस्था, उत्पादक सामूदायिक परिसंपत्तियों का सृजन और ग्रामीण क्षेत्रों में कुल मिलाकर जीवन शैली को उन्नत करना। जवाहर रोजगार योजना में अनुसूचित जातियों और अनुसूचित जनजातियों के लोगों को रोजगार उपलब्ध कराने की विशेष व्यवस्था है। बनजारे जनजातियों के लोगों के लिए समन्वित परियोजनाएं चलाने तथा अनुसूचित जातियों और अनुसूचित जनजातियों के लोगों की वैयक्तिक सहायताओं के लिए जिला और ग्राम पंचायत स्तर के साधनों का 15

प्रतिशत तक सुरक्षित कर दिया गया है। यही नहीं, अनुसूचित जनजाति के लाभार्थ काम की जांच और उन्हें रोजगार के अवसर सुनिश्चित करने के निर्देश भी दिये गये हैं। इन सबके अलावा, राष्ट्रीय अनुसूचित जाति और अनुसूचित जनजाति वित्त और विकास निगम भी इस दिशा में प्रयत्नरत हैं। उसकी स्थापना 1989 में विशेष रूप से इन दोनों अनुसूचित जातियों के व्यापार, व्यवसाय, पेशे और अन्य आर्थिक क्रियाकलाप की पहचान और उनका पता लगाकर सहायता उपलब्ध कराने के लिये की गयी थी। साथ ही उसका कार्यक्रम सहायता देनेवाली ऐसी परियोजनाएं चलाने का भी है जिनसे जनजातियों को रोजगार मिल सकें। (इस संगठन और इसके कार्यों पर जनजाति विकास वाले अध्याय में प्रकाश डाला गया है) जनजातीय विकास कार्यक्रमों और विविध प्रकार के सरकारी और गैर-सरकारी दस्तावेजों व अध्ययनों से यह जाहिर है कि जनजातीय क्षेत्रों में रोजगार की स्थिति शोषण, साधनों की चोरी, प्रतिक्रिया के अभाव, निम्न स्तर के सरकारी कर्मचारियों के निर्दय और निर्मम रुख तथा अन्य अनेक विरोधी तत्वों से अब भी भरी हुई हैं।

## (vi) स्वास्थ्य (Health)

जनजातीय लोगों का सामान्य स्वास्थ्य बहुत बुरा नहीं है परन्तु लगातार संक्रमण से उनको अक्सर बीमारियों का सामना करना पड़ता है। मूलभूत प्रश्न यह है कि जन स्वास्थ्य की आधुनिक सुविधाओं का कितना भाग इन जनजातियों तक पहुँचता है? इस प्रश्न पर विचार करने से पूर्व हमें जनजातियों की स्वास्थ्य समस्याओं का परीक्षण करना चाहिये। वैसे तो जनजातियाँ बहुत-सी बीमारियों से ग्रस्त रहती हैं परन्तु सबसे अधिक मात्रा में जल संक्रामक रोग पाये जाते हैं जिनसे बहुत लोगों की मृत्यु हो जाती है। पीने योग्य पानी की उपलब्धता में कमी इन रोगों का मुख्य कारण है। जिन स्थानों पर प्रचुर मात्रा में जल उपलब्ध है वहाँ पर भी जल गंदा व दूषित होता है। फलस्वरूप अधिकतर लोग पेट—आँत तथा चर्मरोगों के शिकार हो जाते हैं। कालरा, पेचिश, अतिसार, नहरुआ आदि बीमारियाँ इसी दूषित जल के प्रयोग के कारण हो जाती हैं।

खनिजों तथा अन्य तत्वों की कमी भी बिमारियों का कारण हैं। हिमालय क्षेत्र में घेघा जैसी गले की बीमारी अधिक है। इसका कारण है आयोडीन की कमी। हिमाचल प्रदेश के कुछ भागों की जनजातियों में यौन रोग की बहुतायत है। पोषण तत्वों की कमी के कारण बहुत-सी जनजातियों में क्षय रोग का आधिक्य है। अधिकतर जनजातियों के लोगों के शरीर में सभी प्रकार के प्रतिरक्षकों का विकास नहीं हुआ है। अतः ये लोग किसी भी नयी बीमारी का आसानी से शिकार हो जाते हैं। धेबर आयोग के अनुसार एक ऐसी बीमारी है जिससे जनजातीय लोग सदा भयभीत रहते हैं। यह

रोग आन्ध्र प्रदेश के एजेंसी क्षेत्र के उत्तरी भागों में, दक्षिणी उड़ीसा, महाराष्ट्र के चन्दा जिले तथा छत्तीसगढ़ के बस्तर जिले में अधिक पाया जाता है। कुष्ठ रोग संपूर्ण भारत में व्याप्त है। अतः जनजातियाँ भी इससे अछूती नहीं रहीं। आन्ध्र प्रदेश के एजेंसी क्षेत्रों, असम की मिकिर पहाड़ियों, पश्चिम बंगाल के बाँकुरा तथा पुरुलिया जिलों, झारखंड के संथाल परगना तथा उड़ीसा में मयूरभंज से पुरी तक के क्षेत्रों में इस रोग का बाहुल्य है। जनजातियों में खुजली, चर्मरोग, चेचक तथा एनीमिया जैसे रोग भी आम हैं।

यह बात सही है कि सरकार स्वास्थ्य तथा चिकित्सा की दिशा में अधिक से अधिक सुविधायें प्रदान करने की इच्छुक है। फिर भी, इस प्रकार की योजनाओं की असफलता के निम्न कारण हैं :--

(a) सही दृष्टिकोण का अभाव

(b) कार्यकर्त्ताओं तथा कर्मचारियों की समस्याएं

(c) अपर्याप्त संचार व्यवस्था

(d) दवाओं के वितरण संबंधित नियम।

प्रायः जनजातीय लोग सरकारी चिकित्सालयों में कम ही आते हैं। इसका कारण है इनकी अपनी चिकित्सा पद्धतियाँ। सुदूरवर्ती तथा दुर्गम क्षेत्रों में रहने वाली जनजातियों में यह विश्वास व्याप्त है कि बीमारियाँ दैवी शक्तियों, भूत-प्रेतों के प्रकोप या किसी परंपरा या नियम के उल्लंघन के कारण होती हैं। ये लोग मानते हैं कि दैवी शक्तियों के कारण आयी बीमारियों या दुर्भाग्य का उपचार भी इसी प्रकार होना चाहिये। इसीलिये सुदूरवर्ती तथा दुर्गम क्षेत्रों में रहने वाली जनजातियों के अपने ओझा, जादूगर तथा शमन होते हैं। सभी उपचारों से निराश होने के बाद ही ये लोग स्वास्थ्य कर्मचारियों से सम्पर्क करते हैं। डॉक्टरों द्वारा ओझाओं को अपना प्रतिद्वन्द्वी समझने के कारण स्थिति और भी गम्भीर हो जाती हैं। धेबर आयोग की टिप्पणी के अनुसार "एक सरल प्रकृति का मनुष्य पुजारी तथा डॉक्टर दोनों के पास जायेगा। पुजारी उसके लिये प्रार्थना करेगा, डॉक्टर उसे दवा देगा। मान्यता यह है कि ईश्वर पुजारी की प्रार्थना सुनता है जिससे दवा का प्रभाव बढ़ जायेगा। डॉक्टर एक ऐसा साधन है जिसके माध्यम से दैवी शक्तियां काम करती हैं।" आधुनिक चिकित्सा पद्धति को इन जनजातियों तक पहुँचाने के उद्देश्य को पूरा करने के लिये स्थानीय विश्वासों, आस्थाओं तथा संवेदनाओं को ध्यान में रखना आवश्यक है। धेबर आयोग ने उत्तर-पूर्वी जनजातियों का दिलचस्प उदाहरण प्रस्तुत किया है। इन क्षेत्रों में डॉक्टरों तथा स्वास्थ्य कर्मचारियों से, वहाँ के स्थानीय एवं पारंपरिक चिकित्सकों के साथ

मैत्रीपूर्ण संबंध स्थापित करने का आग्रह किया जाता है। डॉक्टरों को यह निर्देश है कि वे लोग क्षेत्रीय उपचार पद्धति का न तो विरोध करें और न ही उसे अन्धविश्वास कहें। इसके स्थान पर इस प्रकार की पद्धति को उन्हें विश्व की अन्य मनोवैज्ञानिक तथा आस्था-उपचार पद्धतियों की भाँति सम्मान देना चाहिए। एक बुद्धिमान डॉक्टर स्थानीय ओझाओं व पुजारियों से मित्रता करके उन्हें अपने चिकित्सालय में आमंत्रित करेगा। उन्हें प्रार्थना तथा बलि करने से नहीं रोकेगा तथा उन्हें यह समझायेगा कि आधुनिक चिकित्सा पद्धति उनकी प्रणाली की पूरक है। मनोवैज्ञानिक रूप से स्थानीय पुजारियों की भूमिका अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है। यदि किसी रोगी को यह विश्वास है कि उस पर किसी भूतप्रेत का साया है तो ऐसी स्थिति में यह पुजारी ही उसके मन में बैठे डर को दूर कर उसका उपचार कर सकते हैं। चिकित्सा कर्मचारियों के लिये आवश्यक है कि यह लोग जनजातीय ओझाओं तथा हवाओं के प्रति सही दृष्टिकोण तथा व्यवहार रखें। अनुसूचित क्षेत्र व अनुसूचित जनजाति आयोग की रिपोर्ट के अनुसार "सफल चिकित्सक वह है जो स्वास्थ्य संबंधी सामाजिक मान्यताओं में रुचि रखता हो। जनजातियों में स्वप्नों का स्वास्थ्य पर प्रभाव, "जैसी मान्यताओं तथा जनजातीय चिकित्सा पद्धति को सम्मान देता हो।"

स्वास्थ्य कर्मचारियों तथा प्रशिक्षित नर्सों की कमी भी भारतीय जनजातीय स्वास्थ्य की समस्या का एक महत्त्वपूर्ण पहलू है। अधिकतर स्वास्थ्य कर्मचारी (पुरुष तथा महिलायें) गाँवों तथा जनजातीय क्षेत्रों में जाने के इच्छुक नहीं है। इसका कारण है समुचित आवास, शिक्षा एवं अन्य व्यवस्थाओं की कमी के साथ-साथ मनोरंजन के साधनों की भी कमी। धेबर आयोग के अनुसार बीस वर्षों के लिये एक विशेष स्वास्थ्य सेवा का गठन करके इस समस्या को हल किया जा सकता है। स्थानीय लोगों को ऐसा प्रशिक्षण दिया जाय जिससे कि बीस वर्षों के बाद यही लोग अपने चिकित्सालयों को सुचारु रूप से चला सकें। इसके साथ-साथ आयुर्वेदिक दवाओं, जड़ी-बूटियों के प्रयोग को प्रोत्साहित करना चाहिये। ये लोग इन जड़ी-बूटियों का उपयोग पहले से ही करते आ रहे हैं, अतः इन्हें इस प्रकार की चिकित्सा पद्धति स्वीकार करने में कोई कठिनाई नहीं होगी।

जनजातीय क्षेत्रों की भौगोलिक स्थितियों तथा दुर्गमता को ध्यान में रखते हुए ऐसा प्रतीत होता है कि सचल दवाखाने स्थिर चिकित्सालयों से अधिक लाभप्रद सिद्ध होंगे। ये सचल दवाखाने भी छोटी-छोटी गाड़ियों में होने चाहिएं जिनसे ऊबड़-खाबड़ रास्तों पर भी आसानी से पहुँचा जा सके। इस प्रकार के सचल दवाखानों के लिए एक जीप अधिक उपयोगी होगी जिसमें एक डॉक्टर, कर्मचारी तथा दवायें आसानी से जा सकती हैं। कभी-कभी अच्छी किस्म की बैलगाड़ियों का भी उपयोग किया जा सकता है।

उत्तर-पूर्वी क्षेत्रों में इन स्वास्थ्य इकाइयों को दुर्गम स्थानों पर पैदल चलना पड़ता है तथा प्रतिकूल परिस्थितियों में भी शिविर लगाकर ऑपरेशन किये जाते हैं। इन स्थितियों में सद्भाव व समर्पण के बिना कार्य करना असम्भव है।

सुदूरवर्ती क्षेत्रों में दवाओं की माँग व आपूर्ति के नियम बहुत जटिल हैं। दवाओं की मात्रा की जाँच मैदानों के मापदण्ड से की जाती है। इस प्रकार के नियम बनाते समय इस बात पर ध्यान नहीं दिया जाता कि जनजातीय क्षेत्रों में डॉक्टरों को उपचार करने के साथ-साथ जलवायु की विविधता का भी सामना करना पड़ता है तथा कभी-कभी आकस्मिक आवश्यकताओं तथा चिकित्सा के लिये विशेष प्रकार की दवाओं को भंडार में रखना पड़ता है।

जनजातीय लोगों के स्वास्थ्य से संबंधित समस्याओं में नशीले पेय पदार्थों का सेवन भी एक महत्त्वपूर्ण समस्या है। बाजरा, चावल तथा अन्य अनाजों के दानों को सड़ा कर मदिरा बनायी जाती है। यह पारंपरिक मदिरा घरों में बनायी जाती है, तथा समस्त परिवार इसका सेवन करता है। इसके अतिरिक्त सरकार से लाइसेंस लेकर ठेकेदार मदिरा बनाते हैं तथा बेचते हैं। सीधे-साधे जनज़ातीय लोगों को घर में मदिरा बनाने से रोका जाता है तथा बाहरी लोगों द्वारा बनायी गयी मदिरा क्रय करने को बाध्य किया जाता है। इस मदिरा के आदी हो जाने के बाद ये निर्धन जनजातीय लोग अपनी संपत्ति बेचते हैं या ऐसे समझौते करते हैं जिनमें इनका शोषण निश्चित होता है। इस समस्या का एक ही व्यावहारिक हल है। बाहरी ढेकेदारों तथा मदिरा को इन क्षेत्रों से बाहर निकाल दिया जाय जिससे ये जनजातीय लोग अपने घरों में मदिरा बनाकर अपनी परंपरा तथा संस्कृति का स्वतंत्रतापूर्वक निर्वाह कर सकें।

जनजातीय लोगों में अफ़ीम तथा अन्य नशीली वस्तुओं की लत भी एक गम्भीर स्वास्थ्य समस्या है। अरुणाचल प्रदेश की सिंहफो जनजाति इसका ज्वलंत उदाहरण है। लगभग 150 वर्ष पूर्व इन लोगों की संख्या 40 हजार थी जो अब लगभग 1 हजार रह गयी है। यद्यपि कई युद्धों, बीमारियों तथा कुपोषण ने भी अपनी भूमिका निभायी परन्तु अफीम के दुर्व्यसन ने इन्हें सबसे अधिक हानि पहुँचाई है। ऐसा विश्वास है कि अफीम के कारण इनकी जनन क्षमता भी कम हो गई है, मृत्यु-दर तथा भुखमरी बढ़ गई। सिंहफो लोग दिनभर अफीम व तम्बाकू पीते देखे जा सकते हैं। अफीम सिंहफो जीवन का एक अभिन्न अंग बन गयी है। अपने पशुओं तथा भूमि का ध्यान ये लोग नहीं रखते परन्तु अफीम अवश्य खरीदते हैं। ये लोग बुरी तरह से अफीम के आदि हो चुके हैं। इनके पूर्वजों को इसका सेवन करना अंग्रेजों ने सिखाया। कुछ सुधारकों तथा अन्य स्वैच्छिक संस्थाओं ने अफीम के दासों को इससे दूर रखने का प्रयास

प्रारम्भ किया है। हमें उनकी सफलता की कामना करनी चाहिये।

जनजातियों को स्वास्थ्य शिक्षा देना आवश्यक है। अधिकतर जनजातियाँ अशिक्षित हैं, परन्तु चलचित्रों तथा वीडियो केसैटों की सहायता से इन्हें स्वास्थ्य तथा सफाई के मूल सिद्धान्तों से अवगत करना चाहिये। जनजातियों के स्वास्थ्य स्तर को बेहतर बनाने के लिये राज्य सरकार, केन्द्र सरकार, गैर-सरकारी संस्थाओं तथा स्वास्थ्य कर्मचारियों को मिलजुल कर प्रयास करने चाहिए।

## (vii) मदिरापान (Drinking)

जनजातियों में मदिरापान का अत्यधिक चलन है। अधिकतर जनजातियाँ मदिरापान के संबंध में बहुत संवेदनशील हैं तथा महुए के पेड़ को पवित्र मानती हैं। मदिरापान सदियों से उनकी सामाजिक परंपराओं का एक भाग है। इस प्रकार के अव्यावसायिक समाज में मदिरा को भी भूमि के अन्य उत्पादों के स्तर पर ही रखा जाता है। ये जनजातियाँ अपने घरों में मदिरा बनाती हैं तथा इस प्रकार के अधिकतर पेयों में कोई विशेष नशा नहीं होता। मदिरा अधिकतर शक्तिवर्द्धक का कार्य करती है। अतः यह कहा जा सकता है कि मदिरापान इन जनजातियों के रीतिरिवाजों का एक अभिन्न अंग है तथा इनकी सामाजिक परंपराओं में घुल-मिल गयी है।

बाजरे तथा चावल द्वारा अपने घरों में बनायी गयी मदिरा जनजातियों में बहुत लोकप्रिय है। अलग-अलग क्षेत्रों में इसके विभिन्न नाम हैं। यह मध्य प्रदेश/छत्तीसगढ़ में *हँड़िया*, असम में *पोंग*, उत्तर-पूर्वी क्षेत्रों में *ज़ू*, पंजाब तथा हिमाचल प्रदेश में *तुदगी*, आन्ध्र प्रदेश में *काल्ही*, बिहार/झारखंड में *पछावे* तथा देश के अन्य जनजातीय क्षेत्रों में अलग-अलग नामों से जानी जाती है। उत्सवों, विवाहों, मृत्यु, दाह संस्कार तथा अन्य समारोहों के समय जनजातियाँ मदिरा बनाती हैं तथा उनका सेवन करती हैं। कभी-कभी इच्छा होने पर भी जंगलों या घरों में इस प्रकार की मदिरा बनाकर मित्रों के साथ इसका सेवन किया जाता है।

उपरोक्त विवरण से जनजातियों में मदिरापान की परंपरा तथा स्थितियाँ स्पष्ट हो जाती है। अंग्रेजी प्रशासन के आगमन से इनकी स्वतंत्रता तथा मानसिक शांति भंग हो गयी। अंग्रेजी प्रशासन ने एक ऐसी आबकारी प्रणाली प्रारम्भ की जो जनजातीय लोगों के लिये विदेशी थी। सरकार तथा मदिरा बनाने वाले व्यवसायियों ने जनजातियों की मदिरापान परंपरा में अभिरुचि ली तथा उन्हें अधिक से अधिक मदिरा का उपभोग करने के लिए विवश किया जिससे कि राजस्व तथा बिक्री दोनों में वृद्धि हो। "पाँचवीं योजना में जनजातीय विकास कुछ मूलभूत नीतियाँ"—इस पुस्तक में डब्लू. बी. ग्रिग्सन ने कहा कि बस्तर में इस नयी तथा विदेशी प्रणाली से, जो स्थानीय परिस्थितियों के

अनुकूल नहीं थी, ठेकेदारों का चलन प्रारम्भ हो गया जिनका उद्देश्य केवल अधिक से अधिक लाभ कमाना था। जनजातियों की पुरानी व पारंपरिक प्रणाली पर रोक लग गयी। इन स्थितियों में मदिरापान अपनी चरम सीमा पर पहुँच गया जिसके कारण इन जनजातीय लोगों की बहुत दुर्गति हुई। बम्बई प्रेसीडेन्सी में 1938 के दौरान डी. सिंनिंग्टन के सर्वेक्षण के अनुसार "अंग्रेजी सरकार द्वारा मदिरा विक्रय को बढ़ाकर राजस्व कमाने की नीति ने जनजातीय लोगों पर बुरा तथा हानिकारक प्रभाव डाला है।"

अब हमें स्वतंत्रता के बाद की स्थिति पर विचार करना चाहिये। संविधान के अनुच्छेद 46 के अन्तर्गत राज्यों को निर्देश दिये गये हैं कि अनुसूचित जनजातियों को सभी प्रकार के सामाजिक अन्याय तथा शोषण से बचाया जाये तथा सामाजिक सुरक्षा प्रदान की जाये। अनुच्छेद 47 ने सरकार को उनके कर्त्तव्यों से अवगत कराते हुए स्पष्ट किया है कि राज्य सरकार अपने प्राथमिक कर्त्तव्यों के अन्तर्गत अपने क्षेत्रों में रहने वाले लोगों के जीवन-स्तर, पोषण तथा जन-स्वास्थ्य के विकास में योगदान दे तथा चिकित्सा के उद्देश्यों के अतिरिक्त सभी स्थितियों में मदिरापान तथा अन्य नशीली दवाओं के उपयोग पर, जो कि स्वास्थ्य के लिये हानिकारक हैं, निषेध आज्ञा जारी करेगी। विभिन्न योजनाओं में भुखमरी उन्मूलन के कार्य को प्रारम्भ करने के लिए सर्वप्रथम शोषण समाप्त करना आवश्यक है। इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए जनजाति विकास की सभी योजनाओं में शोषण सामप्त करने को प्राथमिकता दी गई है। दुर्भाग्यवश मदिरा विक्रय जनजातियों के शोषण का एक प्रबल माध्यम है। धेबर आयोग द्वारा जनजातियों में मदिरापान तथा इसके प्रभाव की समस्या का अध्ययन तथा विश्लेषण करते समय आश्चर्यजनक तथ्य सामने आया कि कुछ स्थानों पर बाहरी मदिरा का चलन स्वतंत्रता के पश्चात प्रारंभ हुआ। आयोग के वक्तव्य के अनुसार "हम इस प्रकार के बाहरी हस्तक्षेप के औचित्य को समाप्त नहीं कर सके। विशेषतया तब जबकि जनजातियों के पास अपनी बनायी मदिरा पर्याप्त मात्रा में है तथा इसे यह लोग सामाजिक रूप से मान्यता व सम्मान भी देते हैं।" अनुसूचित जातियों व अनुसूचित जनजातियों के भूतपूर्व आयुक्त प्रो. एम. के. बोस (1970-71) ने इन मदिरा विक्रेताओं को जनजातीय क्षेत्रों में "शोषण का माध्यम" बताया है। धेबर आयोग ने इस प्रकार की मदिरा के विक्रय पर रोक लगाने का सुझाव दिया है।

मदिरा विक्रय की वर्तमान प्रणाली जनजातीय आर्थिक व्यवस्था के लिए अत्यधिक हानिकारक है। सरकार द्वारा लाइसेंस प्राप्त ठेकेदारों द्वारा बाहरी मदिरा के विक्रय ने जनजातियों को बहुत सी समस्याओं में उलझा दिया है। मदिरा विक्रय एक ऐसा साधन है जिसके माध्यम से बाहरी असामाजिक तत्व इन पिछड़े समुदायों के बीच

पहुँचकर अवांछनीय तथा आपत्तिजनक कार्य करते हैं। इस प्रकार के ठेकेदार स्थानीय लोगों के बीच भय उत्पन्न करने के उद्देश्यों से लठैतों तथा गुंडों को संरक्षण देते हैं। ये लोग बलपूर्वक अनाधिकृत रूप से आदिवासियों की झोपड़ियों में प्रवेश कर इन्हें मदिरा बनाने से रोकते हैं। लाइसेंस प्राप्त दुकानदार फेरीवालों का गाँव-गाँव भेजते हैं जिससे कि मदिरा के विक्रय में वृद्धि हो। जनजातीय समुदायों के समक्ष इन गैर-कानूनी गतिविधियों से बचने का कोई उपाय नहीं है। प्रत्येक गाँव में इस प्रकार की गैर-कानूनी दुकानें जनजातीय युवकों के लिए आकर्षण का केन्द्र बन जाती हैं। इस प्रकार जनजातीय लोग ऋणग्रस्त होते हैं तथा उनकी भूमि के हस्तांतरण तथा अधिग्रहण तक की नौबत आ जाती है। नियमों का उल्लंघन होता है परन्तु अधिकतर सरकारी अधिकारी तो इन ठेकेदारों से मिले होते हैं जिसके कारण किसी प्रकार की कार्यवाही नहीं होती। ठेकेदार इन क्षेत्रों में अपनी मनमानी करते हैं। कुछ क्षेत्रों में तो इन ठेकेदारों ने प्रति विवाह, प्रति फसल या प्रति परिवार मदिरा की एक निश्चित मात्रा का क्रय तथा उपभोग करना आवश्यक कर दिया है। ऐसा न किये जाने पर इन जनजातीय लोगों को गैर-कानूनी ढंग से मदिरा बनाने जैसे सही या गलत मामलों में फँसाने या जेल भिजवा देने जैसी बातों से भयभीत किया जाता है। प्रभावशाली व्यवसायी, आबकारी पुलिस, राजस्व, वन तथा अन्य संबंधित विभागों के अधिकारियों का प्रश्रय प्राप्त करने में सक्षम हैं। जनजातीय लोग इन बाहरी लोगों के समक्ष अपने को अकेला पाते हैं। कुछ नये अध्ययनों से पता चला है कि आबकारी विभाग द्वारा प्राप्त अधिक राजस्व का सीधा संबंध अधिक ऋणग्रस्तता तथा भूमि हस्तांतरण से है। उपरोक्त तथ्यों से यह बात स्पष्ट है कि बाहरी मदिरा की लत जनजातियों की विभिन्न समस्याओं तथा दुर्दशा का एक मूलभूत कारण है। अपनी इन समस्याओं से छुटकारा पाने तथा साहूकारों के चंगुल से बाहर आने के लिये इन जनजातियों को मदिरा से दूर रखना आवश्यक है। बाहरी मदिरा के विक्रय तथा उपभोग की बुराइयों से इन जनजातियों द्वारा स्वयं बनायी गयी मदिरा का कोई संबंध नहीं है। अपने घरों में बनायी गयी मदिरा सदियों से इनके जीवन का एक अभिन्न अंग रही है तथा इस मदिरा के उपभोग से इनके सामाजिक व आर्थिक ताने-बाने पर किसी प्रकार का बुरा प्रभाव नहीं पड़ा है।

प्रशासन में बाहरी मदिरा के विक्रय के पक्षधर एक दल का तर्क है कि ठेकेदारी प्रथा समाप्त करने से मदिरा के उपभोग में वृद्धि होने का डर है। दूसरी ओर जनजातीय कल्याण में रुचि रखने वाले लोगों का मानना है कि कोई भी सामाजिक परंपरा सदैव नियंत्रित रहती है। ऐसी स्थितियों में स्थानीय समुदाय मदिरा बनाने के अवसरों को सुनिश्चित करते हैं; समाज व परम्परा 'मनमानी' की अधिकतम सीमा

निर्धारित करेगें। जनजाति विकास व कल्याण का समर्थक एक दल सम्पूर्ण मद्य निषेध की विचारधारा पर बल देता है तथा इनके (जनजातियों) मूल्यों तथा परंपराओं को कोई महत्त्व नहीं देता।

ऐसे तत्व इस बात पर विचार नहीं करते कि घरेलू मदिरा इन जनजातियों के जीवन का एक अभिन्न अंग है। इनकी धार्मिक व पारंपरिक आवश्यकताओं की पूर्ति के साथ-साथ इस मदिरा से इन्हें स्वास्थ्य लाभ भी होता है तथा उनके कठिन व परिश्रमी जीवन में कुछ आनन्द की अनुभूति भी होती है। पारंपरिक मदिरा सेवन की प्रथा को त्यागना उनकी स्वेच्छा पर निर्भर करता हैं। बहुत-सी जनजातियाँ मदिरा पान की हानियों को भलीभाँति समझती हैं जिसके कारण अनेक जनजातीय क्षेत्रों में बाहरी मदिरा के सेवन के विरोध में आन्दोलन भी हुए हैं। बिहार व झारखंड का *भगत आन्दोलन* इसी प्रकृति का था। मदिरा पान के विरोध में कार्यरत सामाजिक संगठनों की सहायता के लिये विभिन्न शैक्षिक कार्यक्रमों को प्रारम्भ करना चाहिये। जब तक इस प्रकार के आन्दोलनों का नेतृत्व जनजातियों द्वारा स्वयं न किया जाय, उनके घरेलू मदिरा सेवन में हस्तक्षेप नहीं होनों चाहिये। इन्हें चावल व अन्य अनाजों के विभिन्न प्रयोगों के प्रति स्वयं जागरूक होना चाहिये; ऐसा होने पर वे स्वयं ही इस परंपरा को त्यागने की दिशा में क्रियाशील हो जायेंगे। जनजातियों की परिस्थितियों के प्रति अपने उत्तरदायित्व के अन्तर्गत सर्वप्रथम प्रशासन को जनजातीय क्षेत्रों से अजनजातीय ठेकेदारों को निष्कासित करके इनका कड़ा विरोध करना चाहिये।

## (viii) आवास (Housing)

जनजातियों के आवास की समस्या को निम्नलिखित दृष्टिकोणों से देखना चाहिये :

(अ) सुरक्षा/शरण

(ब) स्वच्छता

(स) अभिरुचियाँ/सौन्दर्यबोध

(द) लागत/मूल्य।

उपरोक्त पक्षों के साथ-साथ वातावरण की भूमिका भी महत्त्वपूर्ण है। विभिन्न आर्थिक व्यवस्थाओं तथा अलग-अलग जलवायु के साथ-साथ आवासों की बनावट भी एक समस्या है। अधिकतर जनजातीय लोगों को प्रकृति ने काफी सुरक्षा प्रदान कर रखी है। ये लोग अनुकूल स्थितियों में रहते हैं। छोटानागपुर में जनजातियों के सुन्दर आवासों को देखने तथा मैदानों की गर्मी से बचने के लिए बहुत से बाहरी लोग आते रहते हैं। शिलांग के आसपास की खासी पहाड़ियाँ तथा लुशाई या नागा पहाड़ियाँ भी

सुन्दर व शीतल हैं। कम ऊँचाई पर होने के पश्चात भी मध्य प्रदेश की मैकल पहाड़ियाँ शीतल व स्फूर्तिवर्द्धक हैं। टोडा तथा कोटा जनजातियों का आवास नीलगिरि पहाड़ियाँ, पर्यटकों के आकर्षण के केन्द्र हैं परन्तु असम की ब्रह्मपुत्र घाटी ग्रीष्म ऋतु में बहुत गरम हो जाती है। यहाँ पर बहुत-सी मैदानी जनजातियाँ रहती हैं। कुछ जिले जिनमें घने जंगल हैं हवा पानी रहित हैं तथा वहाँ पर धूल बहुत होती है। उ. प्र. के बाँदा व मिर्जापुर जिले जहाँ कोल जनजाति रहती है, सूखे, पथरीले तथा गरम इलाके हैं। इसके विपरीत हिमालय पहाड़ियों के ऊँचे स्थानों पर रहने वाली जनजातियों को बर्फ, हवाओं, तूफानों, वर्षा तथा हिमस्खलन जैसी कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। असम के कुछ क्षेत्र ऐसे हैं जहाँ पर भूचाल का खतरा बना रहता है तथा इन क्षेत्रों में रहने वाली जनजातियों को भूचाल की अनिश्चितताओं का सामना करना पड़ता है, परन्तु मनुष्य हर प्रकार की परिस्थिति के अनुसार रह लेता है। उसके आवास, उसके वस्त्रों की तरह आवश्यकतानुसार ही होते हैं। उत्तर-पूर्व के गर्म क्षेत्रों में बाँसों के मकान बनाये जाते हैं ताकि प्रचुर मात्रा में हवा आती रहे। इसी प्रकार जिन क्षेत्रों में अधिक वर्षा होती है या मिट्टी गीली रहती है वहाँ पर मकानों को ऊँचाई पर बनाया जाता है। ठंडे क्षेत्रों में अधिकतर मकान पत्थरों के या लट्ठों के बनते हैं।

जनजातियों में आवासों की उपयोगिता के साथ-साथ उनके कलात्मक पक्ष पर भी ध्यान दिया जाता है। बहुत-सी जनजातियाँ अच्छे मकानों में रहने को एक गर्व का विषय मानती हैं। दूसरी ओर कुछ छोटी जनजातियाँ हैं जो आवासों के महत्त्व पर ध्यान नहीं देतीं। ये लोग छोटी-मोटी झोपड़ियों में रहते हैं जो सदैव गन्दगी से घिरी रहती हैं जबकि बिरहोर जैसी अन्य जनजातियाँ पत्तों के घरों में रहती हैं। मकान बनाने की इस कला में बिरहोर परिवार के आवास में कोई कमी पाये जाने पर उसे जुर्माना देना पड़ता है। उपयोगिता तथा कलात्मक मूल्यों के समन्वय से सुन्दर मकान बनाने के लिये उत्तर-पूर्व क्षेत्र की गारो, मिशमी, नागा तथा रियांग जनजातियाँ प्रसिद्ध हैं। इनके आवास भूमि से काफी ऊँचाई पर होते हैं तथा इनमें धूप, हवा आने का पूरा प्रबन्ध रहता है। ये लोग अच्छे फर्श बनाते हैं तथा अपने घरों को साफ सुथरा रखते हैं। मध्य प्रदेश-छत्तीसगढ़ के गोंड, आन्ध्र प्रदेश के कोया तथा बगटा, उड़ीसा के गदाबा तथा सओरा तथा बिहार-झारखंड के ओराँव व संथाल भी इसी प्रकार के साफ-सुथरे व कलात्मक आवासों का निर्माण करते हैं। जनजातियों में आवासीय समस्या इतनी गंभीर नहीं है परन्तु सभी जनजातियों को यह सुविधा आसानी से उपलब्ध नहीं हैं। विशेषतया मैदानों में रहने वाली जनजातियों की आवासीय समस्या गम्भीर हैं। इन लोगों के पास भूमि व आवास की नितान्त कमी है। इसका ज्वलंत

उदाहरण है आन्ध्र प्रदेश की येनादी जनजाति जिसे जलवायु, पुलिस तथा जमींदारों की कृपा पर जीना पड़ता है। आवास की सभी योजनाओं पर विशेष ध्यान देना आवश्यक है। अधिकतर ये जनजातियाँ सड़क के दोनों ओर तथा नालों के किनारे अपने अस्थायी आवास बनाकर जीवन निर्वाह करती हैं।

जनजातीय विकास पर अध्ययन कर रहे योजना आयोग के एक दल की रिपोर्ट (1969) के अनुसार जनजातीय आवास योजनाओं को बनाते समय पहाड़ी क्षेत्रों तथा मैदानों की जनजातियों को अलग-अलग रख कर विचार होना चाहिये, तथा सभी आवास स्थानीय आवश्यकताओं, अभिरुचियों तथा परंपराओं के अनुसार होने चाहियें।

सरकार द्वारा निर्धन जनजातियों को उपलब्ध कराये जाने वाले अधिकतर आवास इनकी आवश्यकतानुसार नहीं होते हैं। इन आवासों का नक्शा अक्सर एक ऐसा वास्तुकार बनाता है जो कभी जनजातीय बस्तियों या आवश्यकताओं, परंपराओं तथा संस्कृति से बिल्कुल अनभिज्ञ होता है। इन जनजातियों के विश्वासों, परंपराओं तथा रीतिरिवाजों पर ध्यान दिये बगैर कोई भी आवासीय योजना सफल नहीं हो सकती। नगरीय संस्कृति के आधार पर बने आवास इन जनजातियों को स्वीकार्य नहीं होंगे। किसी भी आवास योजना के बनने से पूर्व जनजातियों से उनकी आवश्यकताओं के संबंध में वार्तालाप किया जाना आवश्यक होना चाहिये। इसका तात्पर्य यह नहीं कि इनकी आवासीय स्थितियों में सुधार न किया जाये बल्कि इसका आशय यह है कि मकानों की संरचना के संबंध में इन जनजातीय लोगों के विचारों तथा विश्वासों को ध्यान में रखकर सुधार किया जाये। इसके साथ-साथ स्थान का चयन तथा आवासों की संरचना भी इनके रीतिरिवाजों के अनुसार ही होनी चाहिये।

जनजातियों की आवासीय समस्या को सुलझाने में वन विभाग भी बाधक है। अफसरशाही तथा संकीर्ण दृष्टिकोण के कारण वन सम्पदा के प्रयोग पर जो रोक लगा दी गई है, उसके कारण सम्पूर्ण वन नीति जनजातीय कल्याण कार्यक्रम में एक बड़ी बाधा के रूप में सामने आई है। आवश्यक वस्तुओं का संकलन करने के लिये किसी वन अधिकारी की स्वीकृति पाना इन जनजातियों के लिये बहुत कठिन हो गया है। कड़े नियमों के चलते इन लोगों को मकान बनाने या उसमें सुधार करने के लिये लकड़ी बहुत कठिनाई से प्राप्त होती है। ऐसी स्थितियाँ न केवल जनजातियों का जीवन और कठिन बनाती हैं बल्कि उनमें असंतोष की भावना भी पैदा करती हैं जो उन्हें अलगाववादी आन्दोलन के लिये प्रेरित कर सकती हैं। आन्ध्र प्रदेश की येनादी, येरकुला तथा सुगाली जनजातियाँ, महाराष्ट्र की कटकारी, गुजरात की डुबला व

नाईक, हिमाचल प्रदेश की गूजर, केरल की पनियान तथा कर्नाटक की कुरुंबा जैसी छोटी व निर्धन जनजातियों को आवासीय योजनाओं में प्रथमिकता मिलनी चाहिये। परन्तु यह बात स्पष्ट रूप से समझनी चाहिये कि बड़े से बड़ा मकान भी जनजातीय लोगों के लिये व्यर्थ है, यदि इसकी संरचना जनजातियों की आवश्यकतानुसार नहीं की गई है।

## (ix) शिक्षा (Education)

अन्य सामाजिक व आर्थिक पक्षों की भाँति शिक्षा के क्षेत्र में भी जनजातीय लोग अलग-अलग स्तरों पर हैं। जनजातीय समूहों पर औपचारिक शिक्षा का प्रभाव बहुत कम पड़ा है। भूतपूर्व प्रयासों के फलों को अधिक विस्मय से नहीं देखना चाहिये क्योंकि 1950 से पहले जनजातीय लोगों को शिक्षित करने के लिये भारत सरकार की कोई भी प्रत्यक्ष योजना नहीं थी। संविधान के प्रभावी होने के पश्चात् अनुसूचित जनजाति के लोगों के शिक्षा स्तर में वृद्धि करना केन्द्र तथा राज्य सरकारों का उत्तरदायित्व हो गया है। जनजातीय जनसंख्या में औपचारिक शिक्षा के विस्तार का अनुमान जनगणना के आँकड़ों से लगाया जा सकता है। 1931 की जनगणना के अनुसार केवल 0.7 प्रतिशत जनजातीय लोग ही शिक्षित थे। 1991 में यह संख्या बढ़कर 29.60 प्रतिशत हो गयी जबकि पूरे देश में लगभग 50 प्रतिशत शिक्षित लोग थे। जनजातीय महिलाओं में शिक्षा की दर बहुत कम है। उत्तर-पूर्वी क्षेत्रों की खासी तथा गारो आदि जनजातियों को छोड़कर जिन्होंने ईसाई मिशनरियों से खूब लाभ उठाया, पूरे जनजातीय समाज में शिक्षा का स्तर अच्छा नहीं है। शिक्षा समान स्तर पर रहने तथा समान अवसरों को प्राप्त करने का प्रभावी मापदण्ड नहीं है। ऐसी स्थिति में जनजातीय लोग देश के अन्य लोगों से बहुत पीछे रह जाते हैं। हमें इस स्थिति का विश्लेषण करना चाहिये।

### सामाजिक तथ्य

सरकार द्वारा अधिक से अधिक स्कूल खोलने तथा शिक्षा पर अधिक व्यय करने से भी जनजातीय लोगों की शिक्षा पर अधिक प्रभाव नहीं पड़ा है। इस प्रकार की शैक्षिक नीतियों के निर्धारण में सामाजिक पक्ष बहुत महत्त्वपूर्ण होता है। जनजातियों के लिये केवल औपचारिक शिक्षा की अधिक आवश्यकता नहीं है। इनके लिये ऐसी शिक्षा नीति लाभदायक होगी जिसके अन्तर्गत उन्हें शिक्षित करने के साथ-साथ उनके अंधविश्वासों तथा पूर्वाग्रहों को भी दूर किया जा सके।

उत्तर-पूर्व की कुछ जनजातियों के अतिरिक्त अधिकतर जनजातियों में यह भावना तथा विश्वास व्याप्त है कि शिक्षा से उनके बच्चे उनसे अलग हो जाते हैं। इस प्रकार की कुछ घटनाओं ने इन्हें बाहरी शिक्षा से दूर रहने को प्रेरित किया। इसके अतिरिक्त बहुत-सी जनजातियों का मानना है कि बच्चों को बाहरी लोगों द्वारा चलाये जा रहे स्कूलों में भेजने से उनके देवता क्रुद्ध हो जायेंगे।

## आर्थिक पक्ष

जनजातियों द्वारा शिक्षा की ओर कम ध्यान देने के आर्थिक कारण भी हैं। अधिकतर जनजातीय परिवार इतने निर्धन हैं कि वे लोग अपने बच्चों को स्कूल नहीं भेज सकते है। एल्विन (1963) के अनुसार "एक जनजातीय परिवार के लिये अपने बच्चों को स्कूल भेजना आवश्यक रूप से आर्थिक स्थिति पर निर्भर करता है। इससे इनके जीवनयापन के संघर्ष तथा पारंपरिक श्रम विभाजन की योजना गड़बड़ा जाती है—बहुत से माँ-बाप ऐसी स्थिति में नहीं होते कि अपने बच्चों को स्कूल भेज सकें।" एल. आर. एन. श्रीवास्तव (1968) द्वारा जनजातियों की शैक्षिक स्थिति पर किये गये सर्वेक्षण के आधार पर यह कहा जा सकता है कि शिक्षा के प्रति उदासीनता का महत्त्वपूर्ण कारण है, इन जनजातियों की आर्थिक स्थिति। अधिकतर जनजातियों को खाने के लिये पर्याप्त मात्रा में भोजन तक नहीं मिलता। ऐसी स्थिति में ये लोग शिक्षा की बात सोच भी नहीं सकते। बच्चों को स्कूल भेजने से एक ओर तो एक कमाने वाला कम हो जाता है तथा दूसरी ओर उसकी शिक्षा पर व्यय होता है। वर्तमान शिक्षा प्रणाली के अन्तर्गत कोई भी बच्चा कम से कम दस साल बाद ही परिवार की आर्थिक स्थिति सुधारने में सहायक हो सकता है। इन परिवारों की विवशता है कि ये लोग इतने धैर्य का परिचय नहीं दे सकते। ऐसी शिक्षा प्रणाली इन्हें संतुष्ट कर सकती है जिससे इन्हें तत्काल लाभ होना प्रारम्भ हो जाय।

## औपचारिक शिक्षा में रुचि की कमी

शर्मा (1976) के अनुसार "शिक्षा की शहरी मध्यवर्गीय प्रणाली पूरे भारत में एक ही ढाँचे व विषयवस्तु के साथ विस्तृत कर दी गयी।" अधिकतर राज्यों में जनजातीय व अजनजातीय दोनों ही प्रकार के छात्र समान पुस्तकों का अध्ययन करते हैं। इस प्रकार की पुस्तकें जनजातीय छात्रों में किसी प्रकार की रुचि उत्पन्न करने में असमर्थ रहती हैं। तकनीकी विकास, आविष्कारकों, आधुनिक भारत के निर्माताओं, भूगोल व इतिहास के स्थान पर इन्हें अपनी पृष्ठभूमि, अपने इतिहास तथा जनसांख्यिकी से

अवगत कराकर इन्हें एक प्रणालीबद्ध तरीके से शिक्षित करना अधिक लाभकारी होगा। एल. आर. एन. श्रीवास्तव (1968) ने इस समस्या पर व्यावहारिक विचार प्रस्तुत करते हुये कहा कि "आधुनिक सभ्यता से दूर अलग तथा दूरवर्ती क्षेत्रों में रहने वाला जनजातीय बच्चा देश के भूगोल व इतिहास, औद्योगीकरण, तकनीकी विकास, महत्त्वपूर्ण व्यक्तियों के प्रति कम रुचि रखेगा। उसे तो अपने पड़ोसी समुदायों, ग्राम्य जीवन, सामाजिक संगठनों, रीति-रिवाजों, विश्वासों तथा परंपराओं के विषय में जानकारी दी जानी चाहिये। उसके पश्चात् उसे उसके देश की विभिन्न स्थितियों से अवगत कराना चाहिये। इस प्रणालीबद्ध तरीके से उसके गाँव, राज्य, देश तथा विदेशों से संबंधित जानकारी उसके विकास में सहायक होगी।"

भारत में शिक्षा का प्रसार बिल्कुल अनियोजित तरीके से हुआ है तथा इसका विस्तार करते समय भविष्य की आवश्यकताओं पर बिल्कुल ध्यान नहीं दिया गया है। जनजातीय शिक्षा योजना भी इसी जल्दबाजी का शिकार हुई है। एस. एन. रथ (1981) ने निम्न सुझाव देने के साथ-साथ समस्या का स्पष्ट विश्लेषण भी किया है :—

(1) पारंपरिक रूप से प्रशिक्षित एक जनजातीय बच्चा अपने वातावरण से पूर्ण रूप से अवगत होता है। वह अपने घर का बनाना, खेती करना, कपड़ा बुनना आदि ऐसे सभी कार्यों से परिचित होता है जो उसे अपनी संस्कृति में ठीक-ठाक जीवनयापन करने में सहायक होते हैं। औपचारिक शिक्षा का इस प्रकार के जीवन से कोई तारतम्य नहीं है। अतः एक ऐसे पाठ्यक्रम तथा प्रणाली की संरचना होनी चाहिये जो जनजातीय परंपराओं, रीतिरिवाजों, स्थानीय आवश्यकताओं तथा राष्ट्रीय शिक्षा योजना में एक संतुलन स्थापित कर सके।

(2) ऐसे पाठ्यक्रम में शिल्पकलाओं को महत्त्व देने के साथ-साथ श्रम के सम्मान की भावना, सहकारिता तथा सामाजिक अनुशासन जैसे आवश्यक पक्षों पर अधिक बल दिया जाना चाहिये। खेलकूद तथा अन्य गतिविधियों के अन्तर्गत कृषि, नृत्य, शिकार, जनजातीय खेलों तथा तीरंदाजी आदि को सम्मिलित किया जाना चाहिये जिससे उनमें अपनत्व की भावना जागृत हो।

(3) ऐसी योजनायें बननी चाहिये जिनकी सहायता से माता-पिता तथा स्कूल व शिक्षकों के बीच संबंध स्थापित हो सके। पढ़ने-लिखने की शिक्षा के साथ-साथ स्कूलों में प्रारम्भिक तकनीकी ज्ञान भी दिया जाना चाहिये तथा इन स्कूलों को सामाजिक परिवर्तन का एक प्रभावी केन्द्र होना चाहिये।

छात्रों, शिक्षकों तथा माताओं-पिताओं के परस्पर संबंधों से एक मैत्रीपूर्ण वातावरण बनना चाहिये जिससे शिक्षा के उन उद्देश्यों की पूर्ति हो सके जिनके द्वारा हम एक सामान्य नागरिक को सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक पक्षों तथा अन्य गतिविधियों से अवगत कराने का प्रयास करते हैं।

(4) इस प्रकार की आदर्श योजना की सफलता समुचित रूप से प्रशिक्षित व समर्पित शिक्षकों पर ही निर्भर करती है।

## उपयुक्त शिक्षक

जनजातियों की शिक्षा के धीमे विकास का एक महत्त्वपूर्ण कारण है उपयुक्त शिक्षकों की कमी। अधिकतर गैर-जनजातीय शिक्षक, जो जनजातीय बच्चों को पढ़ाते हैं, उनके जीवन मूल्यों तथा रहन सहन को हेय दृष्टि से देखते हैं; उन्हें असभ्य तथा जंगली समझते हैं। अनुसूचित क्षेत्र व अनुसूचित जनजाति आयोग के अनुसार जनजातीय क्षेत्रों में शिक्षा देने वाले शिक्षकों को वहाँ की जीवन तथा संस्कृति के बारे में विस्तृत जानकारी होनी चाहिये तथा वहाँ की भाषा का ज्ञान होना चाहिये। ऐसी स्थितियों में ही शिक्षक उनसे मित्रतापूर्ण व्यवहार करने तथा सफलतापूर्वक शिक्षा देने के साथ-साथ जनजातियों के विश्वासपात्र भी बन सकते हैं। अधिकतर जनजातीय समुदायों से ही शिक्षकों का चयन करना चाहिये या शिक्षकों का एक पृथक् समूह बनाना चाहिये जो जनजातीय क्षेत्रों में जाकर उनकी शैक्षिक आवश्यकताओं की पूर्ति कर सके।

## सुविधाओं की कमी

जनजातीय शिक्षा के विकास में भाषा भी एक बड़ी बाधा है। अधिकतर जनजातीय भाषायें मौखिक हैं जिनकी कोई लिपि नहीं है। ऐसी स्थितियों के कारण शिक्षा का माध्यम एक बड़ी समस्या हो गया है। अधिकतर राज्यों में जनजातीय तथा अन्य जनसंख्या को एक ही क्षेत्रीय भाषा में शिक्षित किया जा रहा है जिसके कारण अधिकतर जनजातियों में रुचि की कमी हो गई है। इसके अतिरिक्त क्षेत्रीय भाषा में शिक्षा देने से जनजातीय संवेदनाओं को भी धक्का लगता है। अतः ऐसी प्रणाली खोजना अत्यन्त आवश्यक हो गया है जिसके द्वारा शिक्षा को अधिक रुचिकर तथा लाभदायक बनाया जा सके।

जनजातियों के निवास स्थानों के कारण भी शिक्षा का विकास धीमा रहा है। अधिकतर जनजातीय ग्राम दूर-दूर हैं तथा स्कूलों तक पहुँचने के लिये लम्बी दूरी तय करनी पड़ती है। ग्रामों के निकट तथा स्थानीय लोगों की स्वीकृति से स्कूल खोले जाने की स्थिति में ही शिक्षा योजना सफल हो सकती है।

स्कूलों के भवन भी शिक्षा के विकास में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। भ्रष्टाचार, वित्तीय कठिनाइयों, प्रबंधन में ढीलेपन के कारण अधिकतर भवन स्कूल बनाये जाने के योग्य नहीं होते।

एस. एन. रथ (1981) ने स्थितियों का व्यावहारिक विवरण देते हुये कहा कि जीर्ण शीर्ण भवन जिनमें अधिकतर छत भी नहीं होती तथा जो गाँवों से दूर स्थित किसी प्रहरी का आभास देते हैं, स्कूल कहे जाते हैं।

शिक्षकों की संख्या एक और समस्या है। जनजातीय क्षेत्रों के अधिकतर प्रारम्भिक स्कूलों में एक ही शिक्षक होता है। प्रशिक्षित शिक्षकों की कमी इसका कारण हो सकता है परन्तु किसी भी शिक्षक से लगातार छह से आठ घंटे नित्य पढ़ाने की आशा करना अनुचित होगा।

स्कूलों के खुलने तथा उनकी अवधि दोनों तथ्य जनजातियों को अपने बच्चों को स्कूल भेजने की उत्सुकता को निर्धारित करते हैं। स्कूल का समय उनकी महत्त्वपूर्ण आर्थिक व सामाजिक तथा अन्य गतिविधियों में बाधा नहीं होनी चाहिये।

### निष्क्रियता तथा अपव्यय

बहुत से शिक्षक यह मानते हैं कि जनजातीय क्षेत्रों में शिक्षा की समस्या अपव्यय की समस्या है। ऐसा नहीं है कि निष्क्रियता तथा अपव्यय केवल जनजातीय क्षेत्रों में ही है। परन्तु इसकी मात्रा जनजातीय क्षेत्रों में अधिक है। स्कूलों में अधिकतर छात्र अनुपस्थित रहते हैं। परीक्षाओं में सफल होने वालों की संख्या और भी कम है। मुख्य समस्या तो ऐसी आर्थिक व सामाजिक स्थितियों को बनाने की है जो शिक्षा में रुचि रखने वाले जनजातीय छात्रों की आवश्यकतानुसार हो।

## (x) संचार (Communication)

सदियों से जनजातियाँ दूरवर्ती तथा अलग-अलग क्षेत्रों में रहती आयीं हैं। संचार माध्यमों की कमी इसका मुख्य कारण है। जनजातीय क्षेत्रों के विकास तथा वहाँ की आर्थिक स्थितियों में सुधार करने के लिये संचार व्यवस्था का होना अत्यन्त आवश्यक है।

जनजातीय क्षेत्रों में संचार व्यवस्था की समस्या को दो प्रकार से समझा जा सकता है :

(1) जनजातियों की आवश्यकता
(2) जनजातीय क्षेत्रों का सम्पूर्ण विकास।

संचार व्यवस्थाओं के विस्तार की कुछ हानियाँ भी हैं। इन व्यवस्थाओं की सहायता से बहुत से बाहरी तत्वों को इन क्षेत्रों में आकर सीधे-साधे जनजातीय लोगों को

शोषित करने का अवसर मिल जाता है।

दूसरी ओर संचार व्यवस्था के विकास से होने वाले लाभों की उपेक्षा नहीं की जा सकती। इन क्षेत्रों में संचार व्यवस्था का विकास करते समय जनजातियों की आवश्यकताओं को ध्यान में रखना चाहिये।

जनजातीय क्षेत्रों में संचार व्यवस्था का विकास बहुत तेजी से हुआ है। एस. एन. रथ (वही) के अनुसार "जितना कि हम समझते हैं, उससे अधिक गति से विकास हुआ है। अधिकतर क्षेत्रों में इतनी तेज गति से विकास हुआ कि जनजातीय लोगों की जागरूकता व चेतना पीछे छूट गयी। अतः संतुलन बनाये रखने की आवश्यकता है जिससे तीव्र गति का विकास जनजातीय लोगों पर विपरीत प्रभाव न डाले। विकसित क्षेत्रों की इन जनजातियों को बाहरी तत्वों के शोषण से बचाना भी राज्य का उत्तरदायित्व होगा।"

अनुसूचित क्षेत्र व अनुसूचित जनजाति आयोग के अनुसार जनजातीय क्षेत्रों में संचार की समस्या पर पाँच विभिन्न पक्षों से विचार-विमर्श किया जा सकता है।

(1) राष्ट्र की आवश्यकताओं तथा सुरक्षा के लिये आवश्यक सड़कें तथा अन्य संचार व्यवस्थायें।
(2) औद्योगिक विकास के लिये आवश्यक सड़कें तथा अन्य संचार व्यवस्थायें।
(3) प्रशासन के लिये आवश्यक सड़कें तथा अन्य व्यवस्थायें।
(4) व्यवसाय तथा व्यावसायिक गतिविधियों के लिये सड़कें तथा अन्य संचार व्यवस्थायें।
(5) जनजातियों के हित में आवश्यक सड़कें तथा अन्य संचार व्यवस्थायें।

आयोग के अनुसार पहले तथा पाँचवें पक्ष को प्राथमिकता देनी चाहिये तथा दूसरे व तीसरे पक्ष पर उसके बाद विचार किया जाना चाहिये। व्यावसायिक आँकड़ों तथा जनजातीय लोगों को हो रहे लाभ का समुचित अध्ययन करने के पश्चात ही पाँचवें पक्ष पर निर्णय होना चाहिये।

जनजातीय जनसंख्या के लिये सड़कें सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण साधन हैं। तुलनात्मक विकास के अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि इस संबंध में अभी बहुत कार्य होना शेष है। अन्य ग्रामीण व नगरीय क्षेत्रों की तुलना में जनजातीय क्षेत्रों में सड़कें बहुत कम हैं। जनजातीय क्षेत्रों की बहुत-सी नदियों में आज तक पुल नहीं बने हैं। बहुत से ऐसे क्षेत्र हैं जो वर्ष के कुछ महीनों में देश के शेष भागों से बिल्कुल कट जाते हैं।

जनजातियों के लिये ऐसी सड़कें अधिक लाभप्रद होंगी जो उन्हें वनों तथा साप्ताहिक हाटों, अस्पतालों तथा स्कूलों तक पहुँचायें। ऐसी सड़कें जो साल भर प्रयोग

में आ सकें तथा जिन पर जीप व बैलगाड़ी आदि चल सकें और भी उपयोगी होंगी। इस प्रकार की योजनाओं की संरचना के समय स्थानीय लोगों से परामर्श करना जनजातियों की आवश्यकता पूर्ति में सहायक सिद्ध होगा। उन्हीं क्षेत्रों में उपलब्ध सामग्री का प्रयोग निर्माण व्यय में कमी ही करेगा। सड़क निर्माण का कार्य ऐसे समय किया जाय जब कृषि तथा अन्य कार्य नहीं होते। इससे स्थानीय लोग इन निर्माण कार्यों में लगकर धन भी कमा सकते हैं जिससे इनकी आवश्यकतायें पूरी हो सकें।

बहुत से जनजातीय लोग अच्छे कृषक होते हैं जो चावल, अनाजों तथा फलों की विभिन्न किस्में पैदा करते हैं। निर्मित मार्गों की सहायता से यह उत्पादन दूर शहरों के बाजारों में जाते हैं जिससे अधिक लाभ मिलने की संभावनायें बढ़ जाती हैं। मार्गों के न होने की स्थिति में इन कृषकों को अपना माल वहीं पर सस्ते में बेचना पड़ता है। गाँवों में सड़क, पुल तथा रास्ते बनाने के कार्य को प्राथमिकता दी जानी चाहिये।

धीरे-धीरे सुदूरवर्ती तथा दुर्गम जनजातीय क्षेत्रों में भी डाकतार व्यवस्था पहुँचती जा रही है परन्तु दुर्भाग्यवश इन क्षेत्रों में डाकिये डाकतार विभाग के नियमित कर्मचारी नहीं है। ये डाकिये डाक बाँटने के लिए अस्थायी रूप से नियुक्त किये जाते हैं तथा कार्य पूरा हो जाने पर उनकी सेवायें समाप्त कर दी जाती हैं।

इन क्षेत्रों के डाकखानों का प्रबन्ध अधिकतर शिक्षकों द्वारा किया जाता है। इनमें नियमित कर्मचारियों की नियुक्ति नहीं की जाती। ऐसी स्थितियों में स्थानीय लोगों को कठिनाई का सामना करना पड़ता है। इन डाकखानों में जनजातीय लोगों कीं नियुक्ति एक ओर तो स्थानीय लोगों को रोजगार देगी तथा दूसरी ओर अब तक उपेक्षित क्षेत्रों में डाकतार की व्यवस्था में निश्चित सुधार आयेगा।

दूरभाष तथा वायु संचार की दिशा में अभी बहुत कुछ होना शेष है। बहुत से ऐसे क्षेत्र हैं जहाँ पर दूरभाष या वायु संचार की कोई व्यवस्था नहीं है। कठिनाइयों का सामना कर रही जनजातियों के लिये ये सुविधायें बहुत ही उपयोगी सिद्ध होंगी। बहुत से जनजातीय क्षेत्रों में सुरक्षा तथा पुलिस बलों के कारण ये सुविधायें उपलब्ध हैं। निवृत सुविधाओं की अनुपस्थिति में जनजातियों को पुलिस तथा सुरक्षा बलों की ये सुविधायें निःशुल्क उपलब्ध होनी चाहिए।

संचार व्यवस्थाओं का विकास जनजातियों की राष्ट्रीय जागरूकता तथा बौद्धिक विकास में निश्चित रूप से सहायक होगा। ये संचार व्यवस्थायें जनजातीय क्षेत्रों की आर्थिक स्थितियों के सुधार में भी एक महत्त्वपूर्ण भूमिका निभायेंगी। इतिहास साक्षी है कि जब भी जनजातीय क्षेत्रों में विकास की योजनायें कार्यान्वित की गयीं, स्थानीय लोग बुरी तरह से शोषित हुये। अतः योजनाओं को बनाते तथा कार्यान्वित करते समय इन जनजातीय लोगों को बाहरी तत्वों के शोषण से बचाने की समुचित व्यवस्था पर भी उपयुक्त बल दिया जाना चाहिये।

# (xi) औद्योगीकरण व नगरीकरण
# (Industrialization and Urbanization)

भुखमरी तथा शोषण विश्वभर की जनजातियों की मूल समस्या है। भारत भी इसका अपवाद नहीं है। आश्चर्यजनक तथ्य यह है "हमारी कुछ जनजातियाँ ऐसे क्षेत्रों में रहती हैं जो वनों तथा खनिजों जैसी प्राकृतिक संपदाओं से भरे पड़े हैं।" स्वतंत्रता के बाद कच्चे माल तथा विद्युत सिंचाई की विस्तृत परियोजनाओं में इन प्राकृतिक संपदाओं का प्रयोग किया गया। राऊरकेला, भिलाई, बैलाडिला तथा हीराकुण्ड परियोजनायें इसका उत्कृष्ट उदाहरण हैं।

जनजातियों का आर्थिक उत्थान इन विकास योजनाओं का तर्कसंगत परिणाम होना चाहिये था परन्तु ऐसा नहीं हुआ। इन सीधे-सादे लोगों की भूमि ले ली गयी तथा इन्हें इस भूमि के बहुत कम दाम दिये गये। जो धन इन्हें भूमि के बदले मिला उसे इन लोगों ने मदिरा पान तथा अन्य जनजातीय उत्सवों में व्यय कर दिया। इस प्रक्रिया में अधिकतर परिवार भूमिरहित तथा कंगाल हो गये। इन परियोजनाओं में जिस प्रकार के प्रशिक्षित लोगों की आवश्यकता थी वैसा प्रशिक्षण जनजातीय युवाओं को नहीं दिया गया। प्रारम्भ में अवश्य इन्हें कुछ रोजगार मिला परन्तु निर्माण कार्य समाप्त हो जाने पर यह लोग बेकार हो गये। इसका कारण था इनका प्रशिक्षित न होना। ऐसी स्थितियों में बाहरी लोग इन क्षेत्रों में आ गये। तकनीकी रूप से प्रशिक्षित न होने के कारण इन जनजातियों को अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। ऐसी योजनायें निश्चित रूप से देश के लिए अत्यन्त लाभकारी हैं परन्तु जनजातीय लोगों के हितों की उपेक्षा करना भी न्यायसंगत नहीं है।

भारतीय जनजातियों पर टिप्पणी करते हुय कार्ल मार्क्स ने सत्य ही कहा है कि औद्योगीकरण की प्रक्रिया में ये लोग अपने मौलिक वातावरण तथा स्थानों से वंचित हो जाते हैं तथा इस आधुनिकीकरण से उन्हें कोई लाभ नहीं मिलता। इसके कारण इन जनजातियों की व्यथाओं तथा कठिनाइयों में वृद्धि ही होती है।

जनजातीय क्षेत्रों में औद्योगीकरण के कारण उत्पन्न समस्याओं को निम्न प्रकार से विभाजित किया जा सकता है :–

## विस्थापन तथा पुनर्वास

जनजातीय क्षेत्रों के औद्योगीकरण से जनजातीय आर्थिक व्यवस्था में सुधार होगा, यह विचार मिथ्या ही सिद्ध हुआ। जनजातीय क्षेत्रों की प्रमुख औद्योगिक योजनाओं ने न केवल उन्हें अपने घरों से बेघर कर दिया वरन् उन्हें किसी प्रकार का रोजगार भी नहीं दिया जिससे कि ये लोग अपने पारंपरिक वातावरण में जीवनयापन कर सकते।

यहाँ तक कि सार्वजनिक उपक्रमों के अंतर्गत आने वाली योजनाओं के प्रशासकों ने उन्हें भूमि का दाम देकर अपना तथाकथित "कर्त्तव्य" पूरा कर दिया। भूमि के बदले में प्राप्त धन शीघ्र ही समाप्त हो गया तथा इस औद्योगीकरण तथा विकास ने इन सीधे-सादे जनजातीय लोगों को उनके अपने ही क्षेत्र में निराश्रित कर दिया।

झारखंड की मैथन, कोनार तथा पचेत जैसी प्रमुख विद्युत परियोजनायें, उड़ीसा की मंडीरा, माथकुड तथा हीराकुड परियोजनायें, पश्चिमी बंगाल, मध्य प्रदेश तथा झारखंड की राउरकेला, दुर्गापुर, भिलाई, राँची तथा जमशेदपुर की स्टील परियोजनायें ऐसी कुछ परियोजनायें हैं जो जनजातियों के विस्थापन का कारण बनीं।

जनजातियों के पुनर्वास की योजना की असफलता के कुछ कारण निम्न हैं :

(अ) इन जनजातीय लोगों ने प्राप्त वैकल्पिक सुविधाओं का अधिक लाभ नहीं उठाया। जनजातीय युवक औद्योगिक रोजगार तथा आसानी से प्राप्त धन के प्रति अधिक आकर्षित हुये।

(ब) प्रशासन द्वारा प्रतिदान में दी गयी कृषि भूमि में सिंचाई की उचित व्यवस्था न होने के कारण उसकी उपज परिवारों के लिये पर्याप्त नहीं थी।

(स) प्रतिदान में मिली धनराशि को उत्पादक कार्यों में नहीं लगाया गया। इसका अधिक उपयोग दैनिक व्ययों में होता है।

## मनोवैज्ञानिक, सामाजिक व सांस्कृतिक सामंजस्य

औद्योगीकरण से समस्त जनजातीय क्षेत्रों में सभी प्रकार के लोगों का आगमन प्रारम्भ हो जाता है, जिसके कारण जनजातियों की शुचिता पर आघात पहुँचता है। दास व बनर्जी (1962) के अनुसार औद्योगीकरण से निम्न ऐसे परिवर्तन होते हैं जिनसे जनजातीय लोगों को सामंजस्य स्थापित करना पड़ता है :

(1) पीढ़ियों से कृषक प्रवृत्ति के जनजातीय लोगों ने कारखानों के दैनिक जीवन को पूर्णतया आत्मसात नहीं किया है। ये लोग केवल आर्थिक उद्देश्यों से ही इन कारखानों में काम करते हैं।

(2) सदियों से ऋतुओं के अनुसार कार्य करने वाले ये जनजातीय कृषक कारखानों के उबाऊ दैनिक कार्य को पसन्द नहीं करते जिसका प्रभाव इनकी उत्पादन क्षमता पर पड़ता है।

(3) औद्योगीकरण ने व्यक्तिपरक प्रवृत्तियों को बढ़ावा दिया है जिसके कारण पारस्परिक संबंधों की प्रगाढ़ता में कमी आयी है। आर्थिक दुर्बलता तथा कम सुविधायें इस प्रकार की प्रवृत्ति के मुख्य कारण हैं।

(4) बड़ों के पारंपरिक अधिकारों तथा उनके सम्मान में कमी आयी है।

(5) युवा पीढ़ी द्वारा विवाह संबंधी पारंपरिक नियमों का उल्लंघन आम बात हो गई है। कभी-कभी तो ये युवा अपने समुदाय से बाहर विवाह करते हैं। तलाक की घटनायें बढ़ गयी हैं।

(6) आर्थिक दुर्बलता तथा समय की कमी के कारण विवाह के पारंपरिक रीति-रिवाजों को कम कर दिया गया है।

(7) अलग-अलग क्षेत्रों के विभिन्न समुदायों से सम्पर्क स्थापित होने के कारण इन जनजातियों की विचारधारा विस्तृत हुई है तथा इनके अन्धविश्वासों व रीति-रिवाजों से संबंधित कड़ी मान्यताओं में कमी आई है। इसके अतिरिक्त अन्य दूसरे समुदायों तथा उनकी संस्कृति को समझने तथा उसे अपनाने में इन्हें सहायता मिली है।

(8) देश की अन्य जनसंख्या के साथ धीरे-धीरे घुल-मिल रहे इन जनजातीय लोगों की परंपरागत सांस्कृतिक मान्यतायें भी धीरे-धीरे लुप्त हो रही हैं

इस प्रकार इन सांस्कृतिक सम्पर्कों का नतीजा सकारात्मक तथा नकारात्मक दोनों रूप से निकला। श्रम की इकाई तथा तरीका एक और पक्ष है जिससे ये जनजातीय लोग सामंजस्य स्थापित करने का प्रयास कर रहे हैं।

इनकी पारंपरिक कृषि अर्थव्यवस्था में पूरा परिवार एक साथ मिलकर एक श्रमिक इकाई के रूप में कार्य करता था जबकि कारखानों में ये अलग-अलग रहकर कार्य करते हैं। मनोवैज्ञानिक, सामाजिक तथा सांस्कृतिक सामंजस्य की समस्या से संबंधित अधिक आँकड़े उपलब्ध नहीं है जिसके कारण इस पक्ष पर औद्योगीकरण के प्रभाव का सही-सही अनुमान लगाना कठिन है, परन्तु यह बिल्कुल स्पष्ट है कि एक सीमित तथा पारंपरिक समाज के लोगों को शिक्षा तथा संसाधनों के बिना ही एक सार्वभौम सभ्यता तथा वृहत् समाज के साथ सामंजस्य स्थापित करने पर विवश किया जा रहा है। ऐसी स्थितियों में ये लोग अपनी पहचान खोते जा रहे हैं तथा उसे बचाने में प्रयत्नरत हैं। नुकसान का यह एहसास उनमें केवल अलगाववाद व आक्रोश ही उत्पन्न करता है।

## (xii) निर्जनीकरण/जनह्रास (Depopulation)

निर्जनीकरण/जनह्रास की समस्या जनजातीय भारत की एक दुर्भाग्यपूर्ण तस्वीर पेश करती है। निर्जनीकरण की समस्या को दो पहलुओं से समझा जा सकता है—एक पहलू सामाजिक-सांस्कृतिक है तथा दूसरा जैविक/जीववैज्ञानिक। यदि कोई मानव समूह किसी कारणवश अपना मूल निवास क्षेत्र छोड़कर कहीं और जा बसे और उसके

पड़ोसी समुदायों तक को उसका अतापता न रहे तो वह व्यावहारिक तौर पर अपने मूलनिवास के लोगों, प्रशासकों या समाज विज्ञानियों के लिये जनह्रास का एक केस बन जाते हैं। शोषण, वंचन तथा उपेक्षा या प्राकृतिक विपदाओं के कारण बहुत से जनजातीय समूह इसी प्रकार निर्जनीकरण का शिकार हो चुके हैं। क्रुक्स, थर्सटन जैसे अंग्रेज प्रशासकों द्वारा संकलित जिलेवार/क्षेत्रवार पुस्तिकाओं में ऐसे अनेक समुदायों की चर्चा मिलती है जो अब हमें कहीं नजर नहीं आते। परन्तु प्रस्तुत विवरण में निर्जनीकरण के जैविक पक्ष पर ही बल दिया जायेगा क्योंकि प्रवसन के फलस्वरूप जनह्रास तकनीकी तौर पर शतप्रतिशत सही अवधारणा नहीं है।

यह एक अजीब विडम्बना है कि एक ओर बड़ी जनजातियाँ जैसे भील, गोंड, संथाल आदि (जनसंख्या तीस लाख से पैंसठ लाख के बीच) राष्ट्रीय औसत से बढ़ रही हैं तो दूसरी ओर दर्जनों छोटी जनजातियाँ निरन्तर लुप्त होने की ओर बढ़ रही है। इस प्रकार की जनजातियाँ अधिकतर दक्षिण भारत में निवास करती हैं। ये कृषिपूर्व स्तर पर रह रही हैं अर्थात् खाद्य संकलक हैं तथा प्रशासन द्वारा "आदिम जनजातीय समुदाय" नाम से एक पृथक् श्रेणी में रख दी गयी हैं ताकि उनके लिये विशेष योजनायें कार्यान्वित की जा सकें। इस प्रकार के 75 जनजातीय समुदाय पहचान कर अलग कर लिये गये हैं। निर्जनीकरण के ज्वलंत उदाहरणों में बिहार के चेरों, पहाड़िया, बिरहोर आदि, आंध्र के चेंचू, केरल के कदार, अंदमान व निकोबार द्वीप समूह के ओंगे, जारवा तथा अन्य जनजातियाँ, उत्तराखंड के राजी आदि शमिल किये जा सकते हैं जिनकी जनसंख्या ह्रास की ओर अग्रसर हैं। इस श्रेणी में उत्तराखंड के जौनसारी तथा तमिलनाडु के टोडा भी रखे जा सकते हैं जिनकी जनसंख्या वृद्धि-दर बहुत कम है।

जनजातीय निर्जनीकरण के प्रमुख कारणों में परिस्थितियों में परिवर्तन को सम्मिलित किया गया है। प्रकृति-मानव साम्य में विघ्न (यहाँ पर अधिकतर वनों का ह्रास होने के कारण) तथा वन नीति का अमानवीकरण गिना जा सकता है जिसके कारण आदिम समुदाय सामाजिक-आर्थिक शोषण व वंचन के ऐसे दौर से गुजर रहे हैं जिसमें जीना ही उनके लिये सजा की तरह है। पेयजल की कमी, कुपोषण तथा अन्य बीमारियाँ ऐसी जनजातियों का भाग्य बन चुकी हैं।

यदि कल्याणकारी प्रशासन ऐसे जनजातीय समूहों के लिये वास्तव में कुछ करना चाहती है तो उसे इनके सामाजिक-आर्थिक जीवन में आकस्मिक परिवर्तनों को नहीं लाना चाहिये। वननीति के कार्यान्वयन को मानवीय बनाया जाये, स्वास्थ्य परियोजनाओं को बड़े स्तर पर लागू किया जाए जिसमें विभिन्न क्षेत्रों में व्याप्त बीमारियों से युद्धस्तर पर मुकाबला किया जाये, सामाजिक-आर्थिक न्याय दिलवाकर उनका शोषण समाप्त किया जाये तथा शिक्षा में व्याप्त अन्धविश्वासों के विरुद्ध एक हथियार के तौर पर प्रयोग किया जाये।

## (xiii) प्रवसन (Migration)

विश्वभर में लगभग सभी समुदायों को, विशेष रूप से आदिम समुदायों को, अपनी जमीन व मूल निवास स्थान से गहरा भावनात्मक संबंध रहा है। इसलिये हम देखते हैं कि जनजातीय प्रवसन सामान्य परिस्थितियों में नहीं होता।

जनजातीय संदर्भ में प्रवसन की अवधारणा बहुत पुरानी नहीं है। संचार साधनों को विकसित होने के बाद प्रवसन की सम्भावनायें बढ़ीं। जनजातीय प्रवसन को दो पहलुओं से समझा जा सकता है। पहला, उन कारकों के माध्यम से जो किसी जनजातीय समूह को बाहर की ओर धकेलते हैं और दूसरा, उन कारकों के माध्यम से जो किसी जनजातीय समूह को अपनी ओर खींचते हैं या उन्हें आकर्षित करके अपना मूलस्थान छोड़ने के लिए उकसाते हैं। पहली श्रेणी के कारकों में सामाजिक-आर्थिक शोषण, बीमारी व भुखमरी तथा बाढ़ व सूखे जैसी प्राकृतिक विपदाओं को शामिल किया जाता है। दूसरे प्रकार के कारकों में शहरों में रोजगार के बेहतर अवसर व अधिक मजदूरी जैसे कारक शामिल किये जा सकते हैं जिनके कारण बहुत सी जनजातियाँ प्रवासी बन जाती हैं।

जनजातीय प्रवसन कोई नई घटना नहीं है लेकिन योजनाबद्ध तरीके से तथा संगठित तौर पर बिचौलियों के माध्यम से बड़े पैमाने पर प्रेरित प्रवसन एक नयी घटना है। बिहार तथा बंगाल के ओरांव, संथाल, 'हो' तथा मुंडा जैसी जनजातियाँ उत्तरी बंगाल व असम के चाय बागानों में काम के लिये जाती रही हैं परन्तु पिछले कुछ दशकों में इन क्षेत्रों में हरियाणा और पंजाब की ओर प्रवसन एक नयी घटना है। हरित क्रान्ति व समृद्धि के ये द्वीप निर्धन तथा शोषित जनजातियों के लिये आकर्षण के केन्द्र हैं। यद्यपि 1980 के वर्षों में अशांत परिस्थितियों के बाद पंजाब की ओर प्रवसन कम हो गया है। समाचार-पत्रों व पत्रिकाओं में छपी कुछ रिपोर्टों के अनुसार प्रवासी जनजातीय खेतिहर मजदूरों को हरियाणा व पंजाब में अफीम का आदी बनाकर उनका शोषण किया जाता रहा है। असंगठित होने के कारण ये प्रवासी अपने शोषण के विरुद्ध प्रभावी आवाज नहीं उठा पाते।

बहुत से समाजविज्ञानियों का मत है कि इस प्रकार का प्रवसन एक प्राकृतिक व तर्कसंगत घटना है जिसमें, श्रम के कम क्षेत्रों से बहुतायात व अधिकता वाले क्षेत्रों की ओर प्रवसन आवश्यक है। इस प्रकार जनजातीय प्रवसन स्थायी भी हो सकता है तथा अस्थायी भी।

# 14

# वन, जनजातियाँ व वन नीति

जनजातीय समुदायों का जीवन वनों और वन्य जीवन के साथ घनिष्ठता से जुड़ा हुआ है। परिस्थितियां और आर्थिक दृष्टि से जनजातियाँ वन और वन जीवन से अलग नहीं की जा सकतीं। निःसंदेह वे वन्य पर्यावरण के अविभाज्य अंग हैं। एक दूसरे पर निर्भर होकर रहना ही उनकी प्रकृति है। जंगल, जनजातियों के रहने का स्थान है, जंगल ही उनकी जीविका का साधन है। जंगलों से जनजातियों को फल-फूल, कन्द-मूल, दाना पानी, जड़ी बूटियां, शहद, घर बनाने का सामान और अन्य अनेक प्रकार की छोटी-मोटी उपयोगी वस्तुएं मिलती हैं।

जनजातियों की परंपरागत अर्थव्यवस्था मुख्यतः जंगलों पर निर्भर है, उनका धर्म, जादू और उनकी आस्थाएं भी जंगलों से जुड़ी हैं। अनेक फूलों, पौधों और पेड़ों की वे लोग उपासना करते हैं।

जनजातियों को जंगलों के इस्तेमाल के मामले में हमेशा अबाध आजादी मिली है। वे उसका मनचाहा इस्तेमाल करते रहे हैं, ठीक वैसे ही जैसे कि जंगल उनके हैं और वे जंगलों के। इसलिए सरकार की ओर से जब कभी भी उनकी इस आजादी पर कोई प्रतिबन्ध लगाने का प्रयास किया गया उन्होंने उसका विरोध किया है।

19वीं शताब्दी में जंगलों, जंगली जानवरों व वस्तुओं, वनस्पति संपत्ति और भूमि, आर्द्रता, वर्षा और पर्यावरण से उसके अन्तर्सम्बन्धों के महत्त्व को पहचाना गया और वह निर्णय किया गया कि सत्ताधिकार को देश के उन हिस्सों तक भी फैलाया जाय जिनकी उस समय तक उपेक्षा की गयी थी।

अंग्रेज़ों के शासन से पहले भारत में जनता द्वारा जंगलों का इस्तेमाल मुख्यतः स्थानीय रीति रिवाजों के अनुसार होता था। 1855 मे लार्ड डलहौज़ी, जो उस समय मध्य भारत का गवर्नर था, ने एक वन-नीति घोषित की जिसके अन्तर्गत यह कहा गया कि राज्य के वन-क्षेत्र में जो भी इमारती लकड़ी के पेड़ हैं वे राज्य सरकार के हैं और उन पर किसी व्यक्ति का कोई अधिकार या दावा नहीं है। इस नीति को अमल में लाने के लिए एक वन विभाग की स्थापना हुई जिसका सबसे बड़ा अफसर

महानिरीक्षक, वन-विभाग बनाया गया। इस महानिरीक्षक का बुनियादी काम वन-प्रसाधनों की रक्षा और उनका आर्थिक विदोहन करना था। इस प्रकार जंगल के वास्तविक राजाओं को, जिन्हें उस समय तक जंगल संबंधी पूरी आजादी प्राप्त थी, तथाकथित सभ्य सरकार की दया का पात्र बना दिया गया।

## राजकीय सत्ता का विस्तार

### 1865 का पहला वन-कानून

यह जंगलवासियों द्वारा जंगल की वस्तुओं को एकत्र करने की छूट को नियमित करने का पहला प्रयास था। इस प्रकार स्थानीय लोगों के सामाजिक रूप से विनियमित आचरण को कानून द्वारा प्रतिबन्धित किया गया।

### 1878 का वन-कानून

यह वनों पर अपनी सत्ता लागू करने वाला भारत सरकार का दूसरा कदम था जिससे जंगल में प्रवेश करने, वहां पशुओं को चराने आदि कई कामों पर रोक लगाई, कुछ कामों को जुर्म घोषित किया गया जिसके लिए जुर्माने और कैद की सजाएं निश्चित की गयीं।

### 1894 की पहली वन-नीति

इस वन-नीति के अन्तर्गत पहली बार वन-क्षेत्र का इस्तेमाल करने वालों के लिए, पहले उन्हें चाहे कितनी ही आजादी क्यों न प्राप्त हो, उनके अधिकारों, सुविधाओं और प्रतिबन्धों की व्यवस्था की गयी और उन्हें इस तर्क पर न्यायसंगत ठहराया गया कि उनसे जनता को होने वाला लाभ बहुत ज्यादा है और आधारभूत सिद्धान्त यह है कि व्यक्ति के अधिकार सीमित होने चाहिए। 1894 में पहली बार वन-अधिकारी गम्भीरता के साथ सामने आये और उन्होंने जनजातियों के अधिकारों को नियमित और सीमित करने के लिए सत्ता का इस्तेमाल किया।

### भारतीय वन अधिनिबम 1927

यह अधिनियम वन-भूमि और वन उत्पादन पर जनता के अधिकारों को विनियमित करने का प्रयास था। इसके अन्तर्गत जंगलों पर राजकीय नियंत्रण बढ़ाने के उद्देश्य से विस्तृत नियम-कायदों की व्यवस्था की गयी। वन संबंधी कानूनों को तोड़ना जुर्म घोषित किया गया और प्रत्येक जुर्म के लिए यथोचित दण्ड की व्यवस्था की गयी।

वन-अधिनियम के अन्तर्गत अत्यधिक शक्तिशाली और संरक्षित कार्यपालिका की

व्यवस्था की गयी जिसमें भारतीय और राजकीय वन-सेवा के अधिकारी, रेंजर्स, फ़ारेस्टर्स और वनों के चौकीदार आदि शामिल किये गये। वन अधिनियम में प्रशासकों को ऐसे कानून बनाने का अधिकार भी दिया जो स्थायी प्रकृति के न हों। इन अफसरों को कई कानूनी अधिकार भी प्राप्त थे।

उदाहरणार्थ, भारतीय वन अधिनियम की धारा 64 में कहा गया है कि कोई भी फारेस्ट अफसर बिना वारन्ट के किसी भी ऐसे व्यक्ति को गिरफ्तार कर सकता है जिस पर वन कानून तोड़ने के जुर्म का तर्कसंगत सन्देह हो और वह जुर्म एक महीने या उससे ज्यादा अवधि की सजा के लायक हो। धारा-68 जुर्म के शमन संबंधी अधिकार के बारे में है। धारा-70 में बताया गया है कि 1871 का पशुओं के अतिचार संबंधी अधिकार संबंधी कानून लागू रहेगा और वह प्रशासन को अतिचारी पशुओं को पकड़ने और जब्त करने का अधिकार देता है।

इन कानूनी व्यवस्थाओं ने वन-विभाग के रेंजरों और चौकीदारों को, जो आमतौर से जनजाति के लोगों के सम्पर्क में आते हैं, उनके जीवन के लिए मुसीबतें खड़ी करने का मौका दे रखा है। ऐसे अनेक मामलें होते रहते हैं जिनमें वन-विभाग के ये छोटे कर्मचारी जनजाति के लोगों को परेशान ही नहीं करते वरन सताते भी हैं लेकिन धारा-74 की आड़ में वे सब बेदाग बच जाते हैं। धारा 74 में कहा गया है कि सरकारी नौकर पर कोई भी मुकदमा उसके उस कार्य के लिए नहीं चल सकता जो उसने सद्भावना के साथ किया हो; और वन-विभाग के सभी अधिकारी सरकारी नौकर होते हैं।

1935 में भारतीय सरकार के 1933 के अधिनियम के अनुसार वन का विषय राज्यों की सूची में कर दिया गया।

## राष्ट्रीय वन-नीति 1952

स्वतंत्र भारत की वन-नीति में जनजातियों को कोई भी कानूनी अधिकार नहीं दिया गया, कुछ रियायतें व सुविधाएं जरूर दी गयीं, जैसे—

1. खेती बारी के कामों के लिए पानी लेने का अधिकार।
2. खेती के लिए कुएं और नहरें खोदने का अधिकार।
3. वनों में निःशुल्क पशु चराने की सुविधा।
4. घरेलू या कृषिगत कार्यों के लिए मिट्टी और पत्थर ले जाने की सुविधा।
5. घरों के निर्माण, उनकी मरम्मत और खेतिहर उपकरणों के लिए लकड़ी, बांस, सरकंडे, बेंत आदि ले जाने की सुविधा।

6. घरेलू कामों के लिए सूखी लकड़ी बीनने की सुविधा
7. पशुओं के लिए घास और झोपड़ों के लिए फूंस व पतवार ले जाने की सुविधा
8. मछली पकड़ने और शिकार करने की सुविधा (संरक्षित जीव समुदाय को छोड़कर)
9. वन की भूमि पर खेती करने की सुविधा।

## 1952 की वन-नीति का धेबर आयोग द्वारा मूल्यांकन

राष्ट्रपति ने संविधान के अनुच्छेद-339 के अन्तर्गत 1960 में श्री यू.एन. धेबर की अध्यक्षता में एक आयोग नियुक्त किया था जिसका उद्देश्य वन-नीति और जनजाति वर्ग का अध्ययन करना था। आयोग ने यह महसूस किया कि जनजाति के लोगों को, जो उस समय तक अपने आपको जंगल का राजा समझते थे, वन विभाग के अधीन बना दिया गया है। जनजातियों के परंपरागत अधिकारों को अब उनके अधिकारों के रूप में नहीं माना जाता। 1894 में जो "अधिकार और सुविधाएं" थीं, 1952 में वे "अधिकार और रियायतें" बना दी गयीं और अब उन्हें केवल "रियायतों" तक ही सीमित कर दिया गया।

आयोग ने यह भी बताया है कि वन-विभाग के अधिकारी अब जंगलों की पैदावार पर जनजातियों के अधिकार से भी मुकर गये हैं।

## एन.सी.ए.-1976 की संस्तुतियां और जनजातियों के अधिकार

आयोग ने वनों और वन-उत्पादन पर अन्य लोगों के अधिकारों में कठोर कटौतियाँ करने की सिफ़ारिशे कीं। यह कहा गया कि स्थानीय लोगों को वन-उत्पादों की निःशुल्क आपूर्ति, उनके अधिकारों और उन्हें दी गयी रियायतों की वजह से जंगलों को भारी क्षति पहुंची हैं, इसलिए इस प्रक्रिया को उलट देना चाहिए। यह भी कहा गया कि स्थानीय लोगों ने जंगलों के रख-रखाव और उससे संबंधित नियम कानूनों के पालन की दिशा में कोई भी योगदान नहीं किया है।

आयोग ने संशोधित अखिल भारतीय वन अधिनियम द्वारा वन संबंधी कानूनों को और भी मजबूत करने की संस्तुतियां कीं। आयोग की संस्तुतियां 1982 में हुए वन-मंत्री सम्मेलन में अस्वीकृत कर दी गयीं।

1976 में संविधान के 42वें संशोधन द्वारा वनों का विषय समवर्ती सूची में लाया गया जिससे उसके बारे में कानून बनाने का अधिकार केन्द्र को प्राप्त हुआ। परिणामस्वरूप अक्तूबर, 1980 में फारेस्ट कंजरवेशन आर्डीनेन्स लागू किया गया। बाद में उसे संसद में स्वीकृत होने के बाद कानून बना दिया गया।

## वनों और जनजातियों के बारे में बी.के. रॉयबर्मन का मत

गृह मंत्रालय ने 1980 में जनजातीय अर्थव्यवस्था में सुधार के लिये वन नीति को पुनः परिष्कृत करने के उद्देश्य से सुविख्यात नृविज्ञानी श्री बी.के. रॉयबर्मन की अध्यक्षता में एक समिति नियुंक्त की। समिति ने 1982 में अपनी रिपोर्ट पेश की। उसने जनजातियों के जीवन में वनों के महत्त्व पर जोर दिया। निःशुल्क ईंधन, चारा और घर बनाने के लिए लकड़ी के अलावा जनजाति के लोग अपने राय का एक तिहाई हिस्सा जंगल की वस्तुओं से ही कमाते हैं।

समिति ने अंकित किया कि जंगलों से संबंधित समस्त सरकारी कार्रवाई कुल मिलाकर राजस्व उपार्जित करने की है। वन नीति के पैरामीटर में जनजातियों की अर्थव्यवस्था का कोई खास स्थान नहीं है, ज्यादा से ज्यादा जनजाति के लोगों से मजदूरी पर काम ले लिया जाता है। समिति ने इस बात का संकेत भी दिया कि लाभों को जनजाति के लोगों की तरफ भी जाना चाहिए। इसके लिए कल्पनाशील वनोत्पादक कार्यक्रमों का संयोजन और जनजातियों की परंपरागत दक्षताओं के संरक्षण और उन्हें मान्यता प्रदान करने के तरीके इस्तेमाल किये जा सकते हैं। दूसरे शब्दों में जनजाति का व्यक्ति, स्थानीय जनजाति समुदाय और राष्ट्रीय हित, इन तीनों को मिलाकर एक त्रिकोणात्मक वन नीति बनाई जा सकती है। वन नीति को आवश्यकताओं के तीन वर्गों को पूरा करना है। वे हैं —(क) पारिस्थितिक सुरक्षा, (ख) खाद्य, कन्द-मूल, फल, (ग) ईंधन, चारा और विशेष रूप से ग्रामीणों तथा जनजातियों की आबादी की अन्य घरेलू आवश्यकताएं।

समिति ने यह भी संस्तुति की कि जहां कहीं भी वन भूमि पर सामुदायिक-अधिकार हैं उन्हें मान्यता दी जानी चाहिए, भूमि और जल प्रबन्ध की फ़ौरी जरूरतों को पूरा करने के साथ ही भूमि के ख़ाली टुकड़ों पर यथोचित किस्म के वृक्षों को लगवा देना चाहिए।

## पिछड़े हुए क्षेत्रों के विकास के लिए राष्ट्रीय समिति (1980)

योजना आयोग ने पिछड़े हुए क्षेत्रों के विकास के लिए 1980 में एक समिति का गठन किया था। इस समिति ने कृषि संबंधी राष्ट्रीय आयोग द्वारा व्यक्त किये गये दृष्टिकोण का अनुगमन किया और वन-भूमि एवं वनोत्पादन पर जनजातियों के सामुदायिक अधिकारों में कटौती करने की संस्तुति कीं।

समिति का मत था कि वनों पर अधिकार तभी बनाये रखा जा सकता है जब वनों के विकास, उनके इस्तेमाल और संरक्षण के लिए एक विस्तृत और मजबूत तंत्र हो

जिसमें समुदाय और व्यक्तियों द्वारा नई वन-सम्पदा पैदा करने और उसे सुरक्षित रखने की जिम्मेदारियां वहन की जायें।

समिति ने आगे यह भी कहा कि वनों की लघु वस्तुओं को सरकार के लिये राजस्व का साधन न माना जाए। किन्तु, उससे जनजाति के लोगों को इतना ज्यादा लाभ होना चाहिए जिससे उनमें उन वस्तुओं के लिये इतनी आर्थिक दिलचस्पी पैदा हो सके जिससे वे उस आय को बनाए रखने के लिये वनों के रख-रखाव के प्रति अपनी जिम्मेदारी महसूस कर सकें। वनों से प्राप्त होने वाले लघु उत्पाद को एकत्र करने और उनकी बिक्री करने के पट्टे या ठेके जनजातियों की सहकारी समितियों को ही मिलने चाहिए।

## अधिकारों और रियायतों की समीक्षार्थ समिति, 1980

जनजाति के लोगों के अधिकारों और उन्हें मिलने वाली रियायतों की समीक्षा करने के लिए कृषि मंत्रालय ने 1981 में मध्य प्रदेश के भूतपूर्व प्रमुख सचिव श्री एम.एस. चौधरी की अध्यक्षता में एक समिति बनायी थी। इस समिति के सभी अन्य सदस्य भूतपूर्व वन-अधिकारी थे।

समिति ने पाया कि ईंधन, काष्ठ, चरागाह आदि की जो रियायतें या सुविधाएं जनजातियों को दी गयी हैं वे केवल वन-क्षेत्र के भीतर या उसके आस-पास के गाँवों की परिधि तक ही सीमित हैं और आमतौर से उन्हीं जंगलों के बारे में हैं जो आरक्षित नहीं है। जिन क्षेत्रों में अंग्रेज़ों की सरकार नहीं थी वहां इस प्रकार के अधिकार, सुविधाएं या रियायतें अधिकांशतः परिभाषित नहीं हैं। आयोग ने सिफारिश की कि अधिकारों और सुविधाओं का इस्तेमाल उन ग्रामीणों और जनजातियों तक ही सीमित रहना चाहिए जो मौजूदा जंगलों में 8 किलोमीटर की दूरी के भीतर रहते हैं।

समिति ने यह सिफारिश भी की कि लाभान्वित होने वाले लोग वनों के उत्पादों को लेने या एकत्र करने के लिए वनों में प्रवेश नहीं करेंगे बल्कि उन्हें वे सभी वस्तुएं वन-विभाग द्वारा खोले गये डिपो द्वारा उपलब्ध कराई जायेंगी। ये "डिपो" जंगल के बाहर सुविधाजनक स्थलों पर खोले जायेंगे। उसने यह भी संस्तुति की कि वस्तु के बदले वस्तु का विनिमय और रियायतों से पाई गयी वस्तुओं की बिक्री रोकी जानी चाहिए। समिति ने यह भी कहा कि अधिकारों और रियायतों क़ी कुल मात्रा वहीं तक होना चाहिए जहां तक वन विशेष वहन कर सके। समिति ने यह भी सिफारिश की कि वनों में पशुओं का चराना जंगल के सामर्थ्य के अनुरूप होना चाहिए, उससे अधिक पर सख्ती के साथ प्रतिबन्ध लगाना चाहिए।

## नयी राष्ट्रीय वन-नीति 1988 और जनजातियों के अधिकार

इसके अनुसार वन-नीति का सर्वप्रमुख उद्देश्य पर्यावरण संबंधी स्थायित्व और पारिस्थितिक एवं वातावरण संबंधी संतुलन कायम रखना है जो सभी जीव स्वरूपों, मानव, पशु और वनस्पति को जीवित और कायम रखने के लिए जरूरी है। आर्थिक लाभों के विदोहन की बात प्रमुख उद्देश्य के अधीनस्थ है अर्थात उसकी तुलना में कम महत्त्व की है।

नयी वन-नीति की सबसे ज्यादा आकर्षक बात वह है जो उसने वनों के साथ जनजातियों के संबंधों के सन्दर्भ में कही है। उसमें कहा गया है कि जनजाति के लोगों का जंगलों के साथ जो प्रतीकात्मक संबंध रहा है उसका सम्मान करते हुए वन-प्रबन्ध की सभी एजेंसियों और वन-निगमों का बुनियादी कर्त्तव्य यह है कि वनों के संरक्षण, उनके पुनर्विकास और उनकी स्थितियों में सुधार करने के सभी कार्यों में जनजाति के लोगों को घनिष्ठता के साथ जोड़ा जाए, वन और उसके आस-पास रहने वालों को अच्छे रोज़गार उपलब्ध कराये जाए। साथ ही उन लोगों की परंपराओं, अधिकारों और हितों को सुरक्षित रखा जाएं। वन संबंधी कार्यक्रमों में निम्नलिखित बातों पर विशेष रूप से ध्यान दिया जाना चाहिए।

1. गैर कानूनी कटान को कम करने तथा जंगलों का शोषण रोकने के लिये ठेकेदारों के स्थान पर वन-निगम श्रमिकों या जनजातियों की सहकारी समितियों से काम लेना चाहिए।
2. वनों के संरक्षण, पुनरुत्थान और उनसे मिलने वाले लघु उत्पादों के अधिकतम एकत्रीकरण के साथ ही उनकी संस्थागत बिक्री के प्रबन्ध पर विशेष रूप से ध्यान देना चाहिए।
3. लाभान्वित होने वाली जनजातियों के लिए पारिवारिक हितोन्मुख योजनाएं।
4. वन क्षेत्र के भीतर और आस-पास क्षेत्रीय विकास की एकीकृत योजनाएं।

जहां तक जनज़ातियों के अधिकारों और उन्हें मिलने वाली रियायतों का संबंध है, नयी वन-नीति में स्पष्ट क़हा गया है कि जो भी अधिकारी और रियायतें जनजातियों को प्राप्त हैं वे सब पूरी तरह सुरक्षित रहने चाहिएं। ईंधन की लकड़ी, चारा, वन के लघु उत्पाद और घर बनाने में काम आने वाली काष्ठ आदि घरेलू जरूरत की चीजें जनजातियों को मिलती रहनी चाहिएं क्योंकि ये वनवासियों की प्राथमिक आवश्यकताएं हैं और जब से वन प्रशासन का काम भारत में शुरू हुआ है तब से लगातार इसकी परंपरा को निभाया गया है।

## वन-संरक्षण अधिनियम 1980 बनाम वन-नीति 1988

हाल ही में केन्द्रीय सरकार ने वन-संरक्षण अधिनियम 1980 में कुछ संशोधन किये हैं जो राष्ट्रीय वन-नीति 1988 के प्रतिकूल पड़ते हैं।

इन संशोधनों के अनुसार राज्य सरकारें, केन्द्र सरकार की पूर्व अनुमति के बिना कोई वन भूमि या उसका कोई हिस्सा किसी व्यक्ति या अधिकरण, निगम, एजेंसी या किसी भी ऐसे संगठन को, जिसका प्रबन्ध सरकार के हाथों में न हो (धारा 2 ए), नहीं दे सकती। यह वन-नीति की उस व्यवस्था के प्रतिकूल है जिसमें कहा गया है कि जहां भी सम्भव हो अवकृष्ट भूमि (degraded land) को वृक्ष लगाने के लिए पट्टे पर या "वृक्ष पट्टा योजना" के अन्तर्गत दिया जाना चाहिए। संशोधन की व्यवस्था विशेष रूप से किसी भी गैर-सरकारी एजेंसी को केन्द्र सरकार की पूर्व अनुमति के बिना भूमि को पट्टे पर देने से रोकती है। यह संशोधन जनजातियों की सरकारी समितियों और जंगल लगाने वाले संगठनों को भी अवकृष्ट भूमि देने पर प्रतिबन्ध लगाता है।

वन-संरक्षण अधिनियम के एक अन्य संशोधन में कहा गया है कि वन विभाग किसी व्यक्ति या संगठन को औद्योगिक या औषधीय पेड़-पौधे लगाने के लिए भी भूमि नहीं दे सकता। यह व्यवस्था समस्त वन-भूमि, जिसमें अवकृष्ट भूमि भी शामिल है, पर लागू होती है। इन व्यवस्थाओं से निश्चित रूप से जनजातियों और सरकार के बीच विरोध और तकरार की स्थितियां पैदा होंगी। तत्पश्चात प्रधानमंत्री ने जो समिति नियुक्त की उसे इन व्यवस्थाओं के बारे में विचार करना था जो जनजातियों और अवकृष्ट भूमि को प्रभावित करती है और संसद को पुनः एक ऐसा संशोधित और व्यापक वन-अधिनियम स्वीकृत करना चाहिए था जो राष्ट्रीय वन-नीति के प्रस्तावों के अनुकूल हो।

## वनों के पर्यावरण की क्षति और जनजातियाँ

अंग्रेजी शासन से पहले वन सामुदायिक संपत्ति थे और उन पर किसी व्यक्ति विशेष का कोई दावा नहीं था। लोग अपनी जरूरत के लिये वनों में रहते व जाते थे और प्राकृतिक विरासत के रूप में उनकी रक्षा करते थे।

वनवासी जनजातियों के लिए वन उनका जीवनदाता था। वनों के साथ उनके प्रतीकात्मक संबंधों ने ही उनकी स्वतंत्रता या उन्मुक्तता की नींव डाली थी। वनवासी और वनों के बीच जो परस्पर निर्भरता थी वह उसकी उस एकान्तता का आधार थी जिसकी अभिव्यक्ति के रूप में वनवासी पूरी दुनिया से अलग-थलग रहकर भी स्वतंत्र जीवनयापन करते थे।

अंग्रेजों के लिए जंगल बहुमूल्य खजाने थे। प्रशासकीय कलम के द्वारा एक बार में ही औपनिवेशिक सरकार ने जनता के नाम पर देश की लम्बी चौड़ी वन-सम्पदा पर कब्जा कर लिया और वनों के तथाकथित अभिभावकों ने उसकी प्राकृतिक सम्पदा का विदोहन करना शुरू कर दिया। वनवासी अपनी ही भूमि पर परदेशी और घुसपैठिये हो गये क्योंकि वन सरकार की संपत्ति हो गयी थी। वे खामोश थे क्योंकि उन्हें मजदूरी करने का काम मिल गया था। सस्ती मज़दूरी पर उन्हीं से जंगल कटवाये जाते थे और जंगल की इमारती लकड़ी देश के सुदूर बाज़ारों में भेजी जाती थी।

कुछ छोटे-मोटे परिवर्तनों के साथ 1952 की वन-नीति सार रूप में लगभग वही थी जो उपनिवेशी शासनाधिकारियों ने स्थापित की थी। वन के विदोहन से मिलने वाला राजस्व वर्ष-प्रतिवर्ष बढ़ता गया। सरकार ने लाभ बढ़े किन्तु जनजातियों की किस्मत डूबी क्योंकि उनके लिए उनका वन से नाता भोजन, ईंधन, रेशों, चारे आदि से कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण था, वह उनके जीवन का आधार था। उनकी बुनियादी जरूरतों की पूर्ति को भी आगे चलकर गैर-कानूनी और सजा के लायक घोषित कर दिया गया। वन के साथ उनके प्रतिकात्मक संबंध को कभी भी ठीक से नहीं समझा गया। जंगल के साथ उनकी सन्निकटता या अपनेपन के कारण उन्होंने जंगल में मजदूरी करना भी स्वीकार किया और इस तरह वे तेजी के साथ जंगल से पृथक् होते गये। दूसरी ओर ठेकेदारों, सूदखोरों, महाजनों की सांठगांठ ने उनका जिन्दा रहना मुश्किल कर दिया। वे सस्ती मजदूरी के शिकार बने और साथ ही उसकी आड़ में जंगल की गैर-कानूनी कटान भी होने लगी।

अपने भोलेपन के कारण जनजातियाँ अनजाने में ही स्वयं अपने विनाश का उपकरण बन गयीं। भूमि की भूख ने उन्हें नये क्षेत्रों को साफ करने पर मजबूर किया। नई भूमि अपेक्षाकृत घटिया होने के कारण कम उत्पादक सिद्ध हुई जिससे उनकी दशा और भी बदतर हुई।

फिर शुरू हुआ खदानों के कार्य, बहुउद्देश्यीय परियोजनाओं, विद्युत परियोजनाओं, वन क्षेत्र में उपलब्ध कच्चे माल के कारण उद्योगों की स्थापना और वन्य पशुओं के संरक्षण का सिलसिला जिसकी वजह से सरकार ने वन-भूमि की बिक्री शुरू की। वन भूमि की बिक्री ने जनजातियों को अपने परंपरागत ठिकानों से उखाड़ दिया, उनकी परंपरागत अर्थव्यवस्था नष्ट हो गयी। उन्हें शहर या औद्योगिक बस्तियों की सीमाओं पर शरण लेनी पड़ी जहां मुफलिसी की जिन्दगी और समाज-विरोधी तत्वों की गिद्ध दृष्टि उनकी प्रतीक्षा कर रही थी। किसी-किसी को कोई मुआवज़ा भी मिला तो वह भी नाम मात्र का था। जनजातियों के लोग निरक्षर थे अनपढ़ थे, उन्हें कानूनों का ज्ञान न था। चूंकि उनकी भू-संपत्ति जंगलों के बीच में थी और उन्हें परंपरा से प्राप्त

हुई थी इसलिए उनके पास उसकी कोई कानूनी लिखा-पढ़ी न थी। होती भी कैसे? उस भूमि का न कभी सर्वेक्षण हुआ था और न कभी उसके स्वामित्व का पंजीकरण। अपनी भूमि पर उनका पारंपरिक अधिकार सामुदायिक स्वामित्व जैसा था। गलत ढंग से कबीले के सरदार को उसका स्वामी मान लिया गया था। लेकिन सरकार अधिकार के मामले में असली और लिखित कागज़ात को मान्यता देती है। सामुदायिक आधार पर सामान्य अधिकारों का उसकी निगाह में कोई महत्त्व नहीं है।

अपने बाप-दादाओं के ज़माने से चली आ रही अपनी भूमि से लगातार पृथक् किये गये जनजातियों के लोग एक सीमा पर पहुंचकर यह भी भूल गये कि जंगल ही उनकी सुरक्षा थी। इसलिए, उनके संरक्षण और रख-रखाव की ओर से भी वे विमुख हो गये। न उन्होंने उनके विनाश का विरोध किया और न उसके रख-रखाव में दिलचस्पी ली।

वनों के वैज्ञानिक प्रबंधन के नाम पर फल और औषधीय वृक्षों को केवल ईंधन के लिये उपयुक्त मान लिया गया और यूकिलिप्टस जैसे "मोनोकल्चर" के वृक्ष लगाये गये जिनका न जनजातियों की दृष्टि में कोई इस्तेमाल था और न वन्य जन्तुओं के लिये कोई उपयोगिता।

हिमालय के बारे में भारत सरकार की 1959 की रिपोर्ट में कहा गया कि "उदाहरण के लिये हिमालय के जंगल हमारे देश की महानतम राष्ट्रीय परिसंपत्ति हैं, उसी को हमारे देश की सम्पन्नता का श्रेय प्राप्त है। हिमालय की पर्वतीय ढलानों के निरावरण के कारण बाढ़ें आती हैं, बार-बार बाढ़ों के आने से आवर्ती अपरदन होता है और उससे पर्वतों के उस उप-भू-भाग पर, जो उपजाऊ होता है, मलबा (डेट्रीटस) जमा हो जाता है। यह प्रक्रिया बड़ी विनष्टकारी है। भारत के उत्तरी मैदानों के करोड़ों निवासियों को इससे होने वाली क्षति को भुगतना पड़ता है हालांकि उस क्षति के कारणों का उन्हें आभास भी नहीं होने पाता। भूमि की उर्वरकता कम होती जाती है, फलस्वरूप उसकी उत्पादन क्षमता भी गिरती जाती है।"

इसे बर्बादी का आत्मकथन ही कहा जायेगा। लगभग 60 प्रतिशत निर्वनीकरण हो चुका है, पर्वतीय क्षेत्र पर से वृक्षों का आवरण छंट चुका है और उससे हमें मिल रहा है :—

1. बाढ़ें—1971 की तुलना में बाढ़ का क्षेत्र दो गुणा बढ़ गया है और उससे प्रतिवर्ष लगभग 2,000 करोड़ रु. का नुकसान होता है।
2. अपरदन और भू-क्षरण—लगभग 1,750 लाख हेक्टेयर भूमि अपरदनीय है। चरागाह बंजर भूमि में बदल रहे हैं, ऊपर की मिट्टी और मिट्टी के पोषक तत्वों की मद में प्रतिवर्ष लगभग 1,000 करोड़ रुपए की हानि होती है।

3. सिंचाई परियोजनाओं में गाद या नीचे बैठने वाली मिट्टी की समस्या, पर्वतों में होने वाले भू-क्षरण या अपरदन से उन जलाशयों और सरोवरों में गाद जम जाती है। जिनमें हम एक खरब रुपए से ज्यादा लगा चुके हैं। नीचे जमने वाली मिट्टी से इन सरोवरों की जिन्दगी लगभग आधी रह गयी है।

जनजातियों पर पड़ रहे प्रभाव भी बड़े दुखद हैं। खाद मिट्टी (ह्यूमस) की कमी ने उनकी भूमियों की उत्पादन क्षमता बहुत घटा दी है और उन्हें मौसमी रोज़गार की तलाश में इधर-उधर भटकने या ग़ैर-कानूनी टिम्बर व्यापारियों के जाल में फंसने के लिए मजबूर कर दिया है। औरतें आस-पड़ोस के शहरों व कस्बों में ईंधन बेचने का काम करने लगी हैं। जंगली फलों के वृक्षों के कटने से मन्दी के मौसम में उन्हें भूखे रहना पड़ता है अथवा सूदखोरों के चंगुल में फंसना पड़ता है। ''मोनोकल्चर'' के कारण वन्य पशु भी भाग गये हैं, जो उनके लिए ''प्रोटीन'' के एक मात्र स्रोत रहे हैं। जंगलों, जो जनजातियों के जीवन का आधार थे, के विनाश से जनजातियों का जीवन भी बर्बाद हो गया है। योजना आयोग की एक रिपोर्ट के अनुसार भारत को जल्द ही इथोपिया जैसे जल का संकट भोगना पड़ सकता है।

पारिस्थितिक विज्ञान की पद्धति स्वनियमित और एक दूसरे पर निर्भर करती है। एक हिस्से का विनाश, जैसे निर्वनीकरण, दूसरे हिस्सों को भी प्रभावित करता है। पारिस्थितिक विज्ञान की पद्धति को सुरक्षित रखने का एकमात्र तरीका यह है कि प्राकृतिक वनों की रक्षा की जाए और बड़े पैमाने पर नये जंगल लगाये जायें।

## जनजातियों की रक्षार्थ वन अधिनियम में सुधारों की आवश्यकता

यह जरूरी है कि उन मामलों को एक साथ सामने रखा जाये जो जंगलों में दांव पर लगे हुए हैं। उनकी संख्या तीन है :

1. जनता के साथ न्याय—जनजाति के भी और उनसे इतर भी
2. प्रकृति के साथ न्याय—वानस्पतिक और वन्य पशुओं संबंधी
3. आने वाली पीढ़ियों के साथ न्याय जिससे दीर्घकाल तक प्राकृतिक साधन बने रहें।

तो भी वन-नीति का लक्ष्य अन्य जीवों और उत्पादनों के साथ वनवासियों की रक्षा करना ही है। वन-नीति में होने वाले किसी भी भावी सुधार का सबसे पहला उद्देश्य लोगों के साथ न्याय करना होना चाहिए और बाद में प्रकृति और भावी पीढ़ियों के साथ न्याय करना होना चाहिए। इसका अर्थ यह भी नहीं है कि प्रकृति के साथ न्याय करने का स्थान दूसरा है या पहले से कुछ कम है। कानून उसी प्रकार परस्पर

अंतर्संबंधित है जैसे पारिस्थितिकीय व्यवस्था (eco system)। फूल-पौधों व जीवों की रक्षा का एक ही तरीका है और वह तरीका है लोगों अर्थात जनजातियों की रक्षा करते हुए। यदि उनकी रक्षा होगी, विशेष रूप से वनों के रक्षक के रूप में, तो प्राकृतिक वन बचाये जा सकेंगे और प्रकृति के साथ न्याय भी हो सकेगा। इसी से भावी पीढ़ियों के प्रति जिम्मेदारी की बात भी पूरी हो सकेगी क्योंकि इससे वह सब नहीं नष्ट होगा जिसकी वैसा न करने से, आशंका है। इस तरह इन तीनों पक्षों की सही प्राथमिकताओं का अनुगमन करके हम तीनों के साथ बराबर न्याय कर सकेंगे।

अब सवाल यह उठता है कि लोगों को किससे बचाया जाये ? उनकी रक्षा करनी है ठेकेदारों से, उद्योगपतियों से, सूद पर रुपए उधार देने वालों से और सरकार एवं प्रशासन की ग़लत नीतियों से।

प्राथमिकताएं निश्चित कर लेने के बाद जो मामले सबसे पहले सामने आते हैं, वे हैं :—

1. जंगलों, उनके संसाधनों और उनसे प्राप्त होने वाले लाभों पर जनजातियों के अधिकारों की वास्तविक प्रकृति और सीमा क्या है?
2. क्या अधिकार उन्हें मिलने चाहिएं?
3. अधिकारों को निश्चित करने वाला न्याय किन सिद्धान्तों पर आधारित होना चाहिए?
4. वे अधिकार उन्हें कौन दिलायेगा? मौजूदा अधिनियम में उसकी स्थिति क्या है? और
5. जब लोगों को उनके अधिकार नहीं दिये जायेंगे तो उनके पास उसके क्या उपचार उपलब्ध हैं?

ऊपर दिये गये मामले ही मौजूदा वन-अधिनियम में सुधारों की जरूरत पर बल देते हैं। 1927 के भारतीय वन-अधिनियम के अनुसार कोई भी व्यक्ति केवल इसलिये कि वह वहां पुश्तों से रह रहा है वन-भूमि पर अपने निजी स्वामित्व का दावा नहीं कर सकता। उसी अधिनियम की धारा-3 के अनुसार वह वन के किसी उत्पादन पर अपने हक का दावा भी नहीं कर सकता। सरकार किसी भी वन या बेकार भूमि का गठन कर सकती है क्योंकि वह उसकी संपत्ति होती है अथवा उस पर उसका संपत्ति जैसा अधिकार होता है। वही स्थिति वन के समस्त या आंशिक उत्पादनों के बारे में है क्योंकि सरकार का उस पर संरक्षित वन जैसे स्वामित्व का अधिकार होता है। यह धारा यह मानकर चलती है कि वन-भूमि राज्य की संपत्ति है हालांकि जनजातियाँ उस पर रहती भी हैं।

वन-अधिनियम की धारा-4 के अनुसार सामान्य भूमि को वन भूमि के रूप में अधिग्रहीत किया जा सकता है। वन बन्दोबस्त अधिकारी घोषित कर सकता है कि अमुक भूमि वन-भूमि है और उसे संरक्षित वन के रूप में जाना जाये। इस प्रकार की सूचना के प्रकाशन का यह उद्देश्य भी है कि यदि किसी व्यक्ति का उस भूमि या उसके किसी भाग पर कोई दावा हो तो वह उसे अपनी वैयक्तिक संपत्ति का दावा कर सकता है।

धारा-5 उन सभी दावों पर प्रतिबन्ध लगाता है जो सरकारी गज़ेट में प्रकाशित नोटिसों के तीन महीनों के बाद किये जायेंगे। जहां निजी संपत्ति के अधिकार का दावा होगा वहां सरकार सार्वजनिक उपयोग के लिए 1894 के भूमि अधिग्रहण अधिनियम का इस्तेमाल कर सकती है। जो लोग निजी संपत्ति की अवधारणा से ही अनभिज्ञ हों उनसे संपत्ति संबंधी अधिकारों का दावा करने की मांग करना उनके अज्ञान के साथ खिलवाड़ करना है। इसके अलावा वन अधिनियम की धारा 5 केवल वैयक्तिक संपत्ति के दावे की अधिसूचना के लिए निर्देश देती है न कि जनजातियों के सामूहिक अथवा सामुदायिक अधिकारों के बारे में। वनवासी हमेशा से वनों और उसके उत्पादनों का इस्तेमाल करते आये हैं। यह भी सच है कि उन्होंने कभी वन भूमि या उसके संसाधनों पर अपने अधिकारों का दावा नहीं किया, फिर भी वन-अधिनियम की धारा-6 से 16 तक पशु चराने, जल-संसाधन का उपयोग करने, झूम कृषि, वन की वस्तुओं के उपयोग आदि से संबंधित उनके आंशिक अधिकारों के दावे का उल्लेख किया गया है। इन अधिकारों को वन बन्दोबस्त अधिकारी के विवेक पर छोड़ दिया गया है। इस तरह ये अधिकार किन्हीं व्यक्तियों या समुदाय को दी गयी सुविधाओं में बदल गये हैं।

## निष्कर्ष

पी.वी. सुभाष चन्द्र बाबू, आई.एफ.एस. ने इन सभी बातों की तर्कपूर्ण समीक्षा की है। जनजातियों और वनों को कैसे बचाया जाये ? यह एक बड़ा सवाल है। आज तक वन संरक्षण के मामले में उनका कुछ भी दांव पर नहीं लगा है। उनकी अपनी गरीबी ने उन्हें निहित हित वाले लोगों का शिकार बना रखा है, इस तरह वनों के पर्यावरण की भी अवनति हुई है। वनों के संरक्षण के लिए स्थानीय हितों वाले लोगों को टिम्बर में दिलचस्पी रखने वाले शक्तिशाली समुदाय का सामना करना चाहिए। ''चिपको आन्दोलन'' उसकी स्पष्ट मिसाल है। यह एक व्यर्थ की आशा मात्र है कि नियम कायदों और दण्ड की व्यवस्थाओं से टिम्बर का गैर-कानूनी व्यापार रुक जायेगा, खास तौर से ऐसी स्थिति में जब उसमें मुनाफ़ा ज्यादा है और नुकसान कम। जंगलों पर पुलिस का पहरा भी नहीं लगाया जा सकता। उनका केवल संरक्षण किया जा सकता

है और वह भी मात्र स्थानीय लोगों द्वारा।

नई वन-नीति में यह ठीक ही कहा गया है कि वनों को कायम रखने, उनके संरक्षण और उन्हें फिर से लगाने के मामले में जनजातियों को शामिल किया जाये और वन उत्पाद पर जनजातियों और स्थानीय लोगों की आवश्यकताओं का पहला हक माना जाये। जब तक उनको विश्वास में नहीं लिया जायेगा और वनों के विकास में उनको साझीदार नहीं बनाया जायेगा हमारे नंगे पर्वतीय इलाके नंगे ही होते रहेंगे और न बहुत व्यापक और बड़े पैमाने पर नये जंगल ही लगाये जा सकेंगे। इसलिए, जनजातियों की जरूरतों और प्राथमिकताओं को पूरा करना ही होगा। जनजातियाँ अपने आपको दया का पात्र बने रहना न पसन्द करती है और न करेगीं। ठीक उसके विपरीत जनजातियों के व्यक्ति अपने आपको उन बाहरी शक्तियों का शिकार मानते हैं जिन्होंने उसके भोलेपन या सांसारिक मामलों में उनकी अनभिज्ञता का लाभ उठाकर उसे उनके जन्मसिद्ध अधिकारों से वंचित कर दिया है।

जहां तक वन विभाग या उसके अधिकारियों-कर्मचारियों का संबंध है उनकी प्रवृत्तियों अथवा दृष्टिकोण में परिवर्तन होना परमावश्यक है। वनों पर स्वामित्व और एकाधिकार की उनकी अवधारणा को सह-स्वामित्व और साझेदारी की भावना में बदलना होगा। प्रवृत्तियों का यह परिवर्तन सरल नहीं हैं क्योंकि इसमें अनेक वैधानिक और प्रशासकीय पचड़े आड़े आ सकते हैं। तिस पर भी, जनजातियों के प्रति वन-विभाग के लोगों की सहकारी भावना को, परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुए, ऐसा अनुकूल रूप लेना चाहिए जिससे दोनों में एक दूसरे के प्रति विश्वास पैदा हो सके और जनजाति के लोगों और वन प्रशासन के बीच सद्भावना की स्थिति कायम रह सके।

1988 की राष्ट्रीय वन-नीति की जनजातियों से संबंधित व्यवस्थाएं अपने आप में अपर्याप्त हैं। इसलिए समय की मांग यह है कि एक संशोधित अखिल भारतीय वन अधिनियम बनाया जाये।

एक लंबे संघर्ष के बाद वर्ष 2006 में एक महत्वपूर्ण अधिनियम पारित हुआ जिसे **"अनुसूचित जनजाति तथा अन्य परंपरागत वनवासी (वन अधिकारों की मान्यता) अधिनियम"** कहा गया। जनवरी 2008 को वन अधिकार अधिनियम 2006 के कार्यान्वयन के लिए नियमों की अधिसूचना जारी की गई। इस अधिनियम के द्वारा पहली बार जनजातियों व दूसरे वनवासी समुदायों के वनभूमि पर अधिकारों को मान्यता दी गई। इसमें व्यक्तिगत अधिकारों के अलावा सामुदायिक अधिकारों को भी कानूनी मान्यता मिली। इस वनों के गाँव को राजस्व गाँव में परिवर्तित करना भी

इसमें शामिल है तथा वन संसाधनों के संरक्षण व प्रबंधन में वनवासी समुदायों के अधिकार को मान्यता देना एक महत्वपूर्ण कदम के रूप में देखा जा सकता है। कुल मिला कर यह अधिनियम वनवासी जनजातियों के जायज अधिकारों को मान्यता देता है और यदि यह ईमानदारी से लागू कर दिया जाए तो उन के जीवन में महत्वपूर्ण परिवर्तन ला सकता है। लेकिन डर यह है कि इस का अंजाम भी दूसरे कानूनों की तरह न हो।

# 15

# विकासकारी नीतियां, जनजातियों का विस्थापन तथा पुनर्वास संबंधी समस्याएं

तीसरी दुनिया के देशों में बहुतों के लिए "विकास" एक दुःस्वप्न सा हो गया है क्योंकि वह ऐसे तरीके से हो रहा है कि तथाकथित "लक्ष्य-समुदाय" अथवा जिनके हित के लिए विकास कार्य किये जाते हैं, वही प्रगति और विकास का शिकार हो जाता है। यह एक स्थापित तथ्य है कि इतिहास में सदैव मानवीय आबादी की पुनः व्यवस्था विकास की साथी रही है, हालांकि उसकी प्रक्रिया को न्याय संगत, मानवीय और जहां तक सम्भव हो स्वयंसेवी होना चाहिए।

विकास के कार्य में भूमि और पानी के इस्तेमाल के प्रकार में परिवर्तन करने की जरूरत पड़ती है और इन परिवर्तनों के कारण अक्सर बस्तियों को विस्थापित करना भी जरूरी हो जाता है। लेकिन जैसा कि माइकेल करनिया का कथन है आबादी की इच्छा के विरुद्ध उसे उसके स्थान से विस्थापित करने का काम नहीं करना चाहिए या जहां तक हो सके उसे टालना चाहिए। यदि परिस्थिति ऐसी हो कि विस्थापित करने के अलावा कोई दूसरा विकल्प सामने न हो तो विस्थापित करने के कार्य को इस तरीके से करना चाहिए जिससे विस्थापित होने वालों की जीविका के साधन का पूरा संरक्षण प्राप्त हो सके। यदि ऐसा नहीं किया जाता तो विकास के नाम पर उनमें से कुछ लोग तो मज़े में हो जाते हैं और ज्यादातर लोग 'विकास का शिकार' बन जाते हैं। ऐसी परिस्थिति में हमें पुनः संस्थापन के कार्य को जनोन्मुख बनाना चाहिए जिससे उसमें सबके हित को समान रूप से सुरक्षित रखा जा सके। बलात् विस्थापन कार्य के विनाशकारी सामाजिक प्रभाव का उल्लेख सबसे पहले नृ-विज्ञानियों ने ही किया है। व्यावहारिक महत्त्व के शोध विषय के रूप में अनैच्छिक विस्थापन को समाज विज्ञान के शास्त्रियों के अध्ययन एवं लेखन कार्य में काफी लोकप्रियता मिली है। हाल में नियोजन के एजेंसियों द्वारा इस प्रकार के अनेक अध्ययन चालू किये गये हैं। गैर सरकारी संगठनों के अलावा अनेक सामाजिक कार्यकर्त्ताओं ने विस्थापितों के संबंध

में अपने अध्ययन प्रस्तुत किये हैं जिनसे इस विषय पर मौजूदा ज्ञान और जानकारी में वृद्धि हुई है। (एच.एन. माथुर, 1995)

आजादी के बाद पंचवर्षीय योजनाओं में कार्यान्वयन से प्रति वर्ष लाखों व्यक्ति विस्थापित हुए हैं विशेष रूप से प्रशासकीय भूमि अधिग्रहण के परिणामस्वरूप। इन योजनाओं से भिन्न परियोजनाओं, भूमि के इस्तेमाल में परिवर्तनों, शहरों के विकास में विस्तार के कारण जो भूमि अधिग्रहण हुआ है वह इसमें शामिल नहीं है। इन सबके अलावा परिवेश संबंधी गिरावट और जनसंख्या वृद्धि के कारण मनुष्य के जीवनयापन में जो विसंगतियां आई हैं, वे अलग हैं। विस्थापन और बस्तियां के विनाश का सबसे बड़ा कारण जल-विद्युत और सिंचाई योजनाएं हैं। अन्य कारण हैं - खदानें, उष्मा और आणविक शक्ति के बड़े-बड़े कारखाने, औद्योगिक बस्तियाँ, सैनिक संस्थानों की संस्थापना, अस्त्र-शस्त्र परीक्षण के मैदान, नये रेलपथ तथा नई सड़कें, आरक्षित वनों का विस्तार, वन्यपशुओं के शरणस्थल एवं पार्क तथा मानवहितार्थ तकनीकी हस्तक्षेप जिससे बड़े पैमाने पर मछुआरों, दस्तकारों और हथकरघा बुनकरों को अपने स्थान बदलने पड़े हैं। दस्तकारों व कारीगरों के समुदायों पर भी इस बदलाव का बुरा प्रभाव पड़ा है।

विकास और विस्थापन के मामले में प्रभावित होने वालों में सबसे बड़ी संख्या स्पष्टतः जनजातियों और उन लोगों की है जो ग्रामीण क्षेत्रों के सीमान्त पर सदियों से प्राकृतिक संसाधनों पर आश्रित थे और उन्हीं पर उनकी गुज़र-बसर आधारित थी। एक महत्त्वपूर्ण बात यह है कि जनजातियों की संख्या देश की कुल संख्या की 8% है, फिर भी विस्थापितों का लगभग 50 प्रतिशत हिस्सा इन्हीं का है। परिणाम स्पष्ट है - विकास की हमारी नीतियों और उनके फलस्वरूप होने वाले विस्थापन में जनजातियों का अनुपात अत्यंत अधिक हो गया है। इस तथ्य को अनुसूचित जाति और अनुसूचित जनजाति के कमिशनर और आठवीं योजना के दौरान अनुसूचित जनजाति के कल्याण कार्य में लगे कार्यकारी समूह की रिपोर्ट ने प्रमाणित भी किया है।

ज्यादातर मामलों में जनजातियों के विस्थापन और उनकी उत्तरोत्तर बढ़ती हुई गरीबी की ओर जनता की चेतना तब जागरूक होती है जब वे प्रभावित होने वाले जनजाति के इन लोगों के आन्दोलनों और इनके संघर्षों के समाचार पढ़ते हैं। मौजूदा संघर्षों में से एक छोटानागपुर के जनजाति क्षेत्र में चल रहा था, जहां स्थानीय जनजातियों ने नेतरहाट पाइलट प्रोजेक्ट टेस्ट फ़ायरिग रेंज का विरोध किया। यह मामला जनजातियों के तीव्र विरोध के कारण अब लम्बित कर दिया गया है। यह परियोजना गुमला और पलामू के जिलों में कार्यान्वित की जाने वाली थी और इससे लगभग 3 लाख व्यक्ति विस्थापित होने वाले थे। रांची और गुमला जिलों में

कोयल-कारो बांध की वजह से लगभग एक लाख व्यक्तियों के विस्थापित होने का खतरा था। पलामू जिले की उत्तरी करनपुरा घाट की कोक-खदानें लगभग एक लाख व्यक्तियों को विस्थापित करतीं और सिंहभूम जिले के सुवर्णरेखा बांध में भी जनजाति के कम से कम एक लाख लोग विस्थापित होते। देश के दूसरे राज्यों में जो स्थितियां हैं वे सब इसी रुख की ओर संकेत करती हैं। नर्मदा बांध का आन्दोलन तो अब अंतर्राष्ट्रीय ख्याति प्राप्त कर चुका है। आन्ध्र प्रदेश का पालावरम बांध भी लगभग 3 लाख लोगों को विस्थापित करेगा जिसमें सर्वाधिक संख्या जनजातीय लोगों की है। कर्नाटक में नागरा लियोले में प्रस्तावित वन्य पशुओं के शरण स्थल के विरोध में जनमत तैयार हो रहा है। उड़ीसा में भी इस प्रकार का एक आन्दोलन गन्धमर्दन बाक्साइट की खानों और चिलका परियोजना के विरुद्ध हुआ था।

## विस्थापन का प्रभाव और पुनर्स्थापन

जब हम विस्थापन के विभिन्न पहलुओं पर गौर करते हैं तो विस्थापित लोगों, जिन्हें, (Oustees) या ''अनाधिकारी या बहिष्कृत'' भी कहा जा सकता है, को विस्थापन के प्रभाव के आधार पर विभिन्न वर्गों में विभाजित किया जा सकता है। एल.के. महापात्र ने उन्हें निम्नलिखित वर्गों में विभाजित किया है :

(क) वे लोग जिन्हें अपना घर, वासभूमि, खेती की जमीनें या आय की अन्य परिसंपत्तियां खोनी पड़ी हैं।

(ख) वे लोग जिन्हें अपना घर, वासभूमि, खेत और अपनी कुछ उत्पादक परिसंपत्तियां छोड़नी पड़ी हैं।

(ग) वे लोग जिन्हें अपना घर और वासभूमि छोड़नी पड़ी है।

(घ) वे लोग जिन्हें अपनी कृषिभूमि पूरी या उसका कोई बड़ा खण्ड छोड़ना पड़ा है।

(ङ.) वे लोग जिन्हें अपनी कला और दस्तकारियों का आधार अथवा अपनी उन वस्तुओं, सेवाओं और दक्षताओं का आधार छोड़ना पड़ा है। वे जिन्हें बेचकर या उनका विनिमय करके गुज़र-बसर करते थे।

(च) वे लोग जिनका जीवनयापन जंगली वस्तुओं अथवा अन्य पारिस्थितिक साधनों पर निर्भर करता था जैसे नदियों से मछलियों पकड़ने का पेशा।

(छ) वे लोग जो अपना पुराना आधार खोकर दिहाड़ी मजदूर बन चुके हैं।

(ज) वे लोग जिन्हें उन उपनगरों के निर्माण के कारण अपने घर और अपनी जमीनें खोनी पड़ी हैं जिससे उनकी जगह पर किसी परियोजना विशेष के

कर्मचारियों की बस्तियां बन सकें। वे लोग भी जिन्हें नहरों के निर्माण और उन संरचनाओं की स्थापनाओं के लिए अपने स्थान छोड़ने पड़े जो संबद्ध परियोजना विशेष के रख-रखाव के लिए आवश्यक थे।

दुर्भाग्य की बात यह है कि बहुत से अनेक विकासशील देशों की भांति भारत में भी आउस्टीज़ (अनाधिकारी या वंचितों) के अंतर्गत ऊपर दिये गये केवल वर्गों ''क'', ''ख'' और ''ग'' को ही शामिल माना गया है और उनके संरक्षण आदि के बारे में सोचा गया है किन्तु ''घ'' से ''ज'' तक के वर्गों में आने वाले लोगों को उसमें कानूनी तौर पर शामिल नहीं किया गया जिसके कारण इन वर्गों में आने वाले व्यक्ति अपने लिए मुआवजे का दावा भी दायर नहीं कर सकते। ज्यादातर मामलों में, केवल एक कानून ही लागू किया जा सकता है, वह है भूमि अर्जन अधिनियम 1894 (1984 में संशोधित) जिसके अंतर्गत सरकार नकद मुआवजा दे सकती है। इस प्रक्रिया में उनके साथ एक बड़ी नाईसाफी होती है, उनके हितों और अधिकारों के हनन में घोर सामाजिक हिंसा होती है। नकद रुपयों में दिये जाने वाले मुआवजे की पद्धति भी काफी जटिल और मुआवजा पाने वाले को गहरी क्षति पहुँचाने वाली होती है। उल्लेखनीय बात यह भी है कि अधिनियम में केवल व्यक्ति के मुआवजे को मान्यता दी गयी है, सामूहिक या सामुदायिक अधिकारों की बात का उसमें ज़िक्र भी नहीं है। जनजातियों से ली गई ज्यादातर भूमि सम्मिलित संपत्ति साधनों (सी.पी.आर.) के अंतर्गत आती है। यदि वह वन-भूमि है तो कानून उस पर वनवासियों का कोई अधिकार नहीं मानता, भले ही वे उसका इस्तेमाल अनेक पीढ़ियों से करते आये हों। परंपरागत रूप से भी उसका कोई हरजाना उन्हें नहीं दिया गया है। ''इसके अलावा ज्यादातर जनजातियाँ ऐसे क्षेत्रों में रहती आई हैं जिनकी प्रशासकीय दृष्टि से एक लम्बे ज़माने से उपेक्षा होती आई है और जिसे पिछड़ा हुआ इलाका समझा जाता रहा है। इसलिए जनजाति के व्यक्ति को उसके अपने छोटे भू-खण्ड का जो भी मुआवजा दिया गया है वह बहुत ही कम और नगण्य है। दूसरी ओर जनजातियों के लोग एक ऐसी आत्मनिर्भर और पर्याप्त अर्थव्यवस्था पर परंपरा से रहते आये हैं जो प्राकृतिक संसाधनों पर निर्भर थी। अपने क्षेत्र के बाहर की अर्थव्यवस्थाओं से उनका कभी कोई सरोकार भी नहीं रहा है। उत्तर-पूर्व और छोटानागपुर के हिस्सों को छोड़कर शेष जनजातियों में साक्षरता भी बहुत कम है। इसलिए वे नई परियोजनाओं में रोजगार पाने की आशा भी नहीं कर सकते (वाल्टर फ़र्नान्डेस, 1995)।

बहुत से नृ-विज्ञानियों के अध्ययनों ने विस्थापन के अनेक कुप्रभावों का उल्लेख किया है। अनैच्छिक पुनःस्थापन से मनोवैज्ञानिक और सामाजिक-सांस्कृतिक दोनों प्रकार के तनाव बढ़ते हैं। उससे रोग भी फैलते हैं और मृत्यु की घटनाएं भी बढ़ती

हैं। दूसरे दुर्भाग्यपूर्ण परिणाम से अलग-थलग होने, निःसहाय और कमजोर होने की भावनाएं फैलती हैं। ''नये क्षेत्रों में जाकर रहने की बात जनजाति के लोग सोच भी नहीं सकते क्योंकि वे अपने पैतृक स्थान और परिवेश से जुड़े हुए होते हैं। ''पुनः स्थापन'' शब्द भी बहुत सी जनजातियों की बोली में नहीं पाया जाता (एच.एम. माथुर, वही)। विस्थापित होने के व्यापक परिणामों में उत्पादन पद्धति का टूटना, बिखरना, पुश्तैनी पवित्र स्थलों जैसे कब्रों, मन्दिरों आदि का दूषित होना, संस्कारों का खत्म होना, भाईबन्दी, रिश्तेदारी और पारिवारिक संबंधों का बिखरना, समुदाय में जो अनौपचारिक सामाजिक संगठन होता है और जो परस्पर सहायता व सहयोग का प्रदाता होता है, उस संगठन का समाप्त होना। स्वप्रबन्ध के ढीले होने के साथ ही व्यापार और हाट-बाजार के सूत्र आदि भी टूट जाते हैं (*लोकायत बुलेटिन* 1995)। विडम्बना यह है कि इन्हीं सब बातों को राष्ट्रीय प्रगति के साथ समीकृत किया जाता है विशेष रूप से वहां जहां जनता का प्रयोजन और राष्ट्रीय हित के अदल-बदल कर इस्तमाल किया जाता है। यही वह मनःस्थिति है जो उन लोगों को न्यायसंगत ठहराती हैं जो इन परियोजनाओं को न केवल परियोजना-विरोधी वरन् विकास-विरोधी और राष्ट्रविरोधी भी कहते सुने जाते हैं।

कहानी का दुर्भाग्यपूर्ण पक्ष बहुमुखी विस्थापन (multiple displacement) है अर्थात विस्थापित करने के तरीके अनेक प्रकार के हैं। यह भी हुआ है कि अनेक जनजातीय समूहों को एक स्थान से हटाकर दूसरे स्थान पर स्थापित किया गया और जब उन्होंने अपने एक विस्थापन की पीड़ा भूलकर नये स्थान पर नयी जीवनशैली अपना ली तो उन्हें वहां से भी पुनः उखाड़ दिया गया। यह काम उत्तर प्रदेश में सिंगरौली में और मैंगलोर पत्तन के निकट किया गया। यदि विस्थापन अवश्यम्भावी है तो पुनः स्थापन में उत्पादन पद्धतियों का पुनर्निर्माण, रहन-सहन के स्तर को ऊपर उठाने और जहां पुनः स्थापन किया जाये वहां के समाज के साथ कम से कम झगड़ा न होने की व्यवस्थाएं भी की जानी चाहिए। इस प्रकार वचनबद्धता केवल दुबारा बन्दोबस्त की नहीं वरन ऐसे पुनः स्थापन की होनी चाहिए जिसे उन लोगों का अधिकार माना जाये, अनमने ढंग से उदारता बरतने का ढोंग न किया जाये (स्मितु कोठारी 1955)। इसके अलावा परियोजना की लागत में वह खर्च भी शामिल किया जाना चाहिए जो विस्थापितों के पुनर्वास और पुनः स्थापन पर किया जाना है। ये सभी परियोजनाएं सार्वजनिक बहस के लिये खुली होनी चाहिए। ऐसी परियोजना के कार्यान्वयन को जिसमें पुनर्वास और पुनःस्थापन के बजट की व्यवस्था नहीं की गयी है, जीवन के अधिकार का घोर उल्लंघन माना जाना चाहिए।

# 16

# डॉ. बी.डी. शर्मा का पत्र भारत के राष्ट्रपति के नाम

## (संघ के कल्याण मंत्री के माध्यम से)

यहाँ डॉ. बी.डी. शर्मा, भूतपूर्व आयुक्त अनुसूचित जाति व जनजाति, का वह पत्र प्रस्तुत है जो उन्होंने आयुक्त की 29वीं रिपोर्ट में राष्ट्रपति को लिखा था। इस पत्र को पुस्तक का अंश इसलिये बनाया गया है ताकि सभी पाठक इसको अनिवार्यतः पढ़ें। इस पत्र की हैसियत एक ऐतिहासिक दस्तावेज जैसी हो गई है। जनजातीय समस्याओं का विश्लेषण उसके सही ऐतिहासिक व समकालीन परिवेश में इससे बेहतर रूप में मिलना कठिन है। प्रशासनिक हल्कों में आई.ए.एस. गांधी जैसे खिताब से जाने–जाने वाले डॉ. शर्मा ने उन सभी कमज़ोर वर्गों को आवाज दी है जो शायद अब तक बेआवाज़ थे। सेवा समाप्ति के बाद से अपने स्वयंसेवी संगठन *भारत जन आन्दोलन* के द्वारा वह कमज़ोर वर्गों, विशेषकर जनजातियों, के अधिकारों की लड़ाई लड़ रहे हैं।

*—लेखक*

1. संविधान के अनुच्छेद 338 के अंतर्गत अनुसूचित जातियों और जनजातियों की हालत के बारे में वर्ष 1987-89 के लिये उनतीसवीं रपट पेश कर रहा हूँ। पिछली रपट में, जो मेरी पहली रपट थी, मैंने अनुसूचित जातियों एवं अनुसूचित जनजातियों की हालत की व्यापक समीक्षा की थी, उस रपट में एक अहम बात यह सामने आई थी कि हमारे देश में आमतौर पर दोहरी व्यवस्था पनप रही है। एक ओर आधुनिक संगठित क्षेत्र का ऊपरी हिस्सा है और दूसरी ओर परंपरागत असंगठित क्षेत्र का निचला हिस्सा। ठीक उसी तरह अनुसूचित जातियों और जनजातियों में भी धीरे-धीरे दो अलग संदर्भ उभरते नजर आ रहे हैं। आधुनिक संगठित क्षेत्र हमारी विकासशील अर्थव्यवस्था का अगुवा माना जाता है। इसलिए सभी की निगाहें और सभी की आशायें उसी पर अटकी हुई हैं। इस संदर्भ में मैंने अनुसूचित जातियों और जनजातियों के सदस्यों को दोनों ही क्षेत्रों की पूरी व्यवस्था, खास तौर पर आधुनिक संगठित क्षेत्र

में समान अवसर और सम्मानपूर्ण स्थान मिल सके इसके लिए व्यापक सिफारिशें की थीं। विकास की शोभायात्रा में सही हिस्सेदारी सरकारी नौकरियों में आरक्षण तक सीमित न रहकर राष्ट्रीय जीवन के सभी क्षेत्रों में होना लाज़िमी है। ऐसी व्यवस्था ही संविधान में दिए गए संरक्षण और बराबरी के अधिकार का सही रूप हो सकती है।

2. परन्तु विडम्बना यह है कि बुनियादी तौर पर यह दोहरी व्यवस्था खुद अन्यायी है। इसलिये समता और न्याय की इस पेशकश को यदि हम राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था के व्यापक संदर्भ में देखें तो वह सार रूप में अन्यायी व्यवस्था के गैर-वाजिब लाभों में हिस्सेदारी ही साबित होगी। दूसरे, अगर इसमें पूरी जिम्मेदारी और ईमानदारी से नीति का पालन हो भी जाये तो भी उससे कमजोर वर्गों के छोटे से हिस्से को ही लाभ मिल सकेगा। परन्तु इसका एक खेदजनक पहलू भी है। अगर व्यवस्था ऐसी ही अन्यायी बनी रहती है तो इस प्रक्रिया के दूसरे छोर पर उन्हीं वर्गों के अधिसंख्य सदस्यों पर, जो उस व्यवस्था में सबसे नीचे के स्तरों पर अवस्थित हैं, वंचना और शोषण का भार और भी बढ़ता जाएगा। इस तरह एक बड़ी अनमेल हालत बन जाती है। इसमें एक ओर न्याय के नाम पर अन्याय में साझेदारी सही लगने लगती है। दूसरी ओर उस माहौल में व्यापक हितों की अनदेखी ही नहीं वरन् उनका विरोध तक जायज बन जाता है। इसलिए समता और न्याय के सवाल को, जब तक समाज की आख़िरी सीढ़ी से, जिसमें अनुसूचित जातियों तथा जनजातियों के उस छोटे से अंश को छोड़कर जो संगठित क्षेत्र में शामिल हो गए हैं बाकी सभी हैं, नहीं शुरू किया जाता है, तब तक सांविधानिक व्यवस्था में दिये गए संरक्षण बेमानी हैं।

3. इन अधिसंख्य लोगों की जिन्दगी तीन बातों से जुड़ी हुई है—संसाधनों पर अधिकार, उत्पादन के साधनों पर अधिकार और मेहनत की हकदारी। बड़े खेद की बात है कि इन सवालों पर या तो बहस ही नहीं हुई है, और हुई भी है तो बहुत सतही। उसको छूते ही आधुनिकता, प्रगति और विकास के नाम पर पनपने वाले निहित स्वार्थी वर्गों का आधार ही डगमगा जाएगा। ये सवाल अनुसूचित जातियों एवं जनजातियों के हितों के लिये तो निर्णायक हैं ही। परन्तु उसके साथ-साथ वे हमारे राष्ट्रीय जीवन की गुणवत्ता, उसके बुनियादी उसूलों और मानवीय मूल्यों के लिये भी निर्णायक हैं। इसी संदर्भ में मैंने इस तीनों बिन्दुओं के बारे में राष्ट्रीय स्थिति की खास तौर पर जांच करने का फैसला किया था। इन मामलों पर यह रपट और पिछली रपट दोनों को मिलाकर एक पूरा ढाँचा बनता है। यह ढाँचा अनुसूचित जातियों और जनजातियों के सभी सदस्यों के लिये इज्जत की जिंदगी के लिये आधार बन सकता है, यही नहीं, उसके साथ-साथ राष्ट्रीय स्तर पर वहीं ढांचा सही अर्थों में समता और न्यायपूर्ण व्यवस्था की स्थापना के लिये भी आधार बन सकता है।

## राष्ट्रीय जीवन में तिहरी व्यवस्था

4. परन्तु इस इज्जत की जिंदगी के लिए वाजिब व्यवस्था और उपयुक्त वातावरण के मामले में हमारे देश में आज की हालत बड़ी ही चिंताजनक है। हमारी व्यवस्था में ध्रुवीकरण बड़ी तेजी से बढ़ रहा है। एक ओर आधुनिक संगठित क्षेत्र में निश्चिंतता का माहौल है जिसमें कोई भी आदमी पैर रखते ही रोजी-रोटी के सवाल से हमेशा के लिये चिंतामुक्त हो जाता है। इस बेफिक्र जिंदगी में फिक्र रह जाती है अपनी जगह बनाए रखने की, आरामतलबी और विलास-वस्तुओं में हिस्सेदारी की, और विकास के रेले में आगे बढ़ते जाने की। दूसरी ओर परंपरागत असंगठित क्षेत्र में साधारण आदमी के लिये सवाल है दो जून रोटी का। इस क्षेत्र में भी जो साधन सम्पन्न और समझदार लोग हैं वे यही चाहते हैं कि किसी तरह आधुनिक क्षेत्र में पहुँच जायें या जहां हैं वहीं उनको वे सुख सुविधाएँ मिल जायें। इस हालत में इस क्षेत्र में पूरा आलम छीनाझपटी का है, जिंदगी के लिये दुर्दान्त संघर्ष का है।

5. इस माहौल में हमारी अर्थ-व्यवस्था में केन्द्रीकरण की प्रवृत्ति आग में घी का काम कर रही है। साधारण लोगों के पास जो कुछ बचा-खुचा है वह भी कानून, ताकत और पैसे के बल पर छिनता जा रहा है। जो इधर से छिन रहा है वह दूसरी ओर पहुँचकर जमा हो रहा है। इस तरह हमारे देश में दोहरी ही नहीं, तिहरी व्यवस्था कायम होती जा रही है–इंडिया, भारत और ''हिन्दुस्तनवा।'' अधिकतर अनुसूचित जाति और जनजाति के सदस्य इसी ''हिन्दुस्तनवा'' की आख़िरी मंजिल में शामिल हैं।

6. जाहिर है कि राष्ट्रीय जीवन की यह दिशा हमारे संविधान की भावना के अनुरूप नहीं है, हमारे एलानी उसूलों के भी खिलाफ है। तब फिर यह हो कैसे रहा है? इसी सवाल को मैंने कुछ गहराई से जांचने की कोशिश की है जिससे कुछ रास्ता निकल सके। इसमें दो बुनियादी बातें हैं–हमारे कानूनी ढाँचे की बुनावट और विकास की हमारी अवधारणा। विकास की अवधारणा में एक तो हमने पश्चिमी देशों के विकास का रास्ता आदर्श मान लिया है पर फिर विकास की हड़बड़ी में ''विकास पहले'' की पेशकश मानकर सामाजिक न्याय को कुछ पीछे जगह दे दी है। इस सोच में इस ओर ध्यान ही नहीं दिया गया कि पहली और दूसरी दुनिया के विकास के लिये ''तीसरी दुनिया'' का ''कूड़ादान'' बनाना जरूरी था। उसी सिलसिले में तीसरी दुनिया के लिये ''चौथी दुनिया'' का ''कूड़ादान'' चाहिये। आज हमारे देश में ''हिन्दुस्तनवा'' वही कूड़ादान बन गया है।

## कानून और संविधान की असंगतता

7. यह व्यवस्था सरासर अन्यायी है परन्तु दुर्भाग्य से हमारा कानूनी ढाँचा भी उसी

का हमजोली निकला। हमारी व्यवस्था का कानूनी ताना-बाना मोटे तौर पर अंग्रेजी राज के दौरान तैयार किया गया था। इस व्यवस्था की बुनियादी मान्यताएं पश्चिमी समाज की मान्यताएं थीं और उसका उद्देश्य साम्राज्य के पाये को मजबूत बनाना था। इसमें लोग प्रजा थे, व्यवस्था राज का प्रतीक थी। आजादी के बाद हमने अपनी परंपरा और मानवीय मूल्यों के आधार पर समाजवादी समाज की संरचना के लिए संविधान बनाया और अंगीकार किया। परन्तु जिस व्यवस्था पर संविधान का यह ताज रखा गया वह उसकी मूल चेतना से बिलकुल अनमेल थी। आगे चल कर भी यह अनमेल हालत बनी ही नहीं रही, और भी ज्यादा खराब होती गई। एक तो पुरानी व्यवस्था नये शासक वर्ग को रास आ गई। दूसरे विकास की हड़बड़ी में पहले तो बेमेल बातों को अनदेखा कर दिया गया और फिर उन्हें नई व्यवस्था के रख-रखाव और तरक्की के लिये जरूरी मान लिया गया। इसका एक और कारण भी था। कानून और नियम तो ठोस और कामकाजी होते हैं परन्तु मूल्य निराकार होने से विचार और विवेचन के विषय होते हैं। इसलिए इन कानूनी तिनकों की आड़ में संविधान और मानवीय अधिकारों के उल्लंघन के पहाड़ ओझल बने रहते हैं।

## जीवन का अधिकार

8. इन मानवीय अधिकारों में सबसे पवित्र और अहम है जीने का अधिकार। परन्तु जीने के अधिकार का मतलब सिर्फ प्राणी के रूप में जीते रहने का ही नहीं है वरन् मानवीय प्रतिष्ठा के साथ जिंदगी बसर करने का है। और प्रतिष्ठित जिंदगी के लिये जरूरी है इंसान की निजी आजादी और जीविका के उपयुक्त साधन। इन दोनों ही तत्वों का व्यवहारिक रूप आर्थिक और सामाजिक स्थिति के अनुसार बिल्कुल अलग-अलग हो जाता है। आधुनिक क्षेत्र में इनका जाना माना औपचारिक रूप है जिन्हें बुनियादी अधिकारों की संज्ञा दी गई है। परन्तु परंपरागत व्यवस्था के दूसरे सिरे पर आदिवासी समाज के लिये आज की हालत में ये औपचारिक व्यवस्थाएं बेमानी हैं। उनकी स्थिति में उनकी अपनी समझ और परंपरा के मुताबिक स्वशासी व्यवस्था इन अधिकारों को व्यवहार रूप देने के लिये अनिवार्य है।

9. जीविका के लिये उपयुक्त साधनों के बारे में हालत बहुत पेचीदा है और उसमें कुछ विसंगतियों ने भी घर कर लिया है। संगठित क्षेत्र के संदर्भ में तो जीविका के लिये उपयुक्त साधनों का औपचारिक रूप प्रबल है, उसके हर एक सदस्य का स्थान सुनिश्चित है और वह जो भी भूमिका निभाए जिंदगी के लिये उसकी उपयोगिता-अनुपयोगिता का कोई ख्याल किए बिना संगठित क्षेत्र के सदस्य होने के नाते ही वाजिब हकदारी ही नहीं गैर-वाजिब हकदारियां तक खुलेआम मिल जाती हैं।

परन्तु असंगठित क्षेत्र में किसको क्या मिल पाए इसका कोई ठिकाना नहीं है, और फिर हर जगह की हालत अलग-अलग है। फिर भी मोटे तौर पर संसाधनों पर अधिकार, उत्पादन के साधनों पर अधिकार और मेहनत की वाजिब हकदारी ऐसे तत्व हैं जिनसे किसी व्यक्ति या समाज के लिये जीविका के उपयुक्त साधनों की स्थिति का निर्धारण होता है।

10. इस तरह इज्जत की जिंदगी के लिए बुनियादी तौर पर पांच तत्व जरूरी है—समाज की अपनी व्यवस्था, अपने संसाधन, उत्पादन के अपने साधन, अपनी मेहनत की सही हकदारी और निजी आजादी। मानव समाज में यही अधिकार बुनियादी है। वे ही प्रजातांत्रिक व्यवस्था की भी आत्मा हैं। इन मुद्दों को हमारे संविधान में असंदिग्ध रूप से प्रस्थापित किया गया है।

11. संविधान में जिंदगी के अधिकार के बारे में असंदिग्ध व्यवस्था होते हुए भी व्यवहार रूप में आम आदमी के जीवन के अधिकार की अनदेखी ही नहीं वरन् भारी अवमानना हो रही है। इसका मुख्य कारण संसाधनों के जीवन के आधार रूप की बजाय संपत्ति रूप को अंग्रेजी राज के दौरान दी गई कानूनी मान्यता है। यह विडम्बना है कि संविधान से संपत्ति के मौलिक अधिकार के रूप में हट जाने के बाद और उसमें प्रस्थापित जिंदगी के अधिकार के सही रूप के बारे में स्पष्टता होने के बावजूद व्यवहार में कानून का वही उपनिवेशवादी रूप बना रहा। इसलिए पूरे राष्ट्रीय जीवन में कदम-कदम पर आम आदमी के जिंदगी के सांविधानिक और मानवीय अधिकार और ताकतवर लोगों के संपत्ति के कानूनी अधिकार के बीच टकराव है। मोटे तौर पर यह कहा जा सकता है कि अंग्रेजों के जमाने के संसाधनों के अनैतिक बंटवारे में स्वयं राज्य और उसके साथ कुछ लोग तो अधिकतर जमीन सहित प्राकृतिक संसाधनों के मालिक बन बैठे। परन्तु दूसरी ओर आम आदमी जो इन संसाधनों का उपयोग करके युगों से जिंदगी बसर करता आ रहा था वह उनसे जिंदगी बसर करने के नैसर्गिक अधिकार से भी वंचित हो गया। दुर्भाग्य से यह प्रवृत्ति आजादी के बाद और भी तेज होती गई है।

से अनुसूचित जातियों और जनजातियों के संरक्षण की जिम्मेदारी के अंधियारे गलियारे, अक्सर भुला दिये जाते हैं। इतना ही नहीं, नीति, सिद्धांत और कानून के साये में पुरानी और नई दोनों ही व्यवस्थाओं के निहित स्वार्थों का साथ देने और उन पर घातक प्रहार करने तक में भी संकोच नहीं होता है। कहीं-कहीं तो ऐसा लगता है मानो कानून, संविधान, मानवीय अधिकार और राज्य के दायित्व का वजूद ही न हो, यही हमारे राष्ट्रीय जीवन की सबसे बड़ी विडम्बना है जिसका खुलासा मैंने इस रपट में किया है।

13. वैसे तो यह सब कुछ वंचना और शोषण की अमानवीय प्रक्रिया का ही एक अंग है जो बहुत कुछ युगों से चली आ रही है। परन्तु अंग्रेजों के जमाने में इसका आयाम बहुत व्यापक हो गया था और उसकी गहराई भी बढ़ती गई। आज के हालात को नजदीक से देखने पर बुनियादी तौर पर वंचना के पांच स्तर साफ दिखाई देते हैं—(1) संसाधनों पर अधिकार की अवमानना और उनके उपयोग की मनाही, (2) उत्पादन के साधनों का अनुभव, (3) मेहनत की हकदारी को नकारना, (4) व्यक्तिगत आजादी का विनिमय और आखिर में (5) वंचना और शोषण की स्थिति को जायज और सही स्वीकारने की मनःस्थिति और सामाजिक प्रतिष्ठित और आत्मगौरव का अवसाद। खेद है कि आजादी के बाद संगठित क्षेत्र के अलावा पूरे समाज में दूर होने की बजाय, इन पांचों ही स्तरों पर वंचना की प्रक्रिया न केवल बनी रही है बल्कि कहीं-कहीं तो और भी तीखी होती गई हैं। इस प्रक्रिया की समीक्षा आखिरी सीढ़ी से ही करना उचित होगा।

## सामाजिक प्रतिष्ठा और आत्मगौरव

14. आदमी की इज्जत और प्रतिष्ठा बनती है उसके काम से, उसके काम की मान्यता से, उत्पादन के साधनों पर अधिकार से और अपनी व्यवस्था खुद चलाने के अधिकार से। इन सभी मामलों में अनुसूचित जातियों की हालत पहले से ही बहुत खराब थी। मेहनत उनके हिस्से में आई थी और संसाधन दूसरों के परन्तु आजादी के बाद की स्थिति में व्यवस्था और ताकतवर लोगों के गठजोड़ के सामने वे लोग और भी ज्यादा मजबूर हो गए हैं। एक तो उनके पास बचे-खुचे उत्पादन के साधन उनके हाथ से निकलते जा रहे हैं। दूसरे आज गांवों में लगभग अराजकता की हालत है। इस माहौल में गांव समाज के शेष संसाधनों पर लोगों के गुजारे की असलियत और अधिकारों को नकारते हुए कहीं गांव के बड़े लोग, कहीं बाहर की छोटी बड़ी कम्पनियां और कहीं सरकार खुद कब्जा करती जा रही है, वे लोग कहाँ जायें, कौन जाने जिंदगी के ऐसे कठोर संघर्ष में प्रतिष्ठा और आत्मगौरव सपने की ही बातें हैं।

15. यह एक भारी विडम्बना है कि प्रतिष्ठा के मामले में हमारे देश के सबसे स्वाभिमानी समाज आदिवासी समाज की हालत सबसे गयी गुजरी हो जाये। आदिवासी इलाकों में समूचे समाजों के संसाधनों पर अधिकार की अवमानना, उनकी परंपरागत स्वशासी व्यवस्था के नकारे जाने से वे व्यवस्था के सामने एकदम बेसहारा हो गए हैं। वन राज्य की संपत्ति हैं इसलिए वनवासी के लिये, जो युगों से उन्हीं वनों से अपनी जिंदगी बसर करते रहे हैं, वहां जीवन बसर करना अपराध हो गया, उनका उन वनों में बने रहना भी कानून के खिलाफ हो गया। अगर आदिवासी हाथ में धनुष-बाण लेकर वन में चला जाये तो अपराधी हो जाता है, उसके जानवर खुलकर जंगल में चरने निकल जायें तो क़ांजी हाऊस पहुँच जाते हैं। उसकी जमीन पर अपना काम नहीं है। अगर वह अपनी परंपरा के मुताबिक अपने देव की पूजा में और अपने उत्सव में कहीं मदिरा का सेवन कर ले तो अपराधी बन जाता है। जिंदगी के हर मामले में उसे सिर्फ इसलिए अपराधी करार दिया जा रहा है क्योंकि कानून उसके खिलाफ है। आदिवासी इलाकों में पूरे समाज का ही अपराधीकरण हमारे देश की उदार परंपरा पर सबसे बड़ा धब्बा है।

16. और सबसे बड़े अफसोस की बात तो यह है कि यह सब हुआ और हो रहा है संविधान और कानून के नाम की दुहाई देकर, यही नहीं, यह सब किया जा रहा है एक ऐसी व्यवस्था के नाम पर जो अपने को न्याय, युक्ति और आधुनिकता का प्रतीक मानती है। संविधान में ठीक करने के लिए जिनको दायित्व दिया गया उनको उस दायित्व के बारे में कोई बोध तक नहीं। व्यवस्था को पहली कोशिश अपने को सही और उनको गलत साबित करने की होती है। कहा जाता है कि आदिवासी समाज अपने को बदले, नई व्यवस्था के अनुरूप अपने को विकसित करे, उसे समझाने की कोशिश होती रहती है।

17. इस तरह पहले तो इस बुनियादी विसंगति को सुधारने के लिए कोई कार्रवाई ही नहीं होती है और अगर कहीं कोई कार्रवाई शुरू की जाती है तो न जाने कहां जाकर किस तरह अटक जाये इसका तो भरोसा नहीं। इसके फलस्वरूप आज पूरे आदिवासी क्षेत्र में टकराव की स्थिति पैदा हो गई है। इस रपट में आदिवासी इलाकों में आबकारी नीति की समीक्षा की गई है। इस विषय पर केन्द्र सरकार से नीति निर्देश जारी होने के सोलह साल बाद तक यह नीति किसी भी राज्य में पूरी तरह से लागू नहीं हो पाई है। जहां लागू की भी गई है वहाँ उसके क्रियान्वयन में कहीं न कहीं कोई ऐसा पेंच है कि उसकी मूल भावना ही खत्म हो जाती है। यही नहीं, जब लोग उसी सरकार से कुछ करने की मांग करते हैं तो उन्हें व्यवस्था का कोपभाजन होना पड़ता है।

18. सरकारी नीति का मामला मैंने तफ़सील से इसलिए बयान किया है कि यह आदिवासी की निजी और सामाजिक जिंदगी को छूता है। अगर कोई आदिवासी अपने समाज की परंपरा के मुताबिक चलता है तो वह कानून तोड़ता है, 'कानूनन' उसके खिलाफ कार्रवाई की जा सकती है। क्या इससे भी अधिक खेदजनक कोई और स्थिति हो सकती है ? आदिवासी इलाकों में ऐसा कोई भी कानून जो आदिवासी की अपनी सामाजिक परंपरा को अपराध बना दे संविधान की भावना के खिलाफ है। सामाजिक प्रतिष्ठा और आत्मगौरव के लिये यह जरूरी है कि ये सभी कानूनी विसंगतियाँ तत्काल समाप्त हो जायें।

## आम आदमी की हकदारी

19. जिंदगी के अधिकार के मामले में सबसे बड़ा सवाल है आम आदमी की अपनी मेहनत के लिये हकदारी का। जिस आदमी को दो जून रोटी भी न नसीब हो उसका कैसा मान और कैसा सम्मान? इस संबंध में आज की स्थिति अत्यन्त अन्यायी है। इस समय संगठित क्षेत्र देश के सकल उत्पादन में से पहले अपने लिये मनमानी हकदारी के आधार पर अधिक से अधिक हिस्सा निकाल लेता है। असंगठित क्षेत्र के सदस्यों को उसके बाद जो बचे रहे उसी से संतोष कर लेना पड़ रहा है। सच तो यह है कि संगठित क्षेत्र के बाहर आम मेहनतकश लोगों की, जिनमें हाथ से काम करने वाला किसान भी शामिल है, मेहनत का सही तौर पर मूल्यांकन तक नहीं हुआ है। कैसी विडम्बना है कि हमारे कृषिप्रधान देश मे उसके सबसे कुशल, सबसे कठिन और सबसे खराब स्थितियों में काम करने वाले खेतिहर मजदूर को अकुशल कामगार का दर्जा दिया गया है। यही बात कमोबेश असंगठित क्षेत्र के सभी परंपरागत व्यवसायों के कामगारों की भी है। इन सब के कौशल को अकौशल और ज्ञान को अज्ञान मान लिया गया है। और हमारे कुशल कारीगर धीर-धीरे अकुशल मजदूरों की भीड़ मात्र होते जा रहे हैं।

20. मैंने अपनी पिछली रपट में संगठित और असंगठित क्षेत्रों में मजदूरी और वेतन की दोहरी व्यवस्था की असंवैधानिकता का उल्लेख किया था। परन्तु इस पर आज तक कहीं कोई चर्चा ही नहीं हुई। यह दोहरी व्यवस्था ही हमारे देश में अन्याय की जड़ है। अगर आम आदमी के लिये सही माने में इन्साफ़ की बात की जाती है तो सबसे पहले खेतिहर मजदूर के लिये सही मजदूरी तय करनी होगी, उससे किसान की फसल के दाम ऊँचे होंगे, और आखिर में असंगठित क्षेत्र के सभी मेहनतकशों की हकदारी भी बढ़ेगी। इस तरह से संगठित और असंगठित क्षेत्र के बीच एक नया रिश्ता कायम करना होगा। इसमें स्वाभाविक है कि संगठित क्षेत्र के लोगों की हकदारी आज

की तुलना में बहुत कम हो जाएगी। इसे वे लोग हाल-फिलहाल मंजूर नहीं करेंगे—परन्तु यह तर्क, अन्याय की इस वास्तविकता को उनके गले उतारना ही होगा। अन्यथा, इन अन्यायी रिश्तों को बदले बिना आम आदमी को न्याय मिल कैसे सकता है?

21. यही हमारी व्यवस्था की बुनियादी हकीकत है। इसको नजरअंदाज कर देने से समस्याओं का सही विश्लेषण तक नहीं हो पा रहा है और जब बीमारी की सही पहचान ही नहीं तो उसका इलाज कैसा? उदाहरण के लिए प्रस्तुत विश्लेषण से यह स्पष्ट है कि हमारे देश में बेरोजगारी है ही नहीं। असलियत यह है कि तथाकथित बेरोजगारी एक बड़ी साज़िश का हिस्सा है जिसका एक ही उद्देश्य है—मेहनतकश को जब तक उसके हाथ-पैर काम कर सकें उसके शरीर धारण मात्र के लिए कम से कम देकर अधिक से अधिक काम करवा लिया जाये और आखिर में वह अपना "एवजीदार" देकर मंच से चला जाये। यहीं पर वंचना जैविक शोषण के घृणित स्तर तक पहुंच जाती है।

22. असंगठित क्षेत्र के तमाम मजदूरों में अनुसूचित जातियों के लोग ही बड़ी तादाद में हैं। आज की हालात में, जब अनुसूचित जातियों के सदस्यों के पास अपनी मेहनत और अपने कौशल के अलावा और कुछ है ही नहीं, उनकी मेहनत की हकदारी की लड़ाई ही इंसाफ की लड़ाई है। यही उनके जिंदगी के अधिकार की लड़ाई है। सामाजिक न्याय की पहली सीढ़ी के खेतिहर मजदूर के कौशल को स्वीकार कर उसको कुशल मजदूर का दर्जा देना, उसके अलावा संगठित क्षेत्र में जो सिद्धांत मजदूरी के लिये मान्य हैं, उसके अनुसार खेतिहर मजदूर की मजदूरी की दर इतनी तो हो जिससे कि उसकी औरत और बच्चों को काम करने के लिय मजबूरन घर के बाहर न जाना पड़े। वह भी एक प्रतिष्ठित नागरिक की तरह अपनी कमाई से पूरे परिवार का भरण-पोषण कर सके।

## उत्पादन के साधनों पर अधिकार

23. अधिकतर आदिवासी और अनुसूचित जातियों के सदस्य किसी न किसी रूप में खेती पर निर्भर हैं। परन्तु जमीन पर अधिकार के मामले में हालत अभी बहुत दूर तक चिंताजनक है। इस मामले में सबसे ज्यादा गड़बड़ी आदिवासी इलाकों में हुई है, हो रही है। पहले तो कई इलाकों में अभी तक कोई कागजात ही नहीं हैं, इसलिए गांव में किसकी जमीन कहां पर है, यह कागज पर नहीं है। दूसरे कानून के ऐसे बहुत से दांव पेंच हैं जो लोगों की समझ के बाहर हैं। आज के कानून में जिस जमीन पर किसी का नाम दर्ज नहीं है वह सरकारी मान ली जाती है। इसलिये सरकार जो चाहे कर

सकती है। उधर कागज पर नाम चढ़वाने से ही जमीन पर मिल्कियत हो जाती है। इस बात का बाहरी लोगों ने बुरी तरह से फायदा उठाया। आज कागज ही लोगों के खिलाफ नहीं है, पूरी व्यवस्था ही उनके खिलाफ है। जमीन की जोत और मिल्कियत की जानकारी तो गांव में ही मिल सकती है, परन्तु जमीन के झगड़ों का फैसला अदालत में होता है। वहीं उस नासमझ को इंसाफ मिलने की कोई उम्मीद नहीं रहती। वह कुछ कर भी तो नहीं सकता इसलिये लाचार हैं।

24. कई इलाकों में खास तौर से जहां औद्योगिक प्रतिष्ठान बन रहे हैं, अराजकता की स्थिति हो गई है। उत्तर प्रदेश मे सोनभद्र का मामला बड़ा ही खेदजनक है जहां सेटलमेंट के नाम पर लूट मची हुई है। यहाँ राज्य के आदेश और न्यायालयों के फैसले भी आदिवासी की जमीन बचाने में असमर्थ हैं। जब तक इस व्यवस्था में बुनियादी बदलाव नहीं किया जाता जिससे जमीन पर अधिकार के सभी फैसले गांव में ही गांव के लोगों के बीच हो जायें, तब तक आदिवासी को इंसाफ नहीं मिलेगा। पूरे आदिवासी समाज को उसकी जिंदगी का आधार, जमीन का मामले बाहरी औपचारिक व्यवस्था की दया-भिक्षा पर छोड़ देना सरासर अन्याय है और सांविधानिक व्यवस्था का उल्लंघन है। इस समय सोनभद्र में उसी मुद्दे पर जन आन्दोलन उभर रहा है। उनकी बात तो मानी ही जानी चाहिये उसके साथ ही आदिवासी इलाके के लिये उसी के मुताबिक व्यवस्था लागू की जानी चाहिये।

25. जमीन के बारे में सबसे बुनियादी सवाल है जमीन जोतने वाले की हकदारी का, इस मामले में हमारे देश के कानून में जोतने वाले का जमीन पर अधिकार मान लिये जाने के बावजूद असलियत में उसी की हालत सबसे कमजोर है। पिछली रपट मे मैंने "जमीन जोतने वाले की" इस उसूल को अमल में लाने के लिये व्यापक सिफारिशें की थी। उनके संदर्भ में अधिकार दिलाने की बात तो दूर, अभी तो इसका भी कोई भरोसा नहीं कि जमीन जोतने वाला उस जमीन को जोतता रह सकता है। कई राज्यों में जमीन की जोत के तथ्य को सरकारी कागजात में दर्ज कराना तक लगभग नामुमकिन है। इस मामले में मैंने बिहार (सोन, डाल्टेनगंज) और आंध्र प्रदेश (पुलिमामिडी) के दो उदाहरण दिये हैं। दोनों ही राज्यों में लोग, जिनमें अधिकतर अनुसूचित जाति के हैं, जमीन पर खेती कर रहे हैं उनके नाम रिकार्ड पर दर्ज नहीं हैं, उन्होंने सरकार से संरक्षण की मांग की है जिस पर अभी तक सरकार की ओर से कोई स्पष्ट भूमिका नहीं ली गई। इसलिये उन्होंने अपने हकों की खुद रक्षा करने के लिये संकल्प लिया है।

26. इन मामलों में रिकार्ड और जोत के मुद्दे बड़े सीधे-सादे लगते हैं। परन्तु उनमें कुछ बड़े ही बुनियादी सवाल हैं। अगर कोई आदमी किसी खेत को जोत रहा है तो

क्या इस हकीकत को सरकारी कागज में नहीं उतारा जाना चाहिए? जो बात मौके पर है उसका जिक्र कहीं न कहीं तो होना चाहिए, अगर हमारी व्यवस्था में ऐसा भी नहीं होता है तो उसका एक ही मतलब है कि इस व्यवस्था में गरीब आदमी के जायज अधिकार को अनदेखा करने के लिये एक आसान रास्ता बना लिया गया है। यह रास्ता कानूनी हो सकता है। परन्तु उसे न तो न्यायपूर्ण कहा जा सकता है और न हमारे संविधान की भावना के अनुकूल ही माना जा सकता है। यहाँ कानून, न्याय और संविधान में तालमेल की कमी साफ नजर आती है। और यह कहानी सोन या पुलिमामिडी की ही नहीं है। देश में अधिकतर जमीन हाजिर या गैरहाजिर जमींदारों के चंगुल में फँसी हुई है, कानून की निगाह में उस पर गुजर करने वाले का उससे कोई नाता ही नहीं हैं।

27. जोत की जमीन के मामले में सभी संघर्ष बुनियादी तौर पर दो अधिकारों के बीच टकराव है—एक ओर जीवन का अधिकार और दूसरी ओर संपत्ति का अधिकार। जीवन का अधिकार संपत्ति के अधिकार से बहुत ऊँचा है। जहाँ कोई आदमी जमीन जोतकर अपनी जिंदगी बसर कर रहा है तो अगर सरकार उसे जमीन की मिल्कियत नहीं दिला सकती तो कम से कम उस पर काबिज़ रह कर जिंदगी बसर करने के अधिकार की तो रक्षा की ही जा सकती है।

28. जमीन से जुड़े जीवन के अधिकार की हिफाजत के लिए सबसे पहला कदम तो यही होगा कि कानून कुछ भी हो या कानून में इस बारे में कोई जिक्र न भी हो तो भी जो आदमी जिस जमीन को जोत रहा है, वह उस पर काबिज रहे यह सुनिश्चित किया जाये। इस उसूल का खुला एलान किया जाये और उनके कब्जे का सरकारी कागजातों में इन्दराज हो। उसके अलावा अगर कोई जमींदार इस अधिकार को नजरअंदाज कर जमीन जोतने वाले को बेदखल करता है तो उसकी हिफाजत सरकार की जिम्मेदारी है। और अगर कोई सरकार उसके इस मूलभूत अधिकार की रक्षा नहीं कर सकती है तो उसके आत्मरक्षा के अधिकार को तो छीना नहीं जा सकता। यही संविधान का संदेश है।

## बंधुआ मजदूरी

29. जिंदगी के अधिकार की सबसे बड़ी अवमानना तो बंधुआ मजदूरों के मामले में ही है। सरकारी आँकड़ों और व्यापक योजनाओं के बावजूद कई इलाकों में स्थिति बड़ी शोचनीय है। तमिलनाडु में कॉफी बागान मालिकों के लिये सोने की खानें हैं, परन्तु उन्हें खून पसीने से सींचने वाला आदिवासी उनमें ''कैद'' है। डाल्टेनगंज और चंपारन में बड़े-बड़े फर्मों में पांच कट्ठा जमीन से बांध दिये जाते हैं मजदूरों के

हाथ-पैर। उत्तर प्रदेश और मध्य प्रदेश के सीमान्त पर कई इलाकों में खदानों में काम करना लोगों की नियति बन गई है, काम पर जाने से मना करने की जुर्रत करें तो जान भी जा सकती है, हाथ-पैर तुड़वाये जा सकते हैं, पिटाई तो मामूली बात है। बंधुआ मुक्ति कानून के 14 साल बाद ऐसा उत्पीड़न और ऐसा शोषण, जिसे प्रशासन जानता है, जिसके बारे में संवेदनशील सामाजिक कार्यकर्ता भी बेवसी में "क्या करें" कह कर मुँह फेर लेने के अलावा कुछ नहीं कर पाते हैं। मानव अधिकारों की यह खुली अवहेलना खेद की नहीं, शर्म की बात है पूरे देश के लिये।

30. यह साफ है कि बंधुआ मुक्ति की नीति में ही एक बड़ी बुनियादी कमी है। इसमें बंधुआ की मुक्ति की योजना उसकी गुलामी की जंजीरों को काटने के बजाय उसको अपनी जिंदगी के सहारे से काट देती है। होना यह चाहिये कि बंधुआ मजदूर की गुलामी की जंजीरे काटी जायें और उसके साथ यह ध्यान रखा जाये कि कहीं वह अपनी जिंदगी के सहारे से न कट जाय। उसके जिंदगी के सहारे पर अर्थात् जिस काम में वह लगा है उस कारोबार में उसका हक है। उसके इन बुनियादी हक की रक्षा की जाय और उसके अमानवीय संबंधों को काटा जाये। यही नहीं, इस जघन्य अपराध के लिये दोषी उसके मालिक को उस कारोबार से बेदखल कर उस पर मजदूर को मालिकाना हक दिया जाये। सही अर्थ में यही बंधुआ मुक्ति होगी।

## संसाधनों पर अधिकार

31. खेती की जमीन के अलावा परंपरागत व्यवस्था में प्रमुख संसाधन वन, चरागाह (पड़ती भूमि) और पानी है जिन पर आम लोग अपनी जिंदगी के लिये निर्भर है। सभी तरह के संसाधनों पर गलत हकदारी अंग्रेजों के जमाने में ही शुरू हुई थी। उसी जमाने में स्थानीय समाज और व्यक्ति का उन संसाधनों से मां-बेटे का रिश्ता खत्म कर दिया गया और राज्य का उन पर एकाधिकार हो गया। केन्द्रीकरण की यह उपनिवेशवादी प्रवृत्ति आजादी के बाद विकास की नई अवधारणा के साये में और भी मजबूत होती गई। इस उपनिवेशवादी-विकासवादी प्रवृत्ति के पूरे परिणाम आज ही सामने आ रहे हैं। इस समय सब ओर स्थानीय समाज और आम आदमी के हाथ से उनकी जिंदगी का सहारा अमूर्त राज्य और संस्थाएं तथा बड़े लोग बेधड़क छीनते जा रहे हैं। इस हालत में लोग अपनी जिंदगी के अधिकार की लड़ाई लड़ रहे हैं परन्तु व्यवस्था उनके संसाधनों के उपयोग को गैर-कानूनी करार देकर अपनी ताकत का नाजायज फायदा उठाकर उन्हें वहाँ से निकाले दे रही है।

32. वनों पर अधिकार के मामले में पहला बुनियादी बदलाव तो यही हुआ कि वन और वनवासियों के बीच के सह-जीवी रिश्ते को नकार दिया गया और वन राज्य की

संपत्ति बन गए। राज्य के एकाधिकार में आने के बाद वनों के प्रबंध के लिये औपचारिक व्यवस्था कायम हुई जो धीरे-धीरे व्यापक और मजबूत होती गई। इस बदलाव में सबसे बड़ी विडम्बना यही रही है कि वनों से जिन वनवासियों का जीवन का संबंध है, जिसके लिये वे उनके घर हैं, उनका धर्म है, उनकी संस्कृति है, उनका सब कुछ है उनका कहीं कोई वजूद ही नहीं है। इस औपचारिक व्यवस्था, जो सिर्फ बाजार और सत्ता के संबंधों को पहचानती है, की हर चंद कोशिश यही है कि जीवन या मां-बच्चों के इन रिश्तों को बाजारू रिश्तों में बदल दिया जाये। यह कैसे सम्भव है? इस बुनियादी नासमझी के कारण इन इलाकों में टकराव और विनाश की वर्षा चारों ओर हो रही है और आदिवासी समाज के साथ भारी अन्याय हो रहा है।

33. वनों पर कब्जा जमाने के लिये अंग्रेजों ने भारतीय वन अधिनियम बनाया। वनों का आरक्षण हुआ, उसमें कानूनी औपचारिकता जरूर निभाई गई, परन्तु उसमें लोगों को न्याय मिलने का सवाल ही नहीं था। अधिकतर आदिवासी लोग अपने घरों से जबरदस्ती बेदखल कर दिये गये थे। उस बेदखली की याद अब उनकी लोक-कथाओं में ही बची है। जिन लोगों से बन पड़ा वनों के बाहर खेती कर ली। परन्तु फिर भी वनों से जिंदगी का रिश्ता तो बना ही रहा। वे जनजातियाँ, जो पूरी तरह से वनों पर आश्रित हैं, इस हादसे से अभी तक नहीं उबर पाई हैं। आदिम जनजातियाँ और झूमिया अपनी जिंदगी और मौत की लड़ाई आज भी लड़ रहे हैं। इसी तरह घुमन्तू जातियों के लोगों का जिंदगी का अधिकार छिनता जा रहा है। इन लोगों की समस्याएं अनदेखी ही रह गई हैं।

34. यह जाहिर है कि भारतीय वन अधिनियम में व्यक्ति के स्तर पर जिंदगी के अधिकार और समाज के स्तर पर आदिवासी समाज की अस्मिता को बनाये रखने के मानवीय अधिकार की अनदेखी हुई है। इसलिये यह कानून हमारे संविधान की भावना के अनुरूप नहीं हैं। परन्तु इसमें चूँकि स्वयं राज्य ही एक पक्षधर था, इसमें बदलाव नहीं आया और हालत वैसी ही बनी हुई है। इस तरह वनों के संबंध में हमारे देश की व्यवस्था में सांविधानिक संरक्षण और मानवीय अधिकारों की अनदेखी होती रही है। यही आदिवासी समाज की सबसे अधिक दुखती रग है और उनके मामले में यह बड़ी ही करुण गाथा है।

35. आजादी के बाद सभी आदिवासी इलाके बड़े-बड़े राज्यों में शामिल हो गए। इस दौर में उनकी पुरानी व्यवस्थाओं की ओर कोई खास ध्यान नहीं दिया गया और सभी जगह धीरे-धीरे एक समान नयी व्यवस्था लागू हो गई जहां वन आरक्षित नहीं थे, वहाँ आरक्षण की कार्रवाई शुरू हुई, निजी वन सरकारी हो गए। इस तरह पुरानी प्रबंध व्यवस्था में स्थानीय परंपराओं के लिये जो कुछ गुंजाइशें थीं वे नई व्यवस्था में

खत्म हो गई। परन्तु नई व्यवस्था लागू होने से लोगों की जिंदगी तो एकाएक नहीं बदल जाती है इसलिये मौके पर कई तरह की विसंगतियां पैदा हो गईं और नई व्यवस्था को लोग मन से स्वीकार नहीं कर पाये हैं, कई जगह टकराव हैं।

36. आजादी के बाद वनों के आरक्षण की कार्रवाई अधिकतर लापरवाही से हुई हैं। कहीं-कहीं तो किसी तरह मात्र औपचारिकता निभाई गई और यह भी ख्याल नहीं रखा गया कि शायद कुछ लोग वहां भी रहते हैं। इस तरह खुद कानून की भावना का भी उल्लंघन हुआ है। कहीं जागीरदारी जंगलों के सरकारी होते ही बिना जांच-पड़ताल के ही वहां के मूल निवासी अतिक्रामक बन गए। कहीं आरक्षण करते समय लाइनें न खीचनें से लोगों को यही नहीं मालूम हो पाया कि किस जमीन का आरक्षण हो रहा है। कहीं कोई अफसर गया ही नहीं और आरक्षण की सिफारिश हो गई। इसी तरह हर इलाके के अपने-अपने रिवाज थे जैसे थाणे की करकस, रायगढ़ की बली, कर्नाटक में हरी खाद के लिये पट्टे इत्यादि, इनकी ओर किसी ने देखा तक नहीं। इस कारण बहुत से इलाकों में पुरानी विधि व्यवस्थाएं बिना कुछ सोचे समझे खत्म हो गई; आदिवासी अपराधी क़ानून का उल्लंघनकर्ता व 'अपराधी' बना दिया गया।

37. दुर्भाग्य से वनों के आरक्षण से वनों का बचाव नहीं हुआ। कुछ तो आबादी और लोगों की जरूरतें बढ़ने से वनों पर अन्दरूनी दबाव बढ़ता रहा है परन्तु सबसे बड़ा हादसा बाहरी दबाव से हुआ है। वैज्ञानिक प्रबंध के नाम पर प्राकृतिक वनों को काटकर एक-जातीय पेड़ों का प्लांटेशन और चाय, कॉफी, इलायची, इत्यादि के बागानों को लगाना, उद्योगों के नाम पर कौड़ी के मोल वनोपज की लीज़ों का देना और अंत में विकास के नाम पर उद्योगों और खनिज परिसरों की स्थापना, राज-मार्गों का निर्माण, बाहरी लोगों की भीड़, आदिवासी की बेदखली, नई नागरीय जरूरतों की पूर्ति, सभी कुछ आखिर में वनों पर भार साबित हुआ। इस तरह वनों का भारी विनाश हुआ है। इस विनाश का सबसे बुरा प्रभाव आदिवासियों की जिंदगी पर पड़ रहा है, उसकी जिंदगी का आधार टूटता जा रहा है। परन्तु दुर्भाग्य से उस टूटन की ओर किसी का ध्यान नहीं है। देश के खाद्यान्नों का उत्पादन बढ़ा परन्तु वनों के विनाश से आदिवासियों की खाने की चीजों का कितना घाटा हुआ, उसका कहीं हिसाब नहीं। वनों की हिफाजत के अभियान में असली अपराधी, जिसने तुरंत लाभ के लिये उसका सफाया किया, कर रहा है बच जाता है और पूरा कहर आदिवासी पर जो वैसे ही पिस रहा है, पड़ जाता है।

38. वनों के प्रबंध के मामले में आदिवासी की जिंदगी के साथ-साथ पर्यावरण और राष्ट्रीय विकास के पहलुओं को नहीं भुलाया जा सकता है। परन्तु समाज की अस्मिता को न मान कर उसके साथ उसकी सहमति के अनुसार काम न करने से वनों की

हालत आज एक ऐसी सार्वजनिक संपत्ति की तरह हो गई है जिसका कोई देखने-सुनने वाला नहीं है, और है भी तो बहुत दूर, जिसकी उसके बारे में कोई खास भूमिका नहीं। यह ठीक है कि वनों पर आंतरिक दबाव बढ़ा है परन्तु आदिवासी आखिर झोंपड़ी बनाने के लिए एक बल्ली, हल बनाने के लिए एक लकड़ी, रात में कीड़े-मकोड़ों, जंगली जानवरों और ठंड से बचने के लिए सूखी लकड़ी ही जंगल से लाता है। उसने सागौन के शीशमहल तो नहीं बनवाए। अगर आदिवासी जंगल काटता है, वन में खेती करता है तो यह उसकी मजबूरी है। अगर उसे कोई दूसरा विकल्प दिया जाये तो यह उसे खुशी से स्वीकार करेगा।

39. हमारे संसाधनों के खत्म होने का मुख्य कारण है बढ़ती असमानता और उफनता उपनिवेशवाद। परन्तु दुर्भाग्य से उसका कहीं जिक्र ही नहीं है। इसलिए सबसे बड़ी जरूरत उपभोगवादी व्यवस्था पर अंकुश लगाने और प्राकृतिक संसाधनों पर हकदारी के इंसाफ की है। इसके लिये एक ओर तो यह जरूरी होगा कि जितने निहित स्वार्थ तुरंत लाभ और बड़ी जागीरें बनाने के चक्कर में वनों में घुस आये हैं उनका कड़ाई से दमन किया जाये। छोटे-बड़े वैध और अवैध बागान, जिनकी कर्नाटक में भरमार है, उनके मालिकों से लेकर मज़दूरों को दे दिये जायें। अगर गरीब को प्राकृतिक संसाधनों में हक़दारी मिल जाती है तो वह आज की समस्या से छुट्टी पाकर कल की चिंता करेगा और पर्यावरण का सबसे बड़ा समर्थक बन जाएगा। वनों के बचाव-सुधार में लोगों की साझेदारी के कुछ अच्छे प्रयोग पश्चिम बंगाल में हुए हैं जो अनुकरणीय हैं, कई जगह लोग भी अपनी ओर से पहल कर रहे हैं जिनको समर्थन देना उचित होगा।

## लघु वनोपज

40. लोगों की भागीदारी के संबंध में लघु वनोपज का महत्त्वपूर्ण स्थान है। इस संबंध में मैंने पिछली रपट में भी सिफारिश की थी कि कम से कम लघु वनोपज पर तो लोगों को पूरा हक दे ही दिया जाए। अगर हम भारतीय वन अधिनियम की औपचारिक व्यवस्था के अनुसार भी देखें तो लघु वनोपज पर सरकारी अधिकार गैर-कानूनी है, उस पर रायल्टी लगाना अनैतिक है। वनोपज के मामले में मध्य प्रदेश और बिहार में आदिवासियों को "मजदूर की जगह मालिक" का दर्जा देने की घोषणा से उनके प्रांत में घोर ऐतिहासिक अन्याय को समाप्त करने का पहला महत्त्वपूर्ण कदम उठाया गया था। परन्तु खेद है कि मध्य प्रदेश में इस घोषणा के तत्काल बाद से ही कई तरह के प्रतिगामी बल क्रियाशील हो गए और आज हालत यह हो गई है कि उस मूल निर्णय को भी नकारा जा रहा है। यह प्रतिगामी कदम हमारी उस पूरी सांविधानिक व्यवस्था का मखौल है जिसमें राज्य पर विश्वास के साथ आदिवासी के

हितों के संरक्षण का भार सौंपा गया है। क्या राज्यपाल और राष्ट्रपति औपचारिकता को एक ओर रख कर यह सुनिश्चित करने की व्यवस्था करेंगे जिससे वह न्यायपूर्ण निर्णय नकारा न जा सके और यह प्रतिगामी निर्णय हमारे सामाजिक न्याय के इतिहास में कलंक बन कर न रह जाये ?

## वन्य प्राणी

41. वन्य प्राणियों के प्रबंधन के मामले में भी ये तथ्य कि आदिवासी और वन्यप्राणियों का सदा से सहअस्तित्व रहा है। धनुष और बाण से वन्य प्राणी का विनाश नहीं हो सकता है, उनके संहार का असली अपराधी बाहर का आदमी है। इस बात को नजर-अंदाज करने से बड़ी विसंगत स्थिति पैदा हो गई है। लोगों पर इलजाम लगाए जा रहे हैं और उन्हें इन इलाकों से हटने के लिये मजबूर किया जा रहा है। उसकी यह फरियाद कि शेर के साथ तो वे हमेशा से रहते आये हैं, अब भी रह लेंगे, कोई सुन ही नहीं रहा है। कई इलाकों में उसकी आर्थिक व्यवस्था चौपट हो गई है, जिसका कोई कानूनी आधार तक नहीं है। सचमुच ही उसके जिंदगी के अधिकार की यहां खुली अवमानना हो रही है जो संविधान की भावना के अनुरूप नहीं है। इस स्थिति पर कानून और व्यवहार दोनों ही स्तरों पर पुनर्विचार की जरूरत है।

## स्थायी समाधान की अनिवार्यता

42. दुर्भाग्य से वनों के प्रबंध में लोगों से सहभागिता की बजाय पूरी-पूरी औपचारिकता निभाई जा रही है। नई वन नीति में सहभागिता का जिक्र जरूर है परन्तु उसके अमल के लिये बाजारू और औपचारिक संबंधों को ही आधार माना गया है इस कारण उस निर्णय का व्यवहार में कोई मतलब ही नहीं रह जाता है। इस हालत में सरकार और लोगों के बीच तनाव बढ़ गया है, बढ़ता जा रहा है। मध्य क्षेत्र में लगभग सब ओर सरकार और लोगों के बीच टकराव की स्थिति है और कई इलाके वन विभाग की अधिकार-सीमा के बाहर हो गए हैं। सभी तरफ हालात सिर्फ इसीलिए बिगड़ती गई है कि लोगों की जायज बातों की ओर ध्यान नहीं दिया गया, इकतरफा ढंग से कानून थोपने की कोशिश की जाती रही है और विभागीय कर्मचारियों का व्यवहार दमनकारी रहा है। आखिर में या तो लोग अपने आप इसके विरोध में उठे या अतिवादी ताकतों ने उनकी ओर से लड़ाई शुरू की। लोगों का यह सवाल कि वन हमारे हैं, हमारी जिंदगी है, का समाधानकारक उत्तर होना जरूरी है। खेद है कि इस टकराव को खत्म करने के लिए जो बुनियादी सवाल हैं उनकी ओर ध्यान नहीं दिया जाकर वहां की हालत को केवल अतिवादी गतिविधियां मानकर ताकत का इस्तेमाल

कर उनसे पार पाने की कोशिश होती रही है। इस तरह वनों की पूरी व्यवस्था पर ही नये सिरे से विचार करने की जरूरत है बिना उसके न जंगल बचेंगे और न ही आदिवासियों की समस्या का ही हल होगा।

## तत्काल कार्रवाई

43. आदिवासी और व्यवस्था के बीच के तत्काल टकराव को दूर करने के लिए जमीन के मामले का तुरन्त समाधान होना चाहिये। इसमें सबसे महत्त्वपूर्ण बात तो यह है कि आज की आरक्षित वन सीमा ध्रुव सत्य है और उसके भीतर पाया जाने वाला आदिवासी गलती पर है, यह मान्यता समाप्त होनी चाहिये। अनेक आदिवासी समाजों की रिहाईश या खेती आरक्षण के पहले की है, या आरक्षण की प्रक्रिया ही गलत है इसीलिये उन्हें अतिक्रामक नहीं कहा जा सकता है। इसके साथ ही आज जो भी जैसे भी जंगल में गुजर-बसर कर रहा है उसे निकाला नहीं जा सकता है जब तक सरकार उसे कोई विकल्प नहीं बताती है जो उसकी समझ में आ जाये, तब तक वह जो उसकी समझ में आ रहा है उसके मुताबिक करता रहेगा। यह उसका बुनियादी सांविधानिक अधिकार है।

44. इस विवाद को मिटाने का एक ही रास्ता है—आज के औपचारिक कानून और व्यवस्था वाले रास्ते का त्याग और सरकार और गांव समाज के बीच आपसी समझ, सद्भाव और दूर-दृष्टि के आधार पर एक स्पष्ट कार्यनीति। इसके लिए शुरुआत आज जो जहाँ है उसकी स्थिति को स्वीकार करते हुए लोगों और सरकार के बीच एक तरह के अनौपचारिक करार से की जा सकती है। एक ओर सरकार वायदा करे कि आगे के लिये आपसी समझ के आधार पर कार्यनीति के तय होने तक वह लोगों की आज की खेती के बारे में उनके खिलाफ कोई कार्रवाई नहीं करेगी। दूसरी ओर गांव समाज यह सुनिश्चित करने की जिम्मेदारी ले कि जंगल में आगे खेती नहीं बढ़ेगी। सद्भावनापूर्ण वातावरण बनाने के लिये आदिवासी के खिलाफ जितने भी मामले हैं वे खत्म कर दिये जायें और एक-एक व्यक्ति की स्थिति को देखते हुए उसकी जमीन का फैसला किया जाये। इस कार्रवाई से जमीन को लेकर सरकार और लोगों के बीच आज का टकराव खत्म हो जायेगा। इस तात्कालिक शांति को स्थायी बनाने के लिये एक ऐसी योजना बनाई जाये, जिसमें तत्काल लोगों को काम मिले, पर्यावरण का बचाव-सुधार हो और उसके साथ ही लोगों की जिंदगी के लिये मजबूत और स्थायी आधार बन सके।

## पड़ती भूमि और बिगड़े वन

45. संसाधनों पर अधिकार के संदर्भ में पड़ती भूमि और बिगड़े वनों की ओर

खास तौर से ध्यान देना जरूरी है। अभी तक ये संसाधन या तो अनुपजाऊ थे या दूर-दराज के इलाकों में थे। इसलिए अगर गरीब उनसे जुड़ा हुआ था, अपनी जिंदगी बसर कर रहा था तो किसी को कोई एतराज नहीं था। परन्तु अब उनसे भारी मुनाफे की संभावना से सभी की आंखें उन पर लग गई हैं। ये संसाधन गरीबों के लिये जिंदगी गुजारने का सहारा हैं। परन्तु दुर्भाग्य से उनका कोई औपचारिक अधिकार नहीं है। इसलिए सरकार उनके मामले में जैसा चाहे कर सकती है। इस स्थिति का फायदा उठाकर आसूदा लोग विकास के बहाने और कानून की आड़ लेकर अपना हक लगाने की कोशिश कर रहे हैं। लोगों के जिंदगी के अधिकार को अनदेखा करके उनका वैकल्पिक उपयोग संविधान की भावना के खिलाफ है, इसलिए असंविधानिक है।

46. पड़ती भूमि और बिगड़े वनों के कार्यक्रमों के औद्योगिक प्रतिष्ठानों और आसूदा लोगों को शामिल करने की पेशकश न केवल जनविरोधी हैं परन्तु पर्यावरण सुधार के राष्ट्रीय उद्देश्य के लिए भी घातक है। उद्योगपति और आसूदा लोगों का संसाधनों के उपयोग के बारे में नजरिया शुद्ध व्यापारिक लाभ-हानि का होता है। इन कार्यक्रमों में बुनियादी तौर पर प्रकृति से खिलाफत और आम लोगों से टकराव होने से लागत बहुत अधिक हो जाती है। यही नहीं, इन कार्यक्रमों को जानबूझकर और भी खर्चीला बना दिया जाता है जिससे गरीब उनमें शामिल ही न हो पाए। एक तरह से राष्ट्रीय स्तर पर इन संसाधनों का आसूदा वर्ग द्वारा हथियाने की यह एक बड़ी साजिश है। इसके विपरीत व्यक्ति के श्रम और प्रकृति की शक्ति से भरपूर उपयोग पर आधारित गरीबों के कार्यक्रम बिना किसी खास लागत के बहुत बड़े पैमाने पर लिये जा सकते हैं जो गरीब और पर्यावरण दोनों के लिये ही हितकर होंगे।

47. इस तरह हमारे आर्थिक इतिहास में एक ऐसा मौका आया है जब गरीब जिन संसाधनों पर आज तक, ग़रीबी की हालत में ही सही, गुजर-बसर कर रहा था, परन्तु जिन पर उसका कोई अधिकार मान्य नहीं था, उनका ऐसा नया उपयोग संभव है जिनसे वह अच्छी जिंदगी बिता सके। अगर उनका इन संसाधनों से जिंदगी चलाते रहने का हक मान लिया जाता है तो उनके पास भी कुछ अपना कहने को हो सकता है। इसके लिये जरूरी यह होगा कि पड़ती भूमि और बिगड़े वनों के कार्यक्रमों में उद्योगपतियों और आसूदा लोगों को बिल्कुल बाहर रखा जाए। इस तरह के अब तक के सभी करार, जैसे कि उड़ीसा और कर्नाटक की बड़ी-बड़ी लीजें, खत्म किये जायें। नये करारों में सामाजिक न्याय को सबसे ऊँचा स्थान दिया जाये, इन कार्यक्रमों में वे ही लोग शामिल हों जो अपने हाथ से मेहनत करने को तैयार हों। इसी नीति के सहारे पर्यावरण भी संभलेगा और आर्थिक विकास की बुनियाद भी मजबूत होगी।

48. पड़ती भूमि और बिगड़े वनों के ये सीमांत संसाधन ही गरीब की अंतिम आशा

हैं और उसके लिये एकमात्र अवसर भी। अगर समय रहते चंद लोगों द्वारा तकनीक और धन के बल पर संसाधनों की खुली लूट नहीं रोकी गई तो गरीब के लिये आशा का वह दीप भी बुझ जाएगा और स्वाभिमान के साथ जिंदगी बिताने का अंतिम अवसर उसके हाथ से हमेशा-हमेशा के लिए निकल जाएगा। इस गंभीर संकट में भी एक आशा की किरण है। शायद गरीब आदमी इस अन्याय को स्वीकार न कर सके।

## पानी

49. पानी के संसाधन के रूप में उपयोग में भी पूंजी का निवेश और केन्द्रीकरण से लोगों की जिंदगी के अधिकार की अनदेखी हो रही है। साधारण आदमी, जो अब तक अपनी मेहनत और अपनी तकनीक का उपयोग करके, पानी का उपयोग कर लेता था, वह उसकी पहुंच के बाहर हो गया है। पानी पर पूंजी और तकनीक के सहारे एकाधिकार करके ताकतवर लोग उसका निजी फायदे के लिए मनमाना उपयोग कर रहे हैं।

50. इसी तरह आदिवासी क्षेत्रों में नदी-तालाबों से स्थानीय समाज के परंपरागत अधिकारों की अवमानना को अनदेखा करके नई औपचारिक संस्थाओं और उनके हाथ ठेकेदारों का हित ऊपर आ गया है। इस स्थिति से लोग समझौता करने के लिए तैयार नहीं हैं। दूसरे संसाधनों की तरह पानी के संसाधनों पर भी लोगों के जिंदगी के अधिकार को केंद्र में रख कर ही कोई नई व्यवस्था बनाई जानी चाहिए। सामाजिक न्याय की दृष्टि से संसाधनों पर अधिकार में केन्द्रीकरण की प्रवृत्ति पर अंकुश लगाना जरूरी है। अन्यथा जिंदगी के अधिकार की अनदेखी और संविधान की अवहेलना होती रहेगी।

## विस्थापन

51. विकास के लिए संसाधनों के वैकल्पिक उपयोग के संदर्भ में संसाधनों पर अधिकार का दूसरा पहलू विस्थापन है। इस समस्या की व्यापक समीक्षा से स्पष्ट है कि विकास के रास्ते में हम एक ऐसे नाजुक मोड़ पर पहुँच चुके हैं जिसे खास तौर पर आदिवासी इलाकों में अब अनदेखा नहीं रखा जा सकता है। विकास के दौर में सबसे बड़ा नुकसान आदिवासियों और साधनहीन लोगों को हुआ जिनमें अधिकतर अनुसूचित जनजातियों के लोग हैं। सभी संसाधनों को संपत्ति रूप मान लिए जाने से उनके अधिकार या तो अनदेखे रह गये या आधे-अधूरे माने गये। सबसे बड़ी विडम्बना तो यह है कि विकास की महान यात्रा के लिये भूमि अधिग्रहण अधिनियम जैसे 19वीं शताब्दी के उपनिवेशिक कानून का बेलाग उपयोग किया जा रहा है, जिसमें

लोगों की जिंदगी के अधिकार की कल्पना नहीं है और राज की इच्छा को जनहित का दर्जा दिया गया है।

52. भूमि अधिग्रहण कानून एक तरह से हमारे देश की कृषि-आधारित परंपरागत व्यवस्था को आधुनिक व्यवस्था में रूपांतरण के लिये एक ऐसे संज्ञाहीन दुर्दम यंत्र के रूप में काम कर रहा है जो अधिसंख्य गरीबों से उनकी जिंदगी के आधार रूप प्राकृतिक संसाधनों को यंत्र की निस्संग, यंत्रणा से छीन कर विधिवत नई व्यवस्था के उपयोग के लिये कच्चा माल बना देता है। इस कानून में इन संसाधनों के तथाकथित मालिकों के अलावा बटाईदार, खेतिहर मजदूर, चरवाहा, बहेलिया, केवट इत्यादि का कहीं वजूद ही नहीं है। यही नहीं, जमीन के मालिक को मुआवजा उसके मालिकाना हक का मिलता है चाहे बाजार भाव का सिद्धांत हो या शुद्ध आय का। किसान के लिये उसका खेत मेहनत मजदूरी करके गुजर बसर करने का आधार है इसका अहसास ही नहीं। अपनी जमीन से जुड़ा स्वाभिमानी किसान कहां फिरेगा अपनी मेहनत लेकर बेचने के लिये झल्ली लगाकर, इस कठोर यथार्थ और मर्मान्तक वेदना का कहीं जिक्र तक नहीं—बेमानी जो ठहरे नई दुनिया के संदर्भ में उसकी प्रतिष्ठा, उसकी भावना और उसका भविष्य।

53. कानून चाहे कुछ भी हो, मेरे मत में किसी भी नागरिक से उसकी जीविका का साधन या जिंदगी का आधार नहीं छीना जा सकता है। भूमि अधिग्रहण कानून में संपत्ति का विनिमय है, जीविका के आधार की कल्पना ही नहीं है, इसलिये यह कानून हमारे संविधान की भावना के अनुरूप नहीं हैं, असंवैधानिक है यही नहीं, मौके पर जमीन लेने के लिए जो प्रक्रिया अपनाई जा रही है यह अनैतिक और जनविरोधी है, परियोजना बनाने के निर्णय के बाद भूमि अधिग्रहण एक नियति बन जाता है। इसके बाद उस कानून के तहत आपत्तियों के लिये आमंत्रण पूरी व्यवस्था का ही परिहास है। इस तरह कानून के प्रावधानों का औपचारिक पालन भले ही हो रहा है, उसकी मंशा ही अनदेखी हो रही है; इसलिए वह पूरी प्रक्रिया ही गैर कानूनी है।

54. विस्थापन के मामले में आदिवासी इलाकों की हालत खास तौर से चिंताजनक है। वहां के समृद्ध प्राकृतिक संसाधन विकास के लिए जरूरी हैं। उन पर पूरी तरह से निर्भर लोगों के युगों के परंपरागत अधिकार सिर्फ इसलिये अमान्य नहीं माने जा सकते कि भूरिकार्ड में कि कुछ लिखा नहीं है। सबसे बड़ी विसंगति तो यह है कि किसी भी कानून में समाज की अस्मिता और उसका, उसके पूरे परिवेश से नाते का कहीं जिक्र भी नहीं है। यही नहीं, उसकी जिंदगी के उन सभी पहलुओं का जो संपत्ति के औपचारिक अधिकारों और साधारण बाजार के दायरे में आ ही नहीं सकते हैं, कहीं

कोई वजूद ही नहीं है, उसकी भावना का संसार उतना ही वास्तविक है जितनी कंकरीट के जंगलों की दुनिया, उससे कहीं अधिक उदात्त है। इसीलिये उसका संरक्षण अंतर्राष्ट्रीय मानवीय अधिकार के रूप में स्थापित है। इस संदर्भ में भूमि अधिग्रहण में आदिवासी समाज के सांविधानिक अधिकारों का ही नहीं, वरन् बुनियादी मानवीय अधिकारों का भी उल्लंघन होता है और सबसे बड़ी विडम्बना तो यह है कि राज्य इन सरल समाजों के सुरक्षा के सांविधानिक दायित्व तक को नकारने में कोई हिचक महसूस नहीं करता है क्योंकि उसमें तथाकथित विकास की जिम्मेदारी अपने कंधों पर लाद रखी है।

55. यहां एक सवाल आता है कि क्या आदिवासी लोगों को विकास के लाभों में सहभागी होने का मौका नहीं मिलना चाहिए। मुझे बड़ी खुशी होती यदि इसके लिये कुछ व्यवस्था होती। आज तो पुनर्वास भी राज्य की दया पर मुनस्सिर है। उसे पात्रता सिर्फ मुआवजे की है वह भी उस संपत्ति की जो उसके नाम पर है। पर उस पैसे का वह क्या करेगा, यही कारण है कि विकास के बढ़ते चरणों के साथ आदिवासी इलाकों में खुशहाली तो आ जाती है मगर उसके चारों ओर बिखराव और ग़रीबी का आलम बन जाता है। आदिवासी बेसहारा होकर जब जंगल की ओर भागता है तो उसको वहां ठिकाना नहीं मिलता। और फिर उसे आखिर में दूसरे इलाकों में भूमिहीन मजदूर और शहरों की फुटपाथ और गंदी बस्तियों में ही जगह मिल पाती है। यही त्रासदी है आदिवासी इलाकों के विकास की।

56. सच तो यह है कि हमारी विकास की अवधारणा और उसकी सहचरी जीवन शैली ही हमारे देश की स्थिति से असंगत है जिसके चलते "चौथी दुनिया" की स्थापना और "हिन्दुस्तनवा" का जैविक शोषण अनिवार्य है। इस तरह नए निर्माण की बुनियाद ही गलत है। आम आदमी के अधिकारों को नकार कर और उसकी अर्थ-व्यवस्था के खंडहरों पर तामीर होने वाली विकास की मीनार स्थायी नहीं हो सकती है। जिनके खिलाफ यह अन्याय हो रहा है, वे उसको अस्वीकार कर रहे हैं। साधारण आदिवासी के लिये भूमि अधिग्रहण उसका औपचारिक रूप चाहे कुछ भी हो, उसके हाथ से उसकी जमीन का ज़ोर जबरदस्ती छिन जाता है—जो अक्सर होता आया है वही अब भी हो रहा है। पहले औरों ने छीना, अब सरकार छीन रही है, कहां जाय वह, और यहीं पर उसका मन विद्रोह कर बैठता है पूरी ब्यवस्था के खिलाफ़।

57. प्राकृतिक संसाधनों के नये उपयोग करने की एक अनिवार्य पूर्व-शर्त यह होनी चाहिये कि न केवल संबंधित संस्था या सरकार उनसे जिंदगी चलाने वालों के लिए दूसरी व्यवस्था करे, जो पहली से अच्छी हो, परन्तु इस बारे में सरकार ईमानदारी बरते

और पूरी तरह से इत्मीनान कर ले कि जो कहा जा रहा है वह सही है। इससे भी ज्यादा जरूरी यह है कि प्रभावित लोग खुद यह महसूस करें कि उनके लिये नया विकल्प ज्यादा अच्छा होगा और उसके लिए वे पूरी तरह से अपनी मर्जी से तैयार हों। अगर इन उसूलों की अनदेखी होती ह तो इस बारे में कोई भी कार्रवाई हमारे देश की प्रजातांत्रिक व्यवस्था के मूल्यों के खिलाफ होगी, हमारे संविधान की भावना के खिलाफ होगी, और उस अन्यायी विकास, जो गैर-कानूनी है, असांविधानिक है और मानव अधिकार विरोधी है, के विरोध में अपने जीने के अधिकार के लिये लड़ने वाले लोगों के खिलाफ कानून और व्यवस्था के नाम पर बल प्रयोग करना हमारे देश की सांस्कृतिक चेतना पर मर्मान्तक प्रहार है। और फिर इनमें अधिकतर वे सरल आदिवासी और युगों से प्रताड़ित अनुसूचित जाति के और दूसरे साधनहीन लोग हैं, जिनकी रक्षा का भार राज्य को सौंपा गया है।

## नर्मदा घाटी का संघर्ष

58. विस्थापन, पुनर्वास और विकास की अवधारणा में नर्मदा घाटी परियोजना का एक खास महत्त्व है। यह परियोजना न केवल दुनिया की सबसे बड़ी परियोजना है—शृंखला है वरन् उसमें असरग्रस्तों की तादाद भी दुनिया में सबसे अधिक होगी। सरदार सरोवर से विस्थापित होने वालों में लगभग 70 प्रतिशत आदिवासी हैं। इस परियोजना में पुनर्वास को सिद्धांततः परियोजना का अंग माना गया है। परन्तु विडम्बना यह है कि इसी घाटी में लोगों का संघर्ष भी सबसे तीखा है।

59. सरदार सरोवर परियोजना से असरग्रस्त लोगों का आंदोलन पुनर्वास की समस्या को लेकर ही शुरू हुआ था। आंदोलन के फलस्वरूप राज्य सरकारों ने अपनी पुनर्वास की नीति और उसके क्रियान्वयन में भी काफी कुछ सुधार किया। पिछले तीन साल से मैं स्वयं इस संवाद में हिस्सेदार रहा हूँ। परन्तु धीरे-धीरे असरग्रस्तों और सरकार के बीच दूरी बढ़ती गई और अंत में लोगों ने पुनर्वास की बात छोड़कर अपने घर न छोड़ने का फैसला करके परियोजना का ही विरोध करने का निर्णय किया।

60. बात असल में यह हुई है कि विस्थापितों के साथ मानवीय संवेदना के स्तर पर व्यवहार नहीं हुआ, उन्हें सभी तरह के मामलों की औपचारिकता के दायरे में निपटाने की कोशिश होती रही है। सौभाग्य से नर्मदा जल विवाद प्राधिकरण के पंच फैसले और विश्व बैंक के इकरारनामों से उन्हें दूसरे मामलों की तरह केवल राज्य की दया-भिक्षा पर निर्भर रहने की बजाय अपने बल बूते पर खड़े होने की कुछ जगह मिल गई। परन्तु राज्य की ओर से शालीनता न बरते जाने से हर बिन्दु पर विवाद, संघर्ष, चिंता भरी लम्बी प्रतीक्षा और फिर उसके बाद औपचारिकता पूरी करने के लिये कम

से कम रियायत का काम सालों का चलता रहा है। इसमें एक ओर तो राज्य के द्वारा प्रस्तुत तथ्यों और उसके वायदों की विश्वसनीयता कम होती गई और दूसरी ओर लोगों को अपनी स्थिति, अधिकार और व्यापक संदर्भ का अधिकाधिक अहसास होता गया। और इस लम्बी प्रक्रिया में लोगों को धीरे-धीरे इस कटु सत्य का अहसास भी हुआ कि आज की स्थिति में उनका पुनर्वास संभव नहीं है।

61. इस मामले में स्थिति की गंभीरता और व्यापक संदर्भ में उसके महत्त्व को देखते हुए मैंने भी केन्द्र तथा राज्य सरकारों का ध्यान पुनर्वास संबंधी नीति, आयोजन और क्रियान्वयन तथा खास तौर से आदिवासियों की स्थिति के बारे में आकर्षित किया। परन्तु खेद है कि किसी स्तर पर भी अपनी-अपनी सीमाओं को पार कर पुरानी लीक से हट कर सोचने के लिये तैयारी नहीं मिली। उसके फलस्वरूप एक ओर अभी तक समान नीति तक नहीं बन पाई है। विस्थापित की परिभाषा, उनकी पात्रता, मौके की हालत और सरकारी रिकार्ड में अंतर, बदलते मानदण्डों की असंगतता, बदलाव के दौर की समस्याओं की अनदेखी, पुनर्वास के लिये आवश्यक जमीन के अनुमान, वित्तीय व्यवस्था इत्यादि, के बारे में अभी भी भारी अनिश्चितता है। जमीन के बदले जमीन के वायदे के बावजूद यह स्पष्ट है कि पुनर्वास के लिए जमीन उपलब्ध नहीं है और न लोगों के समाज के रूप में पुनर्वास किया जाना ही संभव है। तीनों राज्यों में पुनर्वास के लिये सुविधाओं में भारी असमानता है जिसके रहते लोगों का अपने बसने के लिये स्वेच्छा से स्थान-चयन के अधिकार की भावना का खुला उल्लंघन होता रहेगा। इस तरह लोगों की सहमति के आधार पर समाज के रूप में व्यवस्थित पुनर्वसन के लिये व्यापक योजना बनना तो दूर सामान्य पुनर्वास की संभावना तक नहीं दिखाई देती। यही नहीं, अब नया सोच यह है कि असरग्रस्त खुद निजी जमीन खरीदकर अपने लिये पुनर्वास की व्यवस्था कर लें। इससे पुनर्वास की संकल्पना में ही बुनियादी बदलाव आ जाएगा जिससे अधिसंख्य गरीबों को आखिर में कुछ हाथ नहीं आएगा। यह नई कल्पना असरग्रस्तों को मंजूर होने की बात तो दूर अभी दूसरी सरकारों को भी मंजूर नहीं है। इसके साथ ही विस्थापन और पुनर्वास के कुछ और सवालों जैसे सरदार सरोवर परियोजना के ही पहले से विस्थापित, उसकी अनुपयोगी गतिविधियों से प्रभावित और निजी जमीन की ख़रीदारी की नीति से "दूसरे विस्थापन" की विभीषिका झेलने वाले लोगों की समस्या को भी बहुत समय तक टाला नहीं जा सकता है। इस सब को देखते हुए सरकारों की घोषित नीतियों और सभी तरह के वायदों के बावजूद मेरे मत में आज की हालत में नर्मदा घाटी के असरग्रस्तों का पुनर्वास संभव नहीं है।

62. विस्थापन के मामले में नर्मदा घाटी के संघर्ष से हमारे राष्ट्रीय विकास के

इतिहास में एक बिल्कुल अभिनव और अनपेक्षित स्थिति पैदा हो गई है। अभी तक विस्थापन के खिलाफ लोगों के संघर्ष बहुत कुछ अलग-अलग थे। दूसरे आमतौर पर विस्थापन को अनिवार्य मानकर व्यवस्था से राहत की ही याचना की जाती थी। परन्तु नर्मदा के संघर्ष में देश के विभिन्न इलाकों में विकास के उलट-प्रहारों से जूझने वाले लोगों ने एकजुट होकर संभवतः पहली बार बुनियादी सांविधानिक अधिकारों की बात उठाई है। और वह भी केवल तर्क के स्तर पर नहीं है वरन् लोगों की अपनी समझ और अपने संकल्प भी इसके पीछे हैं। यही नहीं, इन प्रश्नों के साथ विकास की अवधारणा पर भी प्रश्नवाचक चिह्न लगाए जा रहे हैं।

63. सच तो यह है कि हम राष्ट्रीय जीवन में ऐसे मोड़ पर पहुँच गए हैं जहां विकास की अवधारणा और इसमें लोगों की हिस्सेदारी के बुनियादी सवालों पर एक नये सिरे से बहस होनी ही चाहिए। अन्यायी परंपरा, असंगत विकास और अवांछनीय केन्द्रीकरण देश के अधिसंख्य लोगों को साधनहीन बनाता जा रहा है, उनका सब कुछ छिनता जा रहा है। मेगा परियोजनाएं मानवीय और पर्यावरण की दृष्टि से तो विनाशकारी हैं ही, परन्तु शुद्ध आर्थिक दृष्टि से भी वे हमारी स्थिति में अनिष्टकारी हैं। मेरी इस पूरी रपट में सभी संदर्भों की बात आखिर में एक ही बिन्दु पर पहुंचती रही है और वह है केन्द्रीकरण और आम आदमी के जिंदगी के अधिकार की अवहेलना। सब ओर चर्चा भी वही है, वही सबसे बड़ा बुनियादी सवाल है। आदिवासी इलाकों के लिये यह सवाल अब निर्णायक हो गया है। आज उनके पूरे समाज की अस्मिता का सवाल है। लगभग 15 प्रतिशत आदिवासी किसी न किसी तरह विस्थापित हो चुके हैं। उनके पास कुछ नहीं बचा है। परन्तु राष्ट्रीय विकास के हित में उन्होंने क्या गंवाया इसका कोई अहसास तक नहीं है। यदि यही क्रम बना रहा तो वह दिन दूर नहीं जब उनको अपने घर में ही खड़े होने का ठौर नहीं रहेगा। कई इलाकों में यह हो चुका है, हो रहा है।

64. विस्थापन के मामले में दुर्भाग्य से विकास के उलट-प्रहारों से पीड़ित आदिवासी लोगों और कुछ दूसरे संवेदनशील लोगों के अलावा और सभी ने या तो सुविधाजनक चुप्पी साध रखी है अथवा कुछ नीति वाक्यों जैसे "किसी को तो विकास की कीमत चुकानी ही पड़ेगी", "कानूनी प्रक्रिया का समर्थन तो व्यवस्था को करना ही होगा" इत्यादि, को सार्वभौम सत्य मान कर उसे नियति मान लिया है। परन्तु सांविधानिक व्यवस्था, प्रजातांत्रिक मान्यतायें और मानवीय अधिकारों का खुलकर कहीं जिक्र भी नहीं आता है, उनके बारे में स्थिति क्या होगी, इस पर कोई बहस नहीं, कोई विचार नहीं।

65. नर्मदा घाटी के आंदोलन के क्रम तो बहुत से पहलू उभरे हैं। परन्तु इसमें सबसे

गंभीर मोड़ अभी हाल ही में आया है। इस समय लाभ मिलने वालों की ओर से संख्या के गणित के आधार पर राज्यहित के दावे और सर्वदलीय सहमति को जनहित के समर्थन में अकाट्य तर्क के रूप में प्रस्तुत किया जा रहा है। ये बातें जब तक परियोजना के बारे में कही जाती हैं तो बड़ी सीधी-सादी लगती हैं। परन्तु अगर हम सभी परियोजनाओं का जोड़ लगाएं तो नुकसान तो सब ओर आदिवासी का हो रहा है और विकास का लाभ दूसरों को मिल रहा है। इसलिये सवाल यह है कि क्या इस तरह के तर्क बुनियादी उसूलों, मानवीय मूल्यों या सांविधानिक अधिकारों के मामले में मान्य हो सकते हैं? मैंने पिछली रपट में आदिवासियों की जमीन की रक्षा के मामले मे आंध्र प्रदेश में सांविधानिक व्यवस्था की अवहेलना का उल्लेख किया था। इस मामले में राज्य सरकार ने आदिवासियों के अधिकारों की खुली अवहेलना को सर्वदलीय सहमति के आवरण में जायज बनाने का प्रयास किया था। अभी भी सांविधानिक अधिकारों के उल्लंघन के आंध्र प्रदेश के इस मामले में स्थिति साफ नहीं हो पाई है।

66. ये तर्क किसी एक परियोजना के लिये खास नहीं हैं। परन्तु नर्मदा घाटी के संघर्ष में उनका पूरा उभार आया है। मेरा स्पष्ट मत है कि आदिवासी इलाकों की सभी विकास परियोजनाओं की तरह सरदार सरोवर के मामले में भी कानून, संविधान और मानवीय अधिकारों की अवहेलना हो रही है और राज्य आदिवासी समाज को संरक्षण देने के अपने सांविधानिक दायित्व की अनदेखी कर रहा है। सरदार सरोवर के विस्थापितों के लिये प्रस्तावित पुनर्वास कार्यक्रमों से इस बुनियादी स्थिति में तब तक कोई अंतर नहीं होगा जब तक कि असरग्रस्त किसी विकल्प को स्वेच्छा से न स्वीकार करे। इसी तरह से यह तर्क कि अभी तक घोर अन्याय होता रहा है या दूसरी जगह घोर अन्याय हो रहा है, अपेक्षाकृत कम अन्याय को किसी भी तरह जायज नहीं बना सकता। अन्याय अन्याय है और जहां भी लोग अन्याय के खिलाफ लड़ रहे हैं वह उनकी जायज लड़ाई है। यह भी ठीक है कि कानून, संविधान और मानवीय अधिकारों के ये सवाल सरदार सरोवर के पहले संभवतः नहीं उठाए गए। परन्तु व्यवस्था के बुनियादी परिवर्तन की हालत में पहली बार बुनियादी सवाल उठाने की स्थिति सभी मामलों में कभी न कभी तो आती ही है। आखिर ठाकुर भी तो वही तर्क अपने "बंधुआ" हलवाहे के लिये भी देता है। लोगों में अन्याय का अहसास होने के बाद स्थिति वही नहीं बनी रहती है। विस्थापन और उससे जुड़े हुए विकास की अवधारणा के मामले में भी हम इसी स्थिति में पहुंच गए हैं। नर्मदा का आंदोलन विस्थापन के मामले में गुणात्मक बदलाव का प्रतीक है।

67. बहरहाल नर्मदा घाटी परियोजना के मामले में एक ऐसी स्थिति आ पहुँची है जहां एक ओर कानून के मुताबिक कार्रवाई की बाध्यता और दूसरी ओर सांविधानिक

और मानवीय मूल्यों की स्थापना के बीच टकराव है। विस्थापन और उसके प्रतीक स्वरूप नर्मदा घाटी के लोगों का संघर्ष राष्ट्रीय स्तर पर हमारे मानवीय मूल्यों में आस्था के लिये एक कसौटी बन गए हैं। क्या लोगों को उनकी सहमति के बिना अपने घर से बेदखल किया जा सकता है? क्या सामाजिक अस्मिता का सौदा हो सकता है? क्या आदिवासी समाज को जानते हुए यह किया जा सकता है? क्या न्याय की व्याख्या संख्या के गणित के आधार पर हो सकती है? क्या कुछ लोगों की जिंदगी का मोल बहुत लोगों की सुविधाओं और विलासिता से किया जा सकता है? परन्तु लगता है कि विकास की हड़बड़ी में इन सवालों पर किसी को सोचने का समय ही नहीं है।

68. इस अत्यन्त शोचनीय स्थिति से निकलने के लिये एक ही रास्ता है—लोगों का विश्वास अर्जित करके उनकी सहमति के आधार पर आगे की कार्रवाई करना। इसकी पूर्व शर्त होगी लोगों का विश्वास जीतना। और यह तब तक नहीं हो सकता जब तक लोगों के सामने एक विशाल बांध का निर्माण हो रहा हो जो उनके लिये अभिशाप और अन्याय का प्रतीक है। ऐसी परियोजना की गहरी छाया में किसी भी समाधानकारक योजना के लिये बेबसी की हूँ-हाँ को उनकी सहमति नहीं कहा जा सकता है। और फिर आज तो एक और दुर्भाग्यपूर्ण स्थिति पैदा हो गई है। कई जगह विस्थापितों के खिलाफ खुले रूप में बल का प्रयोग किया जा रहा है। इसके साथ ही लोगों की "जल समाधि" के संकल्प का परिहास और पानी भरने की अनिवार्यता का परोक्ष संत्रास भी उनसे विवश स्वीकृति पाने के लिए उपयोग किया जा रहा है। यह तंत्र की निस्संगता और सत्ताधारियों की मदान्धता का प्रतीक है, यह हमारे देश की संवेदना नहीं है। मुझे विश्वास है कि हमारे देश की संवेदना इस रसातल तक नहीं पहुंच गई है जहां किसी बांध की आखिरी ईंट यह देखते हुए भी रख दी जाये कि कोई एक व्यक्ति भी, जो अपने जीवन के अधिकार की स्थापना के लिए लड़ रहा है, यहाँ से नहीं हटेगा और डूब जाएगा। बहरहाल जिंदगी के अधिकार के लिए संघर्ष करने वाले उन सरल लोगों के खिलाफ प्रत्यक्ष या परोक्ष बल का प्रयोग, जिनका संरक्षण राज्य के हाथ में संविधान ने सौंपा है, सांविधानिक व्यवस्था का परिहास है, उसके लिये राज्य की ओर से कोई तर्क स्वीकार नहीं हो सकता।

69. मुझे उम्मीद है कि राज्यों ने अभी असंविधानात्मक और मानवीय अधिकार के इन पहलुओं पर बिना विचार किए ही साधारण रूप में अनजाने में कदम उठाये होंगे, वे इनके लिये खेद व्यक्त करते हुए लोगों से सम्मान के साथ संवाद स्थापित करेंगे। आखिर यदि सभी पक्ष पुनर्वास सहित पूरी परियोजना के सभी पहलुओं के बारे में इतने आश्वस्त हैं कि असरग्रस्त लोगों के पूरे प्रतिरोध के बावजूद उसे आगे बढ़ाने का दुर्दम संकल्प ले सकते हैं तो उसके मामले में उठाए गए लोगों के सवालों का जबाव

क्यों नहीं दे सकता है? मेरा आग्रह होगा कि नर्मदा के आंदोलन के साथ जिंदगी के अधिकार के बारे में जो नई जन चेतना जाग्रत हुई है उसे पहचान कर संसाधनों के प्रयोग के बारे में एक नया अध्याय शुरू किया जाये। इस संवाद में लाभ-क्षेत्र के लोग भी शामिल हों। सरदार सरोवर सहित सभी परियोजनाओं का अभी तक का गणित यही रहा है—एक समूह के लिये बरबादी ही बरबादी, दूसरे समूह के लिये लाभ और अधिक लाभ, दायित्व और खर्च पूरा का पूरा सरकार का। क्या लाभ क्षेत्र के लोग भी अपने संभावित लाभ में असरग्रस्तों को सहभागी बना कर उनके लिये नई व्यवस्था में सम्मानपूर्ण स्थान सुनिश्चित कर सकेंगे? क्या इस परियोजना को अपनी जीवन डोरी मानने वाले उन लोगों से जिनकी जीवन डोर टूट रही है संवाद स्थापित कर उन्हें यह भरोसा दिला पाएंगे कि उनकी जीवन डोर नहीं टूटेगी और उनकी सामाजिक अस्मिता बनी रहेगी।

70. यदि ऐसा होता है तो यह सचमुच में एक नया अध्याय शुरू हो सकता है। परन्तु अब सिर्फ नीतियों, घोषणाओं और वायदों से काम नहीं चलेगा। उनके अलावा आज की हालत में यह भी साफ होना जरूरी है कि लोगों की सहमति के आधार पर ही समस्याओं के सभी पहलुओं पर विचार करके उनका समुचित समाधान निकालने के बाद ही इस परियोजना को आगे बढ़ने दिया जाएगा। उस समय तक के लिये इस परियोजना पर पूरा काम बंद रखा जायेगा। जब तक यह काम चालू है कानून, संविधान, मानवीय अधिकार और राज्य के अपने दायित्व की अनदेखी होती रहेगी। इस कारण बढ़ते टकराव के दुखद परिणामों के लिये स्वयं राज्य ही जिम्मेदार होगा।

## राष्ट्रीय नीति और तत्काल कार्रवाई

71. राष्ट्रीय स्तर पर विकास और विस्थापन के लिये नीति बनाने में बहुत देर हो चुकी है। इस नीति को बनाने के लिये तो तत्काल कार्रवाई होनी ही चाहिये, परन्तु नीति बनाने के निर्णय से आज की समस्याओं का निदान कल के लिये टालना उचित नहीं होगा। विकास की परियोजनाओं के संबंध में पहला निर्णायक कदम तो यही होगा कि बिना किसी और औपचारिकता के राष्ट्रीय स्तर से यह घोषणा की जाये कि कम से कम आदिवासी अंचलों के अब तक के सभी विस्थापितों के लिए उपयुक्त व्यवस्था की जाएगी। इसी तरह से अभी जितनी परियोजनाएं चल रही हैं उनकी समीक्षा की जाये और उन सब में लोगों की सहमति से उनकी सहभागिता की व्यवस्था और जब तक यह संभव न हो जाए परियोजना का काम बंद कर दिया जाये। आगे से ऐसी कोई भी परियोजना जिसमें जमीन सहित ऐसे प्राकृतिक संसाधनों का कोई वैकल्पिक उपयोग प्रस्तावित हो, जिससे लोग पहले से जिंदगी गुजार रहे हों, उन लोगों

की पूर्व सहमति के बिना उनका वैकल्पिक प्रयोग किसी भी हालत में मंजूर न किया जाये तभी संविधान की भावना का पालन हो सकेगा।

## स्वशासी व्यवस्था

72. हमारी राष्ट्रीय जीवन में गलत दिशा और विसंगतियों की भरमार का एक ही कारण है—आजादी के बाद भी गांव की स्वशासी व्यवस्था की अनदेखी ही नहीं वरन् जीवन के हर क्षेत्र में भारी केन्द्रीकरण। स्वशासी व्यवस्था के नाम पर लोगों को मिली औपचारिक प्रतिनिधि व्यवस्था लोगों की अपनी नहीं बन पायी, आज की हालत में वह उनकी अपनी बन नहीं सकती हैं, और इसी व्यवस्था को आदिवासी इलाकों पर भी जैसा का तैसा थोप दिया गया जिसके बड़े घातक परिणाम हुए हैं।

73. आदिवासी समाज में अभी भी स्वशासी व्यवस्था की जीवन्त परंपरा है। असंगत कानून और जटिल प्रशासनिक व्यवस्था के कारण समूचे समाज के अपराधीकरण और संसाधनों पर अधिकारों की घोर अवमानना की समस्याओं से तो आदिवासी लोग अंग्रेजों के जमाने से ही जूझते आ रहे थे। परन्तु आजादी के बाद आदिवासी इलाकों में भी औपचारिक प्रतिनिधि व्यवस्था लागू कर दिये जाने से सामाजिक स्तर पर दो अलग-अलग संरचनाएं बन गईं। इस कारण एक अजीब विसंगति की स्थिति पैदा हो गई। एक ओर परंपरागत पंचायतों में नई रोशनी के प्रवेश की संभावना ही न रहने से उन पर रूढ़िवादिता की जकड़ कहीं-कहीं काफी मजबूत हो गई है। आज के जमाने में भी जादू-टोने के आवरण में आर्थिक लाभ के लिए नृशंस हत्यायें कई इलाकों में आम घटनाएं हैं जिनके बारे में सामाजिक कार्यकर्ता भी लाचारी का अहसास करते हैं। दूसरी ओर औपचारिक संस्थाओं की अपनी अलग पहचान बन जाती है जिसके कारण समाज के हितों की अनदेखी आम बात हो गई है। यह व्यवस्था वोट की राजनीति के कारण समाज में विग्रह का कारण भी बन गई है। उधर जीवन की असली समस्याओं से उनका कोई लेना-देना नहीं होने से समाज के साथ स्वस्थ संवाद का कोई अवसर ही नहीं है। यह सब आदिवासी स्थिति के बारे में गैर-समझी और आदिवासी समाज की मर्जी के खिलाफ हो रहा है। यह कार्यनीति हमारी संविधान की व्यवस्था का खुला उल्लंघन है।

74. आदिवासी इलाकों में इसी विसंगति के कारण लोग दिग्भ्रमित हैं। वे लोग देश की आजादी और लोकतंत्र का अर्थ अपनी जिंदगी के परिवेश में ढूंढ़ रहे हैं। जंगल, जमीन, सरकारी कारकुन—कुछ भी तो नहीं बदला, हालत और भी बिगड़ गई, हाथ आती है सिर्फ निराशा, नहीं समझ में आता है स्वराज का अर्थ। दूसरी ओर जब वे

अपनी ओर से अपनी व्यवस्था स्वयं चलाते रहने की सीधी सी बात उठाते हैं, उस पर अमल करते हैं तो उसको लेकर टकराव और देशद्रोह तक के मामले लग गए हैं। उत्तर-पूर्व में आदिवासी-बहुल राज्य तो बन गए परन्तु वहां का असली अनकहा टकराव गांव समाज की सत्ता और राज्य की औपचारिक सत्ता के बीच है जो और भी तीखा होता जा रहा है।

75. ये सभी विसंगतियां और टकराव आदिवासी इलाकों के लिये हमारे संविधान की भावना के अनुरूप नहीं हैं, ये तत्काल खत्म किए जाएं। सभी आदिवासी इलाकों में उनकी परंपरा के अनुरूप लघु समाज और गांव समूह (परगना) के स्तर पर व्यवस्थाओं को मान्यता देकर जीवन की नई पुरानी सभी विधाओं के संचालन का अवसर दिया जाये जिससे वे अपनी पुरानी परंपरा को नये संदर्भ में ढाल सकें, नयी स्थिति को समझ कर नई परंपराएं कायम कर सकें और सबसे महत्त्वपूर्ण अपनी गलतियों से सीख सकें और जीवन्त समाज के रूप में अपनी अस्मिता बनाए रखकर अपनी परंपरा के उत्तम तत्वों को संजोए हुए, मानव समाज की नई उपलब्धियों को आत्मसात करते हुए राष्ट्रीय जीवनधारा में प्रतिष्ठा और आत्म-सम्मान के साथ सहभागी हो सकें। यही आदिवासी समाज के लिए सांविधानिक व्यवस्था का सार है। यह हमारा राष्ट्रीय दायित्व ही नहीं वरन् समूचे मानव समाज के प्रति महान दायित्व भी है—यही अंतिम आशा है मानवीय मूल्यों पर आधारित समाज की पुनर्स्थापना की।

## संघर्ष, बुनियादी विसंगति और प्रतिक्रिया

76. अंत में इस रपट में एक बात साफ तौर पर उभर कर आई है। पूरे देश में जिंदगी के अधिकार को लेकर संघर्ष चल रहे हैं, इनके रूप अलग-अलग हैं पर बुनियादी तौर पर वे सभी समता और न्याय पर आधारित व्यवस्था के लिए पेशकश हैं। वे सभी संविधान की भावना के अनुरूप भी हैं। परन्तु इसके बावजूद ये सभी आंदोलन किसी न किसी मोड़ पर व्यवस्था से टकराव में बदल जाते हैं। इसका मूल कारण यही है कि हमारी कानूनी व्यवस्था हमारे प्रजातांत्रिक संविधान की भावनाओं के अनुरूप नहीं हैं। इसलिए एक ओर सब कुछ कानून के अनुसार हो रहा है परन्तु दूसरी ओर संविधान और मानवीय अधिकारों की खुली अवहेलना हो रही है। आज इस खुली अवहेलना का वजूद भी स्वीकार करने की जहमत उठाना व्यवस्था को गवारा नहीं।

77. इस माहौल में लोगों की प्रतिक्रियाएं एक नया रूप ले रही हैं। वे लोग जगह-जगह इस असंगत व्यवस्था को स्वतंत्र भारत के नागरिक की हैसियत से अस्वीकार कर रहे हैं। सोनभद्र के आदिवासी अपनी जमीन पर अधिकार साबित करने

के लिये गांव के बाहर जाने को तैयार नहीं है, उन्होंने जमीन के व्यवस्थापन की व्यवस्था को अमान्य कर "हमारे गांव में हमारी व्यवस्था" का संकल्प लिया है, सोले और पुलिनमामिडी के भूमिहीन खेती जोतने का अधिकार छोड़ने के लिये तैयार नहीं हैं, कर्नाटक में अपने गांव की ज़मीन लोग उद्योगों को देने के लिये तैयार नहीं हैं, शंकरगढ़ के खदानों में काम करने वाले अपनी जीविका के बारे में अदालत के फैसले की प्रतीक्षा करने के लिए तैयार नहीं है, संथाल परगना में गांव समाज तालाब पर अपने अधिकार की रक्षा जान की बाजी लगाकर भी कर रहा है, गंगा के केवट पानी पर जमींदार के हक को नकार कर अपने अधिकार की रक्षा कर रहे हैं, कोल्हान में लोग अपनी परंपरागत व्यवस्था पर कायम हैं उससे हटने के लिये तैयार नहीं हैं, अभयारण्यों और राष्ट्रीय उद्यानों से लोग अपना घर छोड़कर जाने के लिये नहीं तैयार हैं, आदिलाबाद में रायसभाएं समाज की पूरी प्रबंध-व्यवस्था अपने आप चला रही हैं, बस्तर और गढ़चिरौली में लोग सामाजिक मामलों में वन और दूसरे संसाधनों के प्रबंध में समाज की वरीयता और मावा माटे मावी सरकार (हमारे गांव में हमारी सरकार) का संकल्प ले रहे हैं, नर्मदा घाटी और दूसरी परियोजनाओं के विस्थापित पूरी प्रक्रिया को गैर-कानूनी और असांविधानिक होने के नाते अमान्य कर अपनी जिंदगी के अधिकार की स्थापना के लिये कृत-संकल्प हैं, और अंत में, लोग असांविधानिक कानूनों को अमान्य करने का संकल्प ले रहे हैं और इन कानूनों में सबसे आगे हैं भूमि अधिग्रहण अधिनियम।

78. इन संकल्पों में कहीं-कहीं हो सकता है लोग कानून की खिलाफत कर रहे हों, परन्तु एक अंतर के साथ। वे कानून तोड़ जरूर रहे हैं, परन्तु न वे महज कानून तोड़ने के लिए कानून तोड़ रहे हैं और न व्यवस्था तोड़ने के लिये पहले कदम के रूप में। उनका संविधान में विश्वास है—परन्तु उनकी शिकायत यह है कि व्यवस्था ने चालीस साल के लम्बे अंतराल में भी संविधान के अनुरूप अपने को ढाला नहीं इसलिए वे इस कानून को तोड़ने के लिये बाध्य हैं अपने बुनियादी अधिकारों की रक्षा के लिये, संविधान की भावना के सम्मान के लिए और मानवीय मूल्यों की स्थापना के लिये। इन जन-संकल्पों की मोटे तौर पर तीन स्थितियां हैं—संसाधनों से जिंदगी बसर करते रहने का अधिकार, मेहनतकशों का उत्पादन के साधनों से जुड़े रहने का अधिकार और असांविधानिक तथा मानव अधिकार विरोधी कानूनों की अस्वीकृति।

79. यहां पर भ्रम और उलझन भरी स्थिति पैदा हो जाती है। मौके पर इन कार्रवाइयों को कानून की खिलाफत ही माना जा रहा है और इसी रूप में उनको हल करने का प्रयास भी किया जा रहा है। अगर यही स्थिति रही तो लोगों के संकल्पों को विद्रोह का रूप दिया जाता रहेगा, लोग और भी अधिक गुमराह होते रहेंगे और टकराव

बढ़ेगा। अंत में व्यवस्था को लोगों के सामने झुकना पड़ेगा परन्तु बड़ी मानवीय त्रासदी के बाद। इससे बड़ी विसंगत स्थिति क्या हो सकती है कि अतिवादी गतिविधियों के बारे में आम आदिवासी मन से दुआ देता हुआ अनायास यह कह जाये कि "और कुछ नहीं तो दादा लोगों के आने से सरकारी जुल्म-ज्यादती तो खत्म हुई।" क्या कहा जाये इस व्यवस्था के लिये जिसके अंतर्गत आदिवासी की रक्षा के लिये स्वयं संविधान ने असीम शक्तियों से लैस किया राष्ट्रपति और राज्यपाल को पर वे आज तक उसे अपने ही कारिन्दों के शोषण और उत्पीड़न से नहीं बचा पाए? और वह ऐतिहासिक काम किया नक्सलियों ने, कैसी है यह व्यवस्था जिसमें कानून ही आम आदमी के लिये सबसे बड़ा त्रास बन गया है उसका इस्तेमाल करके उसका सब कुछ छिन रहा है जिंदगी का अधिकार, अस्मत और आजादी तक? और—इस्तेमाल किया जा रहा है उसके शोषण, उत्पीड़न यहां तक कि उसकी सामाजिक अस्मिता तक को मिटाने के लिये। शोषण, आतंक और यंत्रणा आम आदमी, खास तौर से अनुसूचित जनजातियों और जातियों के लिये, जीवन का साधारण भोगा हुआ सत्य है।

80. हमारे राष्ट्रीय जीवन की यही त्रासदी है। व्यवस्था के कर्णधार व्यवस्था के सामने मजबूर हैं, वे उसके तर्क से बंधे हुए हैं, शायद वे गरीब के प्रति व्यवस्था के वायदों से कुछ कदर आश्वस्त भी हैं। परन्तु आम आदमी को उसमें विश्वास नहीं, जो रहा सहा है वह भी ढहता जा रहा है। इस त्रासदी से उबरने का एक ही रास्ता है—राष्ट्रीय जीवन की बुनियादी विसंगति—कानून की लीक न्याय का गला घोंट सकती है—को स्वीकार करना और लोगों के विवेक का आदर और उसका अनुगमन। इस संदर्भ में लोगों के संकल्पों को संकुचित कानूनी नजरिये से न देखकर व्यापक मानवीय अधिकारों और प्रजातांत्रिक मूल्यों के संदर्भ में देखना होगा। और फिर "स्वराज मेरा जन्मसिद्ध अधिकार है" और "अन्याय को बरदाश्त करना पाप है" ये उद्घोषणाएँ तो स्वयं तिलक और गांधी ने की थी। अगर सरकार इन विसंगतियों को, इन अन्यायी स्थितियों को खत्म करने के लिए खुद लाचार है तो कम से कम न्याय के लिये संघर्ष करने वालों को अपराधी तो न करार दे। स्वशासी व्यवस्था प्रजातंत्र का प्राण है, उसके लिए संघर्ष करने वालों का समर्थन करना सब का फर्ज है। मुझे उम्मीद है कि आम तौर पर जिंदगी के अधिकार के लिए और आदिवासी इलाकों में अपनी परंपरा के मुताबिक अपनी व्यवस्था की कामयाबी के लिए लोगों के संकल्प को सरकार समर्थन देगी और देश की औपचारिक व्यवस्था को भी लोगों की भावनाओं के अनुरूप ढाल कर संविधान की व्यवस्था को, देश में ही सही, मूर्त रूप देगी।

## पांच कदम

81. इस रपट में मैंने आपके माध्यम से साधारण आदमी जो सभी कारणों, सभी प्रक्रियाओं और आखिर में सभी उद्देश्यों का मूल आधार है, से संवाद स्थापित करने की कोशिश की है—इसलिए कोई औपचारिक सिफारिशें नहीं हैं। सिफारिश करता भी क्या जब बुनियाद ही गलत है? कानून और व्यवस्था ही संविधान और न्याय के खिलाफ है और कदम-कदम पर जिंदगी के बुनियादी अधिकार की अवमानना हो रही है। मेरी पूरी रपट ही एक बड़ी सिफारिश है।

82. जब तक संविधान की मूल चेतना के मुताबिक बदलाव की प्रक्रिया चालू नहीं होती, इक्का-दुक्का कार्रवाइयां पैबंद का काम करेंगी, घाव पर पट्टी लग जाएगी पर बीमारी की जड़ वैसी की वैसी ही बनी रहेगी। फिर भी कुछ सूत्र ऐसे हैं जिनके बारे में यदि आम सहमति हो जाती है तो सभी स्तरों पर सभी संबंधित अपनी स्थिति के अनुसार योगदान कर सकते हैं और सामाजिक न्याय का राष्ट्रीय उद्देश्य और दायित्व कुछ हद तक ही सही, पूरा हो सकेगा।

पहला—हमारे पूरे कानूनी ढांचे में आम आदमी के जीने के अधिकार को केंद्रीय मान कर जरूरी फेर-बदल किये जायें जिससे कानून और संविधान की घोर विसंगति खत्म हो सके। संसाधनों और उत्पादन के साधनों पर अधिकार और मेहनत की हकदारी से संबंधित सभी कानूनों में असांविधानिक तत्व निकाल कर न्यायसंगत रूप दिया जाय।

दूसरा—आम आदमी आज जिस तरह भी जिंदगी चला रहा है उसको जीने के अधिकार के रूप में मान्यता दी जाय। इसमें तरह-तरह से कामों में लगे बंधुआ मजदूर, बटाईदार और खेतिहर मजदूर, वनों में रहने वाले वनवासी और गांव की सीमांत भूमि से गुजारा करने वाले सभी शामिल हैं।

तीसरा—कम से कम आदिवासी इलाकों में पूरी तरह स्वशासी व्यवस्था कायम की जाये जिसमें स्थानीय समाज को असंदिग्ध रूप से अपना जीवन चलाने और पूरे संसाधनों के रख-रखाव और उपयोग का पूरा अधिकार हो।

चौथा—जब तक राज्य अपने इन सांविधानिक दायित्वों को निभाने में असमर्थ हैं, लोगों के उन बुनियादी मूल्यों के आधार पर व्यवस्था की पुनर्स्थापना के संकल्प और उसके लिये शांतिमय संघर्षों का आदर किया जाये और जिंदगी के अधिकार के लिये संघर्षों में प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष बल का प्रयोग वर्जित किया जाये।

पांचवां—जीने के अधिकार, विकास की अवधारणा और जीवन शैली को लेकर कानून, संविधान, मानवीय अधिकार और राज्य के दायित्व के संदर्भ में जो सवाल खास तौर से आदिवासी इलाकों में उठे हैं और नर्मदा घाटी का आंदोलन जिनका प्रतीक बन गया है, उन पर तत्कालीन हितों की टकराहट के स्तर से उठ कर हमारे सांस्कृतिक आभार और मानवीय मूल्यों के व्यापक दायरे में समाधान खोजा जाय, विकास की अवधारणा और जीवन की शैली हमारी परंपरा, हमारे देश की अपनी स्थिति और हमारे अपने राष्ट्रीय उद्देश्यों से संगत हो।

## ... और एक संकल्प भी

83. और जरूरत है एक राष्ट्रीय संकल्प की भी—आदिवासी इलाकों में खास तौर से सद्भावना का वातावरण पैदा करने की। इन बेजुबान इंसानों पर विकास की इकतरफा प्रक्रिया नहीं थोपी जाय, ऊंचे आदर्शों और राष्ट्रीय विकास के नाम पर इनकी जिंदगी को ही दांव पर न लगा दिया जाये। आज उन्हें विकास के नाम पर उसके उलट-प्रहार, सामाजिक बिखराव और निजी तौर पर ग़रीबी ही हाथ आई है। सभी जगह यह गुहार कर रहा है, हाथ जोड़ता है मेरी झोपड़ी मत जलाओ .... कोई बचाओ .... कहाँ जाऊँगा मैं, मेरी नैया छूट जायेगी .... नहीं तो गोला बरसा दो ... . पर कोई सुनने वाला नहीं—उसकी करुण आवाज उन्हीं जंगल पहाड़ों में गूंजती रहती है .... गूंजती रहेगी .... सदा-सदा के लिये अमानवीय व्यवस्था के सामने मानव की बेवसी का रोमांच लिये....

84. सद्भावना का वातावरण बनाने के लिये यह जरूरी है कि विकास के नाम पर आदिवासी समाज के खिलाफ छेड़ा गया युद्ध तुरंत बंद हो और उन्हें विकास की महायात्रा में शामिल होने के लिए आमंत्रित किया जाये। यह कठिन काम है। यह तभी हो सकता है जब हम यह तय करें कि विकास के नाम पर हमारे यहां "चौथी दुनिया" नहीं बनने दी जायेगी। इसके लिये हमें अपने विकास की अवधारणा और जीवन शैली पर नये सिरे से विचार करना होगा। आदिवासी इलाकों में सद्भावना का वातावरण तभी तैयार हो सकता है जब कि नई व्यवस्था और विकास की चपेट में आये जो लोग कराह रहे हैं, उनकी ओर पहले ध्यान दिया जाये। आगे बढ़ने की जल्दबाजी करने की बजाय पहले उनको अपनी व्यवस्था चलाने का जिम्मा दिया जाय और पूरे विकास में सहभागी बनाया जाय। हो सकता है कि इसमें बदलाव और विकास की गति थोड़ी सी मंद पड़ जाए, कुछ समय के लिए हमें वहां रुक भी जाना पड़े, परन्तु यह जरूरी है, वांछनीय भी है अन्यथा अगर सावधानी नहीं बरती गई तो आदिवासी इलाकों में

उफनते असंतोष और भड़कते विद्रोहों के सामने कहीं विकास का पहिया चरमरा कर पूरी तरह से बैठ ही न जाय।

## अधिकार और दायित्व

85. मेरी इस रपट के प्रति व्यवस्था की प्रतिक्रिया क्या होगी मैं नहीं कह सकता। परन्तु जब देश के एक-चौथाई लोगों की अस्मिता का सवाल है, उनकी जिंदगी के बुनियादी अधिकारों का सवाल है और जब वे खुद अपनी जिंदगी के अधिकार की लड़ाई लड़ रहे हैं तो उनके बारे में स्पष्ट रूप से स्थिति को प्रस्तुत नहीं करना ही सबसे बड़ा अपराध होता, दायित्व की अवहेलना होती। पिछली रपट में मैंने आग्रह किया था इस पूरी स्थिति पर राष्ट्रीय विकास परिषद अलग से खास तौर से विचार करे। मैंने न्यायपालिका से भी आग्रह किया था कि वह इस स्थिति को व्यापक व्यवस्था के चलन के संदर्भ में देखे कि क्या लोगों के अधिकारों की इस कारण अवमानना उचित है कि संविधान में बताए गए दायित्व का राज्य निर्वाह नहीं कर रहा है और उसका फल आदिवासी भुगते। मैं फिर से ये आग्रह दुहराना चाहूँगा।

86. परन्तु इसके साथ ही मैं उन तमाम लोगों से भी, जो कि व्यवस्था के अंग हैं, से आग्रह करना चाहूंगा कि आखिर व्यक्ति के रूप में उनका भी तो कुछ फर्ज बन जाता है। वे अपने-अपने स्तर पर लोगों के बुनियादी हकों और उसूलों के संघर्ष में अपने फर्ज को निभाने के लिए जो कुछ हो सकता है करें। यदि वे लोगों की जिंदगी के अधिकार के संघर्ष में उनका साथ नहीं दे सकते हैं तो कम से कम उनकी खिलाफत तो न करें, इसी तरह से मैं राजनीतिक दलों से भी अपील करूंगा कि बुनियादी उसूलों के मामले में वोट की राजनीति को अलग कर दें। संगठित क्षेत्र और उसके साथ साधन सम्पन्न तथाकथित ''भारत'' भी देश के अधिसंख्य साधनहीन ''हिन्दुस्तनवा'' की ओर से भी इस व्यवस्था में तर्क को देख ले। मुझे आशा है कि विद्वत् समाज इस बेबाक विश्लेषण पर गौर करेगा और देश के विकास के मोह जाल से निकाल कर एक ऐसा रास्ता खोजने के लिए प्रेरित करेगा जिससे हम सही अर्थों में समाजवादी समाज की स्थापना करने में सफल होंगे। और इस पूरी व्यवस्था में निर्णायक बदलाव एक ही ताकत ला सकती है वह है युवा वर्ग। मुझे उम्मीद ही नहीं पूरा विश्वास है कि हमारा युवा वर्ग राष्ट्र ही नहीं मानव सभ्यता के इतिहास के इस अनन्य दौर में समर्पण, त्याग, बलिदान और अपने सपनों के समाज के निर्माण की ललक से प्रेरित होकर इस महान चुनौती को स्वीकार करने के लिए आगे आयेगा।

87. अंत में, समाज की आज की हालत में अनुसूचित जातियों और अनुसूचित

जनजातियों के आयुक्त के नाते मेरा भी यह फर्ज है कि संविधान की सही व्यवस्था जिन लोगों के लिए बनी है जिन लोगों के हितों की समीक्षा का दायित्व मेरे ऊपर है, इस पूरे संदर्भ को उन लोगों तक पहुंचाऊं। परन्तु आम आदमी सिद्धांत की भाषा जानता नहीं है, वह तो आज की समस्या में उलझा हुआ है। सभी सिद्धांतों का अंतिम निचोड़ उसकी आज की समस्या के संदर्भ में रखे बिना उसके लिये कोई अर्थ नहीं, उसकी कोई सार्थकता भी नहीं। इस रपट की प्रतिध्वनि तो सिर्फ कुछ सभागारों में कुछ समय के लिए गूंज कर उनके आकाश में विलीन हो जाएगी। जीवन के संघर्ष का संवाद ही उसकी सही और स्थायी अभिव्यक्ति हो सकती है।

88. आज जब धरती पर उसे जोत कर जिंदगी बसर करने वाले हलवाहे का कोई अधिकार ही नहीं, जब आदिवासी अपने ही घर में बेगाना है, जब कई इलाकों में मेहनतकश और आदिवासी पूरी तरह से अकेले पड़ गए हैं, जब उनके जिंदगी के अधिकार की खुली अवमानना हो रही है, जब राज्य जिंदगी के अधिकार के संघर्ष में लगे उन लोगों के खिलाफ, जिनकी न केवल रक्षा का पूरा भार उसके ऊपर है वरन् जिनकी अस्मिता ही उसकी सदिच्छा पर निर्भर है, बल प्रयोग में भी कोई संकोच नहीं महसूस करता है। यह एक भारी विडम्बना की स्थिति बन गई है। आज इन लोगों को थोड़ी ही सही पर कुछ राहत सिर्फ अतिवादियों से ही मिल पाती है और फिर वे उनके बीच गोलाबारी की भीषण विभीषिका में अनजाने फंस जाते हैं। इस हालत में उनसे संवाद के लिए, उनके सांविधानिक अधिकारों और व्यवस्था के उसके प्रति दायित्व के प्रतीक ही सही, उनके जीवन संघर्ष में सीधा जुड़ने के अलावा कोई और रास्ता ही नहीं है। संवेदना और दायित्व के इसी संदर्भ में आम आदमी, खास तौर से अनुसूचित जातियों और आदिवासियों के जिंदगी के अधिकार की स्थापना के लिए उनके संघर्ष से सीधे जुड़ना अनिवार्य है। मैं यह रपट इसी संकल्प के साथ आपको प्रेषित कर रहा हूं। इसके साथ एक आशा भी है कि इस रपट में उठाए गए मानवीय अधिकारों, प्रजातांत्रिक मूल्यों और सांविधानिक व्यवस्था के बुनियादी सवालों पर राष्ट्रीय स्तर पर गहरे सोच के साथ एक निर्णायक मोड़ आयेगा जिससे हमारे संविधान के निर्माताओं के सपनों का भारत साकार हो सकेगा।

# पाँच

## कुछ अन्य आयाम

# 17

# ऋण बंधन व बंधुआ जनजातियाँ

ऋणों के बोझ तले दबे रहना विश्वभर की जनजातियों के लिए आम बात है। भारतीय जनजातियाँ भी इसकी अपवाद नहीं हैं परन्तु ऋण चुकाने के लिए ऋण बंधक बनने या बनाने की प्रथा कुछ ही जनजातियों में है। ऋण बन्धक/बंधन की एक ऐसी प्रथा है जिसमें देनदार अपना या अपने किसी संबंधी का श्रम लेनदार को उसके द्वारा दिए गये ऋण के ब्याज के रूप में देता है। साहूकार या लेनदार द्वारा दिए गये ऋण का ब्याज चुकाने के लिए देनदार या उसके द्वारा नियुक्त व्यक्ति लेनदार का सभी कार्य निःशुल्क करता है। ऋण के पूर्ण भुगतान पर ही इस प्रकार के बंधन से मुक्ति मिलती है। इस प्रकार के बंधक व्यक्ति को बहुत कम वेतन मिलता है या नहीं मिलता जिसके कारण अपनी मुक्ति के लिए उसे परिवार के दूसरे लोगों पर निर्भर रहना पड़ता है जो वांछित धनराशि देकर उसे मुक्ति दिलायें। इस प्रकार मुक्ति मिलने की संभावना बहुत कम होती है। इसलिए यह ऋण बंधन का सिलसिला पीढ़ी-दर-पीढ़ी जारी रहता है जिसमें अधिकतर पुरुषों को बंधक बने रहना पड़ता है।

बहुत सी जनजातियों के कृषक होने के कारण ऋण बंधन इन जनजातियों में अधिक हो गया है। इसी प्रकार की स्थितियों के निम्न कारण हो सकते हैं:

(1) खर्चीली भूमि/जोत क्षेत्र (अनार्थिक)

(2) खराब मिट्टी

(3) खेती की आदिम/पुरातन विधि

(4) सिंचाई सुविधाओं की कमी

(5) तथाकथित "अनुत्पादक" उद्देश्य के लिए ऋण

(6) निकटवर्ती क्षेत्रों में अन्य आर्थिक विकल्पों की कमी

(7) गतिशीलता एवं जागरूकता की कमी

(8) ईमानदारी व सत्यवादी होने की सांस्कृतिक परंपरा जिसके कारण किसी भी पुराने से पुराने ऋण को चुकाने से इंकार न करना।

उपरोक्त समस्याओं का कारण है उनकी अर्थव्यवस्था को आंशिक या पूर्ण रूप से

मुद्रा अर्थव्यवस्था में परिवर्तित किया जाना। कुछ सामाजिक संस्थायें भी इन जनजातियों को ऋण बंधक बनने में सहायक होती हैं। जनजातीय जीवन से संबंधित समारोहों में बलि, भोजन व उपहारों का अधिक प्रचलन है। जब जनजातीय अर्थव्यवस्था वस्तु विनिमय पर आधारित थी और अधिक समृद्ध थी, इन समारोहों में अधिक धन की आवश्यकता नहीं थी। अन्य संस्कृतियों से संबंध स्थापित होने तथा अर्थव्यवस्था के मुद्रा पर आधारित होने के कारण इन समारोहों में अधिक धन की आवश्यकता होने लगी। ऐसी स्थितियाँ साहूकारों तथा व्यवसायियों द्वारा शोषण के लिए असीमित अवसरों की व्यवस्था करती हैं जिससे यह सरल व अनजान जनजातियाँ सदा के लिये इनके ऋण के बोझ तले दब जाती हैं। जनजातीय लोग भी अन्य किसी ऐसी संस्था को नहीं जानते जो इन्हें किसी भी समय ऋण देने को तत्पर रहें।

अनपढ़ होने के कारण ये लोग बहीखातों की समुचित जाँच भी नहीं कर सकते।

अनुसूचित जातियों व जनजातियों के आयुक्त की रिपोर्ट के अनुसार लगभग पूरे देश में इस प्रकार के ऋण बंधन की प्रथा पायी जाती है।

इस प्रकार की ऋण बंधन प्रथा अलग-अलग क्षेत्रों में अलग-अलग नामों से जानी जाती हैं।

| *प्रदेश* | *प्रथा का स्थानीय नाम* | *प्रभावित जनजातियाँ* |
|---|---|---|
| आंध्र प्रदेश | *गोथी, बेहटी* | कोया डोरा, कोन्डारेड्डी कुमार |
| बिहार | *कामिया/कातिया* | कोरवा, भुइया |
| गुजरात | *हाली* | दुबला-हलपति |
| केरल | *वसलूर कवा पानम निव्पु पन्नम* | पनियान, आदियान |
| कर्नाटक | *जीथा* | आदि-कर्नाटक |
| मध्य प्रदेश | *हेरवाहीध मोहिदारी हाली कामिया/कामिया* | आदि-द्रविड़ |
| महाराष्ट्र | *बेट, बेगार* | ढोरकोली, कटकारी, बोली, भील |
| उड़ीसा | *गोथी* | कोंध पराणा |
| राजस्थान | *सगड़ी* | भील, भील-मोना |
| तमिलनाडु | - | पनियान कटटुनायकन शोलागा, आरिन, थरियार, पुलयार |
| उत्तराखंड | *मात* | कोल्टा, कोइ |

## सदैव बंधक : कोल्टा (Bonded For Ever:Kolta)

भारत की ऋण बंधक जनजातियों में जौनसारी जनजाति के कोल्टा लोगों की दयनीय दशा उल्लेखनीय है। ये देहरादून, उत्तरकाशी तथा टेहरी गढ़वाल जिले के जौनसार बाबर, खाँई व जौनपुर क्षेत्रों में रहते हैं। यह पूरा क्षेत्र उत्तराखंड का ही एक भाग है। इस क्षेत्र की आर्थिक व्यवस्था पुरातन है तथा इस क्षेत्र में रहने वाले लोगों में खेती करने की परंपरा है। अछूत होने के कारण स्थानीय जाति व्यवस्था या वर्णक्रम में कोल्टा जनजाति का स्थान सबसे नीचे है। शिल्पकार इस अनुक्रम के मध्य में हैं तथा उच्चजाति के जमींदार होने के कारण ब्राह्मण व राजपूतों का स्थान सर्वोच्च है। परंपरागत स्थानीय प्रचलन/नियम/मान्यता, जिसे "दस्तूर-उल-अमल" के नाम से जाना जाता है कोल्टा जनजाति को भूमि के स्वामित्व का अधिकार नहीं देती है। परन्तु अब राज्य सरकार द्वारा इस नियम का उन्मूलन कोल्टा जनजाति को भूस्वामित्व का अधिकार दिलाने में सहायक सिद्ध हुआ है।

भूमि तथा काश्तकारी की अवधि से संबंधित संस्थायें कोल्टा के सामूहिक व "संस्थागत" शोषण के लिए उत्तरदायी हैं। यद्यपि सरकार के प्रयासों से कोल्टा के एक वर्ग को थोड़ी भूमि मिल गई है, परन्तु ऐसी भूमि की उपजाऊ शक्ति बहुत कम होने के कारण इन लोगों को पूरे वर्ष आवश्यकता भर भोजन भी प्राप्त नहीं होता।

भूमि होने या न होने दोनों ही स्थितियों में कोल्टा भुखमरी का शिकार हैं। अपनी कृषि संबंधी गतिविधियों से ये लोग अधिक उपज नहीं कर पाते। इनकी आवश्यकताओं की पूर्ति में जो व्यय होता है वह उनकी आय से अधिक है। इन लोगों को जीवित रहने के लिए दूसरों पर निर्भर रहना पड़ता है, ब्राह्मण व राजपूत जमींदारों से 25 से 60 प्रतिशत वार्षिक ब्याज की दर पर ऋण लेना पड़ता है। इस धनराशि का 6.4 प्रतिशत हिस्सा "गाँठ खुलाई" के बट्टे के रूप में देना पड़ता है। "गाँठ खुलाई" का शाब्दिक अर्थ है उस कपड़े की गाँठ खोलना जिसमें साहूकार अपना धन बाँध कर रखते हैं। जिन लोगों को कृषि के उद्देश्य से सहकारी समितियों द्वारा ऋण मिल भी जाता है वह भी इस ऋण का समुचित प्रयोग नहीं करते। इस ऋण का एक भाग विवाह, बीमारियों तथा समारोहों में प्रयोग किया जाता है या पहले के ऋण को चुकाने में।

देनदारों को बन्धक बनाने तथा शोषित करने के लिए सदैव तत्पर ये महाजन जानी-पहचानी शर्तों पर ऋण देने के लिए तैयार हो जाते हैं। कोल्टा समूह के अधिकतर लोग अनपढ़ हैं, जिसके कारण उन्हें साहूकार की बहियों में की गई प्रविष्टियों का पता नहीं चलता। बहुत आसानी से अँगूठा लगाकर ये लोग अपने भाग्य व भविष्य का फैसला इन साहूकारों के हाथों में सौंप देते हैं। बहुत से मामलों में तो

केवल मौखिक रूप से शर्तें तय की जाती हैं जिसके फलस्वरूप ये लोग न्यायालय से भी न्याय की मांग नहीं कर सकते। ऐसे लेन-देन, जिनका हिसाब खातों/बहियों के द्वारा होता है, इन जनजातियों के लिए व्यर्थ व बेकार होते हैं। इन बहियों में धनराशि को बढ़ाकर लिखना या गलत प्रविष्टियाँ करना इन साहूकारों के लिए आम बात है। अधिक से अधिक कोल्टा लोग ग्राम पंचायत बुला सकते हैं जिन पर राजपूतों का अधिक प्रभाव है। पंचायत भी इसी प्रकार के फैसले सुनाती है जिनमें अक्सर कोल्टा पर ऋण न देने तथा अपने ऋणदाता "माईबाप" को परेशान करने का आरोप लगाया जाता है। इन स्थितियों में इन कोल्टा लोगों के पास अपने आप को बंधक रखने के अतिरिक्त कोई उपाय नहीं रह जाता। यह लोग ब्याज चुकाने तक की स्थिति में नहीं होते, मूलधंन चुका पाने का तो प्रश्न ही नहीं उठता। इस प्रकार बंधक कोल्टा लोगों को पुश्तों तक बंधक बने रहने पर विवश होना पड़ता है। इस प्रकार इन्हें दिन-रात भूखे प्यासे रहकर अपने स्वामी की गुलामी करनी पड़ती है।

सर्वप्रथम कोल्टा बन्धकों पर विस्तृत तथा अपने प्रकार का पहला अध्ययन वर्तमान लेखक हसनैन (1982) ने किया। इस अध्ययन ने कोल्टा लोगों के चिरकालिक ऋणों के कारण बंधक हो जाने के निम्नवत् परिणामों पर प्रकाश डाला :

(1) व्यक्तिगत स्वतंत्रता की समाप्ति तथा श्रम का निःशुल्क प्रयोग
(2) व्यवसाय में परिवर्तन तथा आय की समाप्ति
(3) लेनेदारों द्वारा भूमि का हस्तांतरण व अधिग्रहण
(4) ऋण बंधन को समाप्त करने के उद्देश्य से उनके घरों की महिलाओं द्वारा वेश्यावृत्ति अपनाकर अलग-अलग स्थानों पर अपने आपको बार-बार बेचना
(5) चिरकालिक यौन रोग।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि इस प्रकार के बंधन, जिनका आरम्भ कुछ निश्चित परिस्थितियों में होता है, कई पीढ़ियों के लिए दासता का कारण बन जाते हैं। यद्यपि कानूनी तौर पर बंधुआ प्रथा की समाप्ति हो चुकी है लेकिन वास्तविकता यह है कि कानून समस्या की कगार को ही छू सका है।

## उपचारी कार्य

कुछ राज्यों ने हाल में नियम बनाकर इस प्रकार के अमानवीय व असामाजिक कार्यों के लिए कड़ी सजा निश्चित की है। इसके साथ पुराने ऋणों के संचय को रोकने की भी व्यवस्था की है। एक केन्द्रीय नियम की भी घोषणा की गई है। जिसके अन्तर्गत निम्न प्रावधान हैं :

(1) बंधुआ मजदूर प्रणाली का उन्मूलन करके ऐसे श्रमिकों को मुक्त किया जाए

(2) इन नियमों के उल्लघंन पर कड़ी सजा देने की व्यवस्था है।

(3) दीवानी न्यायालयों को इन मामलों के संबंध में निषेधाज्ञा जारी करने का कोई अधिकार नहीं है।

(4) इन नियमों को लागू करने वाली संस्थाओं को सलाह देने के लिए जिला तथा उपमंडलीय स्तर पर सतर्कता कमेटियों को गठन किया जायेगा।

नियमों की केवल घोषणा किसी समस्या का हल नहीं होती। प्रशासनिक उपेक्षा तथा राजनीतिक इच्छा की कमी के कारण ये नियम तथा निर्णय कभी भी अपेक्षित फल नहीं दे सकते। पुनर्वास की विस्तृत व उपयोगी योजनाओं की कमी तथा उनके गम्भीर क्रियान्वयन में लापरवाही के कारण ये नियम पूर्णतः अप्रभावी सिद्ध हुये हैं। बहुत से श्रमिक जो बंधुआ मजदूर हो गये थे अब भी यातना पूर्ण जीवन व्यतीत करने के लिए विवश हैं। जब तक इनके विकास के लिए कोई ठोस तथा व्यावहारिक कदम नहीं उठाया जाता इन लोगों का जीवन इसी प्रकार यातनामय रहेगा।

# 18

# असंतोष व विद्रोह

भारत की जनजातियाँ अपनी विविधता के कारण शेष जनसंख्या के लोगों के लिए रुचि का विषय रही हैं। अधिकतर इन जनजातियों को भारतीय समाज का एक ऐसा भाग माना जाता है जिसके लोग अपने रहन-सहन को तरह-तरह की परंपराओं तथा रीतिरिवाजों से जीवन्त तथा रंगबिरंगा बनाये रखते हैं। अलग-अलग लोगों ने इन्हें 'घोटुल' व 'घुमक्कड़िया' जैसी रूमानी व आकर्षण परंपराओं से धनी ऐसे समूह के रूप में देखा जो व्यवसायीकरण व औद्योगीकरण से अपनी परंपराओं को बचाने का असफल प्रयत्न कर रहे हैं। कुछ विद्वानों ने इन जनजातियों का विवरण ऐसे समूहों के रूप में किया जो निर्धनता, बिमारियाँ, उपेक्षा व शोषण के शिकार हैं।

सदियों से भारतीय जनजातियाँ बिल्कुल अलग भौगोलिक स्थितियों में रहती रही हैं। वर्धन (1977) का कथन सत्य ही है कि अंग्रेज सरकार ने अपने स्वार्थों के कारण इन जनजातियों को शेष जनसंख्या से अलग रखा। अंग्रेज सरकार इन जनजातियों की असीमित शक्तियों को स्वतंत्रता आन्दोलन से अलग रखना चाहती थी। अपने इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए अंग्रेज सरकार ने जनजातीय क्षेत्रों को निषिद्ध क्षेत्र घोषित कर दिया था तथा उनमें केवल ईसाई मिशनरियों तथा विदेशी प्रशासक ही जा सकते थे। बाद में अंग्रेज सरकार का समर्थन करने वाले साहूकारों व जमींदारों को इन क्षेत्रों में जाने की अनुमति मिल गई। आरम्भ में स्वतंत्रता आन्दोलन के मध्यवर्गीय नेताओं ने भी जनजातीय लोगों को अपने साथ सम्मिलित करने की आवश्यकता नहीं समझी। फलस्वरूप जनजातीय व अजनजातीय लोगों में दूरी बढ़ती गई। स्वतंत्रता आन्दोलन के नेताओं में ठक्कर बापा का दृष्टिकोण जनजातियों के प्रति सहानुभूतिपूर्ण था। 'ठक्कर बापा' ऐसे समाज सेवी थे जिन्होंने स्वयं को जनजातीय लोगों के कल्याण व विकास के लिए समर्पित किया।

यह कहना आतिशयोक्ति न होगा कि जनजातीय लोग विदेशी प्रशासकों के विरुद्ध, बगावत करने में अग्रणी रहे हैं। हमारे अधिकतर इतिहासकारों ने स्वतंत्रता आन्दोलन में इनके सहयोग पर ध्यान नहीं दिया है तथा कुछ इतिहासकारों ने तो इनके सहयोग को नकारते हुए उसे विद्रोह बताया है। ऐसी स्थिति में यहाँ पर इन जनजातीय

लोगों की वीरता का स्मरण हमें उन्नीसवीं सदी के संथाल व मुंडा विद्रोह के माध्यम से करना उचित होगा। जनजातीय विद्रोहों में मिजो तथा नागा विद्रोह भी उल्लेखनीय हैं। इन विद्रोहों की प्रकृति भिन्न होने के कारण इनकी चर्चा इसी अध्याय में अलग से की जायेगी।

## संथाल विद्रोह

संथाल भारत की महत्त्वपूर्ण जनजातियों में से एक है जो बिहार से लेकर बंगला देश तक फैले हुए हैं। संथाल परगना उनका केन्द्र है तथा ये लोग मुंडरी भाषा बोलते हैं। इन्हें अपनी संस्कृति व भाषा पर बड़ा गर्व है। इनके एक बड़े वर्ग ने धर्म परिवर्तन किया है लेकिन ईसाई धर्म में परिवर्तित होने पर भी इनकी राजनीतिक एकता पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा। अंग्रेजों के विरुद्ध अपनी सशस्त्र क्रान्ति (1855-56) के कारण यह लोग पूरे विश्व में प्रसिद्ध हैं।

यद्यपि कोल विद्रोह (1830) ने बाद में हुए विद्रोहों के लिए एक वातावरण तैयार किया था, परन्तु इनकी तुलना वृहद् स्तर पर संथाल विद्रोह से नहीं की जा सकती है। यह विद्रोह एक उग्र जनविद्रोह के रूप में सामने आया जो विदेशी शासक तथा उनकी कठपुतलियों—जमींदारों, साहूकारों तथा स्थानीय अधिकारियों के विरोध में था। संथाल विद्रोह में बिहार, पश्चिम बंगाल तथा कलकत्ता के लगभग सौ मील दूर तक के क्षेत्र सम्मिलित थे। अपनी सेनाओं के द्वारा संथालों को नर संहार करवाकर अंग्रेजी सरकार इस विद्रोह को दबाने में सफल हो गई थी। इस विद्राह के नायक कानू तथा सिद्धू मुरमू दोनों को राष्ट्रीय नायकों की सूची में सम्मानित स्थान मिलना चाहिए।

अन्य जनजातियों की भाँति संथालों के पास भी वन व भूमि संपदा थी। अपने स्वार्थों की पूर्ति के लिए अंग्रेज सरकार ने भू-स्वामित्व की ऐसी प्रणाली बनायी जिसने जमींदारी प्रथा को जन्म दिया। इन जमींदारों का प्रयोग सरकार अपने हितों को बचाने के लिए तथा अपने स्वार्थों की पूर्ति के लिए करती थी। इसके साथ-साथ इस क्षेत्र में ईस्ट इंडिया कम्पनी द्वारा वसूल किया जाने वाला वार्षिक कर भी तिगुना कर दिया गया जो संथाल कृषकों की आर्थिक हालत को देखते हुए अधिक था। बढ़ती हुई जनसंख्या के कारण बहुत से बाहरी लोग भी इसी क्षेत्र में आकर बसने लगे जिन्होंने अपनी समृद्धि के कारण बहुत कम समय में अच्छा प्रभाव जमा लिया। ऐसी स्थितियों तथा प्रकृति की अनिश्चितताओं ने इन संथालों को दुर्बल बना दिया। ऐसी आर्थिक दुर्बलता ने साहूकारों तथा जमींदारों के लिए आदर्श स्थिति बना दी जिसमें वे अपने पैर मजबूती से जमा सकें। संथालों को उनके द्वार पर ऋण मिलने लगा। इससे उन्हें कुछ राहत अवश्य मिली परन्तु यह धनराशि दान नहीं थी। वह ब्याज की उच्च दरों

पर दिया गया ऋण था। बाहरी लोगों ने अपने लगाये गये धन पर वापसी की माँग की। इसी प्रकार के विनियोगों ने भूमि हस्तांतरण को जन्म दिया जिसके कारण बहुत से संथालों को अपनी भूमि गँवानी पड़ी। इन ऋणों के लेखों में गड़बड़ी की जाने लगी तथा ब्याज की दर बढ़ने लगा। इस प्रकार के खाते भी एक औपचारिकता मात्र थे जिससे इन संथालों को हानि ही होती थी। स्थानीय अधिकारी तथा अंग्रेजी कारिन्दे सभी इन साहूकारों तथा शोषकों का साथ देते थे। धीरे-धीरे सरकारी तन्त्र तथा न्यायालयों पर से भी इन संथालों का विश्वास उठ गया।

संथालों के आर्थिक शोषण ने सभी सीमायें पार कर दी तथा वह असहनीय हो गया। ऐसे समय में स्थितियों की मांग को देखते हुए कानू तथा सिद्धू मुरमू जैसे दो साहसी व्यक्ति सामने आये। अपेक्षित एवं आवश्यक नेतृत्व की सहायता से संथाल विशाल आन्दोलन के लिए तैयार हो गये। सन् 1855 में जून माह की भीषण गर्मी में एक दिन हजारों संथालों ने एकत्र होकर अपने आपको शोषण के बोझ से मुक्ति दिलाने की शपथ ली। और बाहरी तत्वों विशेषतया सरकारी कर्मचारियों, जमींदारों, साहूकारों तथा अंग्रेजों को तुरन्त उनके क्षेत्रों से चले जाने तथा अपनी जान बचाने की चेतावनी दी गयी।

इस विद्रोह के पहले चरण में बहुत से साहूकारों तथा पुलिस अफसरों को मारा गया। इसके पश्चात् बाहरी लोगों की दुकानों की तोड़फोड़ की गई तथा उन्हें लूटा गया। रोके जाने पर संथालों ने अपनी तलवारों, भालों तथा जहरीले तीरों का प्रयोग किया। स्थिति की गम्भीरता को समझते हुए प्रशासन ने शान्तिपूर्ण ढंग से समस्या का समाधान करने तथा संथालों को अपनी हिंसात्मक कार्यवाहियों को रोकने के लिए समझाने के उद्देश्य से उच्च अधिकारियों को भेजा परन्तु तब तक बहुत देर हो चुकी थी। संथाल आक्रोश अपनी चरम सीमा पर था। यह लोग अंग्रेजों तथा अंग्रेजी प्रशासन का नामोंनिशान मिटाने पर तुले हुए थे। संथालों ने अंग्रेजी सरकार के कार्यालयों में तोड़ फोड़ की, अंग्रेजों व उनकी महिलाओं तथा बच्चों को चुन-चुन कर मारा तथा अंग्रेज सरकार की भारतीय कठपुतलियों के सभी संस्थानों पर हमला किया। अन्त में किसी भी तरह इस विद्रोह को दबाने का कार्य सेना को सौंप दिया गया। सेना ने बहुत से संथाल गाँवों को लूटा व उनमें आग लगा दी। कुछ समय पश्चात् संथाल विद्रोह के सभी महत्त्वपूर्ण नेता गिरफ्तार कर लिये गये तथा 1856 के अन्त तक यह विद्रोह लगभग समाप्त हो गया।

अलग-अलग इतिहासकारों ने इस ऐतिहासिक विद्रोह को अलग-अलग ढंग से समझा व बताया। थामसन तथा गौरैट्स की पुस्तक—"राइज एंड फुलफिलमेंट ऑफ ब्रिटिश रूल इन इंडिया" के निम्न लेखांश में इस सशस्त्र विद्रोह के मूल कारण, जो

कि अंग्रेजों द्वारा संथालों का आर्थिक शोषण था, पर दृष्टि डाली गयी।

"भारत में 1855 के संथाल विद्रोह, जो कि उस समय एक शक्ति के रूप में उदय हुआ, ने ऐसे दमन व विरोध को जन्म दिया जो कि दो वर्षों के भीतर ही समाप्त हो गया। आदिवासी संथाल, जो कि प्रकृति की गोद में रहने वाले सीधे-सादे लोग हैं, हिन्दू घुसपैठ से परेशान हो गये थे। इनकी भूमि छिन गयी तथा ये लोग अधिक चालाक व धूर्त ऋणदाताओं के चंगुल में फँस गये। ये लोग ऐसे स्थानीय अधिकारियों के अधीन व उनके उत्तरदायित्व के अन्तर्गत थे जो इनकी कोई सहायता नहीं करते थे। फिर किसी चेतावनी के बिना बंगाल के बाहरी क्षेत्रों में तथा सौ मील तक कलकत्ता के आसपास यूरोपीय तथा भारतीयों के सिरों को तोड़ा गया, जहर बुझे तीरों का प्रयोग तथा घरों व बंगलों को जलाने जैसे कार्यों की भरमार हो गयी। यह सब नरसंहार तथा मृत्युदण्ड के रूप में धीरे-धीरे समाप्त हो गया।"

रेवरेन्ड डब्लू जे. कुलशा ने जनजातीय आर्थिक व्यवस्था में भूमि तथा वनों के महत्त्व पर बल देते हुए कहा कि अंग्रेज सरकार की मौन स्वीकृति से वृहद स्तर पर भूमि का हस्तांतरण किया जाना ही इस विद्रोह का मूल कारण था। वे लिखते हैं:

"संथाल जीवन का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण उद्देश्य है उस भूमि का स्वामित्व जो वह जोतता है। जनजातीय लोगों में कोई भी ध्येय व उद्देश्य इतना महत्त्वपूर्ण नहीं है जितना कि जनजातीय जीवन तथा उसके रीति-रिवाओं को जीवित रखना और एक संथाल की भूमि उसे केवल आर्थिक सुरक्षा ही नहीं प्रदान करती वरन् उसके पूर्वजों से भी उसे जोड़ती हैं, तथा यह बात नये व पुराने दोनों प्रकार के खेतों पर समान रूप से मान्य है। वे लोग तब तक भूमि का स्वामित्व नहीं स्वीकार करेंगे जब तक उनके पूर्वजों की आत्मायें इसकी सम्मति नहीं देतीं। भूमि उसकी सांस्कृतिक व आर्थिक धरोहर व परंपरा का एक भाग है।"

कार्ल मार्क्स ने भी संथाल विद्रोह पर ध्यान देते हुए अपनी पुस्तक "नोट्स आन इंडियन हिस्ट्री" के माध्यम से कहा कि सात महीने लगातार छापामार युद्ध के बाद 1856 में यह विद्रोह दबाया जा सका। बंगाल के सुप्रसिद्ध कवि गुरुदर रवीन्द्र नाथ टैगोर ने इस विद्रोह के नायकों का स्मरण सम्मानपूर्वक किया है। यद्यपि इस विद्रोह को निश्चित रूप से दबा दिया गया फिर भी इस विद्रोह तथा इसके नायकों की यश गाथायें अब भी हजारों संथालों में नयी स्फूर्ति व शक्ति का संचार करती हैं। यह आज भी हजारों-लाखों क्रान्तिकारी संथालों का प्रेरणास्रोत हैं।

## मुंडा विद्रोह (बिरसा आन्दोलन)

सभी प्रकार के शोषण तथा अत्याचारों के विरुद्ध मुंडा विद्रोह भी जनजातीय

आक्रोश का एक उत्कृष्ट उदाहरण है। मुंडा जनजाति छोटानागपुर क्षेत्र की मुख्य जनजातियों में से एक है जो जनसंख्या के दृष्टिकोण से भी भारत की महत्त्वपूर्ण जनजातियों में गिनी जाती हैं।

अपने पड़ोसी संथालों की ही भाँति मुंडा जनजाति के पास भी अपनी भूमि थी। उन्नीसवीं शताब्दी के आरम्भ तक मुंडा जनजाति अपने पारंपरिक सामाजिक व राजनीतिक ढाँचे में, शान्तिपूर्ण जीवनयापन कर रही थी जिसमें सबसे अधिक अधिकार इनके सरदार को था। मुंडा जनजाति के कुछ आपसी मतभेदों व दलगत लड़ाइयों के कारण इनके कुछ क्षेत्र पड़ोसी हिन्दू रजवाड़ों की सत्ता के अधीन हो गये और इस प्रकार इनके संपर्क हिन्दू रजवाड़ों की संस्कृति से प्रभावित हुए।

हिन्दुओं/हिन्दू राजाओं के स्तर पर आने के उद्देश्य से मुंडा सरदारों ने हिन्दुओं की परंपराओं तथा रीति-रिवाजों को अपनाना आरम्भ कर दिया। इसके साथ-साथ सरदारों ने हिन्दू पुरोहितों को संरक्षण देकर उन्हें दान में भूमि देना आरम्भ कर दिया। धीरे-धीरे इन पुरोहितों का व्यवहार जमींदारों जैसा हो गया। बढ़ती हुई जनसंख्या में कृषि योग्य भूमि की अधिक आवश्यकता हुई जिसके फलस्वरूप राजस्व भी बढ़ गया। निर्धन मुंडा किसान, जिन्हें पुरानी तकनीकों तथा अधिकतर अनुपजाऊ भूमि के कारण बहुत कम उपज प्राप्त होती थी, राजस्व की बढ़ी हुई दरों के हिसाब से कर चुकाने में आर्थिक रूप से सक्षम नहीं थे। ऐसी स्थितियों ने उन्हें धूर्त साहूकारों की दया पर जीवित रहने को विवश किया तथा इन साहूकारों ने इनकी विवशता का अधिक से अधिक लाभ उठाया। अंग्रेजी राज्य के विस्तार के समय अंग्रेजी प्रशासकों ने भी इन सभी प्रचलित नियमों को अपनी स्वीकृति दे दी। 1806 में अंग्रेज प्रशासकों ने जमींदारों को पुलिस के सभी अधिकार दे दिये।

मुंडा जनजाति के शोषण के संदर्भ में अंग्रेजी साम्राज्य की मौन स्वीकृति के कारण इस जनजाति में असंतोष की भावना ने जन्म लिया तथा शब्द 'दीकू' सभी प्रकार के बाहरी लोगों के लिए प्रयोग होने लगा। यह असंतोष बढ़ता गया जिसके कारण कहीं-कहीं हिंसा की घटनायें भी हुईं। इन सभी घटनाओं तथा संघर्षों में अंग्रेजी प्रशासकों ने मुंडा जनजाति के विद्रोह को क्रूरता से दबाने में शोषकों का साथ दिया। इन स्थितियों से परेशान मुंडा जनजाति के लोगों ने मिशनरियों की शरण ली। अपने अधिकारों के वापस मिलने तथा अपने हितों की रक्षा होने के आश्वासन पर इन लोगों ने ईसाई धर्म भी स्वीकार किया परन्तु इनकी आशाओं के विपरीत आवश्यकता पड़ने पर मिशनरियों ने भी इनका साथ नहीं दिया। अब मुंडा लोगों को किसी पर विश्वास नहीं रहा तथा पूर्ण रूप से उनका मोह भंग हो चुका था।

अब बिरसा नाम के एक बीस वर्षीय साहसी व उत्साही मुंडा युवक ने नेतृत्व सँभाला। इस युवक की शिक्षा एक मिशन स्कूल में हुई थी तथा बाद में बिरसा वैष्णव धर्म के अनुयायी एक मुनि के साथ रहने लगा था। उसने घोषणा की कि मुंडा जनजाति को बाहरी तत्वों से मुक्ति दिलाने तथा उनके उत्थान के लिए उसे भगवान ने भेजा है। इस मिथक के प्रचार में बिरसा के कुछ मित्रों ने भी सहयोग दिया। उसने संपूर्ण छोटानागपुर क्षेत्र में इस प्रकार की घोषणाएं कीं। उसके व्याख्यानों तथा भाषणों में हिन्दू धर्म, ईसाई धर्म तथा मुंडा राजनीतिक, तीनों का मिश्रिण था। उसने मुंडा लोगों को परंपराओं तथा रीति-रिवाजों को तिलांजलि देकर ईश्वर में विश्वास करने की बात समझाई। अधिकतर मुंडाओं को यह बात समझ में आ गई क्योंकि वे लोग अपनी परंपराओं को निभाने में पशुओं की बलि देने जैसी महँगी रीतियों से ग्रस्त थे। मिशनरियों की ही भाँति बिरसा ने प्रार्थना सभाओं का भी आयोजन किया। इन सभाओं में वह अपनी जनजाति के लोगों से न डरने तथा साहस का परिचय देने की अपील करता था। बिरसा उन्हें समझाता था कि उसकी मानवेतर शक्तियों के कारण कोई भी लौकिक शस्त्र उन्हें मार नहीं सकता।

सन् 1895 तक अपने अथक प्रयासों से बिरसा ने छः हजार समर्पित मुंडा युवाओं का एक दल तैयार कर लिया। अंग्रेजों के राजनीतिक प्रभुत्व को समाप्त करना, सभी बाहरी तथा विदेशी तत्वों को बाहर निकालना तथा स्वतंत्र मुंडा राज्य की स्थापना करना उसके मुख्य उद्देश्य थे। विद्रोह का प्रारम्भ एक पूर्व निश्चित योजना के अनुसार साहूकारों, मिशनरियों, अधिकारियों तथा सभी बाहरी लोगों पर आक्रमण द्वारा किया गया। हिंसात्मक संघर्ष के बाद भी मुंडा जनजाति को निश्चित सफलता नहीं मिली। इसी बीच बिरसा, जो कि अब बिरसा भगवान के नाम से प्रसिद्ध था, को राँची में बंदी बना लिया गया। कुछ समय बाद बिरसा को कैद से मुक्ति मिल गई परन्तु उसने अपना रास्ता नहीं बदला। 1897 का बड़ा दिन (25 दिसम्बर) सभी मिशनरियों तथा जमींदारों पर आक्रमण करने के लिए सुअवसर माना गया। इस बार के आक्रमण से ईसाई मुण्डाओं को भी मार डाला गया। पुलिस चौकियों पर आक्रमणकारियों ने विशेष रूप से हमले किये। जब स्थितियाँ स्थानीय प्रशासन के नियंत्रण से बाहर हो गईं तब विद्रोह का दमन करने के लिए राँची से सेना बुलाई गई। ऐसा प्रतीत होता है कि सेना के आधुनिक शस्त्रों तथा क्रूरतापूर्ण नरसंहार के समक्ष मुंडा विद्रोहियों को घुटने टेकने पड़े। बिरसा तथा उसका साथी गया मुंडा राँची के कारावास में बन्दी बना दिए गये जहाँ बीमारियों के कारण बिरसा की मृत्यु हो गई। बिरसा की मृत्यु ने अत्याचार तथा आर्थिक शोषण के विरुद्ध गौरवमय जनजातीय पर पूर्ण विराम लगा दिया। विद्रोह की समाप्ति के पश्चात् जनजातीय लोगों को शोषण से बचाने के लिए विभिन्न कदम उठाने का निश्चय किया गया। नयी भूमि व्यवस्था, बन्दोबस्त तथा राँची ज़िले का सर्वेक्षण कार्यक्रम बिरसा आन्दोलन का प्रत्यक्ष फल था।

## नागा विद्रोह

भारत का उत्तर-पूर्वी पहाड़ी क्षेत्र भी जनजातीय असंतोष व विद्रोह का केन्द्र रहा है। इस क्षेत्र में ऐसी जनजातियाँ रहती हैं जिन्होंने किसी भी प्रशासन या अधिकारी या शक्ति के आगे घुटने टेकना नहीं सीखा। इन जनजातियों में स्वतंत्रता तथा स्वावलम्बन की भावना प्रबल है। दो सौ साल तक लगातार अंग्रेजी राज्य होने के पश्चात् भी इन्हें दबाया नहीं जा सका। भारत की उत्तर-पूर्वी सीमा की नागा तथा मिजो जनजातियों द्वारा लगातार सशस्त्र विद्रोह इस क्षेत्र में व्याप्त असंतोष का सशक्त उदाहरण है।

भारत का नागालैण्ड राज्य उत्तर-पूर्वी क्षेत्र में स्थित है। जिसकी सीमायें म्यांमार से मिलती हैं। अंग्रेजों द्वारा नागा पहाड़ियों के नाम से घोषित यह क्षेत्र बहुत दिनों तक दुर्गम व अगम्य रहा। नागा पहाड़ियों के आगे एक और जनजातीय क्षेत्र है जिस पर भारत सरकार ने कोई प्रभावी नियंत्रण नहीं किया।"सर्वेक्षण दलों ने इस क्षेत्र के कुछ भागों में कार्य अवश्य किया परन्तु कार्य अपूर्ण रहा तथा भारतीय संस्था सर्वेक्षण के बड़े-बड़े मानचित्रों में अब भी कहीं-कहीं सफेद (अनजाने) क्षेत्रों को दर्शाया गया है।" (हैमेंडार्फ, 1976)

नागालैण्ड राज्य में अंगामी नागा, आओ नागा, सेंगमा नागा, कोन्यक नागा,जैसी कई नागा जनजातियाँ रहती हैं। निर्धनता तथा भुखमरी होते हुए भी यह जनजातियाँ अपनी सांस्कृतिक परंपराओं व धरोहर पर गर्व करती हैं। अस्थायी खेती जिसे स्थानीय भाषा में "झूम" कहते हैं, इन लोगों के जीवनयापन का मुख्य साधन है। नागा जनजातियों में किसी भी शक्ति के आगे झुकने या घुटने टेकने की परंपरा नहीं है। कभी-कभी तो यह लोग अपने सरदार के आगे भी नहीं झुकते। नागा जनजातियों ने अंग्रेजी सरकार के शोषण तथा घुसपैठ का लम्बी अवधि तक विरोध किया। लगभग सौ साल की लड़ाई तथा नरसंहार के पश्चात् ही अंग्रेजी सरकार को 1855 में इस क्षेत्र में अपना शासन चलाने में आंशिक सफलता मिली। यह क्षेत्र मिशनरियों के लिए खुल गया तथा यहाँ मिशनरियों ने लोगों को साक्षर करने तथा स्वास्थ्य सेवायें प्रदान करने का कार्य प्रारम्भ कर दिया। शीर्ष शिकार (हेडहंटिग) आपत्तिजनक प्रथा, जो कि उनके सामाजिक स्तर तथा सम्मान का द्योतक थी, लगभग समाप्त हो गई परन्तु खूनी लड़ाई तथा बदले की भावना जैसे विचार इन जनजातियों के दिलों में गहरे बैठ चुके थे जिसे कम नहीं किया जा सका।

अपने से शक्तिशाली प्रतिद्वन्द्वी से भी प्रतिरोध किये बिना हार मानना इन नागा जनजातियों की मूल प्रकृति के विरुद्ध है। अपनी स्वतंत्रता में बाधा बनने के कारण

इन जनजातियों ने अंग्रेजों, मुगलों तथा अहोम राजाओं से भी लड़ाई की। बीसवीं सदी के पहले दशक तक ये लोग, भालों, तलवारों तथा धनुषबाण जैसे पारंपरिक शस्त्रों से लड़ते रहे परन्तु नागा जनजातियों ने आग्नेय यन्त्रों का प्रयोग अन्य जनजातियों से पहले प्रारम्भ कर दिया। द्वितीय विश्व युद्ध के दौरान जापान की सेनाओं के द्वारा कोहिमा की घेराबंदी के समय जापानी सैनिक नागा सीमाओं में अन्दर तक प्रवेश कर गये। वापस जाते समय इन सैनिकों ने बहुत बड़ी संख्या में शस्त्र तथा गोला-बारूद यहीं छोड़ दिया। वर्तमान समय में नागा विद्रोहियों द्वारा आग्नेयास्त्रों का सफलतापूर्वक प्रयोग उपरोक्त अनुभवों का ही फल है।

स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् नागालैण्ड तथा उत्तर-पूर्वी पहाड़ियों के अन्य क्षेत्र भारत का एक भाग हो गये। इसी समय कुछ महत्वाकांक्षी तथा राजनीति में पारंगत नागाओं द्वारा द्वितीय विश्व युद्ध के पश्चात पुनर्निर्माण के लिये नागाओं को संगठित करने के उद्देश्य से 1945 में नागा हिल डिस्ट्रिक्ट ट्राइबल कौंसिल की स्थापना की गई। ऐसा प्रतीत होता है कि अलग देश की इस महत्वाकांक्षा का जन्म इसी कौंसिल की स्थापना के कारण हुआ। "दि नागा नेशन" के नाम से एक समाचार-पत्र भी प्रकाशित होने लगा। बाद में "नागा हेराल्ड" का भी प्रकाशन हुआ जिस पर 1953 में प्रतिबन्ध लगा दिया गया। ज़ापू फ़िजो तथा उसके अधिकतर कार्यकर्ताओं को सक्रिय राजनीति में लाने का कार्य भी संभवतः पासे ने ही किया। पासे का प्रभाव इतना बढ़ा कि जून 1947 में फिजो ने यह घोषणा कर दी कि स्वतंत्रता के पश्चात् नागा पहाड़ियाँ अब भारत का भाग नहीं हैं। "उसकी घोषणा से पूर्व भारत में अंग्रेज़ी अधिकारियों तथा लंदन में उनके संरक्षकों की गोपनीय गोष्ठियों ने संभवतः भारत से अलग नागा देश के भविष्य की कामना की थी।" (रक्षत पुरी, 1972) आगे आने वाले महीनों में एक समझौता हुआ जिससे एक ओर राज्यपाल सर अकबर हैदरी तथा असम के मुख्य मंत्री बार्दोलोई थे तथा दूसरी ओर फ़िजो के नेतृत्व में 'नागा राष्ट्रीय परिषद' थी। नागाओं के अनुसार इस समझौते की अन्तिम शर्त के आधार पर दस वर्षों के पश्चात उन्हें अलग देश बनाने की स्वतंत्रता होगी। सरकारी वक्तव्यों ने स्पष्ट रूप से कहा कि समझौते में इस प्रकार की कोई शर्त नहीं थी। पंडित नेहरू ने भी नागा जनजाति की इस माँग को अव्यावहारिक बताते हुये कहा कि ऐसी मांगों को स्वीकृति नहीं दी जा सकती।

छापामार युद्ध शैली में निपुर्ण फ़िजो तथा उसके समर्थक वनों में चले गये। अब स्वतंत्र नागा देश की माँग के लिए प्रणालीबद्ध विद्रोह प्रारंभ हो गया। नागा समूहों के सक्रिय सहयोग से यह विद्रोह लगभग दो दशकों तक चला। 1962 में नागालैण्ड को राज्य का स्तर प्राप्त हुआ। इस परिवर्तन से राजनीति में रुचि रखने वाले बहुत से

नागाओं को संतोष हुआ। 1952 के बाद से नागा जनजातियों तथा भारत सरकार के बिगड़ते हुए संबंधों पर टिप्पणी करते हुए, एम. अले माघिषा आओ (स्वयं एक नागा) ने कहा कि इसका मुख्य कारण सरकार की जनजातियों के प्रति अनभिज्ञता तथा उनकी आवश्यकताओं को भलीभाँति समझने में सरकार की असफलता है।

बंदी बनाये जाने के डर से फ़िजो लंदन चले गये तथा वहाँ पर उनके समर्थकों ने नागालैण्ड, म्यांमार तथा पूर्व पाकिस्तान के दुर्गम भौगोलिक क्षेत्रों तथा वनों में अपनी 'सरकार' बनाई। इन लोगों ने अपनी लोकसभा, अपनी सेना, न्यायालय तथा संविधान की भी संरचना की। इन नागा विद्रोहियों को पाकिस्तान व चीन जैसे भारत विरोधी देशों से शस्त्र, धन, राजनीतिक सहायता तथा प्रशिक्षण भी मिला।

अलगाववादी आन्दोलन से परेशान व मोह भंग होने के कारण बहुत से नागाओं ने संवैधानिक सरकार तथा लोकतान्त्रिक संस्थाओं को मान्यता देना आरम्भ कर दिया। अपने आन्दोलन को निष्क्रिय होते देखकर आम चुनावों के तुरन्त बाद 1972 में एक बार फिर नागा विद्रोहियों ने पूर्ण शक्ति एवं गति के साथ विद्रोह किया। भारत की सुरक्षा सेनाओं ने इनका डटकर मुकाबला किया। बहुत से भूमिगत विद्रोहियों को बंदी बनाया गया तथा जगह-जगह छापा मार कर विद्रोही गतिविधियों को दबा दिया गया। विद्रोहियों का समर्थन करने वाली संस्थाओं पर रोक लगा दी गयी तथा विद्रोह की यह नयी लहर शांत तो हो गयी परन्तु इसका अंत नहीं हुआ।

नागालैण्ड की विद्रोही गतिविधियों का सामना करने के लिए भारत सरकार ने बहुत प्रयास किये हैं। प्रशासन की ओर से नागाओं के विभिन्न विकास कार्यक्रमों तथा उन्हें लाभप्रद रोजगार दिलाने में अच्छी धनराशि व्यय की गई। इस प्रकार की सभी योजनाओं का क्रियान्वयन नागा लोगों द्वारा ही किया जा रहा है। वयस्क मताधिकार के आधार पर ये लोग अपनी सरकार बनाते हैं। यह प्रवृत्ति लाभकारी सिद्ध हुई है। अधिकतर विद्रोही अलग-थलग हो गये हैं, जो कभी-कभी सरकारी अधिकारियों तथा सुरक्षा सेनाओं पर आक्रमण कर अपनी उपस्थिति तथा असंतोष का आभास कराते रहते हैं। सन् 2002 में भारत सरकार ने नागाओं से शांति वार्ता की पहल की जो अभी जारी है। इसके अलावा उत्तरी-पूर्वी राज्यों (नागालैंड समेत) के लिये महत्त्वपूर्ण 'विकास पैकेज' के रूप में भारी आर्थिक निवेश भी किया जा रहा है जिस ने सन् 2003 से गति पकड़ी है। भारतीय ईसाई मिशनरियों ने इन जनजातीय क्षेत्रों का उत्तरदायित्व अपने ऊपर ले लिया है। इन भारतीय मिशनरियों का दृष्टिकोण विदेशी मिशनरियों के दृष्टिकोण से बिल्कुल अलग है जो या तो निष्पक्ष थी या ईसाई नागाओं को भारत से अलग होने के लिए उकसाती रहती थी। शेष देश की औसत साक्षरता के प्रतिशत की तुलना में इन जनजातियों के साक्षरता प्रतिशत का अधिक होना, इन

मिशनरियों के समर्पण व उत्साह का नतीजा है।

नागाओं तथा अन्य उत्तर-पूर्वी जनजातियों की तथाकथित अलगाववादी प्रवृत्ति का कारण था स्वतंत्रता के नये परिवेश में अपनी सामाजिक व सांस्कृतिक मान्यताओं व पहचान को बनाये रखने का प्रयास। उत्तर-पूर्वी क्षेत्रों की अधिकतर जनजातियों के लिए किसी राष्ट्र का एक हिस्सा होने का अनुभव नया है तथा इस सत्य को शीघ्रता से स्वीकार करने में इनकी कठिनाइयों तथा असमर्थताओं पर सहानुभूतिपूर्ण विचार होना चाहिए।

कुछ अन्य मानवविज्ञानियों के अनुसार हिन्दू राष्ट्रवाद के समुद्र में अपनी सांस्कृतिक पहचान को खो देने का भय उत्तर-पूर्वी पहाड़ियों पर हो रही घटनाओं का एक मुख्य कारण है। इस प्रकार इन जनजातियों के सांस्कृतिक एकीकरण के लिए किसी प्रकार का प्रलोभन देना या दिखावा करना हानिकारक होगा। भारत जाति, धर्म, भाषा व संस्कृति के संदर्भों में हमेशा से विविधताओं से भरा रहा है। इन्हीं विविधताओं में भारतीय एकता का मूल मंत्र है। इस एकता को बनाये रखने का कोई भी प्रयत्न राष्ट्र की सांस्कृतिक, धार्मिक व नृजातीय बहुलता को ध्यान में रखकर किया जाना चाहिए।

अन्त में यह कहा जा सकता है कि नागाओं की वर्तमान समस्याओं का संबंध केवल आर्थिक पक्षों से नहीं है, फिर भी आर्थिक विकास के कामों से स्थितियों में बहुत सुधार हुआ है। यह एक राजनीतिक समस्या है जिसे राजनीतिक हल मिलना चाहिए।

## मिज़ो विद्रोह

मिज़ो असन्तोष व विद्रोह भी भारत की सुदूरवर्ती उत्तर-पूर्वी सीमा पर सुलगते जनजातीय विद्रोहों का एक उदाहरण है। इस विद्रोह की प्रकृति तथा भारत पर इसके प्रभाव सर्वविदित हैं जिसकी चर्चा करने की आवश्यकता नहीं है।

बांगलादेश व म्यांमार की सीमाओं से मिली हुई लुशाई पहाड़ियों में रहने वाली लुशाई जनजाति एक महत्त्वपूर्ण जनजाति है। परंपरा के अनुसार लुशाई लोग अपने आवास के क्षेत्र को मिजोरम कहते हैं जिसके फलस्वरूप मिजोरम में रहने वाले मिजो कहलाते हैं। सुदूरवर्ती तथा दुर्गम स्थानों में रहने तथा संचार व्यवस्था के अभाव के कारण ये लोग भी नागा पहाड़ियों पर रहने वाली जनजातियों की ही भाँति शेष जनसंख्या से अलग-थलग रहे हैं। इन क्षेत्रों के कुछ स्थानों पर केवल हेलीकॉप्टर द्वारा ही जाया जा सकता है। पाश्चात्य ईसाई मिशनरियों के आने से जनजातियों के अलग-थलग रहने की समस्या और भी गम्भीर हो गई। अंग्रेजी प्रशासकों द्वारा संरक्षण

प्राप्त इन मिशनरियों ने जनजातीय लोगों को ईसाई धर्म में परिवर्तित कराया तथा उन्हें सभ्यता की ओर ले जाने का प्रयास किया। इस प्रक्रिया ने धार्मिक तथा सांस्कृतिक मतभेदों को और बढ़ा दिया। सुदूरवर्ती क्षेत्रों में सर्वप्रथम शैक्षिक व स्वास्थ्य सेवाओं को पहुँचाने का कार्य इन मिशनरियों ने बड़े ही समर्पित ढंग से किया। ईसाई धर्म स्वीकार करने पर इन जनजातियों को अच्छे व उज्ज्वल भविष्य का आश्वासन दिया जाता था।

इन आश्वासनों से संतुष्ट होकर इन मिज़ो लोगों ने अंग्रेजी सरकार को सहयोग भी दिया। लिखित तथ्यों के अनुसार द्वितीय विश्व युद्ध के दौरान जब जापानी सेना ने असम पर आक्रमण किया तब लगभग 300 मिज़ो सरदारों ने अंग्रेजी सरकार को हर प्रकार की सहायता दी।

नागा विद्रोह की भाँति मिजो विद्रोह भी पूर्णतया राजनीतिक है। संथाल व मुंडा विद्रोहों की भाँति, मिज़ो विद्रोह अंग्रेजी सरकार द्वारा सरंक्षित बाहरी तत्वों के द्वारा शोषण के विरोध में नहीं है। स्वच्छन्द जीवन व्यतीत करने वाले मिजो लोगों को किसी प्रकार का राजनीतिक हस्तक्षेप अच्छा नहीं लगा। जब भी इन लोगों को अपने सरदारों के अतिरिक्त किसी भी अधिकारी या व्यवस्था के अधीन रखने का प्रयत्न किया गया, इस जनजाति ने गुरिल्ला युद्ध शैली अपनायी। घने जंगलों तथा दुर्गम पहाड़ी रास्तों जैसी भौगोलिक स्थितियों ने इनका उत्साहवर्द्धन किया। यह लोग ऐसी भौगोलिक स्थितियों में रहते हैं जो गुरिल्ला युद्ध प्रणाली के लिए आदर्श है। राजनीतिक महत्त्वाकांक्षाओं तथा चीन व पाकिस्तान जैसे विरोधी देशों के उकसाने के कारण मिजो नेताओं ने स्वतंत्रता के तुरन्त बाद विद्रोह कर दिया जिसके कारण इस पूरे क्षेत्र को भारत की केन्द्रीय सरकार के अधीन रखा गया।

मूलतः यह आन्दोलन एक अलग राज्य के लिए था न कि देश से अलग होने के लिए। अलग राज्य बनाने के लिए ये लोग शिलांग के आसपास के सभी असमी जिलों को मिलाकर एक "मिजोलैण्ड" की माँग कर रहे थे। 1954 में पूर्वी भारत जनजातीय संघ की स्थापना ने इस आन्दोलन को एक रूप दिया, जिसके फलस्वरूप 'आल पार्टी हिल लीडर्स कांफ्रेंस' उभर कर सामने आयी। इसके पश्चात केन्द्र से मौखिक आश्वासनों, बिना सूचना के कार्यान्वयन में विलम्ब तथा निहित हितों के कारण व्यवधान का सिलसिला प्रारम्भ हुआ। यह व्यवधान असम के उन लोगों द्वारा लगाये जा रहे थे जो पहाड़ी नेताओं तथा उनके समर्थकों की आकांक्षाओं का विरोध करते थे।" (रक्षितपुरी 1972) ऐसा विश्वास है कि इस प्रक्रिया में असम कांग्रेस पार्टी के नेताओं ने पहाड़ी नेताओं को विभाजित करने का प्रयास भी किया। अपने इस प्रयास के अन्तर्गत इन नेताओं ने असंतुष्ट मिजो लोगों को सहयोग दिया, जिन्हें लाल डेंगा

के नेतृत्व में मिजो नेशनल फ्रंट बनाने के लिए उत्साहित किया गया था। इस प्रयास ने एक अलगाववादी विद्रोह को जन्म दिया तथा मिजो नेशनल फ्रंट ने भारत से अलग होने की माँग की। अपनी इस माँग को मनवाने, और प्रभावी बनाने के उद्देश्य से मिजो नेशनल फ्रंट ने गुरिल्ला आतंकवादी क्रियाकलापों को अपनाया। अप्रैल 1970 में असम से अलग कर मेघालय को राज्य का स्तर दिया गया। मेघालय के राज्य बन जाने पर पहाड़ी जनजातीय नेता तथा उनके समर्थकों में संतोष व्याप्त हुआ। इन समर्थकों में खासी, गारो और जैन्तिया जनजाति के लोग थे। मिजो लोगों की राजनीतिक आकांक्षाओं को ध्यान में रखते हुए मिजोरम तथा अरुणाचल प्रदेश को असम से अलग केन्द्रशासित प्रदेश घोषित कर दिया गया। यह घोषणा नार्थ ईस्टर्न एरियाज़ (रीआरगेनाईज़ेशन) ऐक्ट, 1971 के अन्तर्गत की गई। इसके पश्चात् भी गुरिल्ला युद्ध चलता रहा। अंग्रेजी शासकों के समय मिजो लोगों को अच्छे सैनिक होने का सम्मान प्राप्त था। ऐसा विश्वास है कि बहुत से खूँखार छापामार द्वितीय विश्व युद्ध में म्यांमार की सीमा पर लड़ने वाले सिपाही हैं जिन्हें बाद में पहाड़ों पर कोई रोजगार नहीं मिला और देश के अन्य क्षेत्रों में नये अवसरों तक इनकी पहुँच नहीं थी।

कुछ समय के लिए लाल डेंगा ने छुपकर अपने आन्दोलन को चलाया परन्तु बाद में अपनी मांगों के लिए [illegible] प्राप्त करने के उद्देश्य से पश्चिमी जर्मनी तथा लंदन चला गया। लाल डेंगा की अनुपस्थिति में बहुत से गुरिल्लाओं तथा अन्य मिजो विद्रोहियों की रुचि कम होती गई तथा उन्होंने विभिन्न लोकतांत्रिक संस्थाओं से सहयोग करना आरम्भ कर दिया। भारत के सुरक्षा बलों ने भी इन विद्रोहियों पर बहुत अत्याचार किये, जिसके कारण यह लोग निरुत्साहित हो गये। इसी समय भारत सरकार ने इस केन्द्र शासित प्रदेश के विकास के लिए उदारतापूर्वक अनुदान दिया। आठवें दशक में इस क्षेत्र में शिक्षा, स्वास्थ्य तथा रोजगार की अधिक से अधिक सुविधायें प्रदान की गयीं। मिजोरम के क्षेत्र में लाल डेंगा तथा उसके अलगाववादी आन्दोलन की लोकप्रियता धीरे-धीरे कम होती गयी परन्तु कट्टर तथा समर्पित मिजो लोगों का कुछ भाग अब भी अपने नेता तथा उस आन्दोलन के प्रति सहानुभूतिपूर्ण दृष्टिकोण रखता है। ऐसी स्थितियों पर विश्वास करते हुये भारत सरकार ने एक बार फिर मैत्रीपूर्ण समझौते के लिए प्रयास किया। इस प्रयास के अन्तर्गत भारत सरकार ने लाल डेंगा को पश्चिमी जर्मनी से इस आश्वासन पर आमन्त्रित किया कि वार्तालाप असफल हो जाने की स्थितियों में उसे भारत से बाहर जाने की पूर्ण स्वतंत्रता होगी। भारत सरकार तथा लाल डेंगा के बीच लगातार डेढ़ साल तक (1981-82) वार्तालाप चलता रहा। लाल डेंगा के रुख के कारण भारत सरकार कोई भी मैत्रीपूर्ण समझौते पर नहीं पहुँच सकी तथा प्रशासन ने लाल डेंगा को अपनी इच्छानुसार कहीं भी जाने

की अनुमति दे दी। इस प्रकार भारत सरकार ने अपने वायदे को पूरा किया। यद्यपि मिजो नेशनल फ्रंट के उग्रवादी तत्व अब भी गुरिल्ला युद्धशैली का प्रयोग कर अपने विद्रोह को जारी रखते रहे परन्तु इस विद्रोह में गति तथा तीव्रता लगभग समाप्त हो गयी। मिजो समूहों द्वारा सहयोग न मिलने तथा पूर्वी पाकिस्तान के स्थान पर बंगलादेश बन जाने से इस पूरे आन्दोलन पर बहुत गम्भीर प्रभाव पड़ा है। एक ओर लोगों के सहयोग की कमी के कारण गुरिल्लों को अपना स्थान बनाने में कठिनाई का सामना करना पड़ा तथा दूसरी ओर पाकिस्तान के विभाजित हो जाने के कारण इन्हें योजनाबद्ध सहायता तथा शस्त्र मिलने में भी कठिनाई होती गई। इन स्थितियों ने भारतीय सेना का काम आसान कर दिया। दूसरी ओर शासन ने भी मिजो जनता को राष्ट्र की मुख्य धारा में लाने के लिये सभी प्रयास किये। शिक्षा व आर्थिक विकास के नियोजित कार्यक्रम चलाये गये। मिजोरम को राज्य का दर्जा मिला तथा 1987-88 में लाल डेंगा और उनके संगठन से समझौते के फलस्वरूप वह मिजोरम के मुख्यमंत्री बने। अन्दरूनी कारणों से उनकी सरकार गिर गई। निराश व बीमार लाल डेंगा की जुलाइ 1990 में मृत्यु के साथ एक अध्याय समाप्त हो गया।

## अन्य क्षेत्रों में जनजातीय असन्तोष तथा विद्रोह

आंध्र प्रदेश के एजेंसी जिलों की कोया जनजाति ने लगातार अंग्रेजी साम्राज्य का विरोध किया। बाद में सुप्रसिद्ध अल्लूरी सीताराम राजू के नेतृत्व में गुरिल्ला युद्धशैली का प्रयोग भी किया गया। अल्लूरी सीताराम राजू ने राष्ट्रीय कांग्रेस के असहयोग आन्दोलन के समय अंग्रेज अधिकारियों को बहुत परेशान किया था।

1911 का बस्तर विद्रोह, कुरीचिया विद्रोह तथा रानी गिदल्यू के नेतृत्व में नागा आन्दोलन, कुछ ऐसे आन्दोलन हैं जिन्हें स्वतंत्रता संग्राम के समय जनजातियों के सहयोग के रूप में मान्यता मिलनी चाहिए। तंतिया भील, विष्णु-गोंड, कंगला माँझी आदि कुछ ऐसे नाम हैं जिन्होंने जीवन भर विदेशी शासन के विरुद्ध संघर्ष किया।

भारत की कम्युनिस्ट पार्टियों तथा उनके कृषक दलों ने शोषण व अत्याचार की शिकार इन जनजातियों को संगठित करने तथा अपने अधिकारों की माँग के लिए संघर्ष करने में बहुत सहायता की। पश्चिमी भारत के वर्ली क्षेत्र के कृषक 1946 से आन्दोलन का एक आवश्यक भाग बन गये हैं।

विभिन्न कम्युनिस्ट पार्टियों के नेतृत्व में चल रहे कृषक संगठनों की भूमिका के संदर्भ में टिप्पणी करते हुए एल. के. महापात्र (1972) कहते हैं कि कोरापुट जिले के स्थानीय कोंड कम्युनिस्ट कार्यकर्ताओं द्वारा चलाये जा रहे ऐसे स्थानीय जनजातीय

संगठनों में सम्मिलित हुए हैं जो आदिवासी और विश्व के सर्वहारा लोगों से समान व्यवहार रखते हैं। पिछले कुछ वर्षों से आंध्र प्रदेश की विशाखापट्टनम एजेंसी की सओरा तथा अन्य जनजातियों ने उग्रवादी कम्युनिस्ट नेतृत्व में शस्त्रों का प्रयोग आरम्भ कर दिया है। यह लोग शोषक, जमींदारों, बिचौलियों तथा उनकी भूमि का निस्तारण करने वालों से निपटने के लिए शस्त्रों का भी प्रयोग करते हैं। जनजातीय लोगों में पहले से ही यह परंपरा है। यद्यपि नक्सलवादियों का आन्दोलन मूलतः जनजातीय आन्दोलन नहीं था फिर भी शोषित जनजातीय लोग इसके भूमिहीन सहयोगियों का एक बड़ा अंग थे जिसने विश्व को यह बता दिया कि अब ये लोग अपने शोषण तथा अपने ऊपर हो रहे अत्याचार को चुपचाप नहीं सहेंगे। आज कल अपनी मुक्ति की इच्छुक सभी जनजातियों में सशस्त्र आन्दोलन चलाने का प्रचलन हो गया है। अब ये लोग अन्य शोषित समूहों से सहयोग की अपेक्षा करने लगे हैं। आंध्र प्रदेश की जनजातियों का एक संगठन पीपुल्स वार ग्रुप (पी. डब्ल्यू. जी.) कुछ दिनों से समाचार पत्रों में काफी चर्चित है। जनजातीय क्षेत्रों का असंतोष व विद्रोह बहुत से तथ्यों का मिश्रित फल है। यह स्थितियाँ मुख्यतः निम्न कारणों से उत्पन्न होती हैं :

(i) वन कानूनों की कठोरता तथा उन्हें लागू करने में सहानुभूतिपूर्ण व्यवहार की कमी।

(ii) जनजातीय ऋणों को दूर करने के लिए पर्याप्त ऋण सुविधाओं की कमी।

(iii) जनजाति के लोगों की भूमि को अजनजातीय लोगों के हाथों में जाने से रोकने में सुरक्षात्मक नियमों की असमर्थता।

(iv) सिंचाई, विद्युत तथा अन्य परियोजनाओं के लिए भूमि अधिग्रहण के कारण असुरक्षित लोगों के पुनर्वास कार्यक्रम की असफलता।

(v) उच्च स्तरीय समितियों द्वारा दिये गये सुझावों को लागू करने में विलम्ब।

(vi) आंध्र प्रदेश तथा उड़ीसा के एजेंसी क्षेत्रों में जमींदारी प्रथा से अधिक क्रूर 'मुट्टा दारी' प्रथा को रोकने में ढिलाई इत्यादि।

**शीलू आओ रिपोर्ट** (1969) के अनुसार वर्तमान प्रशासकों तथा अधिकारियों दोनों का दृष्टिकोण जनजातीय समस्याओं तथा कठिनाइयों के प्रति ढीला व उदासीन है। अंग्रेज प्रशासकों की प्रशंसा करते हुए इस रिपोर्ट में कहा गया है कि आने-जाने की कठिन समस्याओं तथा पहाड़ों पर फैली बीमारियों के होने पर भी कलेक्टर या एजेंट तीन-चार सप्ताह तक जनजातियों के बीच रहते थे, उनकी समस्याओं को सुनते थे तथा उन्हें सुलझाने तथा न्याय दिलाने का प्रयास करते थे। वर्तमान प्रशासक ऐसे कार्यों पर ध्यान नहीं देते हैं। श्रीकाकुलम में जहाँ पर जनजातीय असंतोष ने हिंसात्मक

रुख अपनाया, शीलू आओ दल को पता चला कि 1966 में एजेंट इस क्षेत्र में केवल दो दिनों के लिये रहे। मलेरिया के पूर्ण उन्मूलन होने तथा सुधरी हुई संचार व्यवस्थाओं के उपलब्ध होने पर इन प्रशासकों तथा जिला अधिकारियों को एजेंसी क्षेत्रों में अधिक से अधिक समय व्यतीत करना चाहिए। यह प्रशासक इन क्षेत्रों में बहुत कम जाते हैं जिसके कारण इन अधिकारियों तथा जनजातियों का नाता धीरे-धीरे समाप्त हो रहा है।

उपरोक्त उदाहरण से स्पष्ट पता चलता है, कि जनजातीय जनसंख्या के विकास के लिए उत्तरदायी अधिकारियों का दृष्टिकोण कितना उपेक्षापूर्ण है। जनजातियों के संरक्षक की भूमिका निभाने की हमारी प्रकृति के दूरगामी परिणाम अच्छे नहीं होंगे। इस संदर्भ में शीलू आओ कमेटी ने कुछ महत्त्वपूर्ण तथ्यों पर प्रकाश डाला है। अपने सीमित विचारों के कारण हम जनजातियों के विकास के लिए किये गये अपने प्रयासों के बदले में उनकी सराहना तथा कृतज्ञता की आशा करते हैं। ऐसी स्थिति में हम यह भूल जाते हैं कि किसी भी विकासशील समाज में, वह चाहे जितना ही आदिम क्यों न हो, परिवर्तन की प्रक्रिया बराबर चलती रहती है। ऐसे में जनजातियों की शिक्षित श्रेणी द्वारा ऐसी प्रवृत्तियों का विरोध आपत्तिजनक या अप्राकृतिक नहीं है। राजनीतिक जागरूकता एवं चेतना, सामाजिक व आर्थिक विकास का एक अभिन्न अंग हैं। किसी भी जनजाति को प्रशिक्षित करने की प्रक्रिया में हम उसे देश विदेश की राजनीतिक गतिविधियों से अलग नहीं रख सकते।

जनजातीय विद्रोह का कारण क्षेत्रीय, राजनीतिक या सामाजिक व आर्थिक कारकों का आनुपातिक मिश्रण हो सकता है। असम में, जहाँ पर स्वतंत्रता से पूर्व भी पहाड़ी जिलों में शिक्षित लोग थे परन्तु उनके प्रतिनिधियों को प्रशासनिक कार्यभार देने के प्रयासों की असफलता से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि उनके व्यक्तित्व के सम्पूर्ण विकास तथा उनकी राजनीतिक आकांक्षाओं की पूर्ति होनी चाहिए। इसके लिए इन्हें उन बाहरी तत्वों से मुक्त कराना आवश्यक है जो इन जनजातीय लोगों को समान स्तर नहीं देते। जनजातीय अलगाववाद का प्रमुख कारण रहा है उनके शिक्षित वर्ग की बाहरी तत्वों की अधीनता स्वीकार न करने की प्रवृत्ति। बिहार का झारखंड आन्दोलन इसी श्रेणी में आता है।

यही समय है जब हम जनजातियों के प्रति अपने दृष्टिकोण को परिवर्तित करें। इसके साथ-साथ उनके 'संरक्षक' बनने की प्रवृत्ति से अलग हटकर उन्हें समान स्तर देने के साथ-साथ राजनीतिक असंतोष का हल निकालने के लिए भी हमें तत्पर रहना चाहिए। इन जनजातियों की राजनीतिक आकांक्षाओं को समझना तथा इससे पूर्व कि

यह आकांक्षायें अलगाववादी आन्दोलन का रूप लें, उन्हें पूरा करने का प्रयास करना चाहिए।

इस प्रकार की अलगाववादी गतिविधियाँ देश के हित में नहीं हैं। जनजातियों के प्रति हमें अपनी इस प्रवृत्ति को बदलना चाहिए कि यह लोग ऐसे पिछड़े लोगों का समूह हैं जिन्हें हमारे स्तर पर आने के लिए हमारी दया की आवश्यकता है।

# 19

# जनजातीय प्रतिरोध, हिंसा, वामपंथी आन्दोलन व राज्य की भूमिका

राष्ट्र-राज्य के रूप में भारत की आजादी के पश्चात् श्रीकाकुलम, आंध्रपदेश से उत्तर प्रदेश के सोनभद्र जिले तक, खासकर मध्य भारत के जनजाति क्षेत्रों में फैला तथाकथित माओवादी/नक्सली आंदोलन एक अत्यंत ही गंभीर समस्या के रूप में उभर कर सामने आया है। सरकारी एवं गैर-सरकारी संगठनों, जनसंचार माध्यमों, बहस एवं विमर्शों के माध्यम से दो प्रकार की धारणाएं सामने आती हैं :

1. यह समस्या आंतरिक सुरक्षा के लिए खतरा है जिसके नतीजे राष्ट्रीय सुरक्षा के लिए चुनौतियाँ पैदा कर रहे हैं। जो लोग इस धारणा के चश्मे से इस समस्या को देख रहे हैं, उनकी सोच सुरक्षा व कानून व्यवस्था पर केंद्रित होगी।

2. दूसरी धारणा यह है कि यह समस्या विशुद्ध रूप से एक सामाजिक-आर्थिक समस्या है जिसके मूल में अलगाव, भेदभाव और हाशियाकरण है। इस धारणा से जुड़े लोगों के लिए यह सामाजिक न्याय हेतु एक सामाजिक आंदोलन है। इसके अतिरिक्त यह सिर्फ एक समस्या ही नहीं अनेक समस्याओं का परिणाम है। यह कोई अचानक उठ खड़ा होने वाला तूफ़ान न होकर अपनी मौलिकता और जड़ों के साथ औपनिवेशिक काल में भी देखा जा सकता है, जहां कि कई सारे विद्रोहों को आदिवासी समाज अपने दमन एवं शोषण के खिलाफ अंजाम देता आया है। समस्या की गंभीरता का अंदाज़ा इस आलोक में लगाया जा सकता है कि इस आतंक के दायरे में आज भारत के लगभग दो सौ जिले और पंद्रह राज्य आते हैं। देश के भौगोलिक क्षेत्रफल के 35-40 प्रतिशत भाग पर इस समस्या का प्रभाव फैला हुआ है। इनमें सर्वाधिक प्रभावित क्षेत्रों में दक्षिणी उड़ीसा, दक्षिणी एवं मध्यवर्ती छत्तीसगढ़, दक्षिणी बिहार, पूर्वी आंध्र प्रदेश, पूर्वी महाराष्ट्र से दक्षिणी उत्तरप्रदेश आदि हैं। देश की कुल आबादी का 8 प्रतिशत जनजाति जनसंख्या है, और इसमें से लगभग 50 प्रतिशत जनजाति जनसंख्या कुल मिलाकर बिहार, झारखंड, मध्यप्रदेश, छत्तीसगढ़ और आंध्रप्रदेश में निवास करती है। इसका अर्थ यह है कि देश का मध्य भाग जनजाति

जनसंख्या का विस्तृत क्षेत्र है। ध्यातव्य है कि जिन हिस्सों में जनजाति समाज फैले हैं उन क्षेत्रों में गरीबी, अत्यंत अल्प विकास और आर्थिक रूप से काफी पिछड़ेपन के कारण अत्यंत कष्टसाध्य जीवन उन्हें जीना पड़ता है। ध्यान देने वाली बात यह है कि इन्हीं क्षेत्रों में चरम वाम अतिवादिता और हिंसा सबसे अधिक देखने को मिलती है।

यद्यति जनजातियों की समस्या का स्वरूप हर राज्य में थोड़ा भिन्न होने के बावजूद इनमें से कुछ समस्यायें जैसे जमीन का हस्तांतरण, लंबी कर्जदारी, खाद्य-सुरक्षा, स्वास्थ्य, शिक्षा और विस्थापन आदि लगभग समान रूप से हर राज्य में एक जैसे हैं। कोई इससे इनकार नहीं कर सकता कि आज भी बस्तर जैसे इलाकों में पीने योग्य सुरक्षित पानी मानवीय प्रयोग हेतु उपलब्ध नहीं है। वहां स्कूल नहीं है। यदि स्कूल हैं तो शिक्षक नहीं हैं। अस्पताल नहीं है और अगर हैं भी तो डॉक्टर एवं दवाइयों का घोर अभाव है। इन समस्याओं से राज्य के जनप्रतिनिधियों का शायद ही कोई सरोकार हो। लाखों की संख्या में शिक्षित जनजाति युवक, युवनियां बेरोजगार हैं। वे नजदीकी शहरों में जाते हैं और कुंठित होकर लौटते हैं। कृषि की स्थिति इस कदर बुरी है कि इसे उत्पादक और रोजगारपरक नहीं कहा जा सकता है। उनकी आजीविका क्षतिग्रस्त है। इन परिस्थितियों में हथियारबंद माओवादी जब अपनी सहानुभूति इनकी समस्याओं के प्रति जताते हैं, स्वाभाविक रूप से आदिवासी युवा वर्ग इसके प्रभाव में आ जाते हैं। जब माओवादियों के द्वारा सरकारी एजेंसियों के खाद्य-भंडारों को लूटा जाता है तथा वे इसे भूख से बिलबिलाते आदिवासियों के बीच वितरित करते हैं तो वे उनके नायक बन जाते हैं। जब माओवादियों के द्वारा भूमि का वितरण किया जाता है तब आदिवासी वर्ग उन्हें अपना भगवान मानने लगता है।

उपरोक्त सभी समस्याओं में वर्तमान में विस्थापन सबसे गंभीर समस्या है। विडंबना यह है कि ज्यादातर जनजाति क्षेत्र जल, जंगल और खनिज संसाधनों के मामले में समृद्ध हैं। स्वतंत्रता के उपरांत बड़ी संख्या में विकास परियोजनाओं की वजह से बड़ी संख्या में विस्थापन हुआ। जनबिजली व सिंचाई-परियोजनाओं आदि के कारण बड़े पैमाने पर विस्थापन होता है। विस्थापन के अन्य कारणों में खादान, सुपरथर्मल व नाभिकीय बिजली प्लांट, औद्योगिक एवं सामरिक फौजी स्थलों का निर्माण, संरक्षित वन क्षेत्रों का फैलाव, अभ्यारण-पार्क और प्रौद्योगिकीय हस्तक्षेप आदि से बड़े पैमाने पर परंपरागत मछुआरों और हथकरघा से जुड़े लोगों का विस्थापन होता है। निःसंदेह ऐतिहासिक रूप से प्राकृतिक संसाधनों पर आधारित जनजाति समुदायों का विकास के नाम पर जनजीवन प्रभावित हो रहा है, जिसका सबसे वीभत्स रूप विस्थापन है। ध्यान देने वाली बात यह है कि देश की कुल आबादी का 8 प्रतिशत बामुश्किल जनजाति समुदाय है, लेकिन विस्थापितों की कुल संख्या के लगभग 20 प्रतिशत लोगों

को ही पुनर्वासित किया जा सका है। साथ ही इन विस्थापितों की आजीविका का क्या होगा? क्या यह सत्य नहीं कि यह लोग विकास का 'शिकार' हो चुके हैं। विस्थापन के अनार्थिक परिणामों में प्रमुख हैं-उनकी नातेदारी व्यवस्था का छिन्न-भिन्न होना, उनकी परस्पर समर्थन व्यवस्था का विघटन, पवित्र स्थलों को ढा दिया जाना आदि। दुर्भाग्यपूर्ण है कि इन बदनसीबों को 'प्रगति' में हिस्सेदारी नहीं दी गयी। अतीत में भी इनका औपनिवेशिक शोषण किया गया था। लगभग दो सौ वर्षों से भू-माफिया, महाजनों, जंगल और शराब के ठेकदारों के द्वारा सरकारी तंत्रों की आड़ में इनका शोषण होता चला आ रहा है और आजादी के बाद विकास के नाम पर इन्हें एक बार फिर से बलि का बकरा बनाया जा रहा है। यही कारण है कि बहुत से जनजाति प्रतिनिधियों के द्वारा यह असुविधाजनक प्रश्न उठाया जाता है कि "क्या हम भारत के आंतरिक उपनिवेश है"?

संविधान निर्माताओं ने जनजातियों के हितों की रक्षा हेतु अनेक प्रावधान किये हैं। लगभग सभी राज्य सरकारों ने संविधानों के इन प्रावधानों को वैधानिक उपायों के साथ लागू किया है, जैसे कि 'प्रीवेंशन आफ लैंड एलियनेशन ऐक्ट', 'रेगुलेशन आफ मनी लैंडिंग एक्ट' आदि। इसके अतिरिक्त संविधान की पाँचवीं व छठी अनुसूची में अनेकों प्रावधानों के द्वारा जनजाति क्षेत्रों के प्रशासन, उनकी भाषा और संस्कृति की रक्षा हेतु प्रावधान किये गये हैं। लेकिन फिर भी उनका दमन और शोषण, उनके हितों को असुरक्षित रखना जारी है, क्योंकि राज्य को जिस दमन और शोषण के विभिन्न प्रकारों से इन्हें सुरक्षा प्रदान करना था, सामाजिक-अन्याय से मुक्ति प्रदान करना था, उनमें राजनैतिक इच्छाशक्ति का घोर अभाव रहा है।

कहा जाता है कि लोकगीत कभी झूठ नहीं कहते क्योंकि उनमें जबरदस्त भावनात्मक आवेग स्वाभाविक रूप से छलकते हैं। झारखंड क्षेत्र के दो मशहूर गीत :

"उन्होंने हमसे अनेकों वादे किये, उससे भी ज्यादा कि जितने मुझे याद हैं लेकिन उन्होंने सिर्फ एक वादा निभाया। उनका वादा था कि जमीन ले लेंगे और उन्होंने ले लिया"

"जब वे (डीकू/बाहरी लोग) हमारी जमीनों पर आये तब वे इतने दुबले-पतले थे जैसे कि किसी सुई का नाका। हमारा खून पी पी कर वे इतने मोटे हो गये हैं जैसे कि हल का मुट्ठा"

इस प्रकार के गीत अनेकों प्रकार के अन्याय और शोषण को स्वर देते हैं। यह एक प्रकार से समूची जनसंख्या की 'वैधानिक बेदख़ली' का शास्त्रीय उदाहरण है।

## दो

योजना आयोग के विशेषज्ञों ने 2006 में 'चैलैंजेज आफ डेवलपमेंट इन माओइस्ट अफेक्टेड ट्राइबल एरियाज़' नामक रिपोर्ट प्रकाशित की। पिछले पच्चीस वर्षों में केन्द्र सरकार के द्वारा पहली बार इस प्रकार की रिपोर्ट प्रकाशित की गई है। इसमें पहली बार सुरक्षा केंद्रित उपागम की जगह एक खुले उपागम को अपनाया गया। रिपोर्ट का तर्क था कि भूमि संबंधित मामले माओवाद के फैलाव में एक जरूरी भूमिका निभाते हैं। इसमें विशेषज्ञ समिति ने सुझाया कि हजारों बीघे जमीन जो यूं ही खाली पड़ी है, को भूमिहीनों में वितरित किया जाना चाहिए। यह सुझाव दिया गया कि 'दि शिड्यल्ड ट्राइब्स एण्ड ट्रेडिशनल फॉरेस्ट ड्वेलर्स (रेकॉगनिसन ऑफ फॉरेस्ट राइट्स) एक्ट 2006' को लागू किया जाना चाहिए ताकि लोगों के जमीन संबंधी सुरक्षा उपायों को मजबूत किया जा सके। यह स्वीकार किया गया कि योजनाओं की कमी के कारण ही उग्र वामपंथ का विस्तार हुआ, "लगातार अलगाव के कारण लोग बंदूक उठाने के लिए बाध्य हुए। इसे इस रूप में समझा जाए कि यह एक कानून व्यवस्था की समस्या नहीं है बल्कि इसकी जड़ें आर्थिक और सामाजिक आधारों में निहित हैं।" इस रिपोर्ट में अतिवादिता के लिए शासन व्यवस्था, ज़मीन से अलगाव, बेरोजगारी और सामाजिक असमानता आदि को दोषी ठहराया गया है। इससे इंकार नहीं किया जा सकता कि जनजातियों की अर्थव्यवस्था जंगल-अर्थव्यस्था पर टिकी है और वन्य अर्थव्यवस्था आदिवासियों पर। स्थिति तब और बिगड़ जाती है जब राज्य की निर्मम, दमनकारी शक्ति का इस्तेमाल उनकी आवाज़ को कुचलने में होता है। खास कर जब लोकतांत्रिक सिद्धांतों की अनदेखी की जाती है। वन विभाग को हथियारबंद पुलिस मुहैया करायी जाती है जो कि जंगल में लगभग पेशेवर सेना के रूप में अपना नियम-कानून चलाती है। इनमें मनमाने ढंग से सजा देना, बिना मूल्य खाद्य-वस्तुओं की निकासी आदि (अंडे, मुर्गे, बकरे, दूध, जंगली उत्पादन आदि), बिना मूल्य श्रम, जोर-जबरदस्ती से पैसे की उगाही. इससे भी बुरा यह कि घरों में लूटपाट, छीना-झपटी और आधिपत्य हेतु बलात्कार सामान्यतः होते ही रहते हैं। यहाँ यह बात ध्यान देने की है कि वन क्षेत्रों में सामान्य कानून नहीं चलते।

भूमि अधिग्रहण एक्ट का गलत इस्तेमाल इस दुःखद स्थिति को और भी दारुण बना देने वाले कारकों में से एक है। यह ठीक उस स्थिति की याद दिलाता है जब औपनिवेशक भारत में साम्राज्यवादी शक्तियाँ सेवा और सार्वजनिक हितों की आड़ में किसी भी संपत्ति का अधिग्रहण कर लेती थीं। जबकि सत्य यह था कि सिर्फ औपनिवेशिक हितों की पूति हेतु इस प्रकार से संपत्तियों का अधिग्रहण किया जाता था। ठीक उसी प्रकार की राजनीति आज के आजाद भारत में भी मौजूद है जहाँ

सरकार को यह शक्ति प्राप्त है, कि वह किसी सामान्य आदमी की संपत्ति का अधिग्रहण 'राष्ट्रीय हित' में कर सकती है। इस तथाकथित 'सार्वजनिक हितों' और 'राष्ट्रीय हित' के दायरे में ये जनजाति समुदाय कहाँ रखे जा सकते हैं? क्या वे 'जनहित' और 'राष्ट्रहित' के हिस्से नहीं हैं? कौन उनके हितों की रक्षा करेगा? क्या हम उनके साथ दुश्मनों जैसा व्यवहार नहीं कर रहे हैं?

जनजाति क्षेत्रों में मल्टीनेशनल कॉरपोरेशनों को राष्ट्रीय संसाधनों के खनन का अधिकार दे दिया गया है। जैसा कि गौतम नवलखा (2006) ने कहा था केन्द्र सरकार जब यह कहती है कि माओवादी जनजातीय क्षेत्रों में विकास का विरोध कर रहे हैं तो इसका मतलब यह है कि वस्तुतः माओवादी, आदिवासी क्षेत्रों में कॉरपोरेट शोषण, जो कि खनिज पदार्थों, जंगल और भूमि-संसाधनों के दोहन पर आधारित हैं को रोकने का प्रयास करते हैं। बहुराष्ट्रीय निगम आम तौर पर पूँजी आधारित निवेश करते हैं जिसमें रोज़गार के अवसर कम होते हैं जिसके कारण कुशल श्रमिक को बाहर से आयातित करने के साथ ही साथ अकुशल श्रमिक के नाम पर स्थानीय श्रम का उपयोग अत्यंत कम मूल्य पर करने की कोशिश की जाती है। उदाहरण के तौर पर 'दी नेशनल मिनरल डेवलपमेंट्स कॉरपोरेशन' की किरान्डूल और बचेली की खदानें जो कि मध्यप्रदेश के दांतेवाड़ा जिले में हैं, स्थानीय लोगों को रोजगार नहीं देती है। यहाँ से प्राप्त लौह अयस्कों को एक विशिष्ट रेल मार्ग से विशाखापत्तनम और अत्यंत अल्प मूल्य पर जापान को बेचा जाता है। यह तथाकथित 'रेड कॉरिडोर' (उग्र-वामपंथ से प्रभावित क्षेत्र) जहाँ सदियों से आदिवासी निवास करते हैं, खनिजों से भरा पड़ा है। इन संरक्षित भंडारों पर बहुराष्ट्रीय कम्पनियों की निगाहें हैं, सरकार इसे बेचने पर आमादा है। इसी कारण सैकड़ों की संख्या में 'मेमोरेंडम ऑफ अंडरस्टैंडिंग' इन बहुराष्ट्रीय कंपनियों के साथ हस्ताक्षरित किये जा चुके हैं। यही कारण है कि इन क्षेत्रों की जनजाति जनसंख्या खुद को छला हुआ महसूस कर रही है, नज़रअंदाज, और उपयोग कर फेंकी गई वस्तु जैसा-कभी विकास के नाम पर, कभी औद्योगिकीकरण के नाम पर, कभी राष्ट्रहित में वस्तुतः उनका प्रतिरोध इस अन्यायपूर्ण विस्थापन के विरोध में है। वे इस बात को मानते हैं कि माओवादी विद्रोह को कुचलने के नाम पर सरकार जमीन अधिग्रहण कर कंपनियों को देना चाहती है। न्याय की माँग यह है कि भूमि अधिग्रहण एक्ट को राष्ट्रीय सुरक्षा और जन-कल्याण की सीमा में लाया जाय न कि इसका उपयोग कम्पनी, उद्योगों और रजिस्टेर्ड फर्म को देने हेतु किया जाये। इस एक्ट में सुधार की जरूरत है ताकि विस्थापन को लगाम दिया जा सके और विस्थापित के अधिकारों को सुरक्षित किया जा सके।

## तीन

मार्च 13, 2006 को संसद में गृहमंत्री के द्वारा एक 'स्टेटस पेपर' लाया गया जो कि उग्र वामपंथ की समस्या पर केंद्रित था। इस पत्र में उन खतरों से तथा उनसे निपटने की कुछ बिंदुवार नीतियां निम्नलिखित हैं :

1. हिंसा में लिप्त नक्सलियों से सरकार को कड़ाई से निपटना होगा।

2. नक्सलवाद अब एक अंतरराज्यीय समस्या है अतः राज्यों को चाहिए कि वे सामूहिक प्रयासों से इसका सामना करें।

3. राज्य सरकारों को प्रभावकारी पुलिस प्रतिक्रिया और असरदार एवं पुलिसिया कारवाई सामूहिक एवं व्यक्तिगत स्तर पर नक्सलियों एवं उनके आधारभूत संरचनाओं के खिलाफ करनी चाहिए।

4. स्थानीय नागरिक संगठन हिंसा और हथियार न त्याग दें तब तक किसी भी प्रकार की शांतिपूर्ण बातचीत बंद कर देनी चाहिए।

5. स्थानीय नागरिक संगठनों को नक्सलियों के खिलाफ कार्य करने के प्रयासों को बढ़ाना चाहिए लेकिन इस बात का ध्यान रखा जाना चाहिए कि स्थानीय नागरिकों को पर्याप्त सुरक्षा दी जाए एवं प्रभावकारी ढंग से उन इलाकों में सुरक्षित दस्तों का प्रभुत्व कायम करना चाहिए।

6. इस बात का ध्यान रखते हुए कि नक्सलवाद मात्र एक कानून-व्यवस्था संबंधी अड़चन नहीं है, सरकार की नीति यह होनी चाहिए कि दूसरे खतरे के साथ राजनैतिक सुरक्षा, विकास और जनधारणा के साथ समग्रता में देखे।

7. राजनैतिक संगठनों को नक्सल प्रभावितों क्षेत्रों में अपने कैडर को बढ़ाना चाहिए ताकि संभावित युवकों को नक्सलवाद के मार्ग पर चलने से बचाया जा सके।

8. राज्य सरकारों को अपनी वार्षिक योजनाओं में तालमेल के आलोक में सहमति बनाकर इन क्षेत्रों के विकास को सुनिश्चित करना चाहिए। भूमि-विहीनों में भूमि वितरण को केंद्र बिन्दु बनाकर, त्वरित रूप से भूमि-सुधार कार्यक्रम को लागू करना चाहिए। भौतिक रूप से बुनियादी संरचना जैसे सड़कों, संचार साधनों, बिजली आदि को बहाल करना चाहिए। साथ ही इन क्षेत्रों के बेरोजगार युवकों को रोजगार के अवसर उपलब्ध कराना चाहिए।

उपरोक्त एजेंडे के आलोक में सरकार मुख्य रूप से पुलिस व्यवस्था का आधुनिकीकरण, लैंड-माईन्स से अभेद्य वाहन, लंबी अवधि तक के लिए केंद्रीय अर्धसैनिक बलों की तैनाती और केंद्रीय अर्धसैनिक बलों में नियुक्तियों को अंजाम देने

पर बल दे रही है। वहीं जंगलों और जनजातियों से जुड़े मुद्दे, भूमि-सुधार और बेरोजगार के अवसरों की वृद्धि जैसे विषयों पर बातचीत तो होती है लेकिन इसे गंभीरतापूर्वक नहीं लिया गया। क्या हम आशा कर सकते हैं कि इन उपेक्षित मुद्दों को तत्काल संज्ञान में लिया जायेगा?

स्थानीय नागरिकों को वाम उग्रवादियों के खिलाफ खड़ा करने के विचार से 'सलवा जुडुम' के रूप में प्रशिक्षित एवं हथियार से लैस संगठन खड़ा किया गया। यह लगभग गृहयुद्ध की स्थिति के निर्माण जैसा है। इस प्रकार के संगठनों को अहिंसा एवं शांति के समर्थकों द्वारा विरोध का सामना करना पड़ा। इन लोगों ने इसे रद्द करने की भी माँग उठायी और इस प्रकार की राजनीति को अमान्य करार दिया। इसके कार्य को अमानवीय और घिनौना कृत्य भी करार दिया गया। इस कार्य का यथार्थ यह था कि राज्यों ने अपने को जिम्मेदारी से मुक्त कर लिया। इससे बेहतर विकल्प यह होता कि ऐसे सिविल सोसाइटी समूहों को, जो जनजातीय समस्याओं से अवगत हैं तथा उनसे सहानुभूति रखते हैं, प्रशासन के साथ लगाया जाता, विशेषकर जनजातीय समस्याओं को हल करने के कानूनों को लागू करने में।

नागरिक समाज की प्रतिक्रिया के रूप में बी.डी.शर्मा के द्वारा 17 मई 2010 को भारत के राष्ट्रपति को लिखे गये पत्र को गंभीरता से विचार करने हेतु लिया जा सकता है। इस पत्र के अन्य बिन्दुओं के अलावा भारत के पूर्व राष्ट्रपति के.आर. नारायणन को उद्धृत करते हैं कि "आने वाली पीढ़ियाँ कहीं यह न कहें कि भारतीय गणराज्य की नींव हरित पृथ्वी और निर्दोष जनजातियों, जो कि सदियों से यहाँ के वासी थे, की लाश पर रखी गई है।" बी.डी.शर्मा आगे कहते हैं कि

1. आदिवासी पृथ्वी पर सर्वाधिक लोकतांत्रिक लोग हैं। संविधान निर्माताओं ने आदिवासियों को मज़बूत सुरक्षा कवच प्रदान किया था अर्थात् पाँचवीं अनुसूची जिसे संविधान के भीतर एक और संविधान कहा जा सकता है। अस्तु संविधान स्वीकार करने के साथ ही वस्तुतः इन जनजातियों पर आपराधिक होने का ठप्पा लगा दिया गया है। समाज में इनके लिए कोई स्थान नहीं है, न ही इनकी परंपराओं और रिवाजों के लिए ही। राज्यपाल अपनी असीम शक्ति संपन्नता के आधार पर बहुत कुछ कर सकते थे। लगता है कि आज तक वे इससे अनजान हैं एवं जनजाति समुदायों को उनकी इस प्रकार की चूक से गंभीर परिणामों का सामाना करना पड़ा रहा है।

2. केन्द्र को सार्वजनिक रूप से यह बताना चाहिए कि वे जनजाति समुदायों के प्रति उत्तदायी हैं।

3. "अब शांति" के प्रस्तावों को तुरंत शुरू कर दिया जाना चाहिए।

4. राज्य के द्वारा किये गये तमाम वायदों को ईमानदारी से एक वर्ष के अंदर निभाया जाये।

5. एक व्यापक निदान पर कार्य करते हुए जारी हिंसा और अराजकता को समाप्त किया जाना चाहिए।

आदिवासी क्षेत्रों व उनकी समस्याओं पर गहरी नजर रखने वालों का मानना है कि शांति एवं न्याय बहाल करने हेतु निम्नलिखित उपायों को तत्काल प्रभाव से लागू किया जाना चाहिए।

1. जनजाति क्षेत्रों के भूमि-आलेखों को व्यवस्थित ढँग से रखा जाना चाहिए। ताकि प्रभावित जनजातियों को मुकदमेबाज़ी की प्रक्रिया से बचाया जा सके।

2. बेनामी भूमि-स्वामियों का सफाया किया जा सके।

3. अतिरिक्त और मुक्त-जमीनों को जनजातियों को आर्थिक मदद के साथ प्रदान करना चाहिए ताकि वे उत्पादक कृषि को फिर से जीवंत कर सके। इस कार्य में बंजर भूमि सुधार बोर्ड के उचित उपयोग से जनजातियों की भाग-दौड़ की पीड़ा कम करने का प्रयास किया जा सकता है।

4. कठोर और औपनिवेशिक भूमि-अधिग्रहण एक्ट की समीक्षा और उसमें बदलाव किया जाना चाहिए।

5. न्यूनतम मजदूरी के भुगतान को सुनिश्चित किया जाना चाहिए।

6. 'अनुसूचित-जनजाति और अन्य जंगल निवासी (वन अधिकार) एक्ट 2006' को पूरी ईमानदारी से लागू किया जाना चाहिए।

7. 'बंधुवा मजदूरी उन्मूलन एक्ट 1979' को कड़ाई से लागू कर दिया जाना चाहिए।

8. आसान और अनुकूल कर्ज सुविधाओं को सुनिश्चित किया जाना चाहिए ताकि महाजनों के शोषण से जनजातियों को बचाया जा सके।

9. वन कानूनों को मानवीय ढँग से लागू कर जंगल कानून के उल्लंघन के मामूली केसों को समाप्त कर देना चाहिए। और ज्याइंट फॉरस्ट मैनेजमेन्ट (जे.एफ. एम.) को समुचित ढँग से लागू कर दिया जाना चाहिए।

10. जनजाति रिवाज़ों व कानूनों को संहिताबद्ध कर उसका सम्मान करना चाहिए।

11. जनजातियों की भाषा को संरक्षण और बढ़ावा मिलना चाहिए।

12. जनजातियों के देशज ज्ञान तंत्र खासकर पर्यावरण, औषधियों और जल-व्यवस्था से संबंधित को लिपिबद्ध कर बौद्धिक संपदा के तहत संरक्षित किया जाना चाहिए।

13. राज्य को इस धारणा का परित्याग कर देना चाहिये कि जो भी आदिवासी अधिकारों का समर्थन करते हैं वे माओवादी हैं या राज्य से बग़ावत के समर्थक हैं।

14. नागरिक अधिकारों को लागू कर उन्हें सम्मान और स्वतंत्रतापूर्वक रहने का अधिकार प्राप्त होना चाहिए।

आज पूरी दुनिया में, जिसमें भारत भी शामिल है, जनजाति संस्कृति एक 'घायल संस्कृति' के रूप में है। अल्पसंख्या के कारण राष्ट्रीय राजनीति में आदिवासी आवाज़ हाशिये पर ही रहेगी। आज निर्दोष आदिवासी समुदाय माओवादियों, राज्य व सलवा जुडुम के द्वारा की जाने वाली हिंसा के दुश्चक्र में फंसे हुए हैं। इनमें से हर समूह का दावा है कि उनकी हिंसा रक्षात्मक है और हिंसा की शुरुआत उनके द्वारा नहीं की जाती है। लेकिन इनमें से कोई भी समूह अपने इस दावे का बचाव नहीं कर सकता। कुछ भी हो, हथियारबंद संघर्ष के नाम पर भी लूट, हिंसा व मारकाट का कोई औचित्य नहीं है।

सही हो या गलत उग्र वामपंथ के उभरने के पीछे कहीं न कहीं जनजाति समुदायों की आवाजों को दबाना ही कारण रहा है। यह जरूरी नहीं है कि आदिवासी मार्क्सवाद या माओवाद से प्रेरणा लेते हैं। जनजाति समुदाय अगर उनके साथ हैं तो इसका कारण यह है कि उग्र वामपंथी ने जनजातियों को लामबंद कर उन्हें राजनैतिक नेतृत्व प्रदान किया तथा वे जनजातियों के अधिकारों के लिए लड़ने की सक्षमता देते हैं। अपनी कमियों व तथाकथित 'अपराधों' के लिए उग्र वामपंथी संगठनों को दोषी करार दिया जा सकता है लेकिन कम से कम इस बात के लिये तो उनका सम्मान किया जाना ही चाहिये कि उन्होंने आदिवासियों को आवाज़ दी है और उन्हें शोषण व अन्याय के खिलाफ लड़ने का हौसला दिया है। आखिर क्यों शोषित जनजाति समुदायों को अपने जीवन में बदलाव हेतु धैर्यपूर्वक इंतजार करना चाहिए जबकि उनके चारों ओर पहले से ही समृद्ध और उन्नत लोग काफी तेज गति से और समृद्धि की ओर बढ़ रहे हैं?

# 20

# सुधार एवं पुनर्जीवन संचार : सामाजिक-राजनीतिक आन्दोलन

जनजातियों के आन्दोलनों पर चर्चा करते समय अक्सर जनजातीय और गैर-जनजातीय कृषक आन्दोलनों में अंतर करना अनिवार्य हो जाता है। यह इसलिए आवश्यक है क्योंकि कृषकीकरण (Peasantization) के कारण हालाँकि ज्यादातर आदिम जनजातीय समुदाय कृषक समाज में बदल गये हैं फिर भी उन में कुछ आदिम जनजातीय लक्षण अब भी बरकरार हैं। चूँकि उनकी आबादी कुछ खास क्षेत्रों में घनीभूत है और उनमें गहरे सजातीय तत्व (ethnicity) हैं, इसलिए मूल समस्याएं, नेतृत्व का स्वरूप और राजनीतिक संगठन-प्रक्रिया की प्रकृति आदि अन्य किसान-समुदायों से भिन्न हैं। अलावा इसके, कृषकों के आन्दोलन प्रधानतः भूमि-सुधार संबंधी होते हैं जबकि जनजातीय आन्दोलन भूमि-सुधार तथा वन संबंधी दोनों के लिए हुए हैं क्योंकि वनों पर उनकी निर्भरता परंपरानुसार भूमि-निर्भरता की भाँति ही महत्त्वपूर्ण हैं। दूसरी विशेष बात यह है कि जनजातीय विद्रोह सामन्ती जमींदारों, ऋण देने वाले महाजनों और छोटे सरकारी कर्मचारियों के विरुद्ध भी हुए हैं, केवल इसलिए नहीं कि वे उनका शोषण करते थे वरन् इसलिए भी कि वे उनके लिए परकीय या बाहरी व्यक्ति थे।

उनके असंतोष और व्यापक क्षोभ के विषय पर एक अलग अध्याय में विचार किया गया है लेकिन इस अध्याय में संक्षिप्त रूप से उन व्यापक समस्याओं पर प्रकाश डाला जा रहा है जो उनके विभिन्न सामाजिक-राजनीतिक आन्दोलनों (जिनमें उनके अंततोगत्वा विद्रोह/सशस्त्र बगावत भी शामिल है) से अंतर्ग्रस्त रही हैं। के. एस. सिंह द्वारा सम्पादित "ट्राइबल मूवमेंट्स इन इंडिया" (1982-83 दो जिल्दों में) इस विषय पर एक महत्त्वपूर्ण ग्रंथ है। उन्होंने इसे दो खण्डों में विभाजित किया है अर्थात् उत्तर-पूर्वी जनजातियाँ और मध्य एवं दक्षिण भारतीय आदिवासी समूह। जबकि उत्तर-पूर्वी प्रदेश और मध्य भारतीय आदिम जनजाति क्षेत्र जनजातीय-आन्दोलन के मामले में बहुत आगे रहा है, सुदूर दक्षिण के आदिवासी समुदाय अपने आन्दोलन

संगठित करने के मामले में अत्यधिक पिछड़े हुए, संख्या में बहुत कम और एकदम अलग-थलग अथवा अकेले पड़ जाने वाले रहे हैं, हालांकि उनका शोषण और उससे उत्पन्न असंतोष की मात्रा कम नहीं रही है। एल. के. महापात्र (1968) भी इस निश्चयात्मक कथन से सहमत हैं और इस दृष्टिकोण का समर्थन करते हैं कि हमें कोई महत्त्वपूर्ण सामाजिक आन्दोलन—धार्मिक, हैसियत संबंधी गतिशीलता (Status mobility) या राजनीतिक वहाँ की कम संख्यावाली प्रवाही जनजातियों जैसे, बिरहोर, कोरवा, पहाड़ी, खड़िया अथवा खेती करने वाले पहाड़ी माड़िया और पहाड़ी संओरा या अत्यधिक पुरातन कोंड आदि में नहीं मिलते हैं।

हाल ही में घनश्याम शाह (1990) ने भारत में सामाजिक आन्दोलनों पर मौजूदा साहित्य की एक महत्त्वपूर्ण एवं प्रामाणिक समीक्षा प्रकाशित की है जिसमें विभिन्न आयामों के अलावा जनजातीय आन्दोलनों के प्रारूपिक ब्यौरों का उल्लेख भी है। एल. के. महापात्र (1972) ने सामाजिक आन्दोलनों के प्रारूपिक क्रम को जनजातीय आन्दोलनों पर लागू करके विस्तारपूर्वक वर्णन किया है। उन्होंने उन्हें (1) प्रतिक्रियावादी (2) रूढ़िवादी और (3) संशोधनात्मक या परिवर्तन-परक कहा है। प्रतिक्रियावादी आन्दोलन "प्राचीन स्वर्णिम" दिनों को वापस लाने का प्रयास करता है जबकि रूढ़िवादी आन्दोलन यथास्थिति बनाये रखने का पक्ष पोषक होता है। संशोधनात्मक अथवा परिवर्तनवादी आन्दोलन वे हैं जो बुरे, या निम्न कोटि की रीति-रिवाजों, आस्थाओं और संस्थाओं को खत्म करके सांस्कृतिक एवं सामाजिक व्यवस्था में सुधार और उनका विशुद्धीकरण करना चाहते हैं। सुरजीत सिन्हा (1968) ने आन्दोलनों को पाँच वर्गों में बाँटा है : (1) संजातीय विद्रोह (ethnic rebellion) (2) सुधार आन्दोलन (3) भारतीय संघ में रहते हुए राजनीतिक स्वशासन संबंधी आन्दोलन (4) अलगाववादी आन्दोलन और (5) कृषि का असंतोष (agrarian unrest)। के. एस. सिंह (1983) ने लगभग यही वर्गीकरण किया है सिवाय इसके कि उन्होंने सुधार-आन्दोलन के स्थान पर "संस्कृतीकरण" और नृजातीय आन्दोलन की जगह "सांस्कृतिक आंदोलन" के पद प्रयुक्त किये हैं। संक्षिप्तता के लिए घनश्याम शाह (वही) ने प्रारूपिक क्रम को इस प्रकार प्रस्तुत किया है : (1) नृजातीय आन्दोलन (2) भूमि संबंधी आन्दोलन और (3) राजनीतिक आन्दोलन। ये तीनों प्रकार न्यूनाधिक रूप में न केवल एक-दूसरे को आच्छादित किए हुए हैं वरन् परस्पर इतना अधिक अंतर्ग्रंथित भी हैं कि एक का सिरा दूसरे से जा मिलता है।

जहाँ तक मुद्दों और समस्याओं का संबंध है जनजातियों के आन्दोलनों को अनेक दृष्टिकोणों से देखा जा सकता है। के. एस. सिंह (1983) ने इन आन्दोलनों को तीन क्रमावस्थाओं में विभाजित किया है : (1) 1795-1860 के बीच का समय जो ब्रिटिश

राज्य के उत्थान, विस्तार और स्थापना का काल था, (2) 1860-1920 का समय जिसमें उपनिवेशवाद सघन होने के साथ-साथ आदिवासी अर्थव्यवस्था में व्यापारियों के धन का प्रवेश भी हुआ जिसने भूमि एवं जंगलों से उनके संबंधों को प्रभावित किया और (3) यह अवस्था 1920-1947 के बीच की है अर्थात् देश की स्वाधीनता की प्राप्ति के समय तक। इस अवधि में जनजातीय समाज ने न केवल तथाकथित अलगाववादी आन्दोलन शुरू किये वरन् उनके कुछ समुदायों ने राष्ट्रीय एवं भूमि सुधार संबंधी आन्दोलनों में भी भाग लिया। गुजरात व महाराष्ट्र जैसे कुछ क्षेत्रों में सामाजिक सुधार आन्दोलनों ने जनजातियों को अंग्रेज शासन के विरुद्ध आन्दोलनों में भाग लेने की प्रेरणा दी।

भूमि हड़प लेना, भारी मात्रा में सूदखोरी, बेगार, जंगलों में आवश्यकता से अधिक परेशान करना, गरज यह कि शोषण के जितने भी तरीके संभव थे वे सभी मुद्दे ज्यों के त्यों मौजूद थे और यह सब देश को स्वाधीनता मिलने और उसके बाद तक जनजातियों के आन्दोलन का मुख्य आधार बने रहे। आन्ध्र प्रदेश की जनजातियों ने तेलंगाना आन्दोलन में सक्रिय भाग लिया और जमींदारों से कसकर टक्कर ली। छठे दशक के अंतिम वर्षों में हुए नक्सलवादी आन्दोलन में शोषण के विरुद्ध संघर्ष करने वालों में मुख्यतः आदिवासी समाज के लोग ही थे।

भारतीय संघ में या उसके बाहर राज्य अथवा जिले के रूप में अलग राजनीतिक अस्तित्व की माँग पूर्वी और उत्तर-पूर्वी सीमान्त की अनेक जनजातियों ने की है। इस वर्ग में नागा, मिजो, बोरो-कछारी आदि को शामिल किया जा सकता है। कभी-कभी तो राजनीतिक माँगों के पीछे नृजातीय (ethnic) एवं आर्थिक मांग भी निहित नजर आती हैं। एन. के. बोस (1967) ने इन आन्दोलनों को "उपराष्ट्रवाद" की संज्ञा दी है। शाह (वही) ने ठीक ही कहा है कि उनकी एकता और उनके द्वारा उठाये गये मुद्दों के अनुरूप आदिम समुदायों के आन्दोलनों की प्रकृति अनेक प्रकार के तत्वों पर आधारित हैं। पूर्वी और मध्य भारत के आदिवासियों का पड़ोसी हिन्दू ग्रामीण समुदाय से घनिष्ठ व्यवहार है और उनमें से अधिकांश के क्षेत्र अंतर्राष्ट्रीय सीमा से नहीं लगते। इसलिए वे लोग अधिक से अधिक और निरंतर शोषण व उत्पीड़न के बावजूद भारतीय संघ से बाहर के राजनीतिक अस्तित्व की मांग नहीं करते। उत्तर-पूर्वी क्षेत्र की जनजातियाँ देश की मुख्य धारा से अलग-थलग और अंतर्राष्ट्रीय सीमा पर स्थित हैं। इसलिए वे अलगाववादी प्रवृत्तियों की ओर अपेक्षाकृत अधिक आकर्षित हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि एकता आन्दोलनों (Solidarity movements) में आदिवासी समूहों की अन्तर्ग्रस्तता की प्रकृति और उसका परिणाम अनेक तत्वों पर निर्भर होता है जैसे, आदिवासी समूहों के निवास-स्थल अर्थात् मूल कृषक समाज संबंधी साँचा,

आदिवासियों की संख्या और गैर-आदिवासी समाज के समक्ष उनका खुलापन तथा उनके साथ परस्पर व्यवहारों का आदान-प्रदान।

यद्यपि अनेक आदिवासी समूह अपने छुट-पुट विद्रोहों और विरोधात्मक कार्यवाइयों द्वारा अपनी दुर्दशा संबंधी शिकवों-शिकायतों को उठाते रहे हैं किन्तु उनमें से कुछ समुदाय ही ऐसे हैं जो कोई आन्दोलन संगठित कर पाये या उनका लम्बे अवधि तक संचालन कर पाये। इनके ज्वलंत उदाहरण हैं : छोटानागपुर-संथाल परगना क्षेत्र के संथाल, मुंडा, हो और भूमिज, उड़ीसा-आंध्र के कोंध, कोया और सवरा बस्तर के भटरा, परजा और मुड़िया और अन्य पड़ोसी क्षेत्रों के भील, कोली, जुआंग, भुइयां, कोंडा डोंग आदि। उत्तर-पूर्वी जनजातियों में मिजो-नागा और बोडो आदि प्रमुख आदिवासी समूह हैं। आन्दोलनों के बाहुल्य में केवल कुछ थोड़े ही स्थानीय एवं सामुदायिक सीमाओं से ऊपर उठकर क्षेत्रीय अथवा राष्ट्रवादी स्वरूप धारण कर सके। ऐसे कुछ आन्दोलनों का विस्तृत उल्लेख 'क्षेत्रवाद' अध्याय में मध्य भारत के आदिवासी मंडल में आदिवासी विद्रोह शीर्षक से दिया गया है।

## मध्य भारतीय जनजातीय क्षेत्र में जनजातीय आन्दोलन

सघनता की दृष्टि से मध्य भारत के आदिवासी मंडल का विशेष स्थान है और इस मंडल में भी मध्य प्रदेश, छत्तीसगढ़, बिहार और झारखंड का स्थान निर्णयात्मक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है।

### मध्य प्रदेश/छत्तीसगढ़

यद्यपि आदिवासी आन्दोलनों के संदर्भ में मध्य प्रदेश-छत्तीसगढ़ के सबसे आगे होने का दावा नहीं किया जा सकता (इस मामले में सर्वोच्च होने का श्रेय बिहार/झारखंड के आदिवासी समूहों को है), फिर भी अंतर्ग्रस्त मुद्दे एक जैसे ही रहे हैं। बाहरी लोगों द्वारा हस्तक्षेप और शोषण ही मध्य प्रदेश/छत्तीसगढ़ के आदिवासी आन्दोलनों का आधारभूत कारण रहा है।

इस श्रेणी में बस्तर के आन्दोलन की सर्वाधिक चर्चा रही है। मध्य प्रदेश के आदिवासियों में गोंड सर्वप्रमुख हैं। जिस क्षेत्र में ये लोग बहुतायत में रहते हैं वह 'गोंडवाना' के नाम से प्रसिद्ध है और बस्तर इसका केन्द्र स्थल है। बाहरी अर्थात् गैर-आदिवासी जमींदारों, साहूकारों और महाजनों द्वारा खुलेआम आर्थिक शोषण इन आदिवासियों की मुख्य समस्या रही है किन्तु बिहार/झारखंड के आदिवासी समूहों की भाँति उनकी निराशा या उनका असंतोष कभी भी विद्रोही आन्दोलन का रूप नहीं ले सका। इसका एक कारण कदाचित् 'मसीहा' या पैगम्बर पर उनका पूर्ण विश्वास था

जिसने हमेशा उन्हें आमूल परिवर्तन की कार्यवाही करने से रोका है। गोंड जाति के अनेक समूहों का आज भी यह यकीन है कि एक दिन उनका मसीहा स्वयं आयेगा और उन्हें उनके दुःख-तकलीफों से मुक्त करके पुनः परंपरागत संस्कृति की स्थापना करेगा। दिलचस्प बात यह है कि मध्यप्रदेश/छत्तीसगढ़ के आदिवासी समूह बाहरी आदमियों विशेषतः हिन्दू कृषक समुदायों के प्रति सदा उदार रहे हैं।

1920 के आसपास प्रारंभ होने वाले अनेक सुधारवादी और दूसरे प्रकार के आन्दोलनों के पक्षपोषक मुख्यतः राजगोंड रहे हैं। ये लोग काफी अंशों तक हिन्दुओं से प्रभावित थे। वेरियर एल्विन ने विशेष रूप से "सूर्यवंशी महासभा" नामक एक क्षेत्रीय संगठन का उल्लेख भी किया है जो एक सुधारवादी संस्था थी। यह संस्था गोंड समुदाय के प्राचीन एवं परंपरावादी मूल्यों और रीति-रिवाजों को आलोचनात्मक दृष्टि से देखती थी। इसने उन लोगों में शंकरजी की उपासना और यज्ञोपवीत पहनने का प्रचलन प्रारंभ किया। मंडला इस आन्दोलन का केन्द्रस्थल बना था। किन्तु कुछ समय बाद गोंड लोगों ने महसूस किया कि यह नई जीवनशैली और नया जीवन-दर्शन उनके समक्ष उपस्थित यथार्थ से मेल नहीं खाता। उदाहरणार्थ, उनकी स्त्रियों की गतिशीलता और उनके अधिकारों पर जो प्रतिबन्ध लगाये गये उससे उनके आर्थिक जीवन में स्त्रियों का योगदान कम हो गया और परिणामस्वरूप उनका सामाजिक-आर्थिक जीवन आवश्यकता से अधिक बोझिल हो गया। खाने-पीने की वस्तुओं में परिवर्तन भी उनकी परंपरागत जीवन-शैली को रास नहीं आया। नयी "नैतिकता" उनके लिए जुए का भार बन गया। इसके अलावा उन्होंने महसूस किया कि इन सबसे उनके अपने स्तर को ऊपर उठाने के प्रयासों में कोई खास मदद नहीं मिली। जब अनेक तथाकथित "सुधारवादी कदम" विपरीत परिणामधारक सिद्ध हो गये तब एक नया आन्दोलन उभर कर सामने आया जिसका सूत्रपात उत्तर गोंडवाना स्थित सरगुजा की एक अशिक्षित गोंड महिला राज मोहिनी देवी ने किया। इसने स्त्रियों पर लगाई गयी पाबन्दियों और परकीय व्यवहार एवं आचरणों को छोड़ने पर जोर दिया। यह आन्दोलन भी स्थानीय प्रकृति का था, इसलिए इसका प्रभाव अधिक समय तक नहीं टिक सका। यहाँ ध्यान रखने योग्य महत्त्वपूर्ण बात यह है कि इन सभी आन्दोलनों में अंततोगत्वा, प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से जनजातियों ने हिन्दुओं के कुछ न कुछ सांस्कृतिक तत्व अवश्य अपनाए।

गोंड लोगों पर बस्तर के राजा का हमेशा अत्यधिक प्रभाव रहा। इन राजाओं को गोंड समुदाय का राजा भी माना जाता था। लेकिन राजगद्दी के उत्तराधिकार संबंधी विवाद हमेशा से चलते आ रहे थे और राज महलों में चलने वाले षड्यंत्र भी दैनिक क्रिया के अंग थे। आदिवासियों का दैनिक जीवन कठोर और कष्टमय था। बस्तर के

अंतिम राजा प्रवीण चंद भुजंगदेव ने 1947 में अपने राज्य की बागडोर संभाली लेकिन उन्हें अपनी रियासत को भारतीय संघ में मिला देना पड़ा। अपनी 'अति-मानवीय' हैसियत के बारे में उसने सभी तरह का प्रचार किया। उसके सर्मथकों ने उसके राम और कृष्ण के अवतार होने की कथाएं प्रचारित कीं। उसके अधिकारों और सुविधाओं में की गयी कटौतियों से वह और उनके समर्थक काफी क्रोधित हुए। भ्रष्टाचार और सार्वजनिक सरकारी धन के दुरुपयोग के कारण उसकी जमीन-जायदाद "कोर्ट ऑफ वाड्र्स" द्वारा जब्त कर ली गयी। यह वह परिणति थी जिस महाराजा को खुलकर मोर्चा लेने के लिए विवश कर दिया। उसने सरकार के विरुद्ध आदिवासी आन्दोलन को संगठित करने और साथ ही अन्य पूर्व राजाओं को साथ में लेने का काम प्रारंभ कर दिया। अबुझमाड़ को "राजाओं" के इस संघर्ष का केन्द्रस्थल बनाने का निर्णय लिया गया। गोंड आदिवासियों को उसकी सनक को पूरा करने के लिए तलवार की मूठ का सहारा लेने तक के लिए गुमराह किया गया। कोई दस हजार आदिवासी लोहारीगुडा में मुकाबले के लिए एकत्र हुए। पुलिस ने गोली चलाई। एक दर्जन से अधिक आदिवासी जान से मारे गये और सैकड़ों जख्मी हुए। अपने पक्ष और समर्थन को मजबूत बनाये रखने के लिए राजा ने उस काल्पनिक कथा को प्रचारित किया कि जो आदिवासी उसके प्रति वफादार नहीं रहेंगे उन्हें स्थानीय देवी दन्तेश्वरी के शाप का शिकार होना पड़ेगा। जगदलपुर में हजारों आदिवासियों ने धरना देना शुरू कर दिया। 10 मार्च 1960 को पुलिस और महाराजा प्रवीण चन्द्र एवं उनके समर्थकों के बीच खूनी संघर्ष हुआ जिसमें अनेक आदिवासी और महाराज मारे गये। यह आन्दोलन बहुत हद तक महाराजा के वैयक्तिक हितों के लिये था इसलिए इसे बिहार और पश्चिम बंगाल के उन आन्दोलनों का दर्जा नहीं दिया जा सकता जो क्रमशः बिरसा और सिद्धू ने किया था।

## बिहार/झारखंड

बिहार/झारखंड और उसके पड़ोसी क्षेत्रों में संगठित किये गये आन्दोलनों में बिरसा आन्दोलन अधिक प्रसिद्ध और व्यापक था। इसका विस्तृत उल्लेख "असन्तोष और विद्रोह" नामक अध्याय में किया गया है। महत्त्व की दृष्टि से बिरसा आन्दोलन के बाद दूसरी श्रेणी में "ताना भगत आन्दोलन" आता है क्योंकि इसका महत्त्व न केवल बहुआयामी था वरन् इसके निहितार्थ भी दूरगामी परिणामों के परिचायक थे।

ओराओं नामक पड़ोसी जनजाति "ताना भगत आन्दोलन" का केन्द्र बिन्दु थी। यह एक सामाजिक-सुधारात्मक आन्दोलन के साथ-साथ एक आवेशपूर्ण सामाजिक एवं राजनीतिक हलचल थी जिसमें निहित परिणाम दूरगामी महत्त्व के थे। ओराओं का

अपना विशिष्ट धर्म है जिसमें उनका अपना पृथक् देवकुल, पुरोहित व्यवस्था पर्व-त्योहार और विस्तृत अनुष्ठान-पद्धति है। "धर्मेश" उनके प्रमुख देवता हैं। संयोगवश बिहार के अनेक हिस्सों में "भगत" शब्द का प्रयोग सयाना या भूत साधना करने वाले जोगियों एवं ऐंद्रजालिक जादू-मंतर करने वालों के लिए भी होता है। किन्तु, ओराओं में "भगत" शब्द उन्हीं लोगों के लिए प्रयुक्त होता है तो भगवद् भक्त सम्प्रदाय के होते हैं और शुद्ध संस्कारों को परिपालन करते हैं।

सच्चिदानन्द (1972) सहित अनेक नृ-विज्ञानियों का मत है कि समूचा "भगत आन्दोलन" अपने समुदाय के सदस्यों का सांस्कृतिक उत्थान करके पड़ोसी हिन्दू समाज में उनकी प्रतिष्ठा बढ़ाने का प्रयास था। इस संस्कृतीकरण की प्रक्रिया में अनेक हिन्दू आस्थाओं और रीति-रिवाजों को भी अपनाया गया। किंवदन्ती के अनुसार इसका सूत्रपात अप्रैल 1914 में जात्रा भगत नामक एक 25 वर्षीय युवक ने किया था। माना यह जाता है कि कोई हनुमान ओराओं भी इस आन्दोलन का सह-संस्थापक था। जात्रा भगत "माती" (अभिचार अथवा भूत-प्रेत साधना) बनने का प्रशिक्षण ले रहा था उन्हीं दिनों जब वह एक रात घर लौट रहा था तब "बिरसा" की भाँति एक ज्योतिर्मय स्वरूप के दर्शन हुए जिसे ओराओं लोगों में "धर्मेश" अथवा सर्वेश्वर माना जाता है। "धर्मेश" ने उसे "भूत साधना" और पशुबलि चाहने वाली आत्माओं या देवी-देवताओं, मदिरा, मांस को त्याग कर निरामिष एवं सात्विक होने की आज्ञा दी। इस आन्दोलन में बुरी आत्माओं पर आस्था का निषेध खान-पान संबंधी सात्विकता और सरकार विरोधी रवैया बिरसा आन्दोलन की याद दिलाता है।

इस आन्दोलन का पहला विरोधी स्वर तब सामने आया जब नेता ने अपने अनुगामियों से निर्माण कार्यों में "कुली" का काम न करने का आदेश दिया। इसके बाद उसे गिरफ्तार करके जेल भेज दिया गया। यह समाचार व उसका संदेश जंगल की आग की तरह चारों ओर फैल गया। ताना भगतों में (जिनमें बहुत से लोग ओराओं नहीं भी थे) मसीहा के अवतार लेने में पक्का विश्वास था। यह भी माना जा सकता है कि "भगत-आन्दोलन" के विकास की दो अवस्थाएं थीं। पहली अवस्था में भूत-प्रेत और आत्माओं में रखा जाने वाला विश्वास और उससे संबंधित कर्मकांड खत्म किये गये। दूसरी अवस्था में रचनात्मक कार्यक्रम थे जैसे उसके नये विचार-दर्शन की परिकल्पना की गयी। नये धर्म के अनुगामियों के लिए नये विश्वास, नियम-संयम और आचरणों की संहिता का निर्माण करके उन्हें प्रचारित किया गया।

प्रारम्भ में इस नये धर्म के अनुगामी न सरकार विरोधी थे और न बाहरी या परकीय व्यक्तियों के विरुद्ध थे। वे केवल अपने समाज या समुदाय का सुधार करना चाहते थे। किन्तु जब वह क्षुद्र सरकारी कर्मचारियों और स्वार्थी परकीयों के असद्

व्यवहारों से त्रस्त हुए तब उन्हें भी वैसा ही बर्ताव करना पड़ा। उन्हीं दिनों 1921-1922 में महात्मा गांधी द्वारा संचालित असहयोग आन्दोलन शुरू हुआ और उससे भगत-आन्दोलन में भी पूरा बदलाव आया। ताना भगत आन्दोलन के सभी अनुगामियों पर महात्मा गांधी और उनके उपदेशों का भरपूर असर पड़ा और उन्होंने उससे बड़ी संख्या में खुलकर भाग लिया। जात्रा ओराओं को जेल हुई और इसके विरोध में हिंसा भड़क उठी। उनके जनजागरण को कुचलने के लिए अंग्रेजों को सेना का इस्तेमाल करना पड़ा। द्वितीय महायुद्ध काल में वह अपनी पूरी ताकत के साथ पुनः भड़का। भगतों ने राष्ट्रवादियों और क्रान्तिकारियों को अपना पूरा सहयोग दिया।

भगत आज भी हैं किन्तु, अनेक स्वरूपों में है। "बच्छीदान भगत" अधिकांशतः सम्पन्न ओराओं होते हैं। ये लोग अपेक्षाकृत हिन्दुत्ववादी हैं। "गुसाईं" इनके गुरु और पुरोहित होते हैं। इन्हें "बच्छीदान भगत" इसलिए कहते हैं क्योंकि ये पापों से मुक्ति पाने और कष्टों के निवारणार्थ अपने गुरु को "बच्छी" (गाय की बछिया) दान करते हैं। इनमें से जो लोग वैष्णव हो जाते हैं वे "विष्णु भगत" कहलाते हैं। "नेम्हा" भगतों में आदिवासी और हिन्दू आस्थाओं व रीति-रिवाजों का मिश्रण मिलता है और वे बड़े नियम-संयम से रहते हैं। कबीरपंथी भगत भी हैं जिनमें आध्यात्मिक गुरु बनाने की प्रथा है। ये लोग ओराओं भी हैं और नहीं भी हैं। ये मूर्ति पूजक नहीं हैं और न किसी दैवी प्रतीक की पूजा करते हैं। सच्चिदानन्द (वही) ने बड़े निष्पक्ष भाव से ताना भगत आन्दोलन का वर्णन करते हुए कहा है कि अस्वीकृति, विरोध और सुधार को दृष्टि में रखते हुए, स्पष्ट है कि यह आन्दोलन प्रचलित सामाजिक व्यवस्था के विरुद्ध एक आवेशपूर्ण विरोध का सूचक था। वह सादगी और पवित्रता के हिन्दू एवं ईसाई विचारों से प्रभावित था। महात्मा गांधी के नेतृत्व में संचालित आन्दोलन के प्रभाव में सादगी एक महत्त्वपूर्ण मूल्य माना जाने लगा था। सम्बोध की दृष्टि से इस आन्दोलन का मूल्यांकन आदिवासी भारत में चल रहे प्राकृत और पुनःजीवन संचार संबंधी आन्दोलन के ढाँचे के संदर्भ में किया जा सकता है। "ताना भगत आन्दोलन" अहिंसात्मक विरोध भी था और अनुसरणात्मक (emulative) आन्दोलन भी! विरोध योग्य परिस्थितियाँ अत्यधिक शोषण और ओराओं के सामाजिक अपकर्ष में पहले से मौजूद थीं।

# 21

# अपराध संस्कृति तथा अपराधजीवी जनजातियाँ

इस बात पर सार्वजनिक रूप से विवाद किया जा सकता है कि अपराध एक वंशानुगत प्रक्रिया है परन्तु भारतीय परिप्रेक्ष्य में यह कहा जा सकता है कि कुछ लोग अपराध करने के लिए ही जन्म लेते हैं। अपराध एक वैयक्तिक लक्षण है जिसका सामूहिक या सामुदायिक संचालन नहीं होता। अंग्रेजी राज्य ने अपराधी जनजाति अधिनियम, 1871 के द्वारा कुछ जातियों व जनजातियों को पूर्ण रूप से अपराधी घोषित कर दिया। ए. वी. ठक्कर (1919) के अनुसार "वास्तव में यह कहा जा सकता है कि इन जनजातियों के एक बड़े भाग को अपराधी की संज्ञा देकर उन्हें अपराधों की ओर ले जाया गया।"

भारत की "अपराधी जनजातियों ने अपराध को अपना वंशानुगत लक्षण मानते हुए इस कार्य के लिए एक विस्तृत प्रणाली का विकास किया। अपराधों को इन जनजातियों ने व्यवसाय की भाँति अपनाया तथा असामाजिक गतिविधियों में भाग लेने लगे।"

जनजातियों की गतिविधियाँ अधिकतर उनकी सांस्कृतिक मान्यताओं पर आधारित हैं। कुछ जनजातियों को अपराध की स्वीकृति उनके धार्मिक विश्वासों तथा क्रियाकलापों द्वारा मिलती है। स्वीकृति अधिकतर उनके जनजातीय देवताओं से ली जाती है। उनकी मान्यता के अनुसार ऐसे देवता अपराध करने से प्रसन्न हो जाते हैं।

अंग्रेजी सरकार के समय इन जनजातियों के लोग केवल अपने जन्म के कारण ही अपराधी घोषित कर दिए जाते थे। इन पर तरह-तरह के प्रतिबन्ध थे तथा किसी भी कारण यदि ये लोग स्थानीय पुलिस चौकी में किसी भी समय बुलाये जाने पर यदि न पहुँच पाते तो उन्हें कठोर कारावास का दण्ड दिया जाता था। 1969 में शीलू आओ की रिपोर्ट के अनुसार स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद इन जनजातियों की मुक्ति हुई परन्तु किसी प्रत्यक्ष कारण के बिना ही इन जनजातियों को एक अलग श्रेणी में रखा गया। इनके पिछले अपराधी जीवन की स्मृतियों को मिटाने के उद्देश्य से उन्हें अपराधी

जनजाति अधिनियम 1924 की समाप्ति के बाद दिए गये "पूर्व अपराधी जनजाति" जैसे नाम से मुक्ति दिलाई गई तथा इनको "अधिसूचित जनजाति" (डिनोटीफाइड ट्राइब्स) के नाम से जाना गया। तत्पश्चात् इन जनजातियों को "अधिसूचित समुदायों" का नाम दिया गया। परन्तु यह सत्य है कि इन जनजातियों को दी गई पिछली संज्ञायें इन्हें तब तक मानसिक रूप से परेशान करती रहेंगी जब तक इन्हें शेष समाज से मिलाने का गम्भीर प्रयास नहीं किया जाता। यद्यपि इन जनजातियों के बड़े भाग ने अपराधी जीवन का त्याग कर दिया है, लेकिन अब भी बहुत से जिनकी तलाश पुलिस कर रही है, अपराधी गतिविधियों से अपना जीवनयापन करते हैं।

लगभग पचास ऐसी जनजातियाँ हैं जो पारंपरिक रूप से अपराधी जीवन व्यतीत करती रही हैं तथा ये जनजातियाँ अब समाप्त हो गये "अपराधी जनजाति अधिनियम" के अन्तर्गत पुलिस की निगरानी में रह रही हैं। यह जनजातियाँ सभी धर्मों की हैं जिनमें से अधिकतर हिन्दू व मुस्लिम हैं। उत्तर भारत की अपराधी जनजातियों में "हिन्दू जाति" की जनजातियाँ सबसे अधिक हैं।

## आवास और आबादी

अपराधजीवी जनजातियों की आबादियाँ इस समय उत्तर प्रदेश, मध्य प्रदेश-छत्तीसगढ़, महाराष्ट्र, तमिलनाडु, आंध्र प्रदेश और कर्नाटक में हैं। उत्तर के जम्मू व कश्मीर एवं पूर्व के असम और दक्षिण के केरल राज्यों में उनकी संख्या नगण्य है।

"डीनोटीफाइड" (अधिसूचना में से निकाली गयी) जनजातियों की आबादी के बिल्कुल सही आँकड़े अभी भी उपलब्ध नहीं हैं। 'अपराधजीवी जनजाति अधिनियम जाँच समिति' (Criminal Tribes Act Enquiry Committee) के अनुसार उनकी संख्या अनुमानतः 35 लाख है। पिछड़े वर्ग को सहयोग देने वाले कार्यकरण-समूह के अनुसार उनकी संख्या 35.13 लाख है, और वे विभिन्न राज्यों में निम्नलिखित तालिका के अनुसार बंटे हुए हैं :

| *राज्य का नाम* | *डीनोटीफाइड जनजातियों की आबादी (लाखों में)* |
|---|---|
| उत्तर प्रदेश | 16.70 |
| बम्बई (महाराष्ट्र एवं गुजरात सहित) | 6.30 |
| मद्रास (तमिलनाडु व आंध्र प्रदेश सहित) | 5.90 |
| मैसूर (कर्नाटक) | 2.10 |

| | |
|---|---|
| पंजाब (हरियाणा सहित) | 0.80 |
| मध्य प्रदेश (छत्तीसगढ़ सहित) | 0.80 |
| उड़ीसा | 0.70 |
| पुरानी हैदराबाद रियासत के क्षेत्र | 0.70 |
| राजस्थान | 0.70 |
| पश्चिमी बंगाल | 0.26 |
| बिहार (झारखंड सहित) | 0.13 |
| दिल्ली | 0.40 |
| कुल योग | 35.13 |

एक अनुमान के अनुसार इस समय इनकी जनसंख्या लगभग 60 लाख है। राज्यों को वे जिन जनजातीय समुदायों को "डीनोटीफाइड" जनजाति समझना उचित मानते हैं, उनकी अधिसूचना जारी करने का अधिकार है। समुदाय या जातियों के मामले में अलग-अलग राज्यों की सूचियों में भिन्नताएं हैं। कुछ जातियाँ जो "डीनोटीफाइड" वर्ग में सूचीबद्ध हैं, उन्हें राज्यों ने उद्देश्य विशेष की पूर्ति संबंधी अपने सिद्धान्तों के आधार पर अपनी-अपनी सूचियों में अनुसूचित जाति/अनुसूचित जनजाति के रूप में भी वर्गीकृत कर रखा है।

विभिन्न राज्यों में "डीनोटीफाइड" समुदायों की तालिका निम्नलिखित हैं :

| *राज्यों का नाम* | *समुदायों या जातियों की संख्या* |
|---|---|
| आंध्र प्रदेश | 65 |
| बिहार (झारखंड सहित) | 10 |
| गुजरात | 34 |
| हरियाणा | 6 |
| हिमाचल प्रदेश | 1 |
| मध्य प्रदेश (छत्तीसगढ़ सहित) | 41 |
| उड़ीसा | 8 |
| कर्नाटक | 106 |
| पश्चिम बंगाल | 6 |
| महाराष्ट्र | 35 |

| | |
|---|---|
| राजस्थान | 26 |
| उत्तर प्रदेश | 36 |
| तमिलनाडु | 66 |

इस प्रकार की जनजातियाँ, जो उत्तरी तथा मध्य भारत में इधर-उधर घूमती रहती हैं, उनमें से महत्त्वपूर्ण जनजातियाँ हैं बावरिय, भाटू, बेरिया, भेड़कुट, डोम, हबूरा, हरनी, कँजड, करवाल, मीना, महतम, पारवीवारा, टागू तथा सांसी। दक्षिण भारत की येरकुला तथा सुगाली जनजातियाँ ऐसी महत्त्वपूर्ण जनजातियाँ हैं जो इस श्रेणी में आती हैं।

## उद्भव

अन्य जातियों तथा जनजातियों की भाँति, तथाकथित अपराधी जनजाति के उद्भव से संबंद्ध कोई तथ्य या जानकारी नहीं है। इन जनजातियों के नृजातीय संरचना के बारे में बहुत कम जानकारी उपलब्ध है। मजूमदार के अनुसार यह घुमक्कड़ तथा स्वेच्छाचारी जनजातियाँ सजातीय नहीं हैं। यह कई जनजातियों के मिले जुले समूह हैं। महत्त्वपूर्ण जातियों के शारीरिक लक्षण इन समूहों में अलग-अलग अनुपात में पाये जाते हैं। भार्गव (1949) के अनुसार अपराधी जनजातियों ने कभी भी अलग मान्यता या पहचान की बात पर अधिक ध्यान नहीं दिया जैसाकि भारत की अन्य उत्साही जातियों व जनजातियों ने किया। शरणार्थियों, साहसी तथा निष्कासित व्यक्तियों के इनमें मिल जाने से इन जनजातियों की संख्या बढ़ गई है। इन जनजातियों के द्वार ऐसे लोगों के लिए सदैव खुले रहते हैं।

एक विचारधारा के अनुसार यह अपराधी जनजातियाँ जिप्सी शृंखला की हैं। जिप्सी जनजाति पूरे विश्व में पायी जाती हैं। इस संपूर्ण जनजाति का मूल उद्भव एक ही माना जाता है परन्तु वर्तमान समय में यूरोप व विश्व के अन्य भागों में पाये जाने वाले जिप्सी समुदाय से इन अपराधी जनजातियों के संबंधित होने के ठोस प्रमाण नहीं हैं। एक अन्य विचारधारा के अनुसार अपराधी जनजातियों का उद्भव प्राचीन आदिवासियों से हुआ है। यह आदिवासी मध्य एशिया के रहने वालों के आक्रमणों के कारण इधर-उधर हो गये। ऐसे आदिवासी जिनको रहने का समुचित स्थान नहीं मिला, इधर-उधर घूमते रहे। समय के साथ साथ घूमना उनके जीवन का एक अभिन्न अंग बन गया तथा इस प्रकार का यायावरी जीवन इन्हें रास आ गया। इनमें से कुछ लोगों को अपनी ईमानदारी की कमाई छोड़कर चोरी करना अधिक आसान प्रतीत हुआ। जैसा कि भार्गव (वही) हमें बताते हैं कि अधिकतर हिन्दू अपराधी जनजातियाँ

चित्तौड़गढ़ राजपूताना के राणा प्रताप को अपना पूर्वज मानती हैं। एक किंवदन्ती के अनुसार यह जनजातियाँ 1308 ई. में अलाउद्दीन खिलजी द्वारा चित्तौड़गढ़ की घेराबन्दी की घटना को अपने सामाजिक पतन का उत्तरदायी ठहराती हैं। अपने को तथा अपने धर्म को इस्लाम से बचाने के प्रयास को ये लोग अपनी यायावरी प्रवृत्तियों का कारण मानते हैं।

हमारे सामने जो प्रमाण हैं, उनसे यह स्पष्ट रूप से पता चलता है कि घुमक्कड़ जनजातियों ने समाज के सभी भागों के लोगों को अपने साथ सम्मिलित किया है जिसके कारण विभिन्न अपराधी जनजातियों के सामाजिक उद्‌भव का विवरण अलग-अलग है। इन जनजातियों के पिछले जीवन या इसके पूर्वजों से संबंधित ऐतिहासिक जानकारी बहुत कम है। फिर भी भार्गव ने बहुत-सी ऐसी किंवदन्तियाँ एकत्र की हैं जो इनके उद्‌भव तथा पिछले जीवन पर कुछ प्रकाश डालती हैं।

कुछ विद्वानों ने बावरिया शब्द को हिन्दी के बावला या बावरा शब्द से जोड़ा है। ऐसा कहा जाता है कि चित्तौड़गढ़ छिन जाने के बाद से राजपूत जंगलों की ओर चले गये जहाँ पर उन्हें यायावरी जीवन व्यतीत करना पड़ा। इन्हीं में से एक राजपूत युवक को किसी राजपूत सेविका से प्रेम हो गया। दोनों का विवाह भी हो गया। कन्या के माता-पिता के विरोध के पश्चात् भी वह अपना यायावरी जीवन नहीं त्याग सका जिसके कारण सब उसे बावला या पागल कहने लगे। कालान्तर में उसके वंशज बावरिया कहलाये। मराठों के समय इन लोगों ने खूब डकैतियाँ डालीं। बावरी जनजाति पर मद्रास पुलिस द्वारा प्रकाशित एक लेख के अनुसार शब्द बावरी अपने मूल शब्द बावड़ी या बावली से निकला है जिसका अर्थ है तालाब। ऐसा कहा जाता है कि यह लोग किसी बड़े तालाब या बावली के किनारे रहते थे जिसके कारण ये लोग बावरिया के नाम से प्रसिद्ध हो गये।

भाटू जनजाति के बहुत से लोगों ने हाल ही में इस्लाम तथा ईसाई धर्म स्वीकार किया है। कुछ विद्वानों के विचार से इस जनजाति का नाम संस्कृत के "भाँति" शब्द से निकाला गया है, 'भाँति' शब्द का अर्थ है विभिन्न प्रकार, तरह-तरह, अलग-अलग। नेसफील्ड के अनुसार भाटू शब्द हिन्दी के "बाहूटोर" शब्द से लिया गया है जिसका अर्थ बाँह तोड़ने वाले। इस बात का विचार नेसफील्ड को भाटुओं की उस कला से आया होगा जिसके द्वारा यह अपने विरोधियों की बाँह तोड़ देते हैं। मुस्लिम भाटू केवल मृतक को दफनाने के संदर्भ में अन्य भाटुओं से भिन्न हैं तथा इस्लाम की मान्यता के विरुद्ध यह लोग सुअर का मांस खाने में कोई बुराई नहीं समझते।

जिप्सी मूल की बहुत सी यायावर जनजातियों को "कंजड़" की संज्ञा दी जाती है।

क्रुक "कंजर" शब्द का आधार संस्कृत के "कननन्वरा" को मानते हैं जिसका अर्थ है वनों में घूमने वाले। पंजाब व राजपूताना में रहने वाले कंजड़ों का मानना है कि मूल रूप से ये लोग जाटों तथा राजपूतों के यहाँ भाँडों का काम करते थे। धीरे-धीरे कार्य से इनकी आय कम होती गयी जिसके कारण विवश होकर उन्हें आय के अन्य स्त्रोत खोजने पड़े।

इसी प्रकार अन्य अपराधी जनजातियों के उद्‌भव से संबंधित कई किंवदन्तियाँ हैं परन्तु ऐतिहासिक तथ्यों की कमी तथा परस्पर विरोधी दावों के कारण उनकी प्रामाणिकता का कोई ठोस आधार नहीं है।

## कानूनी पक्ष

*द इन्साइक्लोपीडिया ऑफ सोशल वर्क इन इंडिया* (खण्ड III) में कालक्रमानुसार विस्तृत उल्लेख करते हुए बताया गया है कि उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारंभिक वर्षों में ठगों और डाकुओं के आतंक के कारण उत्तरी भारत में अभूतपूर्व असुरक्षा की स्थितियाँ थीं। चारों ओर फैले संगठित अपराध की कार्यवाइयों को दबाने व रोकने के लिए तत्कालीन सरकार को अनेक प्रभावी कदम उठाने पड़े। 1839 में सरकार ने ठगी और डकैती से निपटने के लिए एक विशेष विभाग गठित किया। इस विभाग की कुछ विशेष कार्रवाइयों के फलस्वरूप यह तथ्य सामने आया कि उत्तर भारत की कुछ खास आदिमजातियाँ, उदाहरणार्थ मीना जाति समुदाय, मुख्य रूप से संगठित अपराधों, चोरियों, लूट और डकैतियों के लिए जिम्मेदार थीं। इन आदिमजातियों के आपराधिक कार्यों को रोकने और इन पर नजर रखने के लिए पहला अपराधजीवी जनजाति अधिनियम, 1871 पारित किया गया।

इससे पहले 1793 में विनियम XXII द्वारा मजिस्ट्रेटों को यह अधिकारिता दी गयी थी कि वे विनिर्दिष्ट जनजातियों के लोगों को संगठित या व्यवस्थित अपराध करने, आवारागर्दी करने या संदिग्ध गतिविधियों के लिए अविलम्ब दण्ड दे सकते थे। 1860 की भारतीय दंड संहिता (आई. पी. सी.) और 1861 की दाण्डिक प्रक्रिया संहिता (सी. पी. सी.) लागू हो जाने के बाद उपर्युक्त 'समरी पॉवर्स' अर्थात् अविलम्ब दण्ड देने की अधिकारिता वापस ले ली गयी।

## अपराधजीवी जनजातियाँ अधिनियम, 1871

इन नियम के अनुसार किसी गिरोह, जनजाति अथवा व्यक्तियों के वर्ग को जरायम पेशा घोषित करने से पहले गवर्नर-जनरल को पर्याप्त कारणों से युक्त प्रतिवेदन देना अनिवार्य था। यह भी नियत किया गया था कि उन जरायम पेशा लोगों को, जो एक

निश्चित निवास स्थान पर जीवन नहीं व्यतीत करते थे, को स्थापित करने के संतोष-जनक प्रबन्ध किये जायें। प्रतिवेदन में यह भी बताना जरूरी था कि किसी स्थान विशेष पर बसा दिए जाने के बाद उन जनजातियों के जीवन-निर्वाह के साधन संबंधी क्या प्रबन्ध किये गये हैं। उस अधिनियम में जरायम पेशा जातियों की संतानों को उनसे अलग रखने की कोई व्यवस्था नहीं थी; हालाँकि इस बारे में परिषद में बहस के दौरान इसकी चर्चा अवश्य की गयी थी। हालाँकि, इस अधिनियम की व्यवस्थाओं ने बसायी गयी जरायम जातियों को नियंत्रित करने में काफी सहायता दी थी, फिर भी इस करार या निर्णय को दृष्टि में रखते हुए कि उन्हें किसी ऐसे स्थान पर; जिससे सरकार भी संतुष्ट हो, बसाने के लिए आवश्यक प्रबन्ध किये जाने चाहिएं। दस्यु या अपराधी प्रवृत्ति वाली जनजातियों पर काबू नहीं पाया जा सका।

इस अधिनियम को लागू करते समय सांसी जनजाति द्वारा अनेक गम्भीर अपराध किये गये। इस पर उत्तर-पश्चिम के प्रान्तों की सरकारों ने पुलिस समिति नियुक्त की जिसकी संस्तुतियों के आधार पर भारत सरकार ने 1871 के जरायम पेशा जनजाति अधिनियम में संशोधन करने का निर्णय किया।

## अपराधजीवी जनजाति (संशोधन) अधिनियम, 1897

अन्य बातों के साथ, संशोधित अधिनियम में विशिष्ट अधिकारियों पर जरायम पेशा जनजाति के लोगों के दूसरे या तीसरे जुर्म पर न्यूनतम शास्ति (पेनाल्टी) की व्यवस्था की गयी। स्थानीय सरकारों को जरायम पेशा जनजाति के 4 से लेकर 18 वर्ष तक की आयु के बच्चों को उनके माता-पिता से अलग करके विशेष रूप से स्थापित "सुधारालयों" में रखने की अधिकारिता दी गयी।

## अपराधजीवी जनजाति अधिनियम, 1911

भारत सरकार द्वारा 1902-03 में नियुक्त भारतीय पुलिस आयोग 1871 के अधिनियम की उन खामियों को प्रकाश में लाया गया जिनके कारण उसका व्यापक स्तर पर इस्तेमाल नहीं किया जा सकता था। उसने जरायम पेशा जनजाति अधिनियम में एक ऐसी धारा जोड़ने की सिफारिश की जिसके द्वारा अधिसूचित अपराधी गिरोह का साधारण पंजीकरण करने तथा बालिग पुरुष सदस्यों की उंगलियों की छाप लेने का अधिकार दिया गया। भारतीय पुलिस आयोग की सिफारिश को ध्यान में रखते हुए कांसिल में 1871 के अधिनियम को बदलने के उद्देश्य से एक विधेयक पेश किया गया। यह भी महसूस किया गया कि अपराधजीवी जनजातियों द्वारा की जाने वाली अपराधी कार्यवाहियों को रोकने के लिए उन्हें एक साथ सम्मिलित नहीं किया जा

सकता क्योंकि वे वर्गों में बंटी नजर आती है : (1) वे जो मूलतः अपराधी प्रकृति की थीं किन्तु अब कुछ अपवादों को छोड़कर ईमानदारी की जिन्दगी बसर करने के लिए स्थान विशेष पर बस गईं। (2) वे जिन्होंने अस्थायी पड़ाव डाल रखे थे लेकिन अपराध करते रहते थे और (3) घुमन्तू जनजातियाँ जो मौका मिलने पर जुर्म करते रहते थे।

नये अपराधजीवी जनजाति अधिनियम, 1911 के अंतर्गत स्थानीय सरकारों को विस्तृत अधिकार दिये गये। अब वे किसी भी जनजाति को बिना उसके लिए बस्ती या जीविकोपार्जन की व्यवस्था किये, उसे विधिवत ज्ञापन के बाद निरीक्षण और पर्यवक्षण के द्वारा अपराधजीवी जनजाति घोषित कर सकती थीं। जनजाति के सदस्यों को पंजीकरण किया जा सकता था और उनकी उँगलियों के निशान लिये जा सकते थे। संगीन जुर्म की अपराध वृत्ति वाले सदस्यों के लिए कुछ विशेष क्षेत्रों को निषिद्ध किया जा सकता था या उन्हें विशिष्ट प्रकार की बस्तियों में रखा जा सकता था। इस अधिनियम द्वारा माता-पिता से अलग करके रखे जाने वाले बच्चों की न्यूनतम आयु बढ़ाकर 6 वर्ष कर दी गयी।

## अपराधजीवी जनजाति (संशोधन) अधिनियम, 1923

जरायम पेशा जनजाति अधिनियम यों तो केन्द्रीय अधिनियम था किन्तु स्थानीय सरकारों द्वारा उसमें स्थानीय स्थितियों के अनुकूल नये नियम जोड़कर भी अपने यहाँ लागू किया जा सकता था। फिर भी उसके कार्यान्वयन में स्थानीय सरकारों को अनेक समस्याओं का सामना करना पड़ा। इसीलिए, 1919 में एक सम्मेलन आयोजित किया गया जिसमें इस अधिनियम के कार्यान्वयन में आने वाली अड़चनों पर विचार किया गया। 1919 की भारतीय जेल समिति में भी सब कुछ शामिल करते हुए 1911 के जरायम पेशा जनजाति अधिनियम की अमली कार्यवाइयों को निरीक्षण करने या उनकी जाँच करने को कहा गया। भारतीय जेल समिति और उक्त सम्मेलन की सिफारिशों के आधार पर 1923 का जरायम पेशा जनजाति (संशोधन) अधिनियम स्वीकृत किया गया। संशोधित अधिनियम ने स्थानीय सरकारों को यह अधिकार दिया कि वे अपने राज्य क्षेत्र में अथवा स्वीकृति देकर दूसरे राज्यों के क्षेत्रों में जनजातियों को बसा सकेंगी तथा इससे पहले कि किसी जरायम पेशा जनजाति को किसी बस्ती में प्रतिबन्धित किया जाय अथवा उसे अंग्रेजी राज्य के अंतर्गत आने वाले किसी प्रान्त से किन्हीं देशी रियासतों में स्थानांतरित किया जाये, उसकी पूरी जाँच व छान-बीन कर लेना आवश्यक घोषित किया गया। जहाँ तक अधिनियम के कार्यान्वयन का संबंध था भारत सरकार ने यह स्पष्ट कर दिया था कि इस मामले में प्रान्तीय सरकारों के कार्य में कोई हस्तक्षेप नहीं किया जायेगा किन्तु अधिनियम को इस प्रकार लागू किया

जाना चाहिए कि उसके जरिए प्रभावी ढंग से आपराधिक घटनाओं को रोका जा सके, जनजातियों के साथ मजदूरी, आवास व्यवस्था आदि मामले में यथोचित न्याय बरता जाय जिससे उन्हें सुधरने व परिष्कृत होने का पूरा अवसर मिल सके।

## अपराधजीवी जनजाति अधिनियम, 1924

1924 में अनेक भारतीय रियासतों ने जरायम पेशा जनजातियों से निपटने के लिये प्रान्तों की तत्संबंधित कानूनी व्यवस्थाओं के अनुसार अपने यहाँ कानून बनाये। विशेष रूप से 1923 के संशोधन अधिनियम के अनुरूप जरायमपेशा जनजातिं अधिनियम में महत्त्वपूर्ण संशोधन कर लिये गये थे। इस सब बातों से इस आवश्यकता को महसूस किया गया कि जरायमपेशा जनजातियों से संबंधित सम्पूर्ण विधान का समेकन कर दिया जाय। परिणामस्वरूप, 1924 का जरायमपेशा जनजाति (संशोधन) अधिनियम पास किया गया।

## अपराधजीवी जनजाति (संशोधन) अधिनियम, 1947

विभिन्न कानूनी कार्यवाइयों और जनजातियों के सदस्यों में बढ़ती हुई जागरूकता के कारण उनमें शिक्षा का प्रसार हुआ और उनमें से अधिकांश शिक्षित होकर विधि सम्मत व्यवहारों को अपना कर सामान्य नागरिकों की भाँति रहने लगे। जनजातियों में हुए प्रवृत्ति-संबंधी इस परिवर्तन के कारण सरकार और आम जनता दोनों में उनके प्रति काफी सहानुभूति पैदा हुई। सामाजिक कार्यकर्त्ता तो विशेष रूप से उनके प्रति संवेदनशील हो गये। सद्भाव का वातावरण बना और यह अनुभव किया गया कि अधिनियम की कुछ अवस्थाओं को समाप्त कर दिया जाये। फलस्वरूप 1946 में एक गैर-सरकारी सदस्य का विधेयक स्वीकार किया गया जिसमें अधिनियम की 23वीं धारा में यह संशोधन करने की माँग की गयी कि दूसरे या तीसरे जुर्म के वर्धित दण्ड को न्यूनतम रखा जाय। यह भी महसूस किया गया कि किसी पूरे जनजातीय समुदाय को अपराधजीवी न घोषित किया जाय। इस प्रकार 1947 का अपराधजीवी जनजाति (संशोधन) अधिनियम स्वीकृत किया गया जिसमें दूसरे और तीसरे अपराध के लिए निर्दिष्ट न्यूनतम दण्ड को उन्मूलित कर दिया गया।

## अपराधजीवी जनजातियाँ और अधिसूचित जनजातियाँ

1924 का केन्द्रीय अधिनियम कुछ उपयुक्त परिवर्तनों अथवा उपांतरणों के साथ प्रान्तों में भी लागू होता था। इसलिए मद्रास और बम्बई की सरकारों ने विभिन्न समयों पर उसके कार्यान्वयन में कुछ संशोधन भी किये थे। मद्रास के जरायमपेशा

जनजाति (संशोधन) अधिनियम, 1943 में पहली बार उदारता बरती गयी और "जरायमपेशा जनजातियों" को "अधिसूचित जनजातियों" का नाम दिया गया। दंड में आंशिक कमी, अभियुक्त को विनिर्दिष्ट बस्तियों में बसाना, बच्चों को माता-पिता से अलग करके सुनिश्चित विद्यालयों में रखना आदि की रियायती व्यवस्थाएं भी की गयी थीं। कुछ राज्यों ने जरायमपेशा जनजाति अधिनियम के स्थान पर "आभ्यासिक अपराधी अधिनियम" का इस्तेमाल करना पसंद किया।

## अपराधजीवी जनजाति अधिनियम का निरासन

देश को आजादी प्राप्त होने के बाद शोचनीय स्थितियों में जी रहीं तथाकथित अपराधजीवी जनजातियों के प्रति सरकार के दृष्टिकोण में अनुकूल परिवर्तन हुआ और यह महसूस किया गया कि अपराधजीवी जनजाति अधिनियम की व्यवस्थाएं स्वतंत्र भारत के गौरव और गरिमा से मेल नहीं खातीं। इसलिए इस दिशा में पहले कदम के रूप में भारत सरकार ने सितम्बर 1949 में एक अपराधजीवी जनजाति अधिनियम जाँच समिति नियुक्त की जिसके अध्यक्ष अनन्त शयनम अयंगर थे। इस समिति का उद्देश्य अधिनियम और उसके कार्यान्वयन की जाँच करने के साथ-साथ उसमें आवश्यक संशोधन करने या उसके निरसन अथवा निर्लोप आदि करने के बारे में अपनी संस्तुतियाँ प्रस्तुत करना था।

अयंगर समिति की संस्तुतियाँ, जो सामाजिक कानूनी प्रकृति की थी, के आधार पर 1924 का जरायम पेशा जनजाति अधिनियम 1952 में विखण्डित कर दिया गया और उसके स्थान पर "अभ्यासिक अपराधी अधिनियम" लागू किया गया जिसके अनुसार दण्ड संबंधी विचार करने का अधिकार केवल उन्हीं लोगों के लिए इस्तेमाल में लाया जा सकता है जो आदतन अपराध करते थे। इससे एक आधारभूत परिवर्तन हुआ। अपराध की जिम्मेदारी अब पूरे समुदाय से हटकर केवल व्यक्ति विशेष की हो गयी।

अपराधजीवी जनजाति अधिनियम के विखंडित या खत्म हो जाने से जो जातीय समूह उसके अन्तर्गत अनुज्ञापित थे उन्हें विमुक्त जातियाँ कहा जाने लगा। लेकिन 1953 में सरकार द्वारा नियुक्त "पिछड़ा वर्ग आयोग" ने भूतपूर्व अपराधजीवी जनजातियों की स्थिति और कल्याण संबंधी जरूरतों पर भी विचार किया। इस आयोग ने सिफारिश की कि जनजातियों के नाम पर किसी प्रकार का कलंक का टीका न लगाया जाय एवं न इन्हें "अपराधजीवी" कहा जाय और न "विमुक्त जाति" की संज्ञा दी जाय। यह भी प्रस्तावित किया गया कि उन्हें Denotified Communities अर्थात् "अधिसूचना से अलग किये गये समुदाय" कहा जाय। विभिन्न सामाजिक कार्यकर्ताओं से भी इस प्रकार के सुझाव प्राप्त हुए। इन सभी प्रस्तावों के फलस्वरूप

एवं इन जनजातियों पर से आपराधिक कलंक को मिटाने की दृष्टि से अब उन्हें सरकारी तौर पर "डीनोटीफाइड ट्राइब्स" कहकर पुकारा जाता है।

## सांस्कृतिक वातावरण तथा अपराधों का सूत्रपात

भुखमरी, इन अपराधों के सूत्रपात का मुख्य कारण है। इसके अतिरिक्त जीवन का निम्न स्तर, नैतिकता तथा नागरिकता की भावना का अभाव जैसे अन्य कई कारक हैं जो अपराधों को बढ़ावा देते हैं। इनकी मुक्त जीवनशैली भी, जिस पर किसी प्रकार का सामाजिक बन्धन नहीं हैं, इनके अपराधी होने में सहायक होती है। इस प्रकार की परिस्थितियों में एक सामान्य मनुष्य भी अपराधों की ओर अग्रसर हो सकता है। इन परिस्थितियों में विकसित अपराध के प्रति विकृत विचार इस प्रक्रिया को पूरा कर देते हैं। इन जनजातियों के बीच अपराधियों को एक सम्मानित स्थान प्राप्त है। यह लोग अपराधों को केवल परंपरागत व्यवसाय मानकर ही नहीं अपनाते वरन् इसके साथ-साथ अपनी कम आय को बढ़ाने की इच्छा भी जनजातियों को अपराध करने के लिए प्रेरित करती हैं। इसके साथ-साथ यायावरी जीवन का जोखिम व "आनन्द" तथा निश्चित जीवन की "नीरसता" का डर भी कुछ ऐसे तथ्य हैं जो इन जनजातियों को इस प्रकार का जीवन बिताने के लिए प्रेरित करते हैं। सामाजिक घेरे के "बाहर" रहने वाली इन जनजातियों में समाज के प्रति घृणा की भावना है।

इन जनजातियों के लोग केवल स्वयं ही अपराध नहीं करते बल्कि लोग अपने बच्चों को भी अपराध करने के लिए विधिवत रूप से प्रशिक्षित करते हैं। जब तक यह बच्चे बाहर निकल कर अपराध करने में पूर्णतया सक्षम नहीं हो जाते इन्हें हर प्रकार का उत्तम प्रशिक्षण दिया जाता है। जनजातीय महिलायें तथा कुछ ऐसे पुरुष जो अपराध करने के व्यावहारिक पहलुओं से भिज्ञ हैं, प्रशिक्षक का कार्य करते हैं। बचपन से ही इनके मस्तिष्क में यह बात कूट-कूट कर भर दी जाती है कि अपराधों के जरिये जीवनयापन करना इनका परम कर्त्तव्य तथा जन्मसिद्ध अधिकार है। इन्हें यह भी बताया जाता है कि यद्यपि अपराध करने से समाज में कठिनाइयाँ उत्पन्न होती हैं फिर भी हमें अपने परम-कर्त्तव्य से पीछे नहीं हटना चाहिए। इन जनजातियों में अपराध करना एक सम्मानित बात है। अलग-अलग तरह के अपराधों में सफलता प्राप्त करने वालों को यथावत सम्मानित करने की भी प्रथा है। ऐसा व्यक्ति जिसकी अपराधों में रुचि नहीं है, सम्मानित दृष्टि से नहीं देखा जाता तथा उसे "कायर" की संज्ञा दी जाती है।

बावरिया जनजाति के लोगों का कहना है कि वे लोग अपने आप या स्वयं अपराध करने की बात नहीं सोचते। जब उन्हें उनके देवताओं या पूर्वजों की आत्माओं से

अपराध करने की प्रेरणा मिलती है तो उन्हें ऐसा करना ही पड़ता है। भार्गव के अनुसार सभी बच्चों को अपने गले में सोने की अंगूठी या सिक्कों जैसी छोटी-छोटी वस्तुएँ छिपाने का प्रशिक्षण दिया जाता है। छोटी-छोटी कन्याओं को आन्तरिक परिधानों में वस्तुओं को छिपाने का प्रशिक्षण दिया जाता है जिससे कि इन्हें ढूंढ़ना आसान न हो। कुछ महिलायें वस्तुओं को अपनी योनि में छुपाने के कार्य में सक्षम होती हैं।

उपरोक्त कथन से यह प्रमाणित होता है कि अपराधों का प्रारम्भ कम आयु में ही हो जाता है तथा इनका सांस्कृतिक वातावरण इन अपराधों को करने के लिए प्रेरित करता है जिनके कारण थोड़े समय में ही ये लोग अपराध करने में दक्ष हो जाते हैं। इन जनजातियों के जीवन के बारे में जानकारी देने के उद्देश्य से यहाँ पर कंजड़ तथा बावरिया जैसी दो महत्त्वपूर्ण अपराधी जनजातियों के विषय में विस्तृत रूप से चर्चा की जा रही है।

## कंजड़ों में अपराध

अपनी जनसंख्या तथा विचरण करने के विस्तृत क्षेत्र के कारण कंजड़ जनजाति भूतपूर्व "अपराधी जनजातियों" में से एक महत्त्वपूर्ण जनजाति है। ये लोग अधिकतर उत्तर प्रदेश, महाराष्ट्र, राजस्थान तथा मध्य प्रदेश-छत्तीसगढ़ में रहते हैं। इसके अतिरिक्त ये लोग पंजाब तथा आंध्र प्रदेश में भी घूमते रहते हैं। दक्षिण भारत के कंजड़ों को "दक्षिणी कंजड़" कहा जाता है। देश के विभिन्न भागों में ये लोग बिजोरियानट, कबूतरीनट, माननट, तथा बन्चछड़े आदि अलग-अलग नामों से जाने जाते हैं। इन जनजातियों की महिलायें शारीरिक कमाल का प्रदर्शन करती हैं तथा धन एकत्र करती हैं। पुरुष इन कलाबाजियों के प्रदर्शन में ढोल बजाते हैं।

चोरी तथा उठाईगीरी से जीवनयापन करने वाले ये कंजड़ अपने कार्यों में बहुत दक्ष हो गये। इसके साथ-साथ यह लोग बहुत कठोर व साहसी प्रकृति के होते चले गये।

जे.सी.दीक्षित (1964) ने मध्य प्रदेश में घूमने वाले इन कंजड़ों के अपराध तथा इन अपराधों की प्रणाली के संदर्भ में विस्तृत लेख-चित्र प्रस्तुत किये हैं।

कंजड़, मुख्यतः डकैती, राहजनी, सेंध लगाना तथा चोरी जैसे अपराध करते हैं डकैती डालने के तरीके लगभग एक से हैं। डकैती करने से पहले चुने हुए गाँव की भौगोलिक स्थितियों की विस्तृत जानकारी प्राप्त करते हैं। इसके पश्चात् अपने पुजारी से अपराध करने के बारे में विचार-विमर्श कर शुभ समय निश्चित करते हैं। अपने देवता के समक्ष मुर्गे की बलि चढ़ाकर ये लोग मदिरा का सेवन करते हैं। तत्पश्चात्

लाठियों, फरसों तथा आग्नेयास्त्रों से सुसज्जित होकर आक्रमण के लिए चल देते हैं। डकैती डालने वाले इन दलों में महिलायें नहीं होतीं। इन कार्यों के लिए दिन व समय का चयन अत्यन्त आवश्यक होता है। अधिकतर पूर्णमासी के दो-तीन दिनों के बाद का दिन निश्चित किया जाता है। यह लोग आमतौर पर सायंकाल गाँव में पहुँचकर किसी ग्रामीण को पकड़ लेते हैं और उसे अपने निश्चित लक्ष्य तक पहुँचने का साधन बनाते हैं। वहाँ पहुँच कर यह लोग हवाई फायर करते हैं तथा सड़कों व गलियों में गुलेल की सहायता से पत्थर फेंकते हैं। इस प्रकार ग्रामीणों को भयभीत कर लूट-पाट प्रारम्भ करते हैं। डकैती के पश्चात् ये लोग उसी स्थान पर मल त्याग करते हैं। इनका विश्वास है कि ऐसा करने से इन्हें पकड़ना मुश्किल हो जाता है। अपने उद्देश्य की पूर्ति के बाद ये लोग अपने स्थानों की ओर चल देते हैं। राह में अधिक से अधिक डकैतियाँ डालते हैं। डकैतियों का समय इस प्रकार निश्चिय किया जाता है जिससे कि चाँद की रोशनी इन्हें भागने में सहायता करे। अपने निवास स्थानों पर वापस पहुँचकर सारी संपत्ति महिलाओं को दे दी जाती है। प्रत्येक सफल डकैती के बाद मदिरापान तथा भोज का प्रबन्ध किया जाता है।

राहजनी अधिकतर शाम के समय में की जाती है। बाजार के दिन सायंकाल वापस लौटते लोगों का धन तथा वस्तुएं छीन ली जाती हैं। यह लोग राहजनी की शुरुआत प्रत्येक वर्ष दशहरे के समय करते हैं। इस समय खेतों में उपजी फसल उन्हें छिपने में सहायता करती हैं।

दीक्षित (वही) के अनुसार सेंध लगाना (हाउस ब्रेकिंग) या नकाब लगाना इनका प्रिय धंधा है। इनमें से कुछ तो छत काटने, खिड़कियों की सलाखों को मोड़ने तथा सुराख करने जैसे कामों की सहायता से चोरी करते हैं। ये लोग दरवाजों व खिड़कियों के पटों के बीच की दरारों में हाथ डालकर अन्दर से बन्द दरवाजों को खोल देने में बड़े दक्ष होते हैं। सोती हुई महिलाओं तथा बच्चों के शरीर से आभूषण उतार लेना इनके लिए बड़ा आसान कार्य है।

ये लोग बहुत तेजी से अपना कार्य करते हैं। कई घरों में चोरी करने के पश्चात् तुरन्त वहाँ से चल देते हैं। ये लोग बहुत तेजी से चलते हैं। यहाँ तक कि यदि कोई खतरा या डर हो तो ये लोग एक रात में लगभग 60-70 किलोमीटर का फासला तय कर सकते हैं। चुराई हुई वस्तुओं को व्यवस्थित व सुरक्षित रखने में महिलाएं बहुत महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाती हैं। अधिकतर यह वस्तुएं इनके रहने के स्थानों से दूर जंगलों में मिट्टी के नीचे दबा दी जाती हैं। इन स्थानों का ज्ञान केवल महिलाओं को होता है। आवश्यकतानुसार यह संपत्ति खोदकर निकाली जाती हैं तथा अपने विश्वसनीय लोगों को बेच दी जाती हैं। पुरुषों के गिरफ्तार हो जाने पर महिलायें

वकीलों को नियुक्त कर मुकदमा भी लड़ती हैं। प्रत्येक दल की नेता एक महिला होती है जिसे "पटे • " के नाम से जाना जाता है। यह महिला सभी प्रकार के कार्यों का निर्देशन करती है तथा जेल में बन्द या भागे हुए अपराधियों के हितों की रक्षा करती है।

कंजड़ जनजाति के लोग इस सीमा तक कठोर हो गये हैं कि पुलिस को प्रताड़ित करने की कठिन से कठिन विधियों (थर्ड डिग्री मेथड) का भी इन पर कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ता। गिरफ्तार होने के बाद भी ये लोग आसानी से कुछ भी स्वीकार नहीं करते या पुलिस को किसी प्रकार की जानकारी नहीं देते हैं। इन कठोरताओं के लिए उन्हें बचपन से प्रशिक्षण मिलता है। पिता द्वारा अपने पुत्र को बुरी तरह से पीटा जाना, बाँध कर रखना, कई-कई दिनों तक भूखा रखना, इन्हें कठोर बनाने के प्रशिक्षण का एक महत्त्वपूर्ण भाग है।

## बावरियों में अपराध

प्राचीन में बावरिया जनजाति दिन-दहाड़े डकैती डालने के लिए प्रसिद्ध थी। अब इस जनजाति ने तुलनात्मक रूप से कम हिंसा वाले तथा अधिक लाभकारी अपराध अपनाये हैं, जिनमें इनकी गिरफ्तारी कठिन हो गई है। अधिकतर ये लोग अनपढ़ हैं तथा समस्त भारत में फैले हुए हैं। इसके पश्चात् भी इन जनजातियों ने अपनी भाषा, रीति-रिवाज तथा सांकेतिक शब्दों को एक-सा बनाये रखा है जिसके कारण अपनी समस्त जनजाति के बीच एक सुचारु संबंध बनाने में ये लोग सक्षम हैं।

उत्तर भारत की बावरिया जनजाति शिविरों में चोरी करने के लिए प्रसिद्ध हैं। ये लोग अधिकतर सरकारी अफसरों के शिविरों में चोरियाँ करते हैं तथा शिविरों में चोरी करने वाले तथा शिविर काटने वाले समुदायों में ये सबसे चतुर व चालाक माने जाते हैं। ये लोग सेंध लगाकर चोरी करने में भी दक्ष होते हैं। इस संदर्भ में इन लोगों के बीच एक अत्यन्त रुचिकर परंपरा है। इसके अनुसार ये लोग चोरी के लिए निश्चित मकान पर लगातार तीन छोटे पत्थर फेंकते हैं। ऐसा यह सुनिश्चित करने के लिए किया जाता है कि मकान में रहने वाले सभी लोग गहरी नींद में हैं, यद्यपि यह परंपरा संभवतः बचाव की दृष्टि से बनायी गयी प्रतीत होती है, बावरिया जनजाति इस परंपरा का भिन्न कारण बताती है। उसके अनुसार पत्थर फेंकने की प्रक्रिया से ये लोग अपनी कार्यप्रणाली निश्चित करते हैं। यदि इस चेतावनी से घर के लोग जाग जाते हैं तो यह माना जाता है कि घर में परिश्रम तथा ईमानदारी से धन कमाया गया है। यदि इस चेतावनी के पश्चात् भी घर में कोई नहीं जागता तो इसका अर्थ है कि इस घर में बेईमानी तथा छल-कपट से धन संग्रह किया गया है। इस प्रकार जब कोई नहीं जागता

तब यह लोग अपनी चोरी को न्यायोचित मानते हैं। कभी-कभी ये लोग मुनियों व योगियों के वेश में तीर्थ यात्रियों के शिविरों में चले जाते हैं तथा आभूषण व अन्य मूल्यवान वस्तुएं चुरा लेते हैं।

इस जनजाति में चोरी का विशेष रूप से प्रचलन है परन्तु ये लोग चोरी तभी करते हैं जब इन्हें अधिक धन या संपदा मिलने की आशा होती है। इस प्रकार की चोरी के अभियान की तैयारी से पूर्व शुभ समय व सगुन का विचार उबले गेहूं के दानों को गिनकर किया जाता है। यदि सगुन या अच्छा समय हो तो ये लोग अपनी आवश्यकतानुसार वेश बदल कर अपने अभियान पर निकल जाते हैं। अपराध या चोरी करते समय ये लोग अपने चेहरों पर मुखौटा लगा लेते हैं। जिससे इन्हें पहचाना न जा सके।

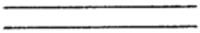
यह जनजाति सेंध लगाने की दो विधियों का प्रयोग करती है। यह विधियाँ हैं--"बगली नकब" तथा "नकब।" प्रथम विधि में यह लोग दरवाजे की चौखट के बगल से मिलाकर कुण्डी की ऊँचाई के बराबर एक छेद करते हैं जिसमें एक हाथ आसानी से जा सकता है। इसमें हाथ डालकर दरवाजे को अन्दर से खोल लिया जाता है।

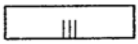
किसी घर के किसी कमरे में रखे हुए धन के निश्चित स्थान की जानकारी होने पर दूसरी विधि का प्रयोग किया जाता है। इस विधि के अन्तर्गत उसी निश्चित स्थान पर सेंध लगाकर बाहर से ही धन चुराने की व्यवस्था है। एक रात्रि में बावरिया जनजाति कई अपराध कर सकती है। ये लोग जनजाति के अतिरिक्त किसी भी बाहरी व्यक्ति के साथ मिलकर अपराध नहीं करते।

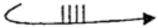
जिस समय बावरिया जनजातियों के निवास-स्थानों या शिविरों की तलाशी होती है ये लोग एक विलक्षण व अजीब सी ध्वनि निकालते हैं। इस ध्वनि की सहायता से ये लोग अपने अन्य साथियों को चेतावनी देते हैं जिससे वे लोग भाग सकें। एक स्थान से दूसरे स्थान की ओर जाते समय इनमें से एक आदमी अपनी छड़ी को जमीन पर घसीटता खींचता हुआ चलता है जिससे कि एक चिह्न बन जाता है। इनके साथी इसी चिह्न के रास्ते का अनुकरण करते हुए निश्चित समय में निश्चित स्थान पर पहुँच जाते हैं। यह तरीका भागे हुए अपराधियों के लिये विशेष रूप से सहायक होता है। जिन क्षेत्रों में सड़कें पक्की हैं या भूमि पर चिन्ह बनाना सरल नहीं है वहाँ पर ये लोग कुछ फर्लांग की दूरी पर बारी-बारी से पत्थरों या पत्तियों के ढेर बना देते हैं जिससे उनके साथियों का मार्गदर्शन होता है।

बावरिया जनजाति अपराध करते समय विभिन्न चिह्नों तथा संकेतों का प्रयोग

करती हैं। उनके द्वारा प्रयोग किए जाने वाले कुछ संकेत निम्न हैं—

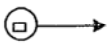

यह चिह्न दल द्वारा चुनी गई दिशा की ओर संकेत करता है।


निकट ही तीन लोग छिपे हैं।


तीर की दिशा में चार लोग गये हैं।

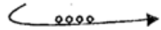

दो व्यक्ति कुएँ में छिपे हैं।


मंदिर में चार व्यक्ति हैं।


संपत्ति या धन प्राप्त हो गया तथा दल तीर की दिशा में गया है।


दल गाँव में मौजूद हैं।


दल तीन दिन तक आस-पास ही रहा और अब नयी दिशा/लक्ष्य की ओर चला गया है।


दल के पास चार सौ रुपये की संपत्ति है तथा दल तीर की दिशा में जा चुका है।

## सुधार व पुनर्वास

तथाकथित अपराधी जनजातियों की समस्याओं का स्थायी हल निकालने के लिए इन जनजातियों की आर्थिक तथा सामाजिक स्थितियों में निरन्तर सुधार लाना आवश्यक है। इसके साथ-साथ इनकी समस्याओं का स्थायी हल, इनकी आपराधिक गतिविधियों पर कड़ी नजर व रोकथाम तथा युवा पीढ़ी की शिक्षा पर भी निर्भर करता है। कुछ असंगतियों व पुनरावृत्तियों के कारण सुधार व पुनर्वास का कार्य सुचारु रूप से नहीं हो सका है। वर्तमान समय में "अधिसूचित समुदायों" (डीनोटीफाइड ट्राइब्स) के नाम से जानी जाने वाली इन अपराधी जनजातियों में जनजातियों के सभी लक्षण विद्यमान हैं परन्तु इन सबको अनुसूचित जनजातियों में सम्मिलित नहीं किया गया। अनुच्छेद 340 के अन्तर्गत गठित "पिछड़ा वर्ग आयोग" ने 1955 में अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत की थी। इस रिपोर्ट में कहा गया कि इन अपराधी जनजातियों/अधिसूचित समुदायों को उनकी स्थितियों के अनुसार अनुसूचित जाति, अनुसूचित जनजाति या अन्य पिछड़े वर्गों में सम्मिलित किया जाना चाहिए। अभी तक इस प्रकार की कोई

व्यवस्था नहीं हो पाई है। इसके कारण एक ही समुदाय को एक ही राज्य के अलग क्षेत्रों में अलग-अलग स्तर मिला है। किसी क्षेत्र में यह जनजातियाँ अनुसूचित जनजाति के अन्तर्गत आती हैं तथा किसी अन्य क्षेत्र में "अधिसूचित समुदायों" के अन्तर्गत आती हैं। इस प्रकार एक ही समुदाय के लोग असंगतियों का शिकार होने पर विवश हैं।

शीलू आओ कमेटी (1969) की रिपोर्ट के अनुसार अन्य अनुसूचित जनजातियों को मिलने वाली सुविधाओं से इन "अधिसूचित समुदाय" के लोगों को, जो कि पूर्णतया: जनजातीय हैं, वंचित रखना सर्वथा संविधान विरोधी तथा पक्षपातपूर्ण हैं।

जन सहानुभूति की कमी इन जनजातियों के सुधार तथा पुनर्वास की योजनाओं को लागू करने की दिशा में सबसे बड़ी बाधा है। दुर्भाग्यवश "अपराधी जनजाति अधिनियम" के उन्मूलन ने कुछ सुधार करने के स्थान पर इन जनजातियों को अपराध करने की छूट ही दी।

## प्रारंभिक कार्य

अपराधजीवी जनजाति अधिनियम की व्यवस्थाओं के अनुरूप जहाँ अनेक कल्याणकारी कदम उठाये गये वहीं विभिन्न राज्य सरकारों द्वारा, यद्यपि सीमित रूप में ही, अनेक सुधारात्मक एवं कल्याणकारी कार्यक्रम भी संचालित किये गये। "सेटलमेन्ट ट्रीटमेन्ट" (निर्धारित बस्तियों में बसाकर किए गये सुधारात्मक प्रयोग) ने अपराधजीवी जनजातियों को अनुशासन के प्रति जिम्मेदार बनाया और बस्ती में या उससे बाहर किये गये कल्याण कार्यक्रमों ने काफी हद तक उनके सामाजिक स्तर को ऊपर उठाया।

अपराधजीवी जनजाति अधिनियम की व्यवस्थाओं के अंतर्गत विभिन्न राज्य सरकारों/प्रांतों ने जरायम पेशा जनजाति के सदस्यों के लिए विशेष प्रकार की कालोनियां स्थापित की थीं। पंजाब में ऐसी नौ कालोनियां थीं, राजस्थान में 17 और भोपाल में 5 थीं, उत्तर प्रदेश, बिहार, हैदराबाद और दिल्ली में एक-एक कालोनी थी इसके अलावा उत्तर प्रदेश में इनके 4 उपनिवेश या बस्तियाँ और पंजाब, बिहार और मध्य प्रदेश में एक-एक बस्ती थी। इन सभी उपनिवेशों अथवा बस्तियों को अधिनियम की धारा 16 के अंतर्गत स्थापित किया गया था।

इन कालोनियों या उपनिवेशों में खेती, कुटीर उद्योगों और अन्य व्यावसायिक प्रशिक्षणों की कुछ सुविधाएं उपलब्ध थीं। इनमें से अधिकतर में उनकी तथा उनके बच्चों की शिक्षा के लिए भी आवश्यक सुविधाएं मौजूद थीं। कुछ कालोनियों में

व्यावसायिक शिक्षा, मनोरंजन और खेलकूद की भी सुविधाएं थीं। कुछ राज्यों में बच्चों को बाल-सुधारक विद्यालयों में भर्ती कराया गया था। हालाँकि ये कालोनियां पुलिस विभाग की निगरानी में रहती थीं फिर भी इनका प्रबन्ध सीधे सरकार द्वारा किया जाता था और कल्याणकारी कार्यक्रम या तो सरकार द्वारा या फिर स्वयंसेवी सामाजिक संगठनों द्वारा चलाए जाते थे।

बंगाल, पंजाब, उत्तर प्रदेश, मद्रास, बम्बई, दिल्ली, बिहार-झारखंड, और उड़ीसा आदि राज्यों में सुधार का काम सुसंगठित था। इसलिए उन स्थानों के अधिवासियों की स्थिति में प्रत्यक्ष परिवर्तन हुआ। उदाहरणार्थ, बंगाल में उन्हें उनकी औद्योगिक बस्तियों में रखा गया। पंजाब में उन्हें खेती के लिए भूमि दी गयी, उसके लिए आवश्यक सामान व साधन प्रदान किये गये, सहकारी ऋण समितियाँ संगठित की गयीं और उनके बच्चों की पढ़ाई के साथ ही उनके लिए भी प्रौढ़ शिक्षा की कक्षाओं का प्रबन्ध किया गया। उत्तर प्रदेश में उनके लिए निःशुल्क शिक्षा, उच्च शिक्षा के लिए सुविधाओं, बुरी आदतों को खत्म करने के लिए "सुधार संबंधी पंचायतों", लघु उद्योगों, सिंचित कृषि और सिलाई आदि से संबंधित रोजगार की सुविधाएं उपलब्ध की गयी थीं और साथ ही, अपनी बस्ती में उनके लिए मनोरंजन और खेलकूद के साधन भी मौजूद थे। सुधारात्मक कालोनियों और अधिवासियों के कल्याण संबंधी कार्यक्रम के सुचारु संचालन के लिए विशिष्ट अधिकारी नियुक्त किये गये थे।

दिल्ली में अपनाई गयी कल्याण योजनाओं में बच्चों के लिए अनिवार्य शिक्षा, प्रौढ़ शिक्षा केन्द्र की स्थापना, कालोनी में स्वच्छता अभियान, सहकारी बचत एवं ऋण समिति और एक सहकारी स्टोर की स्थापना आदि शामिल थे। अधिवासियों के लिए यथोचित रोजगार तलाश करने के प्रयास भी किये जाते थे। बिहार में भी खेती के लिए भूमि आवंटित की गयी तथा एक सहकारी ऋण समिति संगठित की गयी।

मद्रास में उच्चतर प्रारंभिक स्कूल (कुछ बस्तियों में लड़कों व लड़कियों के अलग-अलग) खोले गये; निःशुल्क शिक्षा की व्यवस्था की गयी; बच्चों को दोपहर का भोजन, पुस्तकें व पहनने के लिए पोशाकें प्रदान की गयीं। बम्बई में बस्ती में स्थापित दिन के स्कूलों में सभी बच्चों की उपस्थिति अनिवार्य थी जबकि रात्रि में स्कूलों में वयस्क पुरुषों की उपस्थिति अनिवार्य थी। स्कूलों में बच्चों की समस्त सुविधाएं निःशुल्क मिलती थीं। सहज भेद्य बच्चों (अनाथ अथवा सुधर न सकने योग्य व्यक्तियों की संतानों) को उनके माता-पिता से अलग करके "बाल भवनों" में रखा जाता था। पंजाब में बाल-सुधार स्कूलों की व्यवस्था थी जहाँ अपराधजीवी जनजातियों के बच्चे भेजे जाते थे। अंग्रेजी राज के भीतर आने वाले प्रान्तों के अतिरिक्त कुछ देशी

रियासतों ने भी अपने यहाँ जरायम पेशा जनजाति अधिनियम लागू कर रखा था और इन जातियों के कल्याण के लिए शिक्षा और इनके अलग उपनिवेशों आदि की व्यवस्था कर रखी थी।

## बाद के कार्य

"डीनोटीफाइड" जनजातियों के पुनर्वास तथा उन्हें अपराधियों की संगत से बचाने की समस्या काफी जटिल है। अपराधी प्रवृति तो होती ही है साथ ही वे शिक्षा और आर्थिक दृष्टि से पिछड़े हुए भी होते हैं, खासतौर से वे जातियाँ जो याय्यावार किस्म की होती हैं। 1924 के अपराधजीवी जनजाति अधिनियम के खत्म हो जाने के बाद अर्थात् 1952 से सरकार ने ऐसी योजनाओं को अपनाने में गहरी दिलचस्पी ली जिनके द्वारा "डीनोटीफाइड" जनजातियों को देश की मुख्य आबादी में समन्वित और घुलामिला देने का काम तेजी से हो सके। फिर भी, पूरी तैयारी के अभाव में इस दिशा में केवल थोड़ा-सा काम प्रथम पंचवर्षीय योजना के अन्तर्गत हो सका। यायावर और अर्ध-यायावर जनजातियों के लोगों को एक स्थान पर बसाकर जीवनयापन करने के प्रशिक्षण कार्य पर 102 लाख रुपए खर्च किये गये। प्रथम पंचवर्षीय योजना के दौरान उनके लिए दो आश्रम स्कूल खोले गये जहाँ उनके बच्चों को निःशुल्क शिक्षा, छात्रावास एवं भोजन आदि की सुविधाएं थीं। इनका मुख्य उद्देश्य यह था कि बच्चे अपने से बड़ी पीढ़ी के दुर्गुणों से प्रभावित न हों। "डीनोटीफाइड" जनजातियों के लिए मैट्रिक से आगे पढ़ने वालों के लिए छात्रवृत्ति की व्यवस्था भी की गयी।

दूसरी पंचवर्षीय योजना के अंतर्गत "डीनोटीफाइड" जनजातियों के कल्याण की योजनाएं अंशतः केन्द्रीय सरकार और अंशतः राज्य सरकारों द्वारा कार्यान्वित की गयीं। इन कार्यों के लिए राज्य के क्षेत्र में 202 लाख रुपयों और केन्द्र द्वारा संचालित कार्यों के लिए 110 लाख रुपयों का प्रावधान किया गया। तीसरी योजना की अवधि में, इन जनजातियों के पुनर्वास की तीव्र आवश्यकता को ध्यान में रखते हुए समस्त योजनाओं पर केन्द्र द्वारा संचालित कार्यक्रमों के अन्तर्गत काम किया गया। इन समुदायों की आर्थिक और सामाजिक उन्नति के कार्यों पर बल दिया गया और इन कार्यों के लिए 419 लाख रुपयों की व्यवस्था की गयी। चौथी योजना में भी इन्हीं सब कार्यों को अपनाया गया और इन पर पहले से अधिक 439 लाख रुपयों की व्यवस्था की गयी।

पांचवी पंचवर्षीय योजना की अवधि में कल्याण कार्यों के अमली स्वरूप में पुनः परिवर्तन किया गया और "डीनोटीफाइड" जनजातियों के कल्याण संबंधी सभी कार्यक्रम राज्य सरकारों की योजनाओं में स्थानान्तरित कर दिये गये। साथ ही राज्यों

को यह परामर्श दिया गया कि अपनी कल्याण संबंधी योजनाओं में वे इन जन-समूहों के साथ अन्य आम जातियों को भी शामिल करें। गुजरात, हिमाचल प्रदेश, कर्नाटक, महाराष्ट्र, पंजाब, राजस्थान, तमिलनाडु, उत्तर प्रदेश और पश्चिम बंगाल की सरकारों ने इन जातियों के कल्याण कार्यक्रमों को अपने यहाँ के पिछड़ा वर्ग क्षेत्र की राज्य-योजनाओं में सम्मिलित किया तथा इन पर 600 लाख रुपए खर्च करने की व्यवस्था की।

छठी पंचवर्षीय योजना के अंतर्गत इन योजनाओं पर काम जारी रहा। "डीनोटीफाइड" जनजातियों के कल्याण के लिए जो भी कार्यक्रम अपनाए गए उन्हें मोटे तौर से तीन वर्गों में बाँटा जा सकता है: शैक्षिक, आर्थिक विकास और अन्य विषयों से संबंधित योजनाएं। "डीनोटीफाइड", यायावर और अर्ध-यायावर जनजातियों के कल्याण कार्यों पर पाँचवीं पंचवर्षीय योजना के अंतर्गत किए गये खर्च को देखते हुए यह कहा जा सकता है कि शैक्षिक कार्यक्रमों को सर्वाधिक महत्त्व दिया गया है क्योंकि इन कार्यों के कुल बजट का तीन-चौथाई भाग इसी मद में खर्च किया गया है। इनमें सुयोग्य विद्यार्थियों के लिए वजीफे, प्रशिक्षणार्थियों के लिए छात्रवृत्ति, ट्यूशन और परीक्षा शुल्क संबंधी अनुदान, दोपहर के भोजन का खर्च और आश्रम स्कूलों, आवासी स्कूलों और छात्रावास आदि की स्थापना आदि का खर्च शामिल है। इन जातियों के आर्थिक विकास के लिए जो कार्यक्रम अपनाये गये हैं उनमें से कुछ हैं: पुनर्वास बस्तियों की स्थापना, कृषि-विकास, पशुपालन, कुक्कुट पालन, कुटीर उद्योग एवं सहकारी समितियों के गठन आदि के लिए आर्थिक सहायता और अनुदान। अन्य योजनाएं हैं: सामुदायिक कल्याण केन्द्रों, बालवाड़ी व सांस्कृतिक केन्द्रों की स्थापना तथा पानी के लिए कुओं की व्यवस्था आदि।

विभिन्न राज्यों द्वारा अपनाये गये कार्यक्रम भी कई प्रकार के हैं। उदाहरणार्थ, आंध्र प्रदेश में आवास सुविधाएं, वजीफे, खुले स्कूल और छात्रावास आदि की व्यवस्था की गयी जिन पर गैर-योजना व्यय किया गया। बिहार में पुराने चम्पारन और दरभंगा जिलों में इन जनजातियों के लिए कुछ शैक्षिक एव आर्थिक योजनाएं गैर-योजना व्यय से कार्यान्वित की गयीं हैं। गुजरात द्वारा अपनायी गयी कल्याण योजनाओं में छोटे व्यापारों और कुटीर उद्योगों को वित्तीय सहायता, कृषि के विकास के लिए सहायता, कारीगरों आदि को विभिन्न पेशों का प्रशिक्षण, दुधारू पशुओं को ख़रीदने के लिए सहायता और शैक्षिक कार्यक्रम आदि शामिल हैं। हरियाणा की "डीनोटीफाइड" जनजातियों को शिक्षा और आर्थिक विकास, दोनों क्षेत्रों में सहायता दी जा रही है। उन्हें खेती के लिये और घर बनाने के लिए जमीनें दी जा रही है। सुअर, भैंस, बकरी आदि खरीदने के लिए आर्थिक सहायता दी जा रहीं है। अभी हाल में राज्य सरकार

ने "डीनोटीफाइड" समुदायों की समस्याओं का गहरा अध्ययन करने और उनके सामाजिक आर्थिक विकास के लिए आवश्यक सिफारिशें करने के लिए एक समिति नियुक्त की है। हिमाचल प्रदेश की सरकार ने इस समुदाय के लिए कोई विशेष योजना नहीं बनाई है। किन्तु, उसके अनुसार वह शीघ्र ही कुछ शैक्षिक एवं आर्थिक विकास संबंधी योजनाएं प्रारंभ करने जा रही हैं। महाराष्ट्र सरकार ने इनकी शिक्षा के लिए आश्रम-विद्यालयों के साथ साधारण स्कूल भी खोले हैं। इसके अतिरिक्त वहाँ इनके लिए कृषि के विकास, बस्तियाँ बसाने के काम और सिंचाई के लिए कुओं की खुदाई का काम भी किया जा रहा है। रोजगार दिलाने की दृष्टि से प्रशिक्षण की सुविधाओं और दुधारू पशु खरीदने के लिए राज्य सरकार द्वारा आर्थिक सहायता के कार्यक्रम भी अपनाए गए हैं। उड़ीसा सरकार द्वारा अपनाये गए आर्थिक कार्यक्रमों में पुनर्वास बस्तियों की स्थापना, खेती के लिए भूमि का आवंटन, कृषि कार्य के लिए आर्थिक सहायता, सिंचाई की सुविधाएं, बकरी व सुअर पालन तथा लघु उद्योगों की स्थापना के लिए आर्थिक सुविधाएं आदि शामिल हैं। राजस्थान सरकार ने "डीनोटीफाइड" समुदाय के लिए शैक्षिक और आर्थिक दोनों तरह के कार्यक्रम चला रखे हैं। शैक्षिक कार्यक्रमों में सबसे महत्त्वपूर्ण मैट्रिक स्तर तक के विद्यार्थियों को छात्रवृत्ति प्रदान करने की योजनाएं हैं। आर्थिक कार्यक्रमों के अंतर्गत उन्हें घर बनाने और दस्तकारी सीखने के लिए अनुदान दिए जाते हैं। उत्तर प्रदेश में, शिक्षा क्षेत्र में मैट्रिक पूर्व और उसके बाद वजीफों की व्यवस्था और प्राविधिक प्रशिक्षण के लिए आर्थिक सहायता दी जाती है। इन समुदायों की आर्थिक उन्नति के लिए उनमें कृषि कार्यों के विकास और कुटीर उद्योगों को प्रोत्साहित किया जाता है। मकान और खेती के लिए भूमि के आवंटन द्वारा इनके पुनर्वास की व्यवस्था भी की जा रही है।

जैसाकि पहले भी कहा जा चुका है, जन सहानुभूति की कमी इन जनजातियों के पुनर्वास में बहुत बड़ी बाधा है। ऐसा अक्सर देखने में आता है कि जिन क्षेत्रों में इन जनजातियों को पुनर्वासित किया गया है वहाँ के ग्रामीण व स्थानीय लोग अब भी इनको संदेह व घृणा की दृष्टि से देखते हैं। वहाँ के लोग इन जनजातियों को रोजगार देने से मना कर देते हैं। उनमें विश्वास की भावना पैदा करना अति आवश्यक है। पुनर्वासित व सुधरे हुए समूहों में यदा-कदा अपराधों की ओर आकर्षित हो जाने की संभावनाओं को नकारा नहीं जा सकता, परन्तु ऐसी स्थितियों में उन्हें सहानुभूति व धैर्यपूर्वक समझाने की आवश्यकता है। इसके साथ उनके सुधार व पुनर्वास के कार्यों का संचालन सुचारु रूप से होना चाहिए।

इसके अतिरिक्त अपने पिछले अनुभवों के आधार पर यह लोग किसी बाहरी व्यक्ति पर विश्वास नहीं करते हैं। ऐसे लोग भी जो उन्हें अच्छे व लाभकारी व्यवसायों

में लगाना चाहते हैं इन जनजातियों के संदेह का शिकार हो जाते हैं। एम. के. वैंकटेशन (1964) के अनुसार विभिन्न केन्द्रों में अधिसूचित जनजातियों पर किये गये अध्ययन से पता चलता है कि इन जनजातियों की रुचि ऐसे व्यवसायों में नहीं है जिनमें लगातार प्रयासों की आवश्यकता है तथा जिनमें एक निश्चित समय के पश्चात ही आय हो। इनकी अधिक रुचि ऐसे व्यवसायों में है जिनमें जल्दी ही लाभ प्राप्त होने लगे। यह धनराशि अप्रशिक्षित श्रमिकों को मिलने वाली धनराशि से अधिक होनी चाहिए। बड़ौदा के अधिसूचित समुदायों पर एक अध्ययन से पता चला है कि ये लोग हीरा तराशने, कपड़ों के बदले स्टील व अन्य धातुओं के बर्तन देने, बढ़ईगिरी, लोहार गिरी, सब्जी भाजी का फुटकर विक्रय, रिक्शा चलाने या सर पर वजन ढोने जैसे कार्यों में दक्ष हैं। इनका मुख्य उद्देश्य प्रतिदिन अधिक से अधिक धन कमाना है।

नये विचारों पर कार्य करने के संबंध में ये लोग बहुत संकोची होते हैं क्योंकि अब तक बाहरी लोगों में से इनका सामना पुलिस से सर्वाधिक हुआ है। पुलिस द्वारा किया गया दुर्व्यवहार इन्हें अन्य बाहरी लोगों तथा विचारों पर विश्वास करने से रोकता है। ये जनजातियाँ ऐसी स्थिति में पहुँच गयी हैं जहाँ पर इन्हें सहजता से विश्वास नहीं होता कि सरकार या कोई संस्था इनके कल्याण व विकास में रुचि रखती हैं। इस प्रकार के मनोवैज्ञानिक विकारों को दूर करने के लिए इन जनजातियों के पुनर्वास में कार्यरत प्रशासकों व नियोजकों को इस बात पर भलीभाँति ध्यान देना चाहिए कि ये जनजातियाँ उद्यमी व बुद्धिमान हैं तथा वे इनके लिए ऐसी योजनाएं बनायें जो इन्हें आकर्षित करें।

# 22

# जनजातीय कलायें

भारतीय जनजातियों के कलात्मक प्रयासों व कलाओं के वैज्ञानिक तथा व्यवस्थित अध्ययन पर अधिक ध्यान नहीं दिया गया है। फिर भी जनजातियों की कलाओं से संबंधित जो भी आँकड़े उपलब्ध हैं, उनसे यह पता चलता है कि जनजातियों में विभिन्न प्रकार की कलायें विद्यमान हैं। "अधिकतर" आदिम लोगों की कलायें, तकनीकी अज्ञानता, फूहड़पन से उच्च तकनीक, सरलता से विषमताओं, तथा प्रकृतिवाद व यथार्थ से लेकर परंपरागत कल्पनाओं के विस्तार की ओर विचरण करती हैं।" (होबेल 1954)

आदिवासी प्रकृति के बीच रहने वाला ऐसा व्यक्ति है जिसने अपने रहन-सहन के तौर-तरीके तथा कार्यकलाप प्रकृति से सीखे हैं। एक बाहरी या अजनजातीय सामान्य व्यक्ति के लिए अधिकतर जनजातीय कलायें और इनके प्रदर्शन के माध्यम सुन्दर या कलात्मक नहीं होंगे। परन्तु "इन कलाओं को पूर्णतया समझने के लिए उन तथ्यों तथा वातावरण को भी भलीभाँति जानना व समझना चाहिए जिनमें इनकी रचना हुई है।" (लीनार्ड एडम, 1949) आदिम कलाओं के संबंध में यह बात सत्य है क्योंकि इन कलाओं की पृष्ठभूमि ही अलग है। वेरियर एल्विन ने इस विषय पर और विस्तृत रूप से टिप्पणी करते हुए कहा कि यदि किसी मंदिर या तीर्थ में रखने के उद्देश्य से अफ्रीका के जंगलों में उपलब्ध किसी देवता या पूर्वज की मूर्ति जब अपने मौलिक वातावरण से हटाकर शीशे में बंद करके यूरोप या हिन्दुस्तान में किसी कमरेनुमा स्थान पर रख दी जाय तो उसका प्रभाव समान कैसे रह सकता है?

जनजातियों की कला शैलियाँ निम्न हैं :

(1) प्लास्टिक/नम्र कलायें (2) चित्रकला (3) संगीतकला (4) नृत्यकला (5) मौखिक साहित्य।

अधिकतर जनजातियों में उपरोक्त सभी कलायें विद्यमान हैं। इस अध्याय में इन सभी पक्षों पर संक्षिप्त रूप से चर्चा की जायेगी। परन्तु भारतीय जनजातीय कलाओं की चर्चा से पूर्व यह समझना आवश्यक है कि आदिम कलायें स्वच्छ व निष्कपट हैं,

क्योंकि यह कलायें आध्यात्मिक अनुभवों व धार्मिक विचारों से प्रेरित होने के साथ-साथ निःस्वार्थ तथा निजी भावनाओं से अलग हैं। भारतीय जनजातीय कलाओं का सबसे महत्त्वपूर्ण पक्ष है, इन कलाओं का धर्म के साथ तालमेल। सभ्य समाज द्वारा धर्मनिरपेक्षता (सेक्यूलर) व पवित्रता (सेक्रड) के बीच का विभाजन इन लोगों में मान्य नहीं है। इस प्रकार कला तथा धर्म "एक दूसरे से एकरूप व एक रस होकर एकीकृत हो जाते हैं।" (एन. के. बोस, 1971) जनजातीय कलाकार इस बात पर बिल्कुल परेशान नहीं हैं कि उनकी कलाओं को "अपरिष्कृत" कहा जा सकता है। किसी भी वस्तु की जैसी छवि उसके मस्तिष्क में है वे उसे वैसा ही बनाकर प्रस्तुत करते हैं।

जनजातीय कलाकार "अप्रशिक्षित" हो सकता है परन्तु वह भली प्रकार से "दीक्षित" है।

## प्लास्टिक व चित्रकला/लेखा-चित्र

इन कलाओं के अन्तर्गत चित्रकला, काष्ठ व पत्थर की मूर्तियाँ बनाने की कलायें आती हैं।

एल्विन ने इस बात पर ध्यान आकर्षित किया कि जनजातियों में मूर्ति पूजा का चलन विश्व के शेष भागों की तुलना में बहुत कम है। किसी भी जनजातीय देवता या ईश्वर की मूर्ति मिलना कठिन है। गोंड, संथाल, भील तथा नागा समूह अपने देवताओं को पत्थर, बिना तराशी हुई लकड़ी या किसी भूमि पिण्ड पर बनाते हैं। इनके अधिकतर तीर्थ स्थल या देवस्थल खाली रहते हैं, क्योंकि अधिकतर जनजातीय देवताओं की कल्पना आवश्यक रूप से मानवरूपी (ऐन्थ्रोपौमॉरफिक) संदर्भों में की जाती है। यह आकृतियाँ ईश्वर के रूप में न होकर ईश्वर को समर्पित होती हैं। उदाहरण के लिए बस्तर की मुड़िया जनजाति के लोग अपने देवालयों में धातु के घोड़े, हाथी तथा मानव आकृतियाँ समर्पित करते हैं। अन्य जनजातियाँ मिट्टी के घोड़े, हाथी व पक्षी समर्पित करती हैं। इसके अतिरिक्त यह जनजातियाँ असुर, कठपुतलियाँ तथा अन्य काल्पनिक आकृतियाँ भी बड़े ही कलात्मक ढंग से बनाती हैं।

बहुत सी भारतीय जनजातियों में टेराकोटा पशु तथा अन्य समान आकृतियों का अधिक चलन है। इन क्षेत्रों में टेराकोटा आकृति में बनी विभिन्न वस्तुओं के ढेर लगे रहते हैं जो कि समय के साथ बढ़ते रहते हैं। अपनी एकरसता या प्रबन्ध समानता न होने के कारण यह आकृतियाँ किसी बाहरी व्यक्ति का ध्यान मात्र आकर्षित कर सकती हैं और उसकी यात्रा या उसके अनुभव को यादगार के रूप में किसी नगरीय क्षेत्र के किसी घर की बैठक की शोभा बढ़ाने के अतिरिक्त कोई महत्त्वपूर्ण मान्यता नहीं प्राप्त कर पातीं।

कुछ जनजातीय कलाकार उत्कृष्ट चित्रकार हैं, जो दीवारों पर चित्र बनाते हैं। गंजम की सौरा जनजाति देवताओं, प्रेतों तथा पूर्वजों से बहुत अभिभूत है। इन लोगों का विश्वास है कि यह अनदेखे देवता, यह प्रेतात्मायें तथा पूर्वज उनकी जीवन यात्रा में पदार्पण कर सकते हैं। इस विश्वास के कारण इन लोगों ने इन आत्माओं, देवताओं तथा पूर्वजों को प्रसन्न करने के लिए तरह-तरह के बलिदानों तथा क्रियाओं की परंपरा को विकसित किया है। दीवारों पर चित्र बनाना इन्हीं क्रियाओं का एक भाग है। यह चित्र किसी मृतक के सम्मान में, बीमारियों को दूर भगाने, अधिक से अधिक फसल/उपज प्राप्त करने तथा किसी उत्सव के उपलक्ष्य में बनाये जाते हैं। अधिकतर जनजातीय चित्रकार स्वप्नों से प्रेरित होते हैं। यह चित्रकलायें विभिन्न प्रकार की होती हैं और कुछ चित्रकलायें अत्यधिक सुन्दर व कलात्मक होती हैं।

विवाह इनके जीवन का एक और पहलू है जिसने कला को प्रोत्साहित किया है। दुष्ट आत्माओं को भगाने के उद्देश्य से भूमि पर विभिन्न रंगों की सहायता से विस्मयकारी आकृतियाँ बनायी जाती हैं। कुछ मध्य भारतीय जनजातियाँ ऐसे अवसरों पर विभिन्न रंगों से भूमि पर तरह-तरह की आकृतियों के अतिरिक्त वर व वधू के लिए सुन्दर-सुन्दर तथा विवाह स्थल को सजाने के लिए विभिन्न दीप छादक (लैम्पस्टैंड) भी बनाती हैं। आदिम जनजातियों में एक अगरिया जनजाति हिरन तथा अन्य पशुओं के शीश बनाने में अपनी उत्कृष्ट कला कौशल का प्रदर्शन करती है। कुछ अन्य जनजातियाँ लकड़ी पर यह आकृतियाँ बनाती हैं। विवाह के अवसर पर कलात्मक गतिविधियों में अभिरुचि रखने वाली जनजातियों में संथाल सबसे आगे हैं। ये लोग सुसज्जित पालकी बनाने के लिए बहुत प्रसिद्ध हैं। जिसमें वर वधू को लाया-ले जाया जाता है।

एल्विन (1973) ने मृत्यु संबंधी जनजातीय कलाओं का सर्वेक्षण करके विस्तारपूर्वक जानकारी दी है। बस्तर की मुड़िया जनजाति के लोग महत्त्वपूर्ण लोगों की मृत्यु पर स्मारक के रूप में लकड़ी के शानदार खम्भे बनाते हैं। इन खम्भों में मृतक की रुचियों से संबंधित आकृतियाँ बनायी जाती हैं। इन खम्भों पर नर्तक, चावल से बनी मदिरा बाँटती हुई महिलायें, शिकार के दृश्य तथा दैव कृत्यों में ओझा व शामन आदि की आकृतियाँ देखी जा सकती हैं। उत्तर-पूर्व क्षेत्र की फोम तथा कोन्याक जनजातियाँ समाधिस्थ पुतले बनाने में दक्ष हैं। कुछ मानव विज्ञानियों का मानना है कि मृतक की आत्मा की शांति के लिए अस्थायी स्थान निधान बनाने के उद्देश्य से यह कार्य किया जाता है। परंपरागत गोदने (टैटू) तथा मृतक के आभूषणों/ वस्त्रों के द्वारा पूर्ण आकृतियाँ बनायी जाती हैं। इन्हें, भालों तथा अन्य शस्त्रों से सुसज्जित देवालयों में रखा जाता है। जहाँ एक ओर यह मृत्यु कला के प्रोत्साहन का कारण बनती है वहीं

दूसरी ओर मृत्यु से कला की हानि भी होती है। इसका कारण कुछ जनजातियों का यह विश्वास है कि मनुष्य द्वारा बनायी गयी कोई भी सुन्दर वस्तु उसकी मृत्यु के साथ नष्ट हो जानी चाहिए। संथाल जनजाति के लोग मृतक के साथ उसके द्वारा बनाई गयी सभी सुन्दर व कलात्मक वस्तुओं को दफना या जला देते हैं। यह वस्तुएं सुन्दर बाँसुरी या सुसज्जित बेला (फिडिल) से लेकर कुछ भी हो सकती हैं। छांग, फोम व कोन्याक जनजातियों के बहुत से मकबरे संग्रहालयों जैसे दिखते हैं।

बाँसों के मंच, जिस पर शव रखा जाता है, पर विभिन्न प्रकार के वस्त्र, आभूषण, डोलचियाँ, शस्त्र इत्यादि टांगे जाते हैं। यह सभी वस्तुएं हवा और पानी के प्रभाव से धीरे-धीरे खराब हो जाती हैं।

"मेरे मस्तिष्क में कई बार इन वस्तुओं को मिटने से बचाने के लिए उन्हें वहाँ से हटाने का विचार भी आया। यह एक प्रकार की बर्बादी है—दुर्भाग्यपूर्ण बर्बादी - परन्तु इन वस्तुओं को छूना भी जनजातियों के कड़े नियमों का उल्लंघन करना होगा।" (एल्विन 1978)

जनजातियों की कलात्मक रुचि का आभास उनके घर की सजावट, उनके द्वारा बनाये गये वस्त्रों तथा आभूषणों से होता है जिनसे यह अपने शरीर को सजाते हैं। यद्यपि रंगों के प्रकार कम हैं तथा अधिकतर पीले, हरे, नीले, लाल तथा काले रंग ही देखने को मिलते हैं, फिर भी इस सीमित परिसर में भी रंगों का दर्शनीय विस्तार देखने को मिलता है।

भारत की अधिकतर जनजातियों में गोदना गोदने का प्रचलन है। बस्तर की मड़िया व मुड़िया जनजाति की महिलाओं में गोदने का महत्त्व सोने व चाँदी के आभूषण पहनने के समान ही माना गया है। इसमें तरह-तरह की आकृतियाँ, चित्र तथा शैलियाँ होती हैं। उनमें से महिलायें अपनी पसन्द की आकृतियाँ चुनती हैं जो कि उनके प्रेमी को भी अच्छी लगें। अधिकरण मड़िया व मुड़िया महिलायें अपने पूरे शरीर पर गोदना गोदवाती हैं।

भारतीय जनजातियों को आभूषणों के माध्यम से भी अपनी कलात्मक प्रतिभाओं को प्रदर्शित करने का अवसर मिलता है। विभिन्न प्रकार के बांस व लकड़ी से बने कंघे तथा केश विन्यास में प्रयोग होने वाली चिमटियां (हेयर पिन्स) उनके सिरों पर दिखायी देती हैं। इसके अतिरिक्त इनके बालों, कमर, गरदन व माथे पर फूलों, मनकों और कौड़ियों की सजावट देखते ही बनती है। भीलों की बड़ी चूड़ियाँ, ताँबे की पायल, हार तथा सफेद जस्ते, सीसे, ताँबे, मनकों, काष्ठफल, पुआल तथा घास से बने अन्य

आभूषण, रंग बिरंगे व आकर्षक होते हैं। गेहूँ की पुआल तथा घास द्वारा बने आभूषण बसन्त ऋतु में भी कन्याओं को विशेष रूप से सुसज्जित करते हैं। तरह-तरह की पगड़ियाँ भी जनजातीय व्यक्तित्व में एक आकर्षण पैदा करती हैं। उत्तर पूर्वी-क्षेत्र की जनजातियाँ परों/पंखों तथा रेशों/तन्तु/ताँत की सुन्दर सुसज्जित पगड़ियाँ बनाने के लिए सुप्रसिद्ध हैं। ओराओं जनजाति मोर तथा भाँगरा के पंखों के कलात्मक वस्त्र आभूषण बनाती हैं। बस्तर की मड़िया जनजाति द्वारा बनायी गयी पगड़ियाँ कला का उत्कृष्ट व दुर्लभ नमूना है। गवल (बाइसन) के सींगों की दुर्लभता ने इन पगड़ियों को और कीमती व महत्त्वपूर्ण बना दिया है। इसके चारों ओर कौड़ियों तथा मोर पंखों की कलात्मक सजावट इसे और अलंकृत कर देती हैं। उनके सभी उत्सवों, समारोहों तथा नृत्यों में वस्त्र, आभूषण, पगड़ियां तथा केश विन्यास की विधियाँ देखी जा सकती हैं।

नागा तथा मणिपुर की अन्य जनजातियों की अस्थि सज्जा यद्यपि देखने में भौंडी तथा वीभत्स लगती है, फिर भी कलात्मक होती है। अधिकतर उत्तर-पूर्वी जनजातियों का जीवन शिकार पर निर्भर रहता है; अतः बची हुई खालों तथा हड्डियों का प्रयोग घरों तथा अन्य सामुदायिक गतिविधियों के स्थलों को सजाने में किया जाता है। मध्य प्रदेश-छत्तीसगढ़, बिहार-झारखंड तथा उड़ीसा में फूलों की अधिक पैदावार के कारण वहाँ की जनजातियों के मुख्य पहनावों तथा केश सज्जा में फूलों का प्रयोग बहुत लोकप्रिय है। राजस्थान की जनजातियाँ चाँदी, सफेद जस्ते व ताँबे के बने आभूषणों का प्रयोग करती हैं।

शस्त्र व शिकार के साधनों पर भी इन जनजातियों की कलात्मक अभिरुचियों का प्रभाव पड़ा। युद्ध के शस्त्रों को तथा मानव शीश को कलात्मक रूप से सुसज्जित करने में (जब शीश काटकर विजय चिह्न के रूप में लाया जाता था) नागा जनजाति प्रसिद्ध है। भीलों तथा मध्य भारत की अन्य जनजातियों के धनुष व बाण तथा मणिपुर तथा अन्य उत्तर-पूर्वी जनजातियों के भाले केवल शिकार साधनों के रूप में ही नहीं जाने जाते वरन् उन्हें कक्ष सज्जा के साधनों के रूप में भी महत्त्व मिलता है।

उपरोक्त वस्तुओं के अतिरिक्त दैनिक प्रयोग की अन्य वस्तुयें भी हैं जिन्हें जनजातियों की कला का उदाहरण माना जा सकता है। स्टूल, कुर्सियाँ तथा चारपाइयाँ भी सजावट के लिए प्रयोग की जाती हैं। बेंत तथा चिकनी मिट्टी का प्रयोग भी समय-समय पर सजावट के लिये किया जाता है। गण चिह्न (टोटेम), ध्वज तथा अन्य पहचान चिह्न भी कलात्मक प्रयास के ही फल हैं। नागा जनजाति के लोग लकड़ी की अत्यन्त सुन्दर चम्मचें तथा पीने के प्याले बनाते हैं।

## संगीत, नृत्य एवं मौखिक साहित्य

संगीत नृत्य में विभिन्न प्रकार के वाद्यों, गायन शैलियों, नृत्यों तथा नृत्य नाटिकाओं का समावेश है। मौखिक साहित्य के अन्तर्गत लोक कथायें, लोक गीत, प्रचलित सूक्तियाँ, मुहावरे, मिथक तथा कहावतें आती हैं।

अधिकतर भारतीय जनजातियों ने किसी न किसी प्रकार के सामूहिक नृत्य का विकास किया है। इन नृत्यों में संगीत का भी समावेश है। गोंड जनजाति का "कर्मा" नृत्य तथा उत्तर-पूर्वी जनजातियों में "बीहू" नृत्य बहुत प्रसिद्ध है। इसी प्रकार राजस्थान की भील जनजाति अपनी "गौरी" नृत्य नाटिका के लिये जानी जाती है। छत्तीसगढ़ की पंजवाणी व राजस्थान का कालबेलिया नृत्य भी अच्छे उदाहरण हैं।

विभिन्न प्रकार के ढोल, बाँसुरी, पाइप, धानु के पहिये, करता, झांझ, सींग इत्यादि ऐसे वाद्य हैं जो भारतीय जनजातियाँ प्रयोग करती हैं। मड़िया जनजाति की मृदंग, भीलों की मादल, नागा जनजाति का खोल तथा भिलाला जनजाति का ढोल नक्कारा शिल्पकारिता के ऐसे उत्कृष्ट नमूने हैं जो उनके विभिन्न नृत्यों तथा अन्य समारोहों में प्रयुक्त होते हैं। जनजातियों द्वारा इन वाद्यों पर की गयी सजावट तथा चित्रकला अत्यन्त आकर्षक होती है। अन्य वाद्यों में विशेष प्रकार के ढोल तथा महाराष्ट्र के भीलों की "पुंगी" भी अपनी संगीतात्मक एवं कलात्मक मूल्यों के लिये जानी जाती है। राजस्थान की गरसिया जनजाति का "गौरजा" वाद्य भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। गणगौर महोत्सव में प्रयोग करने के उद्देश्य से यह वाद्य अस्थायी रूप से मिट्टी से बनाया जाता है। शंख तथा कौड़ियों द्वारा इसकी सजावट की जाती है तथा इसे शोभा यात्रा में नृत्य तथा गायन के समय प्रयोग किया जाता है।

मजूमदार (1967) के अनुसार जनजातीय गाँवों में प्रचलित मिथकों तथा लोक कथाओं में इन सरल प्रवृत्ति के लोगों का जीवन-दर्शन है। यह लोक कथायें अधिकतर गीतों तथा कल्पनाओं के रूप में हैं। प्रत्येक जनजाति में अपने उद्भव से संबंधित बहुत से मिथक हैं। बहुत से मिथक ऐसे हैं जो परस्पर विरोधी हैं। इन मिथकों के अनुसार ईश्वर व मानव एक सदाचारपूर्ण वातावरण के संसार में रहते हैं। इनके अतिरिक्त कुछ और मिथक हैं जिनका कार्य है निश्चित परंपराओं तथा रीति-रिवाजों को मानने के लिये जनजाति के लोगों को मानसिक रूप से तैयार करना तथा यह बताना कि जिन लोगों ने परंपराओं का निर्वाह नहीं किया, उन्हें दैवी शक्तियों ने दण्ड दिया था। वर्तमान समय में भारतीय जनजातियों के बीच प्रचलित मिथकों का विषय है वन्य जीवन व पशु जीवन तथा मनुष्य की इन पर निर्भरता। अधिकतर लोक कथायें मनोरंजक हैं। ऐसा लगता है कि इन लोक कथाओं का मुख्य कार्य मनोरंजन ही है

क्योंकि इनमें प्रेरणा या उत्साहवर्द्धन जैसी कोई भावना नहीं है। यह कथायें हमारी लघु कथाओं की तरह छोटी तथा उपन्यासों की तरह लम्बी हैं। यह कथायें, भूतप्रेतों तथा रहस्य जैसी मानव सुलभ स्थितियों के आस-पास घूमती हैं।

कवितायें, नाटकीय कथायें तथा संगीत का अच्छा समावेश/सम्मिश्रण देखने को मिलता है। भारतीय जनजातियों में हर प्रकार की कविता का प्रचलन है। जैसे लोरी, भक्ति गीत, अतुकान्त, व्यर्थ तुकबन्दी, प्रेमगीत, व्यंग्यात्मक पद्य तथा पौराणिक गाथायें। इनके अपने ऋतुगीत, विवाहगीत, नृत्य गीत, शिकार/आखेट गीत, झाड़-फूंक/जादू टोना तथा अंत्येष्टि क्रिया संबंधी मंत्र हैं। गीत, एकल स्वर, युगलस्वरों तथा समूह गान के रूप में गाये जाते हैं। पहेलियाँ, कहावतें तथा सूक्तियाँ भी जनजातियों में काफी प्रचलित हैं।

मजूमदार (वही) का कथन सत्य ही है कि भारतीय लोक जीवन में बहुत कुछ ऐसा है जिसमें परिवर्तन आवश्यक है तथा बहुत कुछ ऐसा है जिसकी सुरक्षा तथा विकास देश के हित में है। जनजातीय कलाओं के सभी पक्ष इसी श्रेणी में आते हैं जिनकी सुरक्षा तथा विकास देश के हित के लिये आवश्यक है।

वेरियर ऐल्विन ने दुख प्रकट करते हुये कहा कि आधुनिक भारत में जनजातीय कला का अध्ययन एक कष्टदायक क्रिया है।"सभ्यता" के रास्तों पर अग्रसर हम लोग इन जनजातियों पर बुरा प्रभाव डाल रहे हैं। यह जनजातियाँ धार्मिक तथा कलात्मक क्रियाओं व अनुभवों से अपनी दैनिक कठिनाइयों पर विजय प्राप्त करती हैं। जनजातीय कला सबकी कला है परन्तु दुर्भाग्यवश यह "सबकी कला" औद्योगिक सभ्यता की विस्मयकारी विविधता के बीच अपनी समृद्धि खोती जा रही है।

# 23

# क्षेत्रवाद

जनजातीय क्षेत्रीयता को भलीभाँति समझने के लिए आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक व भौगोलिक स्थितियों का अध्ययन अत्यन्त लाभप्रद होगा। क्षेत्रीय आन्दोलन इस बात का प्रमाण है कि व्यवस्था अनियमित है तथा उसमें कुछ गड़बड़ी है। इस प्रकार के आन्दोलनों के कारण इन क्षेत्रों की आर्थिक व सामाजिक व्यवस्था में ढूँढ़े जा सकते हैं। केन्द्र का ध्यान स्थानीय समस्याओं की ओर आकर्षित करना ही इस प्रकार के आन्दोलनों का मुख्य उद्देश्य है। राष्ट्र के स्वस्थ व बेहतर विकास के लिए सरकार को विभिन्न क्षेत्रों की समुचित माँगों के प्रति उदारवादी तथा मैत्रीपूर्ण दृष्टिकोण अपनाना चाहिए जिसके अभाव में इस क्षेत्रीयता का पृथक्वाद/अलगाववाद में परिवर्तित होना सुनिश्चित है।

भारतवर्ष में यह आमतौर पर देखा गया है कि जिस क्षेत्र में स्थानीय आवश्यकताओं तथा वहाँ के निवासियों की आशाओं की उपेक्षा लम्बे समय तक की गयी तथा सरकार द्वारा उनकी समुचित सहायता नहीं की गई है, ऐसे क्षेत्रों में अलगाववादी प्रवृत्तियों ने अपना स्थान बना लिया है। इस प्रकार की अलगाववादी प्रवृत्तियों के उदय से क्षेत्रीयता/क्षेत्रवाद जैसी अवांछित प्रवृत्तियों की जड़ें शक्तिशाली हो जाती हैं जिनसे अलगाववादी आन्दोलनों को भरपूर सहायता मिलती है।

समाज विज्ञानी, धर्म को क्षेत्रीयता की भावना के उदय का एक महत्त्वपूर्ण कारक मानते हैं। भारत में स्थितियाँ भिन्न हैं। यहाँ पर विभिन्न धार्मिक समुदाय अलग-अलग क्षेत्रों में केन्द्रित न होकर समस्त देश में बिखरे हुये हैं, जिसके कारण क्षेत्रवाद की भावना में धर्म की भूमिका नगण्य है। विभिन्न क्षेत्रों की अलग-अलग आर्थिक व सामाजिक स्थितियों ने क्षेत्रवाद के उदय में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई है। इस प्रकार अधिकतर क्षेत्रीय आन्दोलन ऐसे क्षेत्रों में आरम्भ हुए जो अविकसित तथा शोषित थे। क्षेत्रीय पहचान बनाये रखने की इच्छा सदैव, राष्ट्रीय विकास की प्रक्रिया में बाधा नहीं बनती। किसी भी क्षेत्र के लिए राष्ट्रीय विकास में अपनी पहचान बनाने का प्रयास क्षेत्रवाद का एक सकारात्मक तथ्य है। संभवतः असुरक्षा, शोषण तथा

प्रभुत्व का डर राष्ट्र की मुख्यधारा से अलग हो जाने के विचार को जन्म देता है जो कि क्षेत्रवाद का नकारात्मक पक्ष है।

मध्य भारत का झारखंड आन्दोलन तथा पूर्वोत्तर भारत की जनजातीय क्षेत्रीयता इसके ज्वलंत उदाहरण हैं। अविभाजित बिहार, पश्चिम बंगाल, अविभाजित मध्य प्रदेश तथा उड़ीसा में फैली जनजातीय जनसंख्या वाले क्षेत्र में अलग झारखंड की माँग का आरम्भ 1939 में हुआ था। राष्ट्रीय परिप्रेक्ष्य में इस आन्दोलन को अधिक महत्त्व मिला। इसका कारण था, इस क्षेत्र में स्थित देश के कुछ बड़े सार्वजनिक उपक्रम। झारखंड क्षेत्र की संरचना चार राज्यों की इक्कीस जिलों को मिलाकर की गयी है। इन जिलों में अत्यधिक महत्त्वपूर्ण जिले हैं पलामू, हजारीबाग, धनबाद तथा सिंहभूम (बिहार), मयूरभंज, क्योंझर, सुन्दरगढ़ तथा सम्बलपुर (उड़ीसा), पुरुलिया, मिदनापुर तथा बाँकुरा (पश्चिम बंगाल) तथा सरगुजा व रायगढ़ (मध्य प्रदेश)। इस प्रकार की असंतोषजनक स्थितियों का कारण है राज्य सरकारों द्वारा इन क्षेत्रों में पूर्ण उपेक्षा। यद्यपि छोटानागपुर पठार तथा संथाल परगना में देश की अत्यधिक मूल्यवान खनिज संपदा के भण्डार हैं तथा प्रदेश की आय में इन क्षेत्रों का बड़ा योगदान है, फिर भी इन क्षेत्रों के विकास के लिए अधिक कार्य नहीं हुआ। इन क्षेत्रों के केवल पाँच प्रतिशत भाग का विद्युतीकरण इनकी उपेक्षा का उदाहरण है।

कुंठित व बेरोजगार जनजातीय युवा वर्ग के सामने आन्दोलन के सिवाय और कोई रास्ता नहीं है। सरकारी अधिकारियों के भ्रष्टाचार तथा लालची ठेकेदारों तथा व्यवसायियों पर इन अधिकारियों के वरदहस्त के कारण क्षेत्र की खनिज व वन्य संपदा का शोषण हुआ है जिसके कारण जनजातीय लोगों के जीवनयापन में तरह-तरह की समस्यायें पैदा हो गई हैं। स्थानीय जनजातियों में एक लोक गीत बहुत प्रचलित है :

*"वे (बाहरी लोग) जब हमारे देश में आये थे*
*तो इतने पतले थे जैसे सुई का नाका।*
*हमारा खून चूस कर इतना मोटा गये हैं*
*जैसे हल का मुट्ठा"*

'दीकू' (बाहरी व्यक्ति) शब्द अब "डाकू" का पर्यायवाची बन गया है। इसी से इन जनजातियों के शोषण का आभास किया जा सकता है।

इसी क्षेत्र की मुंडा जनजाति से संबंधित राँची विश्वविद्यालय के भूतपूर्व उपकुलपति रामदयाल मुंडा आम विचारों की व्याख्या साफ-साफ शब्दों में करते हैं। 1988 में दिये गये एक साक्षात्कार में उन्होंने कहा कि "सरकारी ताने-बाने के ऊँचे स्तर पर अच्छे

व सक्षम लोग हैं परन्तु बीच में तथा नीचे के स्तर पर कार्य करने वालों को जनजातीय क्षेत्रों की अधिक चिन्ता नहीं है। सरकार भी इस पर अधिक ध्यान नहीं देती है। उनका कहना है कि सरकार इन मसलों पर कभी गम्भीर नहीं रही।" झारखंड आन्दोलन के मुख्य मुद्दों पर एक धारदार टिप्पणी करते हुए उन्होंने कहा कि सरकार ने झारखंड के जंगलों का प्रबंध प्रकट रूप से अपने हाथ में ले लिया है। लेकिन सरकार को उसमें कितनी सफलता मिली? असफलत होने के साथ-साथ इस कदम ने वनों को अस्त-व्यस्त कर दिया जिसका प्रभाव झारखंड की आर्थिक व्यवस्था पर पड़ा। वन तो धीरे-धीरे लुप्त हो गये तथा सामाजिक वानिकी को सार्वजनिक रूप से मान्यता नहीं मिली। परियोजनाओं में आवश्यकता से अधिक भूमि निजी आवास बनाने के काम में लायी गयी जबकि भूमि के मूल स्वामी निराश्रित हो गये। सरकारी आँकड़े भी इस तथ्य की पुष्टि करेंगे कि प्रशिक्षण तथा रोजगार में 90 प्रतिशत आरक्षण की व्यवस्था के विपरीत सारे कार्य मनमाने ढंग से किये गये हैं। भूमि हस्तांतरण अभी भी जारी है। बाहरी लोगों को अब भी प्रशिक्षण, रोजगार तथा ऋणों में प्राथमिकता/वरीयता दी जाती है। विकेन्द्रीकरण जैसे महत्त्वपूर्ण कार्यों की ओर किसी का ध्यान नहीं है।"

बहुत से व्यथित व परेशान लोग झारखंड को बिहार के एक आन्तरिक उपनिवेश का नाम देने लगे थे। झारखंड मुक्ति मोर्चे के अतिरिक्त "आल असम स्टूडेंट यूनियन" की तर्ज पर बने "झारखंड स्टूडेंट यूनियन" ने भी झारखंड आन्दोलन में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई यह संगठन भी काफी लोकप्रिय था। बाद के वर्षों में यह आन्दोलन भावात्मक पक्ष से ऊपर उठकर बौद्धिक रूप से परिपक्व हो गया। कुछ जाने-पहचाने राजनीतिक व्यक्तियों तथा बुद्धिजीवियों के सक्रिय रूप से भाग लेने के कारण इस आन्दोलन को अधिक मान्यता प्राप्त हो गई। अब जबकि छोटानागपुर पठार तथा संथाल परगना में जनजातियों की संख्या में भारी कमी आयी इस प्रकार के क्षेत्रों में माँग के औचित्य पर एक प्रश्न चिह्न लग गया। उदाहरण के लिए स्वतंत्रता प्राप्ति के समय सिंहभूम जिले की कुल जनसंख्या का 60 प्रतिशत भाग जनजातीय लोगों का था जो घटकर 40 प्रतिशत हो गया। बिरहोर जैसी जनजातियाँ तो लुप्त प्राय हैं। मध्य प्रदेश, उड़ीसा तथा पश्चिमी बंगाल की जनजातीय जनसंख्या में भी भारी परिवर्तन आया है। इसके अतिरिक्त झारखंड में समान भाषा की समस्या भी है। इस क्षेत्र में रहने वाली विभिन्न जातियों की अपनी भाषायें हैं जिनकी लिपियाँ नहीं हैं।

इस प्रकार की स्थितियाँ केवल झारखंड में ही नहीं हैं। क्षेत्रीय असमानताओं तथा अपूर्ण अभिलाषाओं के साथ संगठित शोषण जैसी असंगतियाँ अन्य क्षेत्रों में भी हैं महाराष्ट्र में विदर्भ, उत्तर प्रदेश में उत्तराखण्ड (अब राज्य) तथा पश्चिम बंगाल में

गोरखालैण्ड की माँग इसके उदाहरण हैं। लेकिन यह जनजातीय क्षेत्रवाद के उदाहरण नहीं हैं। उत्तर पूर्वी भारत क्षेत्रीयता का एक और उदाहरण है। इस क्षेत्र के बहुत से छोटे-बड़े आन्दोलनों में मिजो तथा नागा आन्दोलन प्रमुख हैं। यहाँ पर व्यापक सहयोग के लिए "जनजातीय पहचान" जैसे मुद्दों पर बल दिया गया है। इनकी आर्थिक-सामाजिक-राजनीतिक पृष्ठभूमि की चर्चा "असंतोष तथा विद्रोह" नामक अध्याय में विस्तार से की गयी है। अतः यहाँ पर कुछ तथ्यों पर संक्षेप में चर्चा करना पर्याप्त है। सदियों से अलग होने तथा इसके प्रभाव के कारण यह जनजातियाँ अपने हितों की सुरक्षा के लिए अजनजातीय या बाहरी लोगों पर विश्वास नहीं करतीं या ऐसा समझती हैं कि इनके हितों की सुरक्षा बाहरी लोग नहीं कर सकते। अंग्रेजी राज्य की समाप्ति की संभावना के साथ-साथ नागा जनजाति की राजनीतिक संवेदनायें सामने आयीं। 1947 में स्वतंत्रता के समय बहुत से बाहरी लोग पहाड़ों पर बस गये। यह बात अत्यधिक दुर्भाग्यपूर्ण व विध्वंसक ही रही कि नागा जनजातियों से मिलने वाले प्रथम भारतीयों में थे लालची, चतुर तथा धूर्त व्यवसायी-ठेकेदार जो उज्ज्वल भविष्य की आशा में यहाँ आये थे। फिर भी नागा जनजाति का आर्थिक शोषण अधिक नहीं हो पाया क्योंकि झारखंड की तरह यहाँ पर बाहरी लोगों का बाहुल्य नहीं था।

नागा तथा अन्य पूर्वोत्तरीय जनजातियों की तथाकथित "अलगाववादी" प्रवृत्तियाँ, प्रारम्भिक तौर पर परिवर्तित दशाओं में अपनी सामाजिक व सांस्कृतिक पहचान को बचाने तथा उसे परिभाषित करने का स्वाभाविक प्रयास थीं। पूर्वोत्तर पहाड़ियों की अधिकतर जनजातियों के लिए एक राष्ट्र का अभिन्न अंग होने का अनुभव नया है तथा इस तथ्य को शीघ्रता तथा अनभिज्ञता से स्वीकार करने में इनकी जो कठिनाइयां हैं उस पर सहानुभूतिपूर्ण विचार करने की आवश्यकता है। कुछ स्थानों पर नागा विद्रोह के जवाब में सैन्य शक्तियों की दमनकारी भूमिका भी अलगाववाद तथा जनजातीय क्षेत्रवाद के लिए उत्तरदायी है। इस बात पर ध्यान देना चाहिए कि क्षेत्रवाद केवल मौलिक निष्ठाओं का विवेकहीन विस्फोट नहीं है वरन् किसी समुदाय में निश्चित शक्ति संचालन का परिणाम है। भारत जैसे विस्तृत देश में क्षेत्रीय असंतुलन एवं असमानतायें कम से कम होनी चाहिएं। हमें छीनने के स्थान पर सहायता तथा सहभागिता की नीति अपनानी चाहिए।

मिजो समस्या की गूँज अभी समाप्त ही हुई थी कि उत्तर-पूर्वी क्षेत्र बोडो आन्दोलन व जेलियानग्राग्स नागाओं इत्यादि का आन्दोलन जोर पकड़ गया। असम, मणिपुर तथा नागालैण्ड में रहने वाली अल्पसंख्यक ज़ेलियानग्राग्स जनजाति के लगभग तीन लाख लोग "जेलियानग्राग्स पीपुल्स कंवेशन" के झंडे तले एकत्रित हुए। ये लोग अलग

स्वतंत्र राज्य की माँग कर रहे थे। इस संगठन के नेताओं ने मणिपुर, असम, नागालैण्ड राज्यों की सरकारों पर जेलियानग्राग्स क्षेत्र के विकास के प्रति उपेक्षा तथा निहित स्वार्थों के लिए हो रहे खुले आम शोषण पर ध्यान न देने के आरोप लगाये। जेलियानग्राग्स जनजाति के लोगों की मानव सुलभ आशाओं के प्रति सरकार का उदासीन दृष्टिकोण असहनीय है तथा अब यह उपेक्षा अपनी चरम सीमा पर पहुँच गयी है।

प्रस्तावित जेलियानग्राग्स स्वतंत्र क्षेत्र लगभग 12,000 वर्ग किलो मीटर में फैला हुआ है। इसके अन्तर्गत नागालैण्ड का उपविभाजित क्षेत्र, उत्तरी कछार की पहाड़ियाँ तथा असम के पूर्वी कछार जिले के कुछ भाग व मणिपुर की पश्चिमी पहाड़ियाँ आती हैं। जेलियानग्राग्स आन्दोलन के इतिहास का प्रारम्भ 1930 में हुआ था जब इस जनज़ाति ने अंग्रेजों के विरुद्ध आन्दोलन किया। इस आन्दोलन का नेतृत्व हैपो जदोनगंग तथा रानी गैनदिनेलू ने लिया था। जदोनगंग को गिरफ्तार कर उसे 1931 में इम्फाल में फाँसी दे दी गई। तब सत्रह वर्षीय रानी गैनदिनेलू ने नेतृत्व संभाला परन्तु शीघ्र ही बंदी बनाकर उसे आजीवन कारावास की सजा दे दी गयी। 1980 में जेलियानग्राग्स पीपुल्स कंवेंशन के प्रादुर्भाव के समय से ही यह लोग जेलियानग्राग्स क्षेत्रों में एक राजनीतिक इकाई में एकीकृत करने की माँग कर रहे हैं। अभी तक इनके आन्दोलन में कोई विशेष हिंसात्मक घटना नहीं हुई है।

असम के पुनर्गठन तथा विभाजन से अब भी सभी समुदाय सन्तुष्ट नहीं हैं। असम में "अखिल बोडो छात्रसंघ" के नेतृत्व में एक और क्षेत्रीय आन्दोलन की जड़ें शक्तिशाली होती जा रही हैं। इस आन्दोलन का मुख्य उद्देश्य है मैदानों में रहने वाली जनजातियों के लिए अलग प्रदेश की स्थापना। इस संघ की मुख्य माँग है केन्द्र शासित प्रदेश के स्तर का अलग क्षेत्र तथा इसका नारा है "असम का आधा-आधा विभाजन।" इसके अनुसार जनजातीय स्वतंत्र प्रदेश का विस्तार पश्चिम में ब्रह्मपुत्र के उत्तरी तट के असम, पश्चिमी बंगाल के श्री रामपुर से पूर्व में नदिया तक होना चाहिए। संविधान की छठी अनुसूची में ब्रह्मपुत्र के दक्षिणी तट वाले जनजातीय बाहुल्य क्षेत्रों को सम्मिलित करना, तथा जनजातियों के लिये जिला परिषदों का गठन, इस संगठन की अन्य मांगें हैं। इनमें कर्बी ऐगलॉग नहीं शामिल है जहाँ पर पहले से ही स्वायत्तशासी जिला परिषद कार्यरत है। अलग जनजातीय क्षेत्रों की माँग नयी नहीं है। छठे दशक के अन्त में असम की मैदानी जनजातीय परिषद ने उदयांचल की माँग की थी पर तत्कालीन सरकार ने इस आन्दोलन को दबा दिया। इस माँग के अच्छे व बुरे पक्षों का विश्लेषण न भी किया जाय तब भी यह निश्चित है कि यह आन्दोलन जनजातीय क्षेत्रों के लगातार शोषण तथा उसकी उपेक्षा का परिणाम है। यदि सरकार लगातार बढ़ रही

क्षेत्रीयता को रोकने के प्रश्न पर गम्भीर रूप से सोचती है तो इसके लिए अत्यन्त आवश्यक लाभकारी कार्य हैं जनजातीय क्षेत्रों में हो रहे विकास को गति देना। जनजातियों तथा अन्य अल्पसंख्यकों द्वारा चलाये जा रहे अधिकतर आन्दोलन तर्कसंगत हैं। इन आन्दोलनों की प्रवृत्ति राष्ट्र विरोधी नहीं हैं। संवैधानिक प्रावधानों को भली भाँति लागू करने की माँग करते हुए ये लोग विकास में अपना वैधानिक हिस्सा तथा अपने योजनाबद्ध शोषण के अन्त पर बल देते हैं। क्षेत्रीयता केवल भौगोलिक व राजनीतिक घटना नहीं है वरन्, यह एक ऐसा बहुआयामीय व गतिशील विचार है जो भू-भौतिक, मनोवैज्ञानिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, राजनीतिक, आर्थिक विषमताओं/ तथ्यों को भी सम्मिलित करता है। इसके अतिरिक्त जनजातीय क्षेत्रीयता को केवल कानून व व्यवस्था की समस्या नहीं समझा जाना चाहिये वरन् इसे बहुआयामी समस्या का स्थान दिया जाना चाहिए तथा जिसका सामना पूरी सावधानी से उत्पीड़ित जनजातीय आकांक्षाओं को ध्यान में रखकर किया जाना चाहिए। हाल में मणिपुर का क्षेत्रीय आन्दोलन भी राष्ट्रीय एकता के लिये चुनौती बना हुआ है।

# 24

# औपनिवेशिक काल के दौरान जनजातियों में सामाजिक परिवर्तन

अन्य समाजों की तरह जनजातीय समाजों में भी परिवर्तन होते रहे हैं। परन्तु यह सच है कि परिवर्तन की मजबूत शक्तियां सबसे पहले औपनिवेशिक काल में अस्तित्व में आईं और यही कारण है कि जनजातीय समाज का औपनिवेशिक रूपांतरण भारतीय उपमहाद्वीप में मानवशास्त्रीय अध्ययनों की दृष्टि से अध्ययन और अनुसंधान का एक महत्त्वपूर्ण क्षेत्र है। इस तरह के किसी अध्ययन का सबसे स्पष्ट पक्ष यह है कि मुख्यतः जनजातीय आबादी वाले वन क्षेत्रों पर औपनिवेशिक राजसत्ता कायम होने के बाद अनेक छोटे-बड़े विद्रोह हुए।

कमोबेश औपनिवेशिक शासन की शुरुआत के साथ हुए जनजातीय रूपांतरण के विभिन्न उभरते आयामों पर चर्चा करने से पहले पूर्व-औपनिवेशिक स्थिति पर एक नज़र डाल लेना असंगत नहीं होगा। इस तरह के किसी विश्लेषण के क्रम में हमें सबसे पहले इस प्रचलित धारणा या सहजबोध को त्यागना होगा कि ब्रिटिश औपनिवेशिक शासन के आरंभ होने से पहले जनजातीय समुदाय भारतीय सभ्यता के केन्द्रों से भौगोलिक एवं सांस्कृतिक दृष्टियों से पूर्ण रूप से अलग-थलग रहे हैं। मौर्यकाल के दौरान *अंत महामात्य* नामक अधिकारियों की उपस्थिति, जिनका उल्लेख अशोक के शिलालेखों में है, इस तथ्य का प्रमाण है कि प्राचीन काल की राजव्यवस्था में भी पर्वतों और जंगलों में रहनेवाले जनसमुदायों (*गिरिजन* और *वनवासी*) के साथ संपर्क को स्थान दिया जाता था।

वृहद् हिन्दू समाज की ओर जनजातियों का एक निश्चित रुझान था यद्यपि जनजातीय लोग अपनी 'एनिमिस्टिक' आस्थाओं, प्रथाओं तथा परंपराओं के कारण "हिन्दू" नहीं थे। कई मानवशास्त्रियों ने जनजातीय समुदायों का वर्गीकरण किया है और इस क्रम में सांस्कृतिक प्रक्रिया को आधार बनाया है। यह बहुत हद तक हिन्दू समाज़ के प्रति जनजातीय समुदायों के अभिमुखन के आलोक में किया गया। बी.के. रॉयबर्मन (1970) ने जनजातियों का वर्गीकरण निम्नलिखित ढंग से किया है :

(क) हिन्दू सामाजिक व्यवस्था में शामिल जनजातियां,

(ख) हिन्दू सामाजिक व्यवस्था के प्रति सकारात्मक झुकाव वाली जनजातियां,

(ग) हिन्दू सामाजिक व्यवस्था से नकारात्मक रूप से असंपृक्त जनजातियां,

(घ) हिन्दू सामाजिक व्यवस्था के प्रति उदासीन जनजातियां।

इसकी पुष्टि करते हुए रॉयबर्मन ने यह पाया कि भील, भूमिज आदि जैसी जनजातियों को हिन्दू सामाजिक व्यवस्था में अंतर्भूत या समाविष्ट माना जा सकता है। उन्होंने जातीय ढांचे को स्वीकार कर लिया है और अब उन्हें निकटवर्ती हिन्दू कृषक समुदाय से अलग कर पाना कठिन है। संथाल, उरांव, मुंडा, गोंड आदि जनजातियों को हिन्दू सामाजिक व्यवस्था के प्रति सकारात्मक झुकाव या अभिमुखन वाली जनजातियों की कोटि में रखा जा सकता है। यद्यपि उनकी आबादी का बड़ा भाग जातीय ढांचे में न तो पहले समाविष्ट था और न ही अभी है, फिर भी बहुत हद तक उन्होंने अपने हिन्दू पड़ोसियों के धार्मिक प्रतीकों, सारतत्व और विश्वदृष्टि को अपना लिया है। मिजो और नागा जैसी जनजातियों को हम हिन्दू सामाजिक व्यवस्था से नकारात्मक दूरी रखने वाली जनजातियाँ मान सकते हैं। उन्होंने निस्संदेह सामाजिक संघटन के लिए एक ढांचे के रूप में जाति को अस्वीकार कर दिया। अरुणाचल के अधिकांश जनजातीय समुदायों को हिन्दू सामाजिक व्यवस्था के प्रति उदासीन माना जा सकता है। हिन्दुत्व के आधारभूत तत्वों से शायद न तो वे पहले कभी अवगत थे और न आज हैं। इनमें से अनेक जनजातियाँ पारंपरिक रूप से गोमांस का सेवन करती हैं और उनकी नैतिक बाध्यताएं, वर्जनाएं और शुद्धि की प्रणालियां हिन्दुओं की प्रणालियों से कोई महत्त्वपूर्ण साम्य नहीं रखतीं। फिर भी जैसा कि रॉयबर्मन (1994) स्वयं स्वीकार करते हैं, प्रमुख सांस्कृतिक प्रभावों के प्रति सकारात्मक और नकारात्मक अभिमुखन आने वाले समय के लिए हमेशा कोई ठोस, अटूट प्रतिमान या प्रणाली नहीं है। इस स्थिति में निश्चित रूप से अलग-अलग सीमाओं तक परिवर्तन हुआ है। बाद के वर्षों में रॉयबर्मन ने स्वयं को इस अभिगम से अलग कर लिया परंतु पूर्व-औपनिवेशिक या औपनिवेशिक परिवेश के अभिसूचक (referrant) के रूप में सामाजिक-सांस्कृतिक स्थिति की दृष्टि से जनजातीय समुदायों की स्थिति को समझने में अब भी इसका इस्तेमाल किया जा सकता है।

सामाजिक-सांस्कृतिक परिवर्तन के परिप्रेक्ष्य में औपनिवेशिक और उत्तर औपनिवेशिक स्थिति को समझने की दृष्टि से एल.पी. विद्यार्थी (1977) और श्यामा चरण दुबे (1977) के वर्गीकरणों की भी चर्चा की जा सकती है जो वृहत्तर हिन्दू समाज और खासकर देश के विभिन्न क्षेत्रों में हिन्दू कृषक समुदाय के संदर्भ में

पर संस्कृतीकरण (Accuturation) के विभिन्न स्तरों तथा चरणों पर प्रकाश डालते हैं। पूर्व-औपनिवेशिक स्थिति पर टिप्पणी करते हुए के.एस. सिंह अपने लेख ''मध्य भारत में जनजातीय समाज का औपनिवेशिक रूपांतरण'' में इस दृष्टिकोण से सहमति जताते हैं कि अधिकांश नृजातिशास्त्रियों (ethnographers) ने पूर्व-औपनिवेशिक स्थिति को स्थिर माना। मध्य भारत के जनजातीय समुदायों के अपने दृष्टांत अध्ययन (Case Study) में के.एस.सिंह ऐतिहासिक साक्ष्य का सहारा लेते हैं और कहते हैं कि पूर्व-औपनिवेशिक काल के दौरान तीन प्रमुख प्रवृत्तियां दिखाई देती थीं। उनका विश्लेषण बहुत हद तक राजनीतिक-आर्थिक आयामों के प्रति अभिमुखन दर्शाता है। तीन प्रमुख प्रवृत्तियों का उल्लेख करते हुए वे कहते हैं कि इनमें से पहला औपनिवेशीकरण और कृषक जातियों द्वारा बस्तियों (*भूम*) की स्थापना थी जिन्हें मुग़ल शासकों और ज़मींदारों ने भूमि पर अधिकार का दावा करने के लिए प्रोत्साहित किया। इस उद्देश्य से उन्हें और आप्रवासियों की अन्य कोटियों के लोगों को अनेक प्रकार के प्रलोभन दिए गए। जंगलों से होकर गुजरने वाले व्यापारिक तथा सामरिक महत्त्व वाले मार्गों ने एक नयी सार्थकता हासिल कर ली। मध्य काल में झारखंड और गोंडवाना ऐतिहासिक क्षेत्र के रूप में उभरे। पुनः भील, मीणा, कोल और गोंड जैसी अनेक जनजातियों को मुग़ल साम्राज्य ने प्रमुख समुदायों के रूप में मान्यता दी। तीसरे तथ्य के रूप में हम यह देखते हैं कि राज्य का उत्थान या तो जनजातीय संश्लेष या सांचे के अंदर से हुआ है जैसा कि हम गोंड और चेरो के संदर्भ में देखते हैं; या जनजातीय प्रणाली पर राजपूतों अथवा उन अन्य जातियों की सत्ता की स्थापना के परिणामस्वरूप हुआ जिन्होंने उड़ीसा, मध्य भारत, गुजरात और राजस्थान के पर्वतीय भूभागों में अपनी सत्ता स्थापित की। मध्य भारत में राज्य निर्माण की एक महत्त्वपूर्ण पूर्व स्थिति अधिकृत भूमि से होकर कृषि का विस्तार और मैदानों के कृषकों द्वारा एक अभिनव कृषि प्रौद्योगिकी का सूत्रपात था। गोंड, नागबंसी और चेरो सरदारों ने कुर्मी, कोइरी और कुनबी जैसे गैर-जनजातीय किसान समुदायों को बसने के लिए प्रोत्साहित किया जिनकी श्रेष्ठ कृषि प्रौद्योगिकी के जरिए ही वह कृषि अधिशेष प्राप्त किया जा सकता था जिसकी नए राज्यों को आवश्यकता थी। इस प्रकार उत्पादन की एक नई पद्धति का विकास हुआ। जनजातीय समाज पर सामंती अधिसंरचना के आरोपण का एक परिणाम इसका पतन और विभिन्न सामाजिक स्तरों में इसका टूटना था। यह प्रक्रिया शक्ति और भूमि में निहित आर्थिक हितों पर आधारित थी तथा इसे प्रथागत प्रस्थिति (ritual status) के आधार पर परिभाषित किया जाता था। नए राज्यों ने संस्कृतीकरण के अभिकर्ताओं (agents) का काम किया पर उन्होंने जनजातीय पहचान के भाव को भी सशक्त बनाया। राज्य के निर्माणं ने व्यापारिक गतिविधियों

को प्रोत्साहित किया, व्यापारिक मार्गों के विकास का पथ प्रशस्त किया और छोटे पैमाने पर नगरवाद को बढ़ावा दिया। भूमि के उदार अनुदान के प्रलोभन में फंसे ब्राह्मणों से लेकर शिल्पी जातियों तक की एक संपूर्ण जातीय शृंखला के लोग नए किलेबंद शहरों में बस गए। कुल मिलाकर औपनिवेशिक व्यवस्था की स्थापना से पहले भी एक जटिल सामाजिक-आर्थिक प्रणाली जनजातीय मध्य भारत के कुछ हिस्सों में विकसित हो चुकी थी।

इस तरह औपनिवेशिक शासन की स्थापना के साथ भारत में अधिकांश जनजातीय समाजों का आपेक्षिक (भौगोलिक-सांस्कृतिक) अलगाव समाप्त हो गया। जनजातीय स्थिति में मूलगामी परिवर्तन हुए। ब्रिटिश औपनिवेशिक शासन ने पुराने सामाजिक संगठन, कृषि प्रणाली तथा सामाजिक-आर्थिक मूल्यों के स्थान पर जनजातीय समुदायों के लिए अपरिचित नई व्यवस्था स्थापित करके नई समस्याएं पैदा कर दीं। सामाजिक नियंत्रणों और परिवर्तन के अभिकरणों के पुराने स्वरूपों को संशोधित कर दिया गया। वाणिज्यीकरण के नए रूपों का सूत्रपात्र हुआ। न केवल भूमि संपत्ति बन गई बल्कि निजी संपत्ति में तब्दील हो गई। कानून के नए विधान अस्तित्व में आ गए। औपनिवेशिक विधि-विधान ने ''उत्पादन, उपभोक्तावाद और धन/मुद्रा अर्थव्यवस्था के वाणिज्यीकरण की शुरुआत की जिसका उद्देश्य मूलतः उनके अपने शोषक हित की रक्षा व संपोषण करना था। राजशक्ति ने लोगों के भविष्य को निर्धारित करने में निर्णायक भूमिका निभाई और ब्रिटिश काल के दौरान इसमें आधारभूत रूपांतरण हुआ। परिणामस्वरूप कृषि और वन्य उत्पाद पर आधारित आत्मकेन्द्रित जीविका अर्थव्यवस्था कमजोर हुई और नष्ट हो गई।' (एस.आर. शर्मा, 1999) जनजातीय समुदायों के पारंपरिक कानून को ब्रिटिश शासन के दौरान केन्द्रीकृत राज्य के नए कानून ने विस्थापित कर दिया और इसके बाद भी यह प्रक्रिया जारी रही। नए कानून को इसके प्रशासनिक और न्यायिक अंगों के जरिए लागू किया गया। यह प्रक्रिया शहरीकरण और पूंजीवादी आर्थिक विकास में रूपांतरण के अनुरूप अनवरत चलती रही।

इस अवधि की सबसे प्रमुख विशेषता उत्पादन की सामूहिक प्रणाली का पतन और भूमि पर निजी अधिकार का आरम्भ थी। कृषक प्रणाली के विकास का अगला चरण बाजार द्वारा जनजातीय अर्थव्यवस्था में घुसपैठ था। औपनिवेशिक प्रणाली ने बहुत हद तक गैर मौद्रिक अर्थव्यवस्थाओं में धन की मांग पैदा कर दी ताकि वे भू-राजस्व और अन्य शुल्कों का भुगतान कर सकें, विभिन्न प्रकार के व्यय कर पाएं और अपने लिए आवश्यक सामान खरीद सकें। ''विनिमय या लेनदेन का पारंपरिक रूप समाप्त हो गया। इस बात का कुछ प्रमाण है कि जनजातियों के कुछ वर्गों ने

सीमित पैमाने पर व्यापारिक महत्त्व की वस्तुओं का उत्पादन आरंभ कर दिया।'' (के. एस. सिंह, वही) सबसे पुरातन अर्थव्यवस्थाएं धीरे-धीरे बाजार व्यवस्था के संचालन की परिधि में आ गईं। बाजार के साथ बिचौलिए, व्यापारी और महाजन आ गए। यहां *दीकू* (विदेशी, बाहरी लोग) की अवधारणा कृषि संबंधों को समझने की दृष्टि से अत्यंत महत्त्वपूर्ण हो गई। दीकू औपनिवेशिक व्यवस्था का जीव था जो प्रशासनिक मामलों में बिचौलिए की, महाजन की, अग्रिम उधार की प्रणाली के माध्यम से अनाज के उत्पादन को नियंत्रित करने वाले व्यापारी की और भूमि पर कब्जा करने वाले की अलग-अलग भूमिकाएं निभाता था।

इस काल के दौरान कृषकीकरण (Peasantization) और विकृषकीकरण की प्रक्रियाएं एक साथ देखने में आईं। अनेक जनजातीय समुदाय जो किसान नहीं थे, कृषक वर्ग का अंग बनने लगे थे जबकि अपनी भूमि खोने के बाद बहुत से जनजातीय लोग एक भिन्न आर्थिक व्यवस्था में प्रवेश कर रहे थे। मध्य भारत से संथाल, उरांव और मुंडा जैसी अनेक जनजातियों के बड़े समूह असम और इसके निकटवर्ती चाय बागानों में जाकर बस गए जबकि अन्य बहुत-सी जनजातियाँ औद्योगिक श्रमिक, जोतदार आदि बन गईं।

अंतरजनजातीय बाजार परंपरागत दृष्टि से सामाजिक-सांस्कृतिक महत्त्व की संस्था बन गए। वे केवल आर्थिक आदान-प्रदान के स्थान ही नहीं थे बल्कि उन्होंने सांस्कृतिक परिवर्तन के अभिकरण का काम भी किया। बाजार की नई शक्तियों के प्रवेश तथा नई अर्थव्यवस्थाओं की मांग जो बाहर से आनेवाले लोगों के कारण संभव हुईं, के साथ परंपरागत जनजातीय बाजारों का या तो पूरी तरह पतन हो गया या वे औपचारिक आर्थिक विनिमयों और क्रियाकलापों के स्थानों में रूपांतरित हो गये। लाभ कमाना कभी जनजातीय अर्थव्यवस्था का सबसे प्रमुख तत्व या मूल्य नहीं रहा था। इसके बजाय पारस्परिकता, पुनर्वितरण और सहयोग परंपरागत जनजातीय अर्थव्यवस्था के आधार थे। पर ये सारे मूल्य तिरोहित हो गए। अब जनजातीय समाज किसानों की जातीय स्तरीकृत प्रणाली से अधिकाधिक साम्य दर्शाने लगा। इसने संस्कृतीकरण की भूमिका को मजबूत बना दिया। मध्य भारत की अनेक जनजातियाँ एक साथ वर्ण व्यवस्था की ओर उन्मुख हो गईं और उन्होंने क्षत्रियोचित मान-मर्यादा या प्रस्थिति का दावा पेश किया क्योंकि क्षत्रीयकरण या संस्कृतीकरण का क्षत्रीय अथवा क्षत्रीयसम्मत मॉडल सबसे आसान और लोकप्रिय तरीका था। संथाल और गोंड इसके सबसे स्पष्ट उदाहरण हैं।

परिवर्तन के एक अभिकर्ता के रूप में ईसाई धर्म पर भी मुख्यतः उत्तर-पूर्व के क्षेत्रों और मध्य प्रदेश, बिहार एवं बंगाल के इधर-उधर बिखरे पॉकेटों के संदर्भ में थोड़ी

बहुत चर्चा की जा सकती है। चूंकि ईसाई धर्म अनेक जनजातीय क्षेत्रों में जनकल्याण का सबसे पुराना अभिकरण था, एक विचारधारा के रूप में यह अधिक मुखर नहीं हुई। आधुनिकीकरण की दृष्टि से ईसाई मिशनों की भूमिका भी उन जनजातीय क्षेत्रों में जहां उनका गहरा प्रभाव था, सामाजिक परिवर्तन की एक महत्त्वपूर्ण विशेषता साबित हुआ है। दुर्भाग्यवश ईसाई धर्म और उपनिवेशवाद के बीच हमेशा काफी नजदीकी संबंध रहा है। "राजनीतिक स्तर पर, मिशनरियों ने औपनिवेशिक प्रशासकों के साथ नजदीकी सांठगांठ कायम करके राज (ब्रिटिश शासन) को उचित ठहराया और भारत के पिछड़े समुदायों में अपने लिए समर्थन और प्रभाव के नए आधार बनाने के प्रयास किए। आरंभिक चरणों में मिशनरी गतिविधियों ने जनजातीय व्यवस्था में खलल डाला। धार्मिक प्रचार-प्रसार मूलतः अपनी प्रकृति में प्रजातीय या नस्लवादी वर्चस्व के प्रति रुझान दर्शाता था। मिशनरियों ने लचीले जनजातीय समाज पर एक शुद्धतावादी आचार प्रणाली आरोपित करने की चेष्टा की यद्यपि सामाजिक प्रश्नों के लिए प्रयुक्त प्रतीकात्मक प्रणाली निस्संदेह भिन्न-भिन्न थी और यह स्थिति की मांग पर निर्भर थी।" (के.एस. सिंह, वही) उत्तर-पूर्वी क्षेत्र और मध्य भारत में उन्होंने मुख्यतः जनजातियों के बीच तथा अन्यत्र निम्न सामाजिक वर्गों के हिन्दुओं एवं मुसलमानों के बीच काम किया। ईसाई धर्म के प्रभाव में आनेवाले जनजातीय समुदायों के अनेक मूल्य, मान्यताएं और संस्थाएं नष्ट हो गईं। जनजातियों में अत्यंत लोकप्रिय 'युवागृहों' के भाग्य का सूरज डूब गया। स्पष्टतः मिशनरी केवल गिरजाघरों को धार्मिक सभाओं को कार्यस्थल बनाना चाहते थे। साथ ही यह भी एक सीमा तक सच है कि ईसाईयत ने जनजातीय लोगों में आत्मसम्मान के एक नए भाव का संचार किया और उनके लिए एक अलग पहचान बनाने की चेष्टा की।

औपनिवेशिक काल के दौरान जनजातीय समुदायों में सामाजिक परिवर्तन के किसी भी विश्लेषण के संदर्भ में जनजातीय आंदोलनों की भूमिका की भी उपेक्षा नहीं की जा सकती। औपनिवैशिक प्रशासन ने जिन परिवर्तनों का सूत्रपात किया उनके प्रति अनेक जनजातियों ने भिन्न-भिन्न तरह से प्रतिक्रिया जताई। अपने लंबे आपेक्षिक अलगाव की वजह से जनजातीय समुदायों ने अपना निजी सामाजिक ढांचा और सामाजिक नियंत्रण तंत्र विकसित कर लिया था और उनके प्रति वे बहुत संवेदनशील थे। शायद यही कारण है कि इन परिवर्तनों के विरुद्ध उन्होंने अन्य लोगों की तुलना में ज्यादा मजबूती से और बहुधा हिंसक ढंग से प्रतिक्रिया व्यक्त की। हमारे पास अब जनजातीय आंदोलनों और छोटे-बड़े विद्रोहों, विप्लवों आदि के विवरण और इन पर केन्द्रित सही तिथि-क्रम उपलब्ध हैं। अधिकांश जनजातीय आंदोलनों को 'उपनिवेशवाद विरोधी' 'दीकू विरोधी' और 'नृजातीय' (ethnic) जैसे शीर्षकों या

कोटियों के अंतर्गत रखा जा सकता है। मध्य भारत में इन जनजातीय आंदोलनों की प्रकृति और परिणामों का विश्लेषण करते हुए के.एस.सिंह (वही) लिखते हैं कि "पहला चरण (1795-1860) ब्रिटिश साम्राज्य के उत्थान, विस्तार और स्थापना के साथ अस्तित्व में आया। इस दौरान तथाकथित 'प्राथमिक प्रतिरोध आंदोलनों' का सूत्रपात हुआ। इसका नेतृत्व पारंपरिक सरदारों और उनके अधीनस्थों ने किया जिन्हें नई व्यवस्था द्वारा अपनी संपत्ति से बेदखल कर दिया गया था और जिन्हें अपने काम-धंधों से वंचित होना पड़ा था। चुआर विद्रोह (1795-1860), चेरो विद्रोह और 1820 में छोटानागपुर में हुई बगावतें, कोल और भूमिज विद्रोह, 1819 और 1842 में गोंड जमींदारों द्वारा किए गए विद्रोह तथा 1830 के दशक के मध्य में खोंडों द्वारा किया गया विद्रोह इस चरण के कुछ उदाहरण हैं। संथाल विद्रोह (1855-59) सत्ता के खिलाफ विद्रोह होने के साथ-साथ एक पुनरुत्थानवादी किसान आंदोलन भी था। इन सारे आंदोलनों ने जनजातीय नृजातीयता की भावना को तीव्र किया और उन्हें एक नई पहचान दी। दूसरा चरण (1860-1920) उपनिवेशवाद के विकसित चरण के साथ-साथ संपन्न हुआ। इस दौरान जनजातीय और कृषक अर्थव्यवस्थाओं में व्यापारिक पूंजी की घुसपैठ ज्यादा हो गई और लगान बढ़ाये जाने की घटनाएं भी ज्यादा हुईं। पहले चरण के दौरान जनजातीय आबादी को जो लाभ हासिल हुए थे वे खो गए। न केवल वे लोग जिन्हें निकाल बाहर कर दिया गया था, वापस लौट आए बल्कि कई और लोग आ गए जिसके कारण जनजातियों का शोषण व उत्पीड़न बढ़ गया। किसान आंदोलनों के विपरीत जनजातीय आंदोलनों ने एक तरह का धार्मिक और राजनीतिक तेवर विकसित कर लिया। पहले चरण के आंदोलनों की विफलता ने जनजातीय समुदायों को अपने अंदर झांकने का अवसर दिया। उन्होंने संपूर्ण सामाजिक व्यवस्था को पुनर्गठित करने की चेष्टा की और यही पुनरुत्थानवादी आंदोलनों की शुरुआत थी। बिरसा मुंडा के नेतृत्व में मुंडा-उरांव सरदार आंदोलन(1869-1895), ताना भगत आंदोलन (1895-1901) और गोविंद गिरि के नेतृत्त्व में भील आंदोलन इस चरण के उदाहरण हो सकते हैं जो अपनी प्रकृति में बहुत हद तक सामाजिक/सांस्कृतिक थे। इसके फलस्वरूप राष्ट्रीय और व्यापक किसान आंदोलनों में जनजातियों की सहभागिता संभव हुई और छोटानागपुर में एक अलगाववादी आंदोलन का आरंभ हुआ। इससे जनजातीय संस्कृतियों में अंतर्भूत आत्मगौरव का भाव और अपनी जड़ों से गहरा लगाव परिलक्षित होता है। भील, गोंड, हो, उरांव, मुंडा और संथाल समुदायों से संबद्ध कई लोग महात्मा गांधी के अनुयायी बन गए। इसके साथ ही आदिवासियों का राजनीतिकरण भी हो गया जिसके फलस्वरूप वे राष्ट्रीय राजनीति और राजनीतिक प्रक्रिया की मुख्यधारा में शामिल हो

गए (विस्तृत जानकारी के लिए जनजातीय आंदोलनों पर केन्द्रित अध्याय देखें)। औपनिवेशिक काल के जनजातीय आंदोलनों ने स्वातंत्र्योत्तर काल में आदिवासियों के संघर्ष पर गहरी छाप छोड़ी।

भारत के आदिवासियों के बीच सामाजिक-सांस्कृतिक परिवर्तन की अपनी समीक्षा में पीटर गार्डनर (1978) ने जिन पांच जनजातियों को चुना है वे हैं : पहले असम और अब मेघालय के गारो (जिनका अध्ययन बलिंगटन ने 1963 में किया था), बंगाल के भूमिज (सिन्हा, 1957,59,62,65), उड़ीसा के खोंड (बेली, 1960), नीलगिरि पहाड़ियों के कोटा (मैंडेलबॉम, 1954,55,60) और तमिलनाडु के दक्षिणी छोर पर रहनेवाले पलियन (गार्डनर, 1966,69,72)। गारो के बारे में वे कहते हैं, "जैसाकि बलिंगटन मानते हैं, गारो के आधुनिक इतिहास के दो चरण हैं। पहला चरण एक लंबा काल था जिसके दौरान पहाड़ियों में प्रचलित नरमेध और अन्य नृशंस क्रियाकलापों एवं आचरण ने बाहर के लोगों को उनसे दूर रखा। इससे गारो लोगों और मैदानी भू-भागों में स्थित तराई के बाजारों वाले कस्बों के निवासियों के बीच बाजार के संपर्क-सूत्र तो बाधित नहीं हुए किन्तु पठार पर अधिकार करने के लिए जमींदारों द्वारा किए गए अत्यंत गंभीर प्रयास भी फलीभूत नहीं हो पाए। बलिंगटन सीमावर्ती क्षेत्र में सदैव उत्पात और उपद्रव होने का जिक्र करते हैं। दूसरा चरण अचानक आरंभ हो गया। 1867 में अंग्रेजों की सैनिक टुकड़ियां पठार पर पहुंच गईं और नौ साल बाद प्रतीकात्मक ढंग से दो सौ खोपड़ियां तोड़कर उन्होंने नरमेध की परंपरा समाप्त कर दी। समाज और संस्कृति के अन्य क्षेत्रों में उन्होंने अपनी निजी शर्तों पर परिवर्तन को अपनाया। धर्मांतरित गारो ईसाइयों के जीवन में हुए कुछ परिवर्तनों को छोड़कर वे बहुत हद तक अप्रभावित रहे। इतना ही नहीं बल्कि किसी-न-किसी रूप में गारो लोगों ने अपने हिन्दू पड़ोसियों द्वारा पैदा किए गए उस दबाव के समक्ष झुकना स्वीकार नहीं किया जिसके जरिए उन्हें विधवा विवाह, गोहत्या और गोमांस के सेवन या पके हुए भोजन की शुद्धता का खयाल किए बिना उसे कभी छूने से रोका जा सकता था। अपनी शर्तों पर व्यवहारगत परिष्करण का निर्णय लेने के लिए वे स्वतंत्र बने रहे।

सरसरी तौर पर उत्तरी उड़ीसा में कोंडमाल के कोंड जिन परिस्थितियों में रहते हैं वे गारो से आश्चर्यजनक साम्य रखती हैं। कोंडों में प्रचलित नरबलि की प्रथा को नैतिक रूप से घृणित मानने वाली ईस्ट इंडिया कंपनी ने उन्नीसवीं सदी के मध्य में बीस वर्षों तक लगातार उनके विरुद्ध सामरिक अभियान जारी रखा जिसका उद्देश्य संपूर्ण कोंड क्षेत्र पर अधिकार करना था। 1855 में घोषित सुरक्षा नीतियों से आरंभ में ज्यादा फायदा नहीं हुआ। 1875 और 1924 के बीच सड़क निर्माण और व्यावसायिक प्रशिक्षण के लिए बहुत से कदम उठाए गए। 1897 में कोंडो को उड़िया

उत्पीड़न व शोषण के खिलाफ न्याय दिलाने के लिए कानूनी तौर पर विशेष क्षतिपूरक अधिकार और विशेषाधिकार प्रदान किए गए। उदाहरण के लिए अपनी भूमि खोने से उन्हें बचाया गया (बेली, 1960)। बेली दो प्रवृत्तियों के रूप में जिन्हें वह विभिन्न प्रशासनिक नीतियों का परिणाम मानते हैं, इस स्थिति का साररूप प्रस्तुत करते हैं : (क) क्षेत्र के आवागमन की दृष्टि से सुगम हो जाने से उनका आत्मसातीकरण, (ख) शिक्षा, कानून, आरक्षित नौकरियों और सामान्य ''उत्थान'' के जरिए शोषण से बचाव। यद्यपि इस क्षेत्र के सुगम होने से शोषणचक्र उतना कठोर नहीं रहा, पर अतीत में शैक्षिक प्रगतियों को सामान्य ही माना जा सकता है। इस काल के दौरान हुए परिवर्तन के अन्य नतीजे हैं- स्वास्थ्य संबंधी स्थिति में सुधार, जाति पर आधारित समाज के साथ सहमति, अन्य लोगों के साथ प्रभुत्व-अधीनता के नियमित संबंधों की स्थापना और परिवर्तित प्रकार्यों के साथ प्रादेशिक गोत्रों और वंश-परंपराओं को बनाए रखना।

छोटानागपुर पठार की पूर्वी तलहटियों में बड़ाभूम के भूमिज तेरहवीं से सोलहवीं सदी तक बड़ाभूम राज्य से संबद्ध रहे हैं (सुरजीत सिन्हा, 1962)। एक शताब्दी पहले इस क्षेत्र में गैर-भूमिज लोग बहुत कम थे और पूरा भूखंड वनों से आच्छादित था। यद्यपि अतीत में वे तथाकथित रूप से मुंडा भाषाभाषी रह चुके हैं, उन्नीसवीं सदी के आरंभ तक वे बांग्ला बोलने लगे थे जो उनके इर्दगिर्द व्याप्त विशाल मैदानी कृषि-क्षेत्र की भाषा थी। 1880 तक वे पूर्णतः बांग्ला भाषाभाषी हो चुके थे। एक सदी पहले इस क्षेत्र में कोई साप्ताहिक हाट-बाजार नहीं था और केवल इधर-उधर घूमकर अपना सामान बेचने वाले सौदागर दिखाई देते थे। जब इस क्षेत्र में हिन्दू आप्रवासियों का अबाध प्रवाह आरंभ हुआ तो धीरे-धीरे उनके समाज के शिखर से नीचे की ओर भूमिजों के हिंदूकरण की प्रक्रिया भी आरंभ हो गई। उन्होंने वास्तविक राजपूत-क्षत्रिय वंश-परंपरा का दावा किया। प्रमुख हिन्दू देवी-देवताओं के नए त्योहार और राजपूत-क्षत्रिय का अत्यंत प्रशंसित व्यवहारगत मॉडल इस रूपांतरण की स्पष्ट विशेषताओं के रूप में उभरे। बाहरी तौर पर ब्रिटिश प्रशासन की दखलंदाजियों की आड़ में हिन्दूकरण की प्रक्रिया जारी रही।

डेविड मेंडेलबॉम ने कोटा जनजाति का अनेक बार अध्ययन किया है और बाहरी दुनिया के साथ उनके बदलते संबंधों पर उन्होंने कई लेख लिखे हैं। अतीत के बिखरे सूत्रों को पुनः जोड़ने के क्रम में मेंडेलबॉम इस लोकप्रचलित ऐतिहासिक धारणा को थोड़ा बहुत विश्वसनीय मानते हैं कि कभी कोटा, टोडा और कुरुंबा नीलगिरि पठार के अकेले निवासी थे और वे क्रमशः शिल्पी या कारीगर, चरवाहे और भोजन संग्राहक थे। इसके बाद कई शताब्दियों पहले युद्ध शरणार्थियों के रूप में मैसूर से बडागा किसान

आए और वहां बस गए। इन चारों समुदायों ने अपनी एक छोटी-सी सामाजिक प्रणाली विकसित कर ली जिसमें जातीय ढांचे की तरह आर्थिक व प्रथागत तौर पर अन्योन्याश्रय संबंध तो था ही, शक्ति और शुद्धता के लिहाज से एक सुस्पष्ट वर्गानुक्रम (hierarchy) भी व्याप्त था। अंग्रेजों और मैदानी इलाकों के लोगों के शांतिपूर्ण प्रवेश के साथ जो इस पठारी भू-भाग में विशेष रुचि रखते थे, एक नया युग आरंभ हुआ। उन्नीसवीं सदी के आरंभ में जब अपने 'हिल स्टेशन' बनाने के लिए अंग्रेज वहां पहुंचे तो इस क्षेत्र में व्यापारी पहले से मौजूद थे और श्रमिकों ने मैदानों से वहां पहुंचना आरंभ कर दिया था। कोटा लोगों को मिशनरी तथा सरकारी प्रयासों से थोड़ी-बहुत शिक्षा प्राप्त करने का अवसर मिला। धीरे-धीरे वे सभ्य और शालीन हो गए। कोटा लोगों के एक सुधारवादी वर्ग ने अपने आचार-व्यवहार का संस्कृतीकरण करना आरंभ किया। यह विशेष रूप से उन पक्षों में दृष्टिगोचर हुआ जिन्हें नीलगिरि की अन्य जनजातियाँ हेय दृष्टि से देखती थीं। मेंडेलबॉम इस बात का खंडन करते हैं कि ये परिवर्तन धीमे और आत्म-निर्धारित थे।

पलियन दक्षिण पश्चिम भारत के मुख्यतः खाद्य संग्राहक लोग हैं जिन्हें सदियों से मधु इकट्ठा करने वाले शर्मीले समुदाय के रूप में मान्यता मिली हुई है। वे दक्षिणी तमिलनाडु को केरल से अलग करनेवाली पर्वतीय शृंखलाओं की पूर्वी ढलान पर वृंदों के रूप में बिखरे हुए हैं। अनेक शताब्दियों से पलियनों ने अपने इर्दगिर्द रहनेवाले मैदानी तमिलों के साथ अनियमित, मामूली-सा संपर्क बनाए रखा है। इस संपर्क का सबसे सतर्क पक्ष धातु के उपकरणों, वस्त्रों और मसालों जैसी वस्तुओं के बदले वन्य उत्पादों का मूक विनिमय है। पर जंगल के ठीकेदार उनकी तलाश में दुर्गम, शुष्क और कंटकाकीर्ण वन में पहुंच गए क्योंकि उन्हें रीठा, भांग और बारहसिंगों के सींग हासिल करने के लिए विशेष प्रकार के मजदूरों की आवश्यकता थी। धमकियों द्वारा और यदा-कदा बंदूक की नोक पर पलियनों को अनुबंधित श्रमिक बनने के लिए विवश किया गया। जोर-जबर्दस्ती की इन घटनाओं का अनुभव करने के बाद पलियनों के कुछ समूह पलायन करके यायावरों का जीवन जीने लगे। इस तरह संपर्क और अलगाव के बीच जो विविधता है उसे चक्रीय मानना सबसे उपयुक्त है। बाहरी लोगों के साथ पलियनों के संपर्क के दूसरे चरण को गुणात्मक के बजाय परिमाणात्मक रूप से देखना ज्यादा उपयुक्त होगा। मेंडेलबॉम इसके कारणों के रूप में जिन तत्वों का उल्लेख करते हैं वे हैं : (क) वन्य उत्पादों का अधिकाधिक दोहन; (ख) निम्नवर्ती घाटियों में जहां पलियन लंबे समय से रहते आ रहे हैं, बागानों का विकास; (ग) सदाशय विकास अधिकारियों, मलेरिया उन्मूलन समूह आदि का प्रवेश और (घ) भौतिक प्राप्तियों का प्रलोभन (पीटर गार्डनर, 1972)। परन्तु जब पलियन एक

जगह बस जाते हैं तो एक गुणात्मक परिवर्तन देखने में आता है।

औपनिवेशिक प्रशासन कुल मिलाकर कानून-व्यवस्था के प्रति सजग प्रशासन था। इसने निश्चित तौर पर एक उत्प्रेरक का काम किया पर स्वातंत्र्योत्तर काल में सामाजिक परिवर्तन की गति कई गुना बढ़ गई। कल्याण एवं विकास संबंधी उपायों के प्रभाव में होनेवाले परिवर्तन के कुछ पहलुओं पर चर्चा इस पुस्तक के एक अलग अध्याय में की गई है जिसका शीर्षक 'सामाजिक परिवर्तन और समसामयिक जनजातीय समाज' है।

# 25

# जनजातीय समाजों पर हिन्दू धर्म, ईसाई धर्म, बौद्ध धर्म और इस्लाम का प्रभाव

भारत विश्व के सभी प्रमुख धर्मों के अनुयायियों का निवास स्थल है। इस धार्मिक बहुलता ने सांस्कृतिक बहुलतावाद के हमारे समृद्ध और बहुरंगे-बहुआयामी फलक को व्यापक बनाया है। जनजातीय भारत भी धार्मिक मतावलंबन की दृष्टि से एकरूप नहीं है।

यद्यपि जनजातीय आबादी के बहुसंख्यक अंश ने अब भी अपनी विशिष्ट आस्थाओं तथा व्यवहारों को बरकरार रखा है, उनमें से नब्बे प्रतिशत से ज्यादा लोग हिंदूकरण के प्रति अभिमुखन दर्शाते हैं और इसके विभिन्न चरणों से गुजर रहे हैं। पश्चिमी भारत (राजस्थान, गुजरात और महाराष्ट्र), दक्षिण भारत (आंध्र प्रदेश, कर्नाटक और तमिलनाडु), मध्य भारत (मध्य प्रदेश/छत्तीसगढ़) और पूर्वी भारत (बिहार/झारखंड, उड़ीसा, पश्चिम बंगाल) की संपूर्ण जनजातीय आबादी का 95% से ज्यादा भाग हिंदूकरण की ओर उन्मुख हो चुका है जबकि अन्य हिंदूकृत जनजातियाँ पूरे देश में यत्र-तत्र बिखरी हुई हैं। मोटे तौर पर यह अनुमान लगाया जाता है कि जनजातीय आबादी का तकरीबन 5% भाग ईसाई धर्मावलंबी है और बहुत हद तक असम, मेघालय, नागालैंड, मणिपुर और मिजोरम में संकेंद्रित है। यत्र-तत्र बिखरे पॉकेटों के रूप में ईसाई धर्मांतरित जनजातियाँ केरल, अंदमान और निकोबार द्वीप समूह, बिहार/झारखंड, मध्य प्रदेश/छत्तीसगढ़ और उड़ीसा में भी पाई जाती है। जहां तक इस्लाम और बौद्ध धर्म का सवाल है भारत की कुल जनजातीय आबादी में इन धर्मों के अवलंबियों का अंश लगभग आधा प्रतिशत (0.21% से 0.89%) है। अन्य धार्मिक विश्वासों या मतों के अवलंबियों की संख्या इतनी कम और गौण है कि वे जनजातीय भारत के मानचित्र पर बड़ी मुश्किल से दिखाई देते हैं। गुजरात के सिद्‌दी, उत्तर-पश्चिमी हिमालय क्षेत्र के गुज्जर, जम्मू और कश्मीर के बकरवाल, राजस्थान के कुछ भील, कोटी और धनकासी मुसलमान जनजातियों के उदाहरण हैं। लक्षद्वीप की लगभग संपूर्ण जनजातीय आबादी मुसलमान है और यह एकमात्र ऐसा स्थान है जहां

वे इतनी बड़ी तादाद में विद्यमान हैं। बौद्ध धर्म का प्रभाव उत्तर पश्चिमी हिमालय के भोटियों, उत्तर-पूर्वी हिमालय क्षेत्र के भूटिया, लेपचा, चकमा और नागाओं तथा अरुणाचल प्रदेश एवं लद्दाख की कुछ जनजातियों के संदर्भ में देखा जा सकता है।

## हिन्दू धर्म और जनजातियाँ

भौगोलिक दृष्टि से अलग-थलग जनजातियों में से कुछ को छोड़कर भारत की लगभग सभी जनजातियों के सामाजिक संगठन और उनकी संस्कृतियां जनजातीय समाजों पर हिन्दू धर्म का प्रभाव दर्शाती हैं। ब्रिटिश शासन की स्थापना और इसके बाद विकसित संचार के साधनों के फलस्वरूप बाहरी दुनिया के साथ भारत का तेजी से सांस्कृतिक संपर्क हुआ। अब तक दुर्गम या अप्रवेश्य माने जानेवाले अनेक जनजातीय क्षेत्रों में प्रवेश संभव हो गया। इस तरह जनजातीय क्षेत्रों के ऊपर पहले जो पर्दा था वह हट गया। पर यहां यह बात भी गौरतलब है कि हिन्दू धर्म, बौद्ध धर्म, इस्लाम और ईसाई धर्म के अनेक मूल्यों को अपनाने के बावजूद जनजातीयता और जनजातीय व्यवहार शैली के विशिष्ट पक्ष अपने पूर्व रूप में बरकरार रहे।

जनजातीय समाजों और बाहरी दुनिया के बीच बढ़ता संपर्क कृषकीकरण (Peasantization) के रूप में सामने आया। जब कोई जनजातीय समाज पड़ोसी हिन्दू कृषक समुदाय के साथ संपर्क में आता है (जैसा कि अधिकांश जनजातियों के संदर्भ में देखा गया है) तो यह न केवल कृषि की कला में दक्षता हासिल करने में सफल होता है बल्कि कृषकीकरण की इस प्रक्रिया में स्थानीय तौर पर लोकप्रिय हिन्दू विश्वासों और व्यवहारों को भी अपनाता है। अन्य दृष्टियों से भी उत्तर पूर्वी क्षेत्र, बंगाल की खाड़ी तथा कुछ अन्य अलग-थलग क्षेत्रों में रहनेवाली जनजातियों को छोड़कर अन्य जनजातियाँ भारतीय सभ्यता की सांस्कृतिक प्रक्रिया का एक हिस्सा हैं हालांकि उनका अंशदान बहुत कम है। 'रामायण' और 'महाभारत' जैसे महाकाव्यों में उनकी (जनजातियों की) चर्चा तथा अनेक जनजातीय समाजों में प्रचलित देवकुल (Pantheon) और आख्यानों के स्थानीय संस्करणों में उनका विद्यमान होना इसी तथ्य का परिचायक है। अनेक जनजातियों के बीच प्रचलित **राम कथा** के दो दर्जन से अधिक संस्करण हिंदूकरण की उन शक्तियों को द्योतित करते हैं जिन्होंने अनेक प्रकार से जनजातीय समाजों को प्रभावित किया है।

इसके अलावा भी अधिकांश मामलों में हिन्दू विश्वासों और मूल्यों को अपनाने की प्रक्रिया बहुत सहज ढंग से संपन्न हुई है और इसमें सुनियोजित प्रचार गतिविधियों का कोई विशेष योगदान नहीं है। ईसाई और इस्लाम जैसे प्रमुख धर्मों के अपने निश्चित सिद्धांत हैं और उन्हें अपनाने का सरल अर्थ यह है कि जनजाति को अपने मूल्यों,

रिवाजों तथा संपूर्ण सांस्कृतिक जीवन दृष्टि (ethos) का त्याग करना पड़ता है। यह अतीत को त्यागकर एक नई दुनिया में प्रवेश करने जैसा है। इसके विपरीत हिंदूकरण की धारा में शामिल होने की प्रक्रिया अत्यंत सहज और स्थानीय जनजातीय संस्कृतियों के अनुरूप प्रतीत होती है। कोई जनजाति अपने अनेक मूल्यों और विश्वासों को जारी रख सकती है और साथ ही किसी नए देवता या भगवान को भी अपना सकती है। यह भारतीय समाज में जनजाति-जाति निरंतरता का मूल तत्व है। अनेक जनजातीय समुदायों ने स्वयं को निश्चित जातियों में रूपांतरित कर लिया है और हिन्दू धर्म के रीति रिवाजों आदि को इस हद तक अपना लिया है कि उनकी चर्चा हिन्दुओं के रूप में की जाने लगी है। परन्तु उच्च्य जातियों के साथ अपने सामाजिक संपर्क को वे अब भी स्थापित नहीं कर पाये हैं। इस कोटि में गोंड, भील, भूमिज आदि मध्य भारतीय जनजातियाँ आती हैं।

पर यह उन जनजातियों की एक और कोटि हो सकती है जिनका हिन्दू समाज में पूर्ण रूप से सात्मीकरण हो चुका है। "यही वह स्तर है जहां एक जनजाति, जाति (विशेषकर अनुसूचित जाति) का रूप ले लेती है और हिन्दू धर्म के तत्वों को अपनाने के बाद भी जनजातीय मूल्यों तथा जीवन दृष्टि को बरकरार रखती है। इस बिन्दु पर आकर धर्म और जादुई विश्वास एक-दूसरे में घुल-मिल जाते हैं और गोत्र का स्वरूप वैदिक के बजाय टोटेमवादी या गणचिह्नाधारित हो जाता है" (जी.एस.भट्ट, 1963)। यहां हमारा साक्षात्कार जातियों से नहीं बल्कि 'जनजातीय जातियों' से होता है। यह हिन्दू धर्म और जनजातीयता का संगम है।

भूमिज के ऐतिहासिक और नृजातीय (ethnographic) अध्ययनों के आधार पर सुरजीत सिन्हा (1962) "जनजातीय-राजपूत निरंतरता" की अवधारणा प्रस्तुत करते हैं। वे भूमिज, मुंडा और गोंड जैसी मध्य भारतीय जनजातियों में राजपूत 'मॉडल' के प्रचलन और इसके अनुरूप उनकी बदलती आत्म-छवि तथा अस्मिता की चर्चा करते हैं। कोल जनजाति (उत्तर प्रदेश और मध्य प्रदेश/छत्तीसगढ़) के हिंदूकरण की प्रक्रिया के बारे में चर्चा करते हुए ग्रिफिथ (1946) ने यह विचार व्यक्त किया था कि प्रकटतः वे जनजाति के अंदर लघु जाति व्यवस्था का निर्माण कर रहे हैं जो किसी न किसी रूप में हिन्दू जाति व्यवस्था पर आधारित है।

उत्तरी, पश्चिमी और मध्य भारत की जनजातियों के आधुनिक नृजातीय (ethnographic) अध्ययनों के फलस्वरूप इस बात को लेकर बहुत कम संदेह रह गया है कि उनमें से अनेक इस हद तक हिन्दू रीति-रिवाजों व धार्मिक परंपराओं को अपना चुकी हैं कि वे जाति व्यवस्था में विभिन्न स्तरों पर विभिन्न जातियों के साथ घुल-मिल गए हैं। थारु (एस.के.श्रीवास्तव, 1958) और खासा (डी.एन. मजूमदार, 1962) स्वयं को

क्षत्रियों के रूप में मान्यता दिलाने में बहुत हद तक सफल हो गए हैं। इसके अलावा क्षत्रीयकरण की प्रक्रिया भारतीय समाज में संस्कृतीकरण का सबसे लोकप्रिय रूप रहा है। सच्चिदानंद (1964) उरांव लोगों के बीच हिंदूकरण और उरांव समाज के रूपांतरण में ताना भगत आंदोलन की भूमिका का विस्तृत ब्यौरा देते हैं।

हिन्दू धर्म के प्रभाव और हिन्दुओं के साथ सांस्कृतिक संपर्क के परिणामस्वरूप जनजातियों ने हिन्दू रिवाजों, परंपराओं, विश्वासों, देवी-देवताओं, उत्सवों और त्योहारों तथा नई वर्जनाओं को अपनाया। अनेक बार उन्हें सामाजिक दृष्टि से अपात्रता के विधानों को झेलने के लिए विवश होना पड़ा तथा गोमांस का सेवन और मदिरापान छोड़ना पड़ा। इस रूपांतरण में ब्राह्मणों के योगदान का वर्णन करते हुए जी.एस.भट्ट (वही) हमें बताते हैं कि ब्राह्मणों ने हिन्दू धर्म को दो तरह से प्रचारित-प्रसारित किया। एक ओर तो उन्होंने जनजातीय समुदायों को अपनी सेवाएं प्रदान कीं, हिन्दू विश्वासों और व्यवहारों से उनका परिचय कराया और मिथकीय साक्ष्यों के आधार पर जाति के संबंध में उनके दावे को उचित एवं विधानसम्मत ठहराया। ब्राह्मणों ने इस दृष्टिकोण का प्रचार किया कि प्रत्येक जनजाति का उद्भव जाति में अंतर्भूत है और पुराणों तथा महाभारत से एकत्र साक्ष्यों के ज़रिए इसकी पुष्टि की। यदि किसी जनजाति अथवा जाति की सामाजिक प्रस्थिति निम्न होती थी तो वे यह विचार व्यक्त करते थे कि वे क्षत्रिय कुल के हैं और वैदिक रीति-रिवाजों तथा वर्जनाओं के प्रति उपेक्षा का भाव रखने के कारण ही वर्तमान समय में दुर्दशा का शिकार हो गए हैं। इस तरह उन्होंने जनजातीय समुदायों में पुनः यह उम्मीद जगाई कि वे खोये हुए सांस्कृतिक तत्वों को 'पुनः अपनाकर' तथा पुनर्जीवित करके सामाजिक प्रस्थिति की दृष्टि से अपनी पुरानी प्रतिष्ठा फिर हासिल करें। भीलों की अनेक उपजातियों में प्रचलित मिथकीय कथाओं में से एक इस लिहाज से महत्त्वपूर्ण है। भीलों की सामान्य दशा बहुत खराब रही है और अब भी ऐसा ही है। गरीबी और शोषण में आकंठ डूबे अनेक भील अपराधी बन गए हैं और उन्होंने चोरी, जुआ, डकैती आदि जैसी आपराधिक गतिविधियों को अपनी जीवन-शैली बना लिया है। उनका विश्वास है कि पार्वती भील थीं और जब उन्होंने विवाह के लिए शिव से वधू धन (Bride Wealth) की मांग की तो शिव ने यह कहते हुए उनकी मांग ठुकरा दी कि वे एक भिक्षुक हैं और उन्हें धन संचय से कोई मतलब नहीं है। धन प्राप्त करने के लिए उन्होंने नंदी की हत्या कर दी क्योंकि उन्होंने सुन रखा था कि नंदी के कंधों के अंदर अनेक अनमोल मोती होते हैं। परिणामस्वरूप उन्हें गरीबी और विपदा-ग्रस्त जीवन का शाप दिया गया पर साथ ही महादेव ने उन्हें यह वरदान भी दिया कि यदि वे अपने जीविकोपार्जन के लिए चोरी करते हैं तो यह उनके

लिए कोई पाप या अभिशाप नहीं होगा। यही कारण है कि भीलों की कुछ उप-जनजातियाँ स्वयं को 'शिव के चोर' मानती हैं।

जनजातियों पर हिन्दू धर्म के प्रभाव का एक 'नकारात्मक' पक्ष सीधे-सादे जनजातीय रस्म-रिवाजों के स्थान पर अत्यंत जटिल तथा विचित्र किस्म के उन हिन्दू रिवाजों की शुरुआत है जिन्हें संपादित करने के लिए धन और किसी पुरोहित की सेवाओं की आवश्यकता होती है। बाल विवाह कभी जनजातियों की विशेषता नहीं रहा है। युवागृह की व्यवस्था समाप्तप्राय हो चुकी है और इसने अनेक तनावों को जन्म दिया है। जनजातीय लोग अपनी धार्मिक-जादुई आस्थाओं और व्यवहारों में विश्वास खो रहे हैं परन्तु आस्था के किसी नए आधार ने इसे विस्थापित नहीं किया है। जहां कहीं विवाह-पूर्व और विवाहेत्तर यौन संबंधों को सामाजिक स्वीकृति मिली हुई है वहां बाहर के लोगों ने इससे फायदा उठाया है और इसके फलस्वरूप बड़े निर्मम ढंग से जनजातीय आबादी का शोषण हुआ है। जबतक ये संबंध तदनुरूपी जनजातीय समुदाय के दायरे के अंदर सीमित थे तब तक ये सामाजिक समस्याएं नहीं थीं। आजकल यह उनके नैतिक पतन के लिए जिम्मेदार हो गया है जिसके फलस्वरूप वेश्यावृत्ति की शुरुआत हुई है। अनेक जनजातियों में वधू धन की प्रथा के बदले दहेज प्रथा की शुरुआत हो चुकी है और यदि पूर्ववर्ती प्रथा अब भी अस्तित्व में है तो इसे जारी रखने की कीमत विपुल परिमाण में नकद राशि के रूप में चुकानी पड़ रही है जिसके कारण उन पर कर्ज का बोझ बढ़ता जा रहा है। अनेक जनजातियों में वधू धन ने दहेज का भीषण रूप ले लिया है जिसके परिणामस्वरूप छोटानागपुर क्षेत्र की अनेक विवाह योग्य लड़कियों को संभावित वर द्वारा वधू धन की मोटी रकम नहीं दे पाने की स्थिति में अविवाहित रहने के लिए विवश होना पड़ रहा है।

जिस किसी क्षेत्र में जनजातियों ने स्वेच्छा से, बिना किसी दबाव के और अपने निजी दृष्टिकोण के अनुरूप हिन्दू धर्म को अपनाया है, उसने एक नई सामाजिक-सांस्कृतिक प्रणाली को जन्म दिया है जो हिन्दू धर्म और जनजातीयता का मिश्रित रूप या समावेश है और एक ही साथ हिन्दू भी है और जनजातीय भी। बंगाल के राजवंशी हिन्दू धर्म स्वीकार करने के कारण एक ओर तो जाति समाज के स्तर तक पहुंच गए हैं जबकि दूसरी ओर उन्होंने अपने पारंपरिक सामाजिक संघटन को बरकरार रखा है। सभी राजवंशी एक ही गोत्र (कश्यप) से संबद्ध होने का दावा करते हैं परन्तु उनमें गोत्र अंतर्विवाह का प्रचलन है जो हिन्दू धर्म में मान्य नहीं है। दक्षिण भारत के लंबाड़ी विवाह के विधि-विधानों में किसी ब्राह्मण पुरोहित की मदद लेते हैं। पहले वे ममेरी या चचेरी बहन से विवाह नहीं करते थे पर अब वे इस रीति का पालन करने

लगे हैं क्योंकि अनेक हिंदू जातियां इसका पालन करती हैं। गोंड, भील और छोटानागपुर क्षेत्र के आसपास रहनेवाली अनेक जनजातियों ने भी स्थानीय हिंदुओं में प्रचलित किसी न किसी रीति या व्यवहार को अपना लिया है।

एक और तथ्य जिसका उल्लेख करना युक्तिसंगत है, प्रकटतः बहुत सार्थक और महत्त्वपूर्ण है। दुर्भाग्यवश जनजातीय क्षेत्रों में हिन्दुओं के सबसे पहले प्रतिनिधि महाजन, व्यापारी, ठेकेदार और सरकारी अधिकारियों सरीखे शोषक समुदायों के लोग थे। जनजातीय समुदायों के लोग उनसे घृणा करते हैं पर हिन्दुओं अथवा हिन्दू धर्म के प्रति उनमें कोई घृणा नहीं है। शायद संत, साधु, महात्मा और संन्यासी जैसी कोटियों के लोग उदार और परोपकारी थे जिनकी भूमिकाओं ने जनजातीय लोगों को इस बात के प्रति पूरी तरह आश्वस्त कर दिया कि हिन्दू धर्म उनके लिये शोषण का वाहक नहीं है।

## बौद्ध धर्म, इस्लाम और ईसाई धर्म

लोकप्रिय हिन्दू धर्म और हिंदूकरण की प्रक्रिया जनजातीय भारत में इतनी व्यापक रही है कि अन्य धार्मिक विचारधाराओं और प्रणालियों की भूमिका गौण प्रतीत होती है। पर जहां तक बौद्ध धर्म, इस्लाम और ईसाई धर्म के प्रभाव का प्रश्न है, बौद्ध धर्म और इस्लाम की भूमिकाएं ईसाई धर्म की अपेक्षा काफी कम महत्त्वपूर्ण प्रतीत होती है। जनजातियों में इस्लाम और ईसाई धर्म का लोकप्रिय होना इस लिहाज से भी संदिग्ध हो सकता है कि इनमें से किसी एक को अपनाने का अर्थ अतीत से अपने संपर्क-सूत्रों को समाप्त करना है। कुछ निश्चित व कठोर धार्मिक सिद्धांतों पर आधारित होने के कारण वे अनेक ऐसे जनजातीय विश्वासों तथा व्यवहारों को पूरी तरह अस्वीकार करने पर बल देते हैं जो जनजातीय लोगों को बहुत प्रिय हैं जबकि हिंदू धर्म को अपनाने से इस तरह की किसी दुविधा का सामना नहीं करना पड़ता है। अत्यंत लचीले और कठोर धार्मिक सिद्धांतों से मुक्त होने के कारण जनजातीय समुदायों के लिए अपनी पसंद और सुविधा के अनुसार आंशिक रूप से भी हिन्दू विश्वासों तथा व्यवहारों को अपनाना हमेशा संभव हो सकता था।

जहां तक बौद्ध धर्म का सवाल है, केवल कुछ ही जनजातियाँ इसके प्रभाव में आ पाई हैं। ये मुख्यतः उत्तर-पश्चिमी हिमालय के भोटिया और उत्तर-पूर्वी हिमालय क्षेत्र के भूटिया, लेप्चा, चकमा तथा नागा हैं। अरुणाचल प्रदेश के कुछ जनजातीय समुदाय भी बौद्ध धर्म के प्रभाव में आ चुके हैं। इसके साथ-साथ लद्दाख (जम्मू और कश्मीर) की जनजातीय आबादी ने भी पिछले कुछ समय से बौद्ध धर्म को अपना लिया है।

इस संदर्भ में यह तथ्य ध्यातव्य है कि किसी जनजातीय समुदाय ने किसी नई आस्था-प्रणाली या धार्मिक मत को पूरी तरह नहीं अपनाया है। ऐसी प्रत्येक जनजाति के धर्मांतरित तथा गैर-धर्मांतरित सदस्य साथ-साथ रहते हैं। यदि हम अरुणाचल प्रदेश की स्थिति पर विचार करें तो यह पता चलता है कि जनजातीय आबादी को बौद्धों एवं उन लोगों में विभक्त किया जा सकता है जिन्होंने जीवात्माओं में अपना विश्वास जारी रखा है अथवा नहीं। कामांग की ऊँची पहाड़ियों तथा सियांग और सुबांसिरी जिलों में रहने वाली पश्चिमी अरुणाचल प्रदेश की जनजातियाँ महायान अथवा तिब्बती बौद्ध धर्म का अनुपालन करती हैं। लोहित जिले के तराई वाले क्षेत्रों में रहनेवाले खामती बौद्ध धर्म की, *हीनयान* शाखा से संबद्ध हैं। जिन लोगों ने बौद्ध धर्म को अपना लिया है वे एक *गोम्पा* की देखभाल करते हैं। यह एक अत्यंत पवित्र स्थल है जहां बुद्ध की प्रतिमा स्थापित की जाती है और पवित्र धर्मग्रंथ रखे जाते हैं। लामा नामक एक या अधिक धार्मिक विशेषज्ञ प्रत्येक गोम्पा से संबद्ध होता है। लगभग प्रत्येक कंपती और सिंगफो गांव में एक मठ होता है जिसे स्थानीय रूप से बापुचान के नाम से जाना जाता है। खामतियों के पड़ोसियों के रूप में रहते हुए सिंगफो लोगों ने उनका अनुसरण किया है और उनमें से अधिकांश हीनयान बौद्ध धर्म को स्वीकार कर चुके हैं। अरुणाचल प्रदेश में सामान्य जनजातीय स्थिति पर टिप्पणी करते हुए हेमेनडोर्फ(1983) कहते हैं कि "निशियों में ईसाई धर्मांतरितों के विपरीत जो खोवा बौद्ध धर्म के प्रति आकर्षित हैं वे अपने समुदाय के सामाजिक जीवन से अलग नहीं जाते बल्कि पारंपरिक जनजातीय रस्मों में भाग लेना जारी रखते हैं। इसी तरह शेर्दुकपेन लोग महायान बौद्ध धर्म के प्रति अपनी निष्ठा को उन जनजातीय देवी-देवताओं की सामुदायिक पूजा से संयोजित करते हैं जिनकी पूजन-पद्धति पुरोहितों द्वारा निर्धारित होती है और ये पुरोहित उन लामाओं से पूरी तरह भिन्न होते हैं जो तिब्बती गोम्पा की शैली में निर्मित विशाल गोम्पाओं के प्रभारी होते हैं। मोनपा समुदाय के लोगों में भी प्राचीन बोन धर्म के तत्व और बौद्ध आस्था के प्रधान तत्व एक साथ दिखाई देते हैं तथा दोनों धर्मों के समांतर व्यवहार की तुलना उस द्वंद्वात्मक स्थिति से की जा सकती है जिसने धार्मिक प्रतिस्पर्धाओं से प्रभावित निशियों के सामाजिक ढांचे के सामने विनाश का खतरा पैदा कर दिया है। इससे यह बात प्रकट होती है कि बौद्ध धर्म को अपनाने के बाद भी परंपरागत विश्वासों तथा प्रचलनों को निष्क्रिय नहीं किया जा सकता है। यद्यपि बौद्ध धर्म धीरे-धीरे नैतिकता तथा सामाजिक संघटन की दृष्टि से उनके समाज के अंदर प्रवेश करता जा रहा है परन्तु स्थानीय लघु परंपराओं की जड़ें इतनी गहरी हैं कि उन्हें सरलतापूर्वक त्यागा नहीं जा सकता।

जहां तक इस्लाम का प्रश्न है, यह जनजातीय क्षेत्रों के अंदर मुख्यतः इस कारण से प्रवेश नहीं कर पाया कि इसकी प्रकृति निश्चित व कठोर धर्मसिद्धांत (strict dogmas) पर आधारित थी और इसे मुसलमान शासकों की ओर से आमतौर पर किसी तरह का संरक्षण नहीं मिल पाया। इसे शायद ही कभी आधिकारिक अथवा शाही संरक्षण प्राप्त हो पाया क्योंकि मुसलमान शासक धर्म प्रचारक नहीं थे बल्कि बहुत हद तक अपने साम्राज्य से संबंधित और राजनीतिक उद्देश्यों की प्राप्ति की अभिलाषा रखते थे। अतः इसका प्रचार करने की जिम्मेदारी सूफी संतों और उपदेशकों के कंधों पर आ गई। इसी कारणवश हम देखते हैं कि जनजातीय क्षेत्रों पर इसका काफी कम प्रभाव पड़ा। गुजरात के सिद्दियों, उत्तर पश्चिमी हिमालय क्षेत्र के गुज्जरों के कुछ वर्गों, कुछ भीलों तथा राजस्थान के धनकासी और कोटियों ने इस्लाम को स्वीकार कर लिया है। जम्मू और कश्मीर में गद्दी और बकरवाल जैसे कुछ छोटे पशुचारक समुदायों ने भी मुख्यतः सूफी संतों के सदाशय प्रभाव में आकर इस्लाम धर्म स्वीकार कर लिया है। लक्षद्वीप एकमात्र ऐसा उदाहरण है जहां पूर्ण रूप से इस्लाम में धर्मांतरण हुआ है। इसके बाद भी पूरे देशों में इस्लाम को अपनानेवाली जनजातीय आबादी एक प्रतिशत सें कम ही है।

लक्षद्वीप की जनजातीय आबादी सात मुसलमान जनजातीय समुदायों से मिलकर बनी है। इनके नाम हैं- कोया, मालमी, मेलाचेरी, मनीकफान, थकरूफान, थकरू और रेवेरीं। पीपल्स ऑफ इंडिया प्रोजेक्ट के अंतर्गत हाल में लक्षद्वीप समाज का गहराई से अध्ययन किया गया है और हमारे पास उनके बारे में बिल्कुल ताजे नृजातीय आँकड़े उपलब्ध हैं। के.एस. सिंह (Peoples of India Project, 1993) हमें बताते हैं कि अब तक एक तथ्य पूरी तरह स्थापित हो चुका है और वह यह है कि अरब सागर के द्वीपों पर इस्लाम दक्षिणी अरब से आया और इसकी अपनी शैली (Idiom) और अपना एक विशिष्ट ढांचा था। लक्षद्वीप के टापुओं का इस्लामी ढांचा भी दक्षिण भारतीय मुस्लिम समाज का एक हिस्सा था। पर ऐसा प्रतीत होता है कि इस्लाम का यहां आगमन मलाबार तट से हुआ। अंदरोथ में श्रद्धेय संत उबैदुल्ला की समाधि इस दृष्टि से बहुत महत्त्वपूर्ण है क्योंकि यह जिस द्वीप पर स्थित है वह तट के सबसे नजदीक है। न केवल अरबी भाषा के शब्द मलयालम में दाखिल हो गए बल्कि मलयालम भाषा के लिए अरबी लिपि का प्रयोग होने लगा।" मातृकुल पर आधारित पारिवारिक इकाई को तारावाड़ कहा जाता है। विशेष रूप से इस्लाम के संदर्भ में लक्षद्वीप में विद्यमान मातृकुल (Matriliny) की संस्था का गहरा अध्ययन किया गया है (लीला दुबे और कुट्टी : *मेट्रीलिनी इन इस्लाम*) । विद्वानों ने यह जानकारी दी है कि मातृकुल आधारित समूहों और मातृकुल की विचारधारा का पतन इस्लाम की विचारधारा और

कार्य-व्यवहार के कारण हुआ है जो सेमिटिक परिवेश में उत्पन्न धर्म के रूप में पितृकुल संबंधी प्रतिमानों और पैतृक सत्ता का समर्थन करता है। जीवन चक्र संबंधी रीति-रिवाजों (Life Cycle rituals) का निरंतर इस्लामीकरण भी होता रहा है। उदाहरण के तौर पर नायर की तरह बालिकाओं के यौवन से संबंधित संस्कारों (Puberty rites) को त्याग दिया गया है क्योंकि यह इस्लाम के विरुद्ध माना जाता है। पिता अब एक नई जिम्मेदारी निभाने लगा है। नातेदारी संज्ञाएं भी इस्लाम के प्रभाव को दर्शाती हैं। इस्लामीकरण का एक पक्ष नई धार्मिक धारा का उत्थान है जिसकी झलक विभिन्न पर्व-त्योहारों में दिखाई देती है जो हजरत मुहम्मद के जन्म दिन से संबद्ध हैं। शरीयत के अनुरूप धार्मिक व्यवहारों पर बल दिया जाता है जबकि पुराने रीति-रिवाज गायब होते जा रहे हैं। लोकनृत्य अपना प्रचलन खो रहे हैं यद्यपि मोपिला लोकगीतों के कैसेट अब भी बहुत लोकप्रिय हैं। इस्लामी व्यक्तिगत कानूनों का वर्चस्व है। सभी सात समूहों में अब ममेरे-फुफेरे भाई-बहनों का विवाह सबसे अधिक प्रचलित विवाह प्रकार माना जाता है। स्त्रियों का दर्जा समाज में बहुत ऊंचा है और निर्णय निर्धारण की प्रक्रिया में उन्हें पूरी मजबूती से अपनी बात कहने का अधिकार है।

पूरी आबादी में इस्लामी वृहत परंपराओं को सर्वोच्च स्थान प्राप्त है। परन्तु धर्मांतरण-पूर्व की स्थानीय लघु परंपरा अब भी लोकप्रिय है। ऐसा केवल लक्षद्वीप के लोगों के ही साथ नहीं हुआ है बल्कि यह एक सार्वभौमिक प्रघटना है। इस बारे में बिल्कुल सही दृष्टि अपनाते हुए योगेन्द्र सिंह (1996) कहते हैं कि इस्लामीकरण केवल सांस्कृतिक जीवन में कट्टर इस्लामी सिद्धांतों में वृद्धि के आधार पर नई पहचान हासिल करने वाले धर्मांतरितों के बीच बढ़ती प्रवृत्ति का द्योतक ही नहीं है बल्कि यह अनेक ऐसे समन्वयवादी तत्वों को सजगतापूर्वक अस्वीकार करने की प्रवृत्ति को भी इंगित करता है जो उनकी संस्कृतियों में अब तक उनके हिन्दू (या जनजातीय) अतीत के अवशेषों के रूप में विद्यमान रहे हैं। *तबलीगी जमात* जैसे कट्टरपंथी संगठनों ने इस्लामी शुद्धता के नाम पर पूर्व-मुस्लिम/पूर्व-इस्लामी सांस्कृतिक तत्वों को 'निर्मूल' करने के प्रयासों में अग्रदूत की भूमिका निभाई है। पर मुस्लिम जनजातियों के साथ सामान्य मुस्लिम आबादी में भी प्रतिलोमी प्रवृत्ति दिखाई देती है। इसका उद्देश्य बहुत हद तक स्थानीय हिन्दू लघु परंपराओं तथा इस्लामी वृहत् परंपराओं के बीच सहजीविता या समन्वयन के सूत्र स्थापित करना है।

अपनी कठोर धार्मिक प्रकृति के बावजूद यदि इस्लाम जनजातीय समाजों में अपने अवलंबी या अनुयायी बना पाने में कुछ हद तक सफल रहा तो उसकी वजह मुख्यतः यह थी कि इस्लाम का विकास एक यायावर सामाजिक-सांस्कृतिक परिप्रेक्ष्य में हुआ और इसकी सामाजिक संरचना का चरित्र जनजातीय और समतावादी था। पर स्वयं

मुस्लिम जनजातीय समाज संरचना और संघटन में स्पष्ट आंतरिक विभेदीकरण दर्शाते हैं।

हिन्दू धर्म और हिंदवीकरण के बाद ईसाई धर्म का प्रभाव भारत की जनजातियों के बीच परसंस्कृतीकरण (Acculturation) संबंधी अध्ययनों का सबसे महत्त्वपूर्ण क्षेत्र रहा है। ईसाई धर्म के विस्तार और प्रभाव के बीज भारत में ब्रिटिश औपनिवेशिक शासन की स्थापना में तलाशे जा सकते हैं जिसके फलस्वरूप जनजातीय क्षेत्रों और खासकर उत्तर-पूर्वी हिस्से एवं बिहार/झारखंड, उड़ीसा तथा बंगाल के विभिन्न हिस्सों में मिशनरी संघटनों और गिरजाघरों की स्थापना हुई। एक तरफ इन मिशनों ने ईसाई धर्म का प्रचार-प्रसार किया तो दूसरी तरफ उन्होंने शिक्षा एवं स्वास्थ्य जैसे समाज सेवा के क्षेत्रों में विस्तृत प्रणाली की नींव भी डाली। इस तरह ईसाई धर्म जनजातीय क्षेत्रों में जनकल्याण का प्राचीनतम अभिकरण है।

ईसाई धर्म के भारत आगमन ने निस्संदेह जनजातीय लोगों में इस हद तक आत्मविश्वास के भाव का संचार कर दिया कि वे आत्मसम्मान के साथ नई दुनिया का सामना कर सकते थे, परन्तु साथ ही इसने उनके सामाजिक-सांस्कृतिक जीवन में कई प्रकार की जटिलताओं का भी सूत्रपात कर दिया। इसने जनजातीय समाजों को अनेक हिस्सों में बांट दिया और ये विभाजन जहां कहीं सफलतापूर्वक बरकरार रह पाए वहां लंबवत रूप में थे। उदाहरणस्वरूप, मेघालय के खासी ईसाई और गैर-ईसाई खासियों के रूप में विभक्त थे। गैर-धर्मांतरित खासी धर्मांतरित खासियों को अक्सर घृणा की निगाहों से देखते थे। जहां कहीं ईसाई खासी बहुसंख्यक थे, वे एक प्रमुख और संपन्न समुदाय बन गए परन्तु जिन स्थानों पर वे कम संख्या में थे वहां वे गैर धर्मांतरितों के दबाव को नहीं झेल पाए और उन्हें शहरी केन्द्रों में प्रवास के लिए विवश होना पड़ा या स्वयं को धर्मांतरण के अभियानों से पूरी तरह जोड़ लेना पड़ा। ईसाई धर्मांतरण की गति ने परसंस्कृतीकरण की प्रक्रिया में अनेक बाधाएं पैदा कर दीं। जब कोई जनजातीय समुदाय हिंदवीकरण की प्रक्रिया के प्रति आकृष्ट हुआ तो यह प्रक्रिया धीमी रही और परिवर्तन अकस्मात नहीं हुए। हिंदवीकरण के साथ-साथ जनजातीय विश्वास और व्यवहार जारी रहे परंतु ईसाई धर्म स्वीकार करने के कारण अतीत से आकस्मिक और मूलगामी विचलन या अलगाव की स्थिति देखने में आई। अनेक पारंपरिक जनजातीय विश्वास और प्रचलित व्यवहार उपेक्षित हो गए या उन्हें त्याग दिया गया। जब हम ईसाई धर्म स्वीकार करने के बाद जनजातियों में सांस्कृतिक परिवर्तन के विविध पक्षों पर दृष्टिपात करते हैं तो यह बात सामने आती है कि ईसाई धर्म के प्रसार ने व्यक्तिगत या निजी संपत्ति पर अधिकार और पितृसत्तात्मक परिवार

को प्रोत्साहित किया तथा 'युवागृह' जैसी उनकी पारंपरिक संस्थाओं को समाप्त कर दिया।

कुछ निश्चित स्थितियों में जनजातीय लोगों ने ईसाई धर्म को विद्रोह के प्रतीक अथवा हिन्दू जमींदारों, महाजनों तथा व्यापारियों के विरुद्ध प्रतिक्रिया के रूप में अपनाया। कोल विद्रोह (1932) और छोटानागपुर क्षेत्र तथा इसके आसपास ईसाई धर्म के प्रसार को इस संदर्भ में विचारणीय दृष्टांत माना जा सकता है। ईसाई धर्म अनेक जनजातीय समुदायों और क्षेत्रों में पश्चिमीकरण का प्राचीनतम स्रोत भी रहा है। अनेक ईसाई जनजातीय समुदायों में एक नई और पाश्चात्य किस्म की जीवन-शैली का सूत्रपात हुआ है जिसकी मुख्य विशेषताएं हैं : पश्चिमी शैली के परिधान, टेबुल-कुर्सी पर बैठ कर भोजन करना और पाश्चात्य वेशभूषा में हर रविवार को गिरजाघर जाना। सौंदर्य प्रसाधन, इत्र, साबुन और शैम्पू का इस्तेमाल तथा पश्चिमी संगीत के प्रति रुचि भी ईसाई जनजातियों वाले अनेक क्षेत्रों में दृष्टिगोचर हो सकती है।

उत्तर-पूर्वी क्षेत्र में ईसाई धर्म के प्रसार के फलस्वरूप सबसे मूलगामी परिवर्तन दृष्टगोचर हुआ है। मिजोरम में ईसाई धर्म का आगमन बीसवीं सदी की पहली चौथाई में हुआ। मिजोरम में ईसाई धर्म का प्रचार-प्रसार और औपचारिक एवं आधुनिक शिक्षा का प्रसार—ये दोनों प्रक्रियाएं एक दूसरे की पूरक थीं। मिशनरियों ने लुशाई पहाड़ियों में औपचारिक शिक्षा की शुरुआत की। उन्होंने सामान्य शिक्षा तथा ईसाई धर्म पर केन्द्रित पुस्तकें लिखीं। अंग्रेजी भाषा के प्रसार के साथ-साथ जनजातीय भाषाओं को भी प्रोत्साहित किया गया और उनके विकास पर ध्यान दिया गया। ईसाई धर्म के प्रसार के साथ एक अभिनव आस्था प्रणाली ने जीवात्मा में विश्वास तथा बलियों द्वारा उनके शमन के रिवाजों को विस्थापित कर दिया। "पुरानी मिजो प्रथाओं के अनुसार विवाह और तलाक आसानी से हो जाते थे। ईसाई धर्म के कारण अब विवाह में एक नए धार्मिक तत्व का समावेश हो गया है। एकल विवाह को अब पूर्ण रूप से स्वीकार कर लिया गया है। ईसाई धर्म के प्रचार से पहले यदि कोई मां शिशु के जन्म के समय मर जाती थी तो बच्चे को भी मां के साथ दफना दिया जाता था। मिशनरियों ने मातृविहीन शिशुओं के शिशु सदनों की शुरुआत की जहां ऐसे शिशुओं की देखभाल की जाती थी। चिकित्सा की बेहतर सुविधा उपलब्ध होने के कारण अब शिशु के जन्म के समय माताओं की मृत्यु की संभावना को पूरी तरह समाप्त कर दिया गया है।" (अनिमेष रे, 1993) कोन्याक नागा और आओ नागा जैसी अनेक नागा जनजातियों में ईसाई बनने तथा शिक्षा प्राप्त करके पश्चिमी जीवन शैली अपनाने की प्रक्रियाओं

को आधुनिक व प्रचलित तौर-तरीकों के अनुरूप माना जाता है। गिरजाघर से संबंधित संगठन देशी चावल से बनी शराब (जू) या अन्य किसी तरह की मदिरा के सेवन से परहेज की वकालत करते हैं। वे एकल विवाह का समर्थन तथा तलाक का विरोध भी करते हैं।

के.एन. सहाय (1963) ने छोटानागपुर के आदिवासी ईसाई धर्मांतरितों का एक विस्तृत अध्ययन किया है। इस अध्ययन से हमें यह जानने-समझने में सहायता मिलती है कि कैसे जनजातीय धर्मांतरितों के बीच ईसाई धर्म आत्मछवि और अस्मिता या पहचान में परिवर्तन का सूत्रपात करने में सफल रहा है। वह कहते हैं कि इसका तात्कालिक परिणाम इस रूप में सामने आया है कि आदिवासी धर्मांतरितों ने स्वयं को गैर-ईसाईयों से भिन्न मानना आरंभ कर दिया है और उनके विपरीत एक तरह की "सर्वोच्चता के भाव" से अभिभूत हो गए हैं। उन्हें यह भी लगने लगा है कि वे "दुनिया के सबसे अच्छे धर्म" का पालन करते हैं। कैथोलिक धर्मांतरित स्वयं को ईसाई धर्म के सच्चे अवलंबी मानते हैं। यह ध्यातव्य है कि सांस्कृतिक दृष्टि से एकरूप रह चुका उरांव समाज अब बंट गया है क्योंकि ईसाई धर्म के अनेक पंथ उरांव आबादी वाले क्षेत्रों में काम करने लगे हैं जिसके फलस्वरूप उनके एक वर्ग का धर्मांतरण हुआ है और इसके अनुरूप उनकी आत्मछवि तथा अस्मिता में भी असाधारण परिवर्तन हुए हैं।

जब हम इस पूरी प्रक्रिया में हिन्दू धर्म या हिंदूकरण, ईसाई धर्म और इस्लाम तथा उनके अग्रदूतों की भूमिका का समग्र विश्लेषण करते हैं तो हम पाते हैं कि वे आदिवासी लोगों की सांस्कृतिक स्वायत्तता और सामाजिक-आर्थिक हितों के लिए घातक थे। ब्रिटिश उपनिवेशवादी शासन ने जनजातीय आबादी के पूर्ण अलगाव की नीति का अनुसरण किया जबकि धर्मप्रचारक उनके ईसाई धर्मांतरण में दिलचस्पी रखते थे। हिन्दुओं ने वृहत्तर हिन्दू समाज में उनके पूर्ण विलयन की मांग की और सामाजिक कार्यकर्ताओं ने उन्हें 'सभ्य' बनाने तथा अपनी प्रतिलिपियों के रूप में ढालने का प्रयास किया है। स्वाधीनता आंदोलन और इसके नेता उनके बीच राजनीतिक चेतना का संचार करके उन्हें राष्ट्रीय आंदोलन की मुख्यधारा में लाना चाहते थे। चिंतन की प्रत्येक धारा अपने तरीके से और अपने विशिष्ट दृष्टिकोण से जनजातीय लोगों तथा उनकी समस्याओं को समझना चाहती थी। मानवशास्त्रियों को जनजातीय जीवन-दृष्टि की स्पष्ट समझ थी और वे अपने विषय के अनुरूप विचारधारात्मक स्तर पर जनजातीय लोगों को समझना चाहते थे। "सरकारी वेतन पानेवाले ब्रिटिश मानवशास्त्रियों ने अलगाववाद का समर्थन किया, स्टीफेन फुक्स जैसे

मिशनरी-मानवशास्त्रियों ने हिन्दू धर्म के दायरे के बाहर आदिवासियों के वृहत्तर हित एवं कल्याण की संभावना देखी जबकि वेरियर एल्विन जैसे मानवशास्त्री जनजातीयता और जनजातीय पुनरुत्थानवाद के समर्थक थे। डी.एन. मजूमदार जैसे मानवशास्त्रियों ने जनजातीय संस्कृतियों के संरक्षण पर बल दिया ताकि यह वृहत्तर भारतीय "संस्कृतियों के संघ" का एक हिस्सा बन पाए (जी.एस. भट्ट, वही)।

केवल उस स्थिति में जनजातीय संस्कृतियों को संरक्षित कर पाना, उनकी रक्षा कर पाना तथा भारतीय संस्कृति के महासागर में उन्हें अद्वितीय स्थान दिला पाना संभव हो सकता है जब उनपर परसंस्कृतीकरण (Acculturation)थोपा नहीं जाता है। जब विदेशी धर्मप्रचारक उन्हें ईसाई धर्म में दीक्षित करते हैं तो उनकी सांस्कृतिक स्वायत्तता छिन जाती है। जब हिन्दू संगठन उन्हें हिन्दू बनाते हैं तब भी उनकी सांस्कृतिक स्वायत्तता उसी सीमा तक आहत होती है। इन परिस्थितियों में जनजातीय लोगों का किसी धर्म में सात्मीकरण राजनीतिक रूप ग्रहण कर लेता है। राष्ट्रीय एकता के हित में यह आवश्यक है कि जनजातीय लोगों को अपने भाग्य तथा भविष्य के बारे में निर्णय करने के लिए स्वतंत्र छोड़ दिया जाय। इस प्रकार वे अपनी आवश्यकताओं के अनुरूप एक ऐसे सांस्कृतिक परिवेश के प्रति आकृष्ट हो सकते हैं जो हिन्दू धर्म, ईसाई धर्म, इस्लाम और जनजातीयता के समन्वय पर आधारित हो सकती है। जब तक विदेशी धर्मप्रचारक जनजातीय लोगों के बीच अपनी घुसपैठ बनाए रखेंगे तब तक हिन्दू मिशनरियों तथा कठोर रूप से धर्मांध सामाजिक कार्यकर्ताओं को भी जनजातीय जीवन की संगति में बाधा उत्पन्न करने से नहीं रोका जा सकता। जनजातीय संस्कृतियों को ईसाई, हिन्दू या मुस्लिम—हर प्रकार के मिशनरियों से बचाना आवश्यक है। जी.एस. भट्ट (वही) ने सुसंगत दृष्टिकोण का परिचय देते हुए जनजातीय क्षेत्रों में चर्च के भारतीयकरण की बात उठाई है जिससे इस अध्याय में वर्णित अनेक जटिलताओं की उपेक्षा कर पाना संभव होगा। जब जी.एस.घूर्ये जैसे प्रमुख समाजशास्त्री ने यह टिप्पणी की कि आदिवासी 'पिछड़े हिन्दू' हैं और उन्हें व्यापक एवं पूर्ण सात्मीकरण द्वारा हिन्दू धर्म के दायरे में लाना आवश्यक है तो इस तरह की सोच में विदेशी मिशनरियों की गतिविधियों ने अवश्य ही अपना योगदान दिया होगा। 'हिन्दू राष्ट्रवाद' पर आधारित दृष्टिकोण ने घूर्ये के विचार का समर्थन किया। दुर्भाग्यवश इस आस्था के प्रचार-प्रसार के क्रम में जो प्रतिस्पर्धा हुई है उसने अल्पसंख्यक और बहुसंख्यक के बीच संघर्ष को जन्म दिया है।

धर्मनिरपेक्ष भारत में धार्मिक विश्वासों या आस्थाओं के प्रसार में प्रतिद्वंद्विता ने जघन्यतम सांप्रदायिकता की संभावना पैदा कर दी है। 2002 में गुजरात और तदंतर

अन्य अनेक राज्यों में हाल में हुई घटनाएं इसका प्रमाण हैं। बेहतर है कि जनजातीय लोगों को अपनी सांस्कृतिक स्वायत्तता बनाए रखने दी जाए, अपने लिए स्वयं निर्णय लेने की स्वतंत्रता प्रदान की जाए जिससे उन्हें अपने आत्मसम्मान एवं स्वाभिमान को बरकरार रखते हुए प्रगति के समान सहभागियों के रूप में राष्ट्र निर्माण की प्रक्रिया में भागेदारी करने का अधिकार मिल पाए।

# छः

# प्रशासन, कल्याण व विकास

# 26

# जनजातीय प्रशासन का इतिहास

तथाकथित आदिवासी, स्वतन्त्रता से पूर्व भी शोध का विषय रहे हैं। लोगों ने अलग-अलग ढंग से इन्हें समझा तथा इनके बारे में विभिन्न राय बनायीं। इसके फलस्वरूप भारत की अधिकतर जनता की राय इन आदिवासियों के बारे में भ्रान्तिपूर्ण, आश्चर्यजनक तथा काल्पनिक रही है। आदिम समूह सरल तथा प्रसन्नचित्त लोग हैं जिनके बीच घोटुल, रोरुंग तथा धुमकुरिया जैसे युवागृहों व नृत्य-संगीत की परंपरा है। इस प्रकार की धारणा विभिन्न कल्पनाओं पर आधारित है। इन कल्पनाओं के पीछे भुखमरी, उपेक्षा, बीमारियाँ तथा शोषण जैसी तमाम कड़वी सच्चाइयाँ भी हैं। बहुत से ऐसे शोधकर्ता हैं जिन्होंने इनके जीवन की परंपराओं को रूमानियत तथा मनोरंजन तक ही सीमित नहीं किया वरन् इनके दैनिक जीवन की कठिनाइयों और कड़वी सच्चाइयों को भी उद्धृत किया है।

स्वतंत्रता के पूर्व सर्वप्रथम अंग्रेजी शासकों ने ही जनजातीय क्षेत्रों की समस्याओं का सामना करने का प्रयास किया। उपरोक्त लिखित काल्पनिक बातों और अंधविश्वासों को बढ़ावा भी इन्हीं अंग्रेजों ने दिया। ऐसा उन्होंने अपने निहित स्वार्थों के लिये किया। इन अंग्रेजों ने इस बात का भरसक प्रयत्न किया कि "आदिवासी" (अनुसूचित जनजातियाँ) शेष भारतीय जनसमूह से अलग रहें, क्योंकि अंग्रेजी साम्राज्य इन जनजातियों को राष्ट्रीय आन्दोलन से अलग रखना चाहता था। इसका कारण था इन जनजातियों की शक्ति व क्षमता, जो किसी भी राष्ट्रीय आन्दोलन के लिये अत्यंत लाभकारी सिद्ध हो सकती थी। इन जनजातियों को अलग करके उनके रहने के स्थान को प्रतिषिद्ध क्षेत्र घोषित कर दिया गया। इस कारण प्रारम्भिक स्थितियों में विदेशी शासक और ईसाई मिशनरी ही इन क्षेत्रों में जा सकते थे।

स्थानीय आदिवासियों से निटपने का प्रथम प्रयास भारत में विदेशी शासकों द्वारा राजमहल पहाड़ के पहाड़िया और मलेरों से संबंधित था। इस प्रकार की चेष्टाओं का प्रारम्भिक अस्पष्ट उद्देश्य "उग्रवादी" जनजातियों से निपटना था। इन जनजातियों के मुखियाओं को शासकों द्वारा *सनद* प्रदान की जाती थी तथा उसके बदले में सभी प्रकार के उपद्रवों की सूचना देने का उत्तरदायित्व दिया गया। घुर्ये (1969) के अनुसार

संचार को परिधि के आसपास रहने वाले नेताओं को एक निश्चित धनराशि दी जाती थी जिसका उद्देश्य डाक ले जाने वाले हरकारों को रक्षा प्रदान करना था। इस प्रकार के भुगतान को सुयोग्य अधिकारियों ने "सरल रिश्वत" का नाम दिया। जहाँ से पहाड़िया क्षेत्र प्रारम्भ होते थे वहाँ के आसपास की अधिकतर भूमि अवकाश प्राप्त विकलांग सिपाहियों को दी गयी। इस प्रकार लूटमार करने वाले मलपहाड़ियों के चारों ओर सैनिक प्रवृत्ति के लोगों का घेरा बन गया। धीरे-धीरे वहाँ पर एक सैनिक दल का गठन हुआ। इस दल के अधिकारियों को चुनकर एक न्याय समिति गठित की गयी तथा एक न्यायालय की स्थापना की गयी। इस न्यायालय की उपयोगिता से उत्साहित होकर सरकार से माँग की गयी कि पहाड़िया क्षेत्र को साधारण न्यायालय के अधिकार क्षेत्र से पृथक् कर दिया जाये। 1782 ई. में पहाड़िया क्षेत्र को साधारण न्यायालय के अधीन क्षेत्र से मुक्त कर दिया गया। एक सेशन कोर्ट की भी स्थापना की गयी जिसमें जनजातियों के नेताओं को भी बुलाया जाता था। यह न्यायालय वर्ष में दो बार सभी अपराधों के मुकद्दमों पर विचार-विमर्श करता था। यह समिति *पहाड़ी परिषद्* (Hill Assembly) के नाम से जानी जाने लगी तथा यह परिषद् सभी प्रकार के नकद जुर्माने लगाने या निरस्त करने का अधिकार भी रखती थी।

पहाड़ी परिषद् की स्थापना से आन्तरिक शान्ति बनाये रखने के उद्देश्य की प्राप्ति के बाद चुस्त प्रशासक क्लीवलैंड ने एक और महत्त्वपूर्ण समस्या को सुलझाने का प्रयत्न किया। यह समस्या थी "घृणित" बाहरी लोगों द्वारा अतिक्रमण। पहाड़ियों की भूमि को राज्यों की संपत्ति बना कर, सरकार द्वारा उन्हें ही दे दिया गया। सरकार इसका किराया भी नहीं लेती थी। इस व्यवस्था में ऐसे पहाड़िया प्रमुखों को सम्मिलित किया गया जो अभी तक अंग्रेजी राज्य के विनियमों को नहीं मानते थे। व्यावहारिक रूप से यह विनियम इन्हीं लोगों के अपने नियम थे। इस प्रकार समस्त पहाड़िया क्षेत्र एक हो गये जिसे विशेष स्तर दिया गया। पूरे क्षेत्र को दामन-ए-कोह का नाम दिया गया (घुर्ये, पूर्ववत्)। इस व्यवस्था से पहाड़िया या मालेर बिल्कुल शांत हो गये तथा यह सभी विनियम "रेगुलेशन ऑफ 1796" के रूप में एक नियम बन गये। समय के साथ-साथ *पहाड़ी परिषद्* की प्रतिष्ठा कम होती गयी और 1796 के रेगुलेशन पर 1827 के रेगुलेशन ने रोक लगा दी।

इसी समय शोषण की शिकार कुछ और जनजातियों ने विद्रोह कर दिया। इस संदर्भ में सिंहभूमि का "हो विद्रोह (1831)", "खोंड उत्थान" (1846) तथा प्रसिद्ध संथाल विद्रोह (1855) प्रमुख हैं। भारत की अंग्रेजी सरकार ने 1850 और 1890 के बीच असम, नागालेण्ड तथा जैन्तिया पहाड़ियों पर अपनी सैनिक टुकड़ियाँ भेजीं। इसके अतिरिक्त उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम दशक से बीसवीं शताब्दी के प्रथम

दशक तक लुशाई पहाड़ी, नागा पहाड़ियों तथा अबोर की ओर भी दण्डित करने वालों दलों को भेजने की प्रक्रिया चलती रही। इन सभी अस्तव्यस्तताओं के कारण थे प्रौद्योगिकी तथा सांस्कृतिक क्षेत्र में अधिक विकसित पड़ोसियों द्वारा शोषण के विरोध में असंतोष प्रकट करना।

ऐसी स्थितियों में "अलग-थलग पड़े जनजातीय क्षेत्रों के लिये विशेष व्यवस्थाओं को आम स्वीकृति मिल गई। मनोविज्ञानियों की रिपोर्ट भी इस विचार का समर्थन करती है।" (अनुसूचित क्षेत्र व अनुसूचित जनजाति कमीशन की रिपोर्ट, भाग-1) अन्ततोगत्वा अंग्रेजी सरकार ने इन जनजातियों के जीवन तथा रुचियों को सुरक्षा प्रदान करने के उद्देश्य से, इन्हें विशेष क्षेत्रों में विभाजित करने की नीति निर्धारित की। इस उद्देश्य को ध्यान में रखते हुए 1874 में एक अधिनियम पारित किया गया जिसके द्वारा जनजातीय क्षेत्रों को "अनुसूचित जिलों" के रूप में विभाजित किया गया। भारत सरकार के अधिनियम 1919 की धारा 52 ए के अन्तर्गत यह क्षेत्र पुनः संघटित किये गये। इस अधिनियम के अन्तर्गत अधिकारियों की नियुक्तियों का प्रावधान था। इन नियुक्तियों का उद्देश्य था दिवानी तथा फौजदारी मामलों में न्याय, सार्वजनिक राजस्व वसूली, कर निर्धारण तथा किराये से संबंधित सभी विषयों तथा अनुसूचित जिलों का प्रशासन। इसके अतिरिक्त इस अधिनियम में उचित प्रतिबंधों तथा परिवर्तनों के साथ अधिनियमों के कार्य क्षेत्र में वृद्धि करने का भी प्रावधान था। इस प्रकार सरल आदेशों द्वारा अधिशासियों को बड़े तथा विस्तृत वैधानिक अधिकार दिये गये। स्वतंत्रता आन्दोलन की बढ़ती गति के साथ-साथ अंग्रेजी शासकों की चिन्तायें भी बढ़ीं। यह थी जनजातियों को राष्ट्र की मुख्य धारा से अलग रखने का कार्य। भारतीय वैधानिक कमीशन (साइमन कमीशन) ने सलाह दी कि वित्तीय तथा संवैधानिक आधारों पर जनजातीय क्षेत्रों का उत्तरदायित्व केन्द्र पर होना चाहिये। आने वाले वर्षों में सन् 1947 तक बहुत से अधिनियमों व विनियमों की घोषणा हुई तथा विभिन्न परिवर्तन व सुधार लाये गये। 1935 में जनजातियों पर विशेष ध्यान देने के उद्देश्य से एक उपयुक्त प्रावधान किया गया जिसके अन्तर्गत जनजातीय क्षेत्रों को "पूर्ण व आंशिक रूप से अलग क्षेत्रों" में परिवर्तित किया गया।

## 1947 के पश्चात्

स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् जनजातीय कल्याण की भावना ने पूरे देश में व्यापक रूप से स्थान बनाया। 26 जनवरी, 1950 की संविधान सभा में पारित विभिन्न प्रावधानों द्वारा इसकी पुष्टि हुई। इन प्रावधानों से जनजातीय जनसंख्या को राष्ट्र की मुख्यधारा में मिलाने के कार्यों को बल मिला। जनजातीय लोगों को भारत की शेष

जनसंख्या के स्तर पर आने के उद्देश्य से संविधान में इन जनजातियों को 10 वर्षों के लिये विशेष सुविधायें तथा सुरक्षा प्रदान की गईं। इस अवधि में अब तक हर बार दस वर्षों की वृद्धि की जाती रही है।

जनजातियों की सुरक्षा तथा विकास के उद्देश्य से 1951 में एक जनजातीय कल्याण विभाग की स्थापना की गई तथा संविधान के विभिन्न प्रावधानों के आधार पर प्रशासन की नवीन व्यवस्था सुनिश्चित की गई। अनुच्छेद 244 के अन्तर्गत असम के अतिरिक्त सभी ''जनजातीय क्षेत्रों'' का प्रशासन पाँचवीं अनुसूची तथा असम के 'जनजातीय क्षेत्रों'' का प्रशासन छठी अनुसूची के अनुसार होगा।

जनजातीय क्षेत्रों का प्रशासन संबंधित राज्य के भाग के रूप में होता है परन्तु राज्यपाल को यह अधिकार है कि :

(अ) जनजातियों पर लागू होने वाले केन्द्र तथा राज्य के नियमों की विधि में परिवर्तन कर सके।

(ब) उनकी शान्ति तथा अच्छे प्रशासन के लिये नियम बनाना, उनके अधिकारों की रक्षा करना, बेकार भूमि के आवंटन में सहायक होने तथा साहूकारों से बचने में उनकी सहायता करना। इन विनियमों को बनाते समय राज्यपाल को राज्य की जनजातीय सलाहकार समिति से सलाह लेना आवश्यक है। राष्ट्रपति के समक्ष इन सभी कार्यक्रमों की रिपोर्ट या केन्द्रीय सरकार द्वारा निश्चित समयावधि पर विस्तृत रिपोर्ट प्रस्तुत करना राज्यपाल का उत्तरदायित्व है। संविधान में, जनजातियों के अधिकारों की सुरक्षा, उन्हें साहूकारों से बचाने तथा उनकी सामाजिक व सांस्कृतिक धरोहरों को सुरक्षित बनाये रखने के उद्देश्य से पर्याप्त प्रावधान किये गये हैं।

अनुसूचित क्षेत्रों की रचना दो स्पष्ट उद्देश्यों के आधार पर की थी। पहला, जनजातियों को उनके अधिकारों के प्रयोग में सहायता करना तथा दूसरा उद्देश्य, अनुसूचित क्षेत्रों के विकास व अनुसूचित जनजातियों की आर्थिक, शैक्षिक तथा सामाजिक प्रगति में सुधार लाना था।

## पाँचवीं अनुसूची के अन्तर्गत प्रशासन

अनुसूचित क्षेत्रों के प्रशासन के संबंध में पाँचवीं सूची के अन्तर्गत उत्तरदायित्वों को केन्द्र तथा राज्य सरकारों के बीच विभाजित कर दिया गया। राज्य सरकारों को जनजातीय क्षेत्रों के लिये अनुपयुक्त विधानों की जाँच उनकी शान्ति तथा अच्छे प्रशासन के लिये विनियमों की संरचना का कार्य दिया गया। राज्य की सीमाओं में

रहने वाली सभी अनुसूचित जनजातियों के कल्याण तथा विकास के लिये विशेष योजनाओं को लागू करने का उत्तरदायित्व भी राज्य सरकार का है। जनजातीय क्षेत्रों के प्रशासन के संबंध में राज्य सरकारों के लिये अतिरिक्त धनराशि प्रदान करने का उत्तरदायित्व केन्द्र सरकार का है। किसी भी योजना के लागू करने के संबंध में राज्य सरकार को निर्देश देने तथा जनजातीय क्षेत्रों के प्रशासन से संबद्ध प्राथमिकताओं की सूची बनाने में राज्य सरकार का मार्गदर्शन करने का अधिकार केन्द्र सरकार को प्राप्त है।

अनुसूचित क्षेत्रों के प्रशासन व विकास के संबंध में केन्द्र सरकार का कार्य अनुदान देने तक ही सीमित नहीं है। राज्य सरकारों का मार्गदर्शन करना तथा उन्हें समय-समय पर उपयुक्त निर्देश देने का कार्य भी केन्द्र सरकार का है। केन्द्र सरकार की इस महत्त्वपूर्ण भूमिका का प्रावधान पाँचवीं अनुसूची के पैरा 3 तथा संविधान के अनुच्छेद 339 (2) के अन्तर्गत किया गया है। जनजातीय समुदायों के हितों के लिये यह लाभप्रद है कि केन्द्र सरकार अधिकतर जनजातीय क्षेत्रों से संबंधित कार्यप्रणाली तथा समान नीतियों के संबंध में राज्य सरकारों पर विश्वास करती है। इस प्रकार ऐसी स्थिति कम ही आती है जब केन्द्र सरकार को हस्तक्षेप करना पड़े। इन जनजातियों को महत्त्वपूर्ण प्रशासकीय संस्थाओं के आपसी मतभेदों का शिकार नहीं होना चाहिये। समय-समय पर योजना आयोग तथा गृह मंत्रालय की बैठकें भी होती हैं जिनमें कार्यक्रमों की प्रगति तथा उनको लागू करने के समय आने वाली कठिनाइयों की समीक्षा की जाती है।

## अनुसूचित क्षेत्रों के नियम

अनुसूचित क्षेत्र के अच्छे प्रशासन के संबंध में नियम बनाने का अधिकार राज्यपाल को है। राज्यपाल, अनुसूचित क्षेत्रों को राज्य या केन्द्र के नियमों की परिधि से पूर्णतया या आंशिक रूप से मुक्त कर सकता है। (अनुसूचित क्षेत्रों के प्रशासन का सविस्तार विवरण संलग्नक में देखा जा सकता है।)

## पारंपरिक जनजातीय समितियों की भूमिका तथा पंचायती राज का आरम्भ

पारंपरिक जनजातीय समिति का चलन उतना ही पुराना है जितना कि जनजातीय समाज। इन समितियों का मुख्य कार्य था अपने प्रथागत नियमों के आधार पर सामाजिक तथा धार्मिक विषयों से संबंधित विवादों का निर्णय देना। कुछ क्षेत्रों में यह समितियाँ जन समुदाय की राय थी तथा स्वीकृति के आधार पर न्यायिक मामलों का

निर्धारण करती थी। आर्थिक प्रश्नों पर मौखिक निर्णय देना इन समितियों का सामाजिक उत्तरदायित्व था। इस समितियों का चयन नहीं होता था। अधिकतर इनकी संरचना पैतृक परंपरा के आधार पर होती थी। परन्तु कई बार किसी व्यक्ति विशेष का चरित्र तथा व्यक्तित्व भी उससे इस समिति के सदस्य का महत्त्वपूर्ण स्थान दिलाने में सहायक होते थे। प्रत्येक वयस्क को कोई भी प्रश्न उठाने का अधिकार था; जिसके कारण सारे मामले सर्वसम्मति से तय किये जाते थे। इन समितियों का निर्णय एक नियम की तरह मान्य था क्योंकि इन समितियों की संरचना जनजातियों की सामाजिक तथा आर्थिक रीतियों के आधार पर होती थी।

समस्त भारतवर्ष में पंचायती राज व्यवस्था के लागू होने से कुछ स्थानों पर पारंपरिक जनजातीय समितियों का प्रभाव कम हुआ, परन्तु अधिकतर ने इन पंचायतों के विकास कार्यक्रमों के उत्तरदायित्व के साथ-साथ जनजातीय समितियों के कार्यों को भी अपनाया। यह वैधानिक पंचायतें सामान्यतः आर्थिक, प्रशासनिक व सामाजिक क्षेत्रों में ही कार्य करती हैं। प्रशासनिक कार्यों के अंतर्गत मेलों की नियमितता तथा नियंत्रण, बाजार, चरागाह, गांव की कृषि भूमि, सफाई, स्वास्थ्य तथा उनकी रक्षा जैसे कार्य हैं। कृषि विकास, सिंचाई, भूमि संरक्षण, कुटीर उद्योगों का प्रोत्साहन तथा पशुपालन का विकास आदि आर्थिक कार्यों के अन्तर्गत आते हैं। सामाजिक कार्यों के अन्तर्गत प्रसूति व बाल कल्याण, शिक्षा तथा मनोरंजन आदि कार्य हैं। पंचायती राज के विस्तार पर टिप्पणी करते हुये अनुसूचित क्षेत्र तथा अनुसूचित जनजाति आयोग (वही) ने अपनी रिपोर्ट में कहा कि जनजातीय जीवन के आधार नष्ट नहीं होने चाहिये। पारंपरिक जनजातीय समितियां समाप्त न हों वरन् ऐसी समितियों का पुनर्गठन तथा प्रोत्साहन होना चाहिये। इनका विकास जनजातीय जीवन की परिस्थितियों के साथ हुआ है। इन समितियों में जनजातीय लोगों की निष्ठा है तथा यह लोग ऐसी संस्थाओं को सहयोग देने के अधिक इच्छुक हैं जिनका इन जनजातियों के बीच लम्बे समय से स्थायी अस्तित्व रहा है।

# 27

# संविधान और अनुसूचित जनजातियाँ

संविधान में कहीं भी "जनजाति" शब्द की सुव्यक्त परिभाषा नहीं है। वस्तुतः इसकी सम्पूर्ण और सुस्पष्ट व्याख्या कहीं भी नहीं मिलती। आम आदमी के लिये यह शब्द अपने विलक्षण "आचरणों एवं रीति-रिवाजों के साथ पर्वतों और जंगलों में रहने वाले सीधे" - सरल जनसमूह की ओर इंगित करता है। जिन्हें कुछ अधिक जानकारी है वे इस शब्द का अर्थ लोक समुदाय के उन मनोरंजक लोगों से लगाते हैं जो अपने नृत्य, गीत और वनोषधियों के लिये विख्यात हैं। प्रशासन की दृष्टि में यह नागरिकों का वह वर्ग है जिनकी विशेष जिम्मेदारी भारत के राष्ट्रपति पर है और मानवशास्त्री के लिये यह एक सामाजिक वर्ग के अध्ययन का विशिष्ट क्षेत्र है। अपने-अपने दृष्टिकोण में ये सभी धारणायें सही हैं।

संविधान में जनजाति की परिभाषा को सीमांकित करते हुए कहा गया है कि अनुसूचित जनजातियाँ वे हैं जिन्हें "राष्ट्रपति ने अनुच्छेद 342 की लोक अधिसूचना द्वारा जनजातियों या जनजाति-समुदायों के भागों को विनिर्दिष्ट किया है।" यह अनेकार्थता कभी-कभी जनजातियों की किसी आबादी को अनुसूचित जनजाति घोषित करने के लिये उसकी पहचान स्थापित करने या उसका वर्गीकरण करने के काम में विभ्रम अवश्य पैदा करती है किन्तु इसे जनजाति कल्याण कार्यक्रम के परिपालन में बाधा नहीं समझा जाना चाहिए। (देखिए - "जनजाति की परिभाषा एवं अवधारणा और उनमें अंतर्ग्रस्त समस्याओं से संबंधित पिछला अध्याय)।

स्वतंत्र भारत का संविधान स्वीकृत हो जाने के बाद उनके विकास और कल्यांण का दायित्व राष्ट्रपति एवं राज्यपाल के माध्यम से लोकप्रिय सरकार को सौंपा गया। निदेशक तत्वों का अनुगमन करने के लिये अनुसूचित जातियों और अनुसूचित जनजातियों के कल्याणार्थ विशेष अनुच्छेदों की व्यवस्था की गयी। इनमें से ज़्यादातर दोनों वर्गों के लिये एक समान हैं। किन्तु ऐसे भी हैं जो इन दोनों में से किसी एक पर लागू होते हैं। निम्नलिखित विषय-वस्तु के आधार पर इन संवैधानिक उपबन्धों को दो समूहों में विभाजित किया जा सकता है :

1. संरक्षण संबंधी उपबन्ध

2. विकास संबंधी उपबन्ध

संरक्षण संबंधी उपबन्ध, जो उनके विकास के लिये आवश्यक हैं, उन्हें सामाजिक एवं आर्थिक शोषण तथा अन्याय से संरक्षण प्रदान करते हैं। अनुसूचित जनजातियों के विकास से संबद्ध उपबन्धों का उद्देश्य उन्हें उनकी सामाजिक एवं आर्थिक उन्नति के लिए वास्तविक सुविधाएं और सुअवसर प्रदान करना है। ये संवैधानिक उपबन्ध संक्षेप में निम्नलिखित हैं :-

## संरक्षी उपबन्ध

**अनुच्छेद 15 (4) : सामाजिक, आर्थिक और शाक्षक हितों का प्रोत्साहन**-यद्यपि अनुच्छेद 15 द्वारा धर्म, मूलवंश, जाति, लिंग या जन्मस्थान के आधार पर किसी प्रकार के भेदभाव का निषेध किया गया है फिर भी इसी अनुच्छेद के खंड 4 में एक छूट की व्यवस्था है जिसके अनुसार राज्य को अनुसूचित जातियों और अनुसूचित जनजातियों एवं सामाजिक और शैक्षिक रूप से पिछड़े नागरिकों की उन्नति एवं प्रगति के लिये कोई भी उपबन्ध बनाने का अधिकार दिया गया है। यह उपबन्ध अनुच्छेद 46 में परिकल्पित इस नीति के अनुरूप है कि राज्य को पूरी जिम्मेदारी के साथ कमजोर वर्गों के शैक्षिक एवं आर्थिक हितों को प्रोत्साहित करना एवं सामाजिक अन्याय से उनकी रक्षा करना चाहिए। इस उपबन्ध को विशेष रूप से इसलिए भी शामिल किया है कि यदि राज्य सामाजिक एवं शैक्षिक रूप से पिछड़े वर्गों की उन्नति के उद्देश्य से कोई विशेष व्यवस्था करे तो उसे नागरिकों में भेदभाव के आधार पर किसी न्यायालय में चुनौती न दी जा सके।

**अनुच्छेद 16 (4) : पदों और नौकरियों में आरक्षण और अनुच्छेद 19 (5) :** संपत्ति के मामलों में जनजातियों के हितों की सुरक्षा। हालाँकि संविधान में प्रत्येक नागरिक को भारत के राज्य क्षेत्र में सर्वत्र अबाध संचरण, उसके किसी भी भाग में बसने-निवास करने और संपत्ति का क्रय-विक्रय करने के अधिकार की गारन्टी दी गयी है तो अनुच्छेद 19 (5) के अंतर्गत राज्य अनुसूचित जनजाति के लोगों के हितों की रक्षार्थ विशेष प्रतिबंध लगा सकता है। चूँकि इस समाज के साथ सभी प्रकार की धोखेबाजी करना और इसका शोषण करना आसान है इसलिए ऐसी व्यवस्थाएं भी की गयी हैं जिनके अन्तर्गत ये लोग कुछ विशेष परिस्थितियों को छोड़कर, अपनी निजी संपत्ति किसी को हस्तान्तरित नहीं कर सकते। उनके अपने हित में कानून बनाकर उसका सामान्य नागरिकों की भाँति सर्वत्र संचरण, किसी क्षेत्र विशेष में बसना अथवा वहाँ संपत्ति हस्तगत करना रोका भी जा सकता है।

**अनुच्छेद 23 : मानव के दुर्व्यवहार और बलात श्रम का प्रतिषेध आदि।** इसके द्वारा मानव का दुर्व्यवहार, बेगार और अन्य प्रकार के बलात श्रम प्रतिषिद्ध किये गये हैं। यह बहुत महत्त्वपूर्ण उपबन्ध है क्योंकि अनुसूचित जनजातियों का शोषण करना बड़ा आसान है और उनके लोगों को बंधुआ बनाया जा सकता है। वास्तव में, देश की जनजातियों के सदस्यों का एक बड़ा हिस्सा बँधुआ होने के कारण बहुत ही विषादमय जीवन बिता रहा है (विस्तृत जानकारी के लिए इसी पुस्तक का ''बन्धुआ जनजातियाँ और कर्ज का बंधन'' शीर्षक अध्याय देखिए)।

**अनुच्छेद 29 : सांस्कृतिक एवं शैक्षिक अधिकार अनुच्छेद 29 (2)** अनुच्छेद 15 की धारा 4 से नियंत्रित है। प्रथम संशोधन अधिनियम 1951 द्वारा संविधान में सम्मिलित। इसने अनुच्छेद 15 और 29 को अनुच्छेद 16 (4), 46 और 340 के अनुकूल बना दिया है। इस प्रकार राज्य द्वारा सरकारी शैक्षिक संस्थानों में पिछड़े वर्ग के लिए पदों का आरक्षण संविधान सम्मत हो गया है। अनुच्छेद 29 के अनुसार भारतीय नागरिकों के किसी भी ऐसे अनुभाग को जिसकी अपनी विशेष भाषा, लिपि या संस्कृति है, उसे बनाये रखने का अधिकार है। यह अनुच्छेद अनुसूचित जनजातियों को अपनी भाषाओं और संस्कृतियों को बनाये रखने के लिए संरक्षण प्रदान करता है। राज्य द्वारा कानून बनाकर उन पर कोई संस्कृति या भाषा लादी नहीं जा सकती।

**अनुच्छेद 46 : अनुसूचित जातियों, अनुसूचित जनजातियों और अन्य दुर्बल वर्गों की शिक्षा और आर्थिक हितों की अभिवृद्धि।**

**अनुच्छेद 164 : बिहार, उड़ीसा और मध्य प्रदेश के राज्यों में जनजातियों के कल्याण के भारसाधक मंत्री की नियुक्ति।** इन राज्यों में जनजाति के लोगों की खासी आबादी है और जनजाति के कल्याण के लिए विशेष रूप से एक मंत्री की व्यवस्था, जनजाति के हितों की सुरक्षा के लिए संविधान निर्माताओं की चिंता की साक्षी है।

**अनुच्छेद 330, 332 और 334** : लोक सभा एवं विधान सभाओं में आरक्षण

**अनुच्छेद 335** : आरक्षण के दावे

**अनुच्छेद 338** : विशेष अधिकारो

अनुसूचित जातियों और अनुसूचित जनजातियों के लिए एक विशेष अधिकारी की व्यवस्था है जिसे राष्ट्रपति नियुक्त करता है। इस विशेष अधिकारी का कर्तव्य है कि वह अनुसूचित जातियों और अनुसूचित जनजातियों के लिए संविधान के अधीन उपबन्धित रक्षा के उपायों से संबंधित सभी विषयों का अन्वेषण करे। वह रक्षा के उन उपायों के कार्यकरण के संबंध में, ऐसे अंतराल पर जो राष्ट्रपति निर्दिष्ट

करें, राष्ट्रपति को प्रतिवेदन दे। राष्ट्रपति ऐसे सभी प्रतिवेदनों को संसद के प्रत्येक सदन में रखवायेगा। यह विशेष अधिकारी - "अनुसूचित जाति एवं अनुसूचित जनजाति आयुक्त" कहलाता है। 65वें संशोधन के पश्चात् इसके स्थान पर **अनुसूचित जातियों व अनुसूचित जनजातियों का राष्ट्रीय आयोग** गठित किया गया। वर्ष 2003 में एक और संशोधन हुआ और अब अनुसूचित जनजातियों का राष्ट्रीय आयोग कार्यरत् है।

### अनुच्छेद 339(1) : आयोग की नियुक्ति

राष्ट्रपति राज्यों के अनुसूचित क्षेत्रों के प्रशासन और अनुसूचित जनजातियों के कल्याण के बारे में प्रतिवेदन देने के लिए एक आयोग की नियुक्ति, आदेश द्वारा किसी भी समय कर सकेगा और इसे संविधान के प्रारंभ से दस वर्ष की समाप्ति पर करेगा। केवल एक ऐसा आयोग 28 अप्रैल 1960 को नियुक्त किया गया था जिसका नाम "अनुसूचित क्षेत्र एवं अनुसूचित जनजाति आयोग" था। इस आयोग ने अक्तूबर 1961 में अपना प्रतिवेदन पेश किया था। इसके अध्यक्ष स्वर्गीय श्री यू. एन. धेबर थे। इसलिए यह "धेबर आयोग" के नाम से प्रसिद्ध है।

## आर्थिक विकास के उद्देश्य से की गयी व्यवस्थायें

### अनुच्छेद 275 और 339

अनुसूचित जनजातियों के आर्थिक विकास के लिए की गयी व्यवस्थायें मुख्यतः अनुच्छेद 275 और 339 के अन्तर्गत हैं। अनुच्छेद 275 के अन्तर्गत संविधान के उपबन्धों की पूर्ति के लिए राज्यों को संघ से अनुदान मिलने की व्यवस्था है। अनुच्छेद 339 (2) की स्थापना है कि संघ की कार्यपालिका शक्ति का विस्तार किसी ऐसे राज्य को ऐसे निर्देश देने तक होगा जो उस राज्य की अनुसूचित जनजातियों के कल्याण के लिये निर्देश में आवश्यक बताई गयी स्कीमों के बनाने और उनके निष्पादन के बारे में है।

### पाँचवीं और छठी अनुसूचियाँ

संविधान के दसवें भाग में अनुच्छेद 244 और 244(क) के अन्तर्गत अनुसूचित क्षेत्रों के प्रशासन से संबंधित व्यवस्थायें हैं। संविधान में अनुसूचित क्षेत्रों और जनजाति क्षेत्रों का एक विशिष्ट अर्थबोध है। अनुसूचित क्षेत्रों का शासन पाँचवीं अनुसूची के उपबन्धों के अनुसार होता है। इसलिए इन क्षेत्रों को "पाँचवीं अनुसूची क्षेत्र" भी कहा जा सकता है। जनजाति क्षेत्रों का शासन छठी अनुसूची के उपबन्धों के आधार पर होता है।

## पाँचवीं अनुसूची

अनुसूचित क्षेत्रों और उनके प्रशासन पर पाँचवीं सूची के उपबन्ध लागू होते हैं। यहाँ उन क्षेत्रों से मतलब है जिन्हें राष्ट्रपति ने आदेश द्वारा अनुसूचित क्षेत्र घोषित किया है। संसद को इस अनुसूची में कोई भी संशोधन करने का अधिकार है और उसे अनुच्छेद 368 के हेतु संविधान का संशोधन नहीं माना जायेगा।

अनुसूचित क्षेत्रों का इतिहास ''अनुसूचित जिला एक्ट 1874'' से प्रारंभ होता है जिसके अन्तर्गत अनुसूचित जिलों में दीवानी और फौजदारी के मामलों में न्याय करने, बस्तियों की देखभाल, सरकारी राजस्व की उगाही, लगान आदि से संबंधित मामलों और अन्यथा परिस्थितियों में अधीक्षण करे तथा प्रशासन चलाने की व्यवस्था की गयी थी। इसके उपरांत ये क्षेत्र ''भारत सरकार एक्ट 1919'' तथा ''भारत सरकार एक्ट 1935'' (बहिर्गत और अंशतः बहिर्गत क्षेत्र एक्ट) के दौर से गुजरते हुए अब वर्तमान संविधान में पाँचवीं अनुसूची के अंतर्गत है।

अनुसूचित क्षेत्रों का गठन दो बहुत ही स्पष्ट उद्देश्यों से किया गया है : (क) बिना किसी बाहरी विघ्न या रुकावट के जनजाति के लोगों को अपने मौजूदा अधिकारों का पूरा-पूरा लाभ उठाने में सहायता देना और (ख) अनुसूचित जनजातियों का विकास करना तथा अनुसूचित जनजातियों के हितों को संरक्षण और प्रोत्साहन प्रदान करना।

राष्ट्रपति के आदेश से आन्ध्र प्रदेश, बिहार, गुजरात, मध्य प्रदेश, महाराष्ट्र, उड़ीसा, राजस्थान और हिमाचल प्रदेश के कुछ क्षेत्रों को अनुसूचित क्षेत्र घोषित किया जा चुका है। पाँचवीं अनुसूची की प्रमुख विशेषताएँ हैं : (क) राज्यपाल की विशिष्ट विधायी शक्तियाँ, (ख) राष्ट्रपति को राज्यपाल का प्रतिवेदन और (ग) ''जनजाति सलाहकार परिषद्'' का प्रावधान।

## छठी अनुसूची

छठी अनुसूची असम, मेघालय, मिजोरम और त्रिपुरा राज्यों के जनजातीय क्षेत्रों पर लागू होती है। इन जनजाति क्षेत्रों की प्रमुख विशेषतायें हैं : (क) अपने अधिकार क्षेत्र के मामलों में ये पूर्णतः स्वशासी है। दूसरे शब्दों में इन्हें ''राज्य के भीतर राज्य'' की संज्ञा दी जा सकती है( (ख) स्वशासी जिलों और स्वशासी प्रदेशों के द्वारा जनजातियों का अपना प्रबन्ध अपने आप करने की अधिकार शक्ति और (ग) इन क्षेत्रों की स्वायत्तता इस सीमा तक है कि संसद अथवा राज्य विधानमंडल का कोई समादेश उनके यहाँ तब तक स्वतः मान्य नहीं होता जब तक कि संबद्ध अधिनियम का (पूर्णतः या अंशतः) विस्तार राज्यपाल द्वारा विशेष रूप से क्षेत्र विशेष के लिए

अधिसूचित नहीं किया जाता। ऊपर बताये गये चार राज्यों में जनजाति क्षेत्रों के नौ स्वशासी जिले हैं। यहाँ राज्यपाल का पद स्वशासी जिलों की भाँति अपने ढंग का अनोखा है। अनेक मामलों में उसका पद वैसा ही है जैसा कि राज्यों के मामले में राष्ट्रपति का होता है।

## नागालैंड, असम और मणिपुर के जनजाति क्षेत्रों व पर्वतीय क्षेत्रों से संबंधित विशेष उपबन्ध

### अनुच्छेद 371-क (नागालैण्ड)

इस अनुच्छेद के अनुसार संसार का ऐसा कोई भी अधिनियम जो (क) नागाओं की धार्मिक या सामाजिक प्रथाओं, (ख) उनकी परंपरागत विधि और प्रक्रिया, (ग) उनकी परंपरागत विधि के अनुसार विनिश्चय होने वाले दीवानी एवं फौजदारी के न्याय-प्रशासन और (घ) भूमि और उसके संपत्ति स्रोतों के स्वामित्व एवं अंतरण से संबंधित है, नागालैण्ड राज्य पर तब तक लागू नहीं होगा जब तक नागालैंड की विधान सभा विशेष संकल्प द्वारा वैसा विनिश्चय नहीं कर देती।

### अनुच्छेद 371-ख (असम)

राष्ट्रपति आदेश द्वारा असम राज्य की विधानसभा की एक समिति के गठन और कृत्यों के लिए उपबन्ध कर सकेगा। यह समिति, जैसा कि छठी अनुसूची में बताया गया है, जनजाति क्षेत्रों से निर्वाचित वहाँ की विधानसभा के सदस्यों से तथा उसी विधानसभा के उतने अन्य सदस्यों से मिलकर बनेगी, जितने राष्ट्रपति के आदेश में विनिर्दिष्ट किये गये होंगे। इस समिति की व्यवस्था का उद्देश्य राज्य के स्तर पर जनजाति समुदाय के हितों का संरक्षण और उसकी देखरेख करना होता है।

### अनुच्छेद 371-ग (मणिपुर)

इस अनुच्छेद के अंतर्गत राष्ट्रपति के आदेश से एक समिति के गठन और कृत्यों के संयोजन की व्यवस्था है। राज्य के पर्वतीय क्षेत्रों से निर्वाचित विधानसभा के सदस्य इस समिति के सदस्य होते हैं। राज्यपाल के प्रतिवर्ष या जब कभी राष्ट्रपति वैसी अपेक्षा करे, राष्ट्रपति को मणिपुर राज्य के पर्वतीय क्षेत्रों के प्रशासन के बारे में प्रतिवेदन देना होता है। संघ की कार्यपालिका-शक्ति का विस्तार उक्त क्षेत्रों के बारे में राज्य को निर्देश देने तक है।

अनुसूचित जातिंयों के लिये सवैधानिक व्यवस्थाओं के इस संक्षिप्त विवरण को

पढ़ने के बाद उनकी वर्तमान स्थिति की एक खुशनुमा तस्वीर मस्तिष्क में उभरती है किन्तु अफसोस की बात यह है कि स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद के पिछले लगभग छह दशकों में जनजाति समुदाय की जो दुखद् और दयनीय दशा रही है और जिसका विशुद्ध चित्रण प्रस्तुत पुस्तक में किया गया है वह इस कटु सत्य का साक्षी है कि संविधान निर्माताओं के आदर्श विचारों को अब तक यथार्थ का रूप नहीं दिया जा सका है।

# 28

# योजनायें, कार्यक्रम व उनका कार्यान्वयन

भारतीय संविधान ने राष्ट्र पर यह उत्तरदायित्व डाला है कि वह अनुसूचित जनजातियों के शैक्षिक तथा आर्थिक हितों का विशेष ध्यान रखने के साथ-साथ सामाजिक अन्याय तथा शोषण से उनकी रक्षा करे। उनका विकास राष्ट्रपति के विशेष दायित्वों में से एक है। अनुसूचित क्षेत्रों के प्रशासन व विकास का सर्वेक्षण करके उसकी रिपोर्ट राष्ट्रपति को भेजना सभी राज्यों का उत्तरदायित्व है।

मूलतः अनुसूचित क्षेत्रों के विकास की समस्या वहाँ के पिछड़ेपन, भुखमरी तथा जनजातियों की शेष जनसंख्या के लोगों से एकीकृत व संगठित करने के विचार से प्रत्यक्ष रूप से जुड़ी है।

संविधान के अनुच्छेद 275 में अनुसूचित व जनजातीय क्षेत्रों के प्रशासन को स्तर पर लाने तथा विकास कार्यक्रमों को कार्यान्वित करने के उद्देश्य से अनुदान का प्रावधान है जो कि केन्द्र सरकार राज्य सरकारों को देती है। इसके अतिरिक्त प्रत्येक योजना में अनुसूचित जनजाति के पिछड़ेपन को दूर करने तथा उनके कल्याण के लिये विशेष धनराशि का प्रावधान किया जाता है। यह प्रावधान इस विचार से किये गये हैं जिससे कि यह सामान्य विकास के प्रारूप एक योगात्मक भूमिका निभायेंगे तथा जनजाति जनसंख्या तथा क्षेत्रों के कल्याण में सहायक हों।

विभिन्न राज्यों में जनजातियों की जनसंख्या घनी होने के साथ-साथ अलग-अलग जनजातियाँ तथा उपजातियाँ हैं, जिनकी जनसंख्या थोड़े से लेकर लाखों तक है। उनका जीवनयापन तरह-तरह की आर्थिक गतिविधियों से होता है। उनका संबंध विभिन्न समूहों से है तथा ये लोग अलग-अलग भाषा तथा उपभाषा बोलते हैं। ये जनजातियाँ अभी भी राजनीतिक, शैक्षिक व आर्थिक विकास के विभिन्न स्तरों पर हैं। *टास्क फोर्स आन डेवलपमेंट ऑफ ट्राइबल एरियाज़ (1975)* की रिपोर्ट के अनुसार जनजातियों की विवशता तथा उनके विकास में बाधा होने के कारण निम्न हैं :

(1) सुदूरवर्ती क्षेत्रों तथा कठिन जलवायु के कारण लद्दाख से लेकर उत्तराखंड के तराई क्षेत्र में रहने वाली उत्तरीय अंचलों की सभी जनजातियाँ अंग्रेजी राज्य

के समय से ही उपेक्षित रही हैं। चीनी हमले के बाद ही हिमालय पर रहने वाली जनजातियों तथा उनकी दशा पर ध्यान आकर्षित हुआ है।

(2) उत्तर-पश्चिमी अंचल में तिब्बत और असम के बीच एक पृष्ठ प्रदेश (हिंटर लैण्ड) है। वहाँ जो जनजातियाँ रहती हैं उनकी आर्थिक व्यवस्था बंगलादेश के अलग हो जाने तथा देश के अन्य भागों से संचार टूट जाने के कारण जर्जर हो गयी थी। इसके कारण समतल क्षेत्रों तथा बंगलादेश के व्यावसायिक केन्द्रों से इन जनजातियों का व्यवसाय बिल्कुल बन्द हो गया। समतल भूमि तथा ढलुआ पहाड़ियों की कमी के कारण ये जनजातियाँ स्थान बदल-बदल कर खेती करती हैं। अतः झूम (अस्थायी खेती) इस अंचल की मुख्य समस्या है।

(3) पूर्वी, मध्य व पश्चिमी अंचलों के बिहार/झारखंड , पश्चिमी बंगाल, उड़ीसा, मध्य प्रदेश/छतीसगढ़, उत्तर प्रदेश, उत्तराखंड, गुजरात, महाराष्ट्र तथा राजस्थान राज्यों में जनजातियों के विकास की समस्या का सीधा संबंध अधिक जनसंख्या, भूमि पर खेती करने की अवधि, ऋण, जंगली जनजातियों के अधिकार, झूमिंग (स्थान बदल-बदल कर खेती करना) के साथ कम उत्पादन से है। इन क्षेत्रों की जनजातियाँ खाद्य पदार्थ, जल तथा रोजगार के अभाव आदि की समस्याओं से भी जूझती है। इन जनजातीय क्षेत्रों के मध्य बढ़ते हुये औद्योगीकरण तथा आधुनिकीकरण ने भी इन जनजातियों के परंपरागत जीवन को बहुत अस्त-व्यस्त किया है। औद्योगीकरण के कारण वहाँ जनसंख्या में वृद्धि और पूर्वी पाकिस्तान के शरणार्थियों का विशेषतया दण्डकारण्य में बसना, इन दोनों कारणों से आपसी तनाव में वृद्धि हुई है।

(4) दक्षिणी अंचलों की जनजातियों की अधिकतम समस्याओं का कारण है वहाँ की पोदू संस्कृति (अस्थाई खेती का स्थानीय नाम) की पुरानी अर्थव्यवस्था, खाद्यान्न एकत्र करने की प्रकृति तथा भूमि संचालन की मुत्तदारी व्यवस्था का प्रचलन।

(5) अंदमान और निकोबार, लक्षद्वीप तथा मिनिकाय द्वीप समूहों में रहने वाली जनजातियों की समस्याओं का कारण है वहाँ की अर्थव्यवस्था में मछली पकड़ने तथा नारियल की खेती पर निर्भरता।

विभिन्न अंचलों में समस्याओं के अलग-अलग होने के पश्चात भी कुछ ऐसे आर्थिक व सामाजिक घटक हैं जिनका ध्यान विकास कार्यक्रमों की रूपरेखा बनाते समय अवश्य रखनां चाहिये। इन समस्त घटकों को अलग-अलग भागों में बाँटा जा सकता है।

(1) इन जनजातियों के रहने के स्थान बिल्कुल अलग व दुर्गम भू-भागों में हैं। इसके अतिरिक्त इनकी सड़कों, पुलों, परिवहन व पुलियों की व्यवस्था भी पुरानी है। ये लोग अभी भी डरते हैं जिसके कारण अपने जनजातीय गाँवों के निकटतम बाजारों या ब्लाक मुख्यालयों से कोई संबंध नहीं रखते।

(2) कृषि तथा वनों के प्राकृतिक उत्पादन ही इन जनजातियों की आय के मुख्य साधन हैं।

(3) जनजातीय क्षेत्रों में वस्तु विनिमय प्रणाली अब भी प्रचलन में हैं। असंगठित बाजारों व वस्तुओं के लिये ऋणों की प्रथा के कारण साहूकारों का प्रभुत्व बढ़ जाता है।

(4) जनजातियाँ अपनी आय का बड़ा हिस्सा सामाजिक व धार्मिक उत्सवों पर व्यय कर देती हैं जिसके फलस्वरूप ये लोग हमेशा ऋण में डूबे रहते हैं।

(5) आत्मनिर्भर होने के उद्देश्य से ये फसलों की प्राकृतिक पैदावार पर ही निर्भर रहते हैं तथा अधिक पैदावार से लाभ कमाने जैसी बातों पर कोई विशेष ध्यान नहीं देते।

(6) अपनी निरक्षरता व सादगी के कारण ये लोग वन अधिकारियों, बेईमान ठेकेदारों तथा छोटे सरकारी कर्मचारियों के द्वारा शोषण का शिकार होते हैं।

## सुनियोजित व व्यवस्थित विकास

स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् तमाम सरकारी तथा गैर-सरकारी संस्थाओं ने जनजातीय लोगों के कल्याण तथा विकास के लिये विभिन्न कार्यक्रमों को प्रारम्भ किया।

इन सभी कार्यक्रमों की रूपरेखा अधिक व्यवस्थित नहीं थी। सर्वप्रथम 1955 में "विशेष बहुउद्देशीय जनजातीय विकास खण्ड" के रूप में एक व्यवस्थित प्रयास सामने आया। तीसरी पंचवर्षीय योजना के दौरान जिस समय जनजातीय विकास खण्डों का प्रारम्भ हुआ उस समय इस कार्यक्रम के परिवर्तित प्रारूप का एक बड़े पैमाने पर प्रयोग किया गया।

तृतीय पंचवर्षीय योजना के समय इस कार्यक्रम का और विस्तार हुआ तथा योजना के अन्त तक वह सभी क्षेत्र इसके अन्तर्गत आ गये जहाँ की कुल जनसंख्या का दो-तिहाई से अधिक हिस्सा जनजातियों का था। 504 जनजातीय विकास खण्डों में देश की जनजातियों की कुल जनसंख्या का 38 प्रतिशत भाग इस कार्यक्रम के अन्तर्गत आ गया। यद्यपि यह निर्णय लिया जा चुका था कि यह कार्यक्रम उन सभी

क्षेत्रों तक पहुँचाया जायेगा जहाँ की जनसंख्या का 50 प्रतिशत से अधिक भाग जनजातियों का है परन्तु चौथी पंचवर्षीय योजना के समय यह संभव न हो सका। उस समय के जनजातीय विकास खण्डों में इस कार्यक्रम की अवधि को बढ़ाकर विकास के प्रयास को सुदृढ़ कर दिया गया था। फलस्वरूप चतुर्थ योजना के अन्त तक व्यावहारिक रूप से इन क्षेत्रों में कोई परिवर्तन या बढ़ावा नहीं हुआ। इसी दौरान इस कार्यक्रम का कई बार पुनर्निरीक्षण हुआ। इसमें शीलू आओ की अध्यक्षता में योजना आयोग द्वारा नियुक्त अध्ययन दल मुख्य है। ऐसा समझा गया कि जनजातीय विकास खण्ड लम्बी अवधि के विकास कार्यक्रमों की योजना तथा कार्यान्वयन के लिये बहुत छोटी इकाई है। यह भी देखा गया कि इन जनजातियों के निम्न आर्थिक स्तर के संबंध में सामान्य क्षेत्रों के कार्यक्रमों ने समुचित प्रयास नहीं किया। इस प्रकार जनजातीय क्षेत्रों के विकास के लिये एक नयी रूपरेखा बनाने का निश्चय किया गया।

अनुवर्तन (follow up) क्रिया के अन्तर्गत योजना आयोग ने पिछड़े वर्गों के विकास के लिये एक उद्देश्य दल (task force) की नियुक्ति की जिसने सभी समस्याओं के विभिन्न रूपों का अध्ययन किया। इस फोर्स ने बहुत से कार्यकारी समूहों की नियुक्ति की, विशेषतया एक समूह की जो कर्मचारी नीति पर आधारित था। टास्क फोर्स ने लघु, मध्यम व वृहद् (micro, meso, macro) विकास संरचना का सुझाव दिया। इस नीति का मुख्य खण्ड थी मध्य ईकाई (meso unit)। क्षेत्रीय विकास व जनजातीय विकास दोनों को इस एकीकृत विकास कार्यक्रम में उपयुक्त रूप में मिलना तथा समन्वय स्थापित करना था। टास्क फोर्स की रिपोर्ट में इस नीति को स्पष्ट करने के साथ-साथ उन सभी पक्षों पर भी प्रकाश डाला गया जिन पर विशेष ध्यान देने की आवश्यकता थी। यह नीति स्पष्ट रूप से जनजातीय विकास की समस्याओं को दो भागों में विभाजित करती है।

(अ) उन क्षेत्रों की समस्यायें जहाँ जनजातीय जनसंख्या 50 प्रतिशत से अधिक है तथा अनुसूचित क्षेत्र।

(ब) वे क्षेत्र जहाँ जनजातीय जनसंख्या छितरी-बिखरी है। इन दो मुख्य श्रेणियों के अतिरिक्त उन आदिम समुदायों को विशेष श्रेणी दी गयी है जो अब भी कृषि पूर्व (Pre-agriculture) स्तर पर हैं।

उप योजना के प्रारूप में बहुजन संख्यक क्षेत्रों के लिये यह नीति चरम बिन्दु तक पहुँची। इस उद्देश्य के लिये राज्य तथा केन्द्र शासित प्रदेशों को तीन श्रेणियों में रखा गया :

(i) वह राज्य तथा केन्द्र शासित प्रदेश जहाँ जनजातीय जनसंख्या 50 प्रतिशत

से अधिक है। इस श्रेणी में मेघालय, नागालैण्ड, अरुणाचल प्रदेश, दादर, नगर हवेली, लक्षद्वीप, मिनिकाय तथा अमीनदिवी द्वीप समूह आते हैं।

(ii) ऐसे राज्य तथा केन्द्र शासित प्रदेश जिनकी जनजातीय जनसंख्या बहुत है। आंध्र प्रदेश, असम, बिहार, गुजरात, हिमाचल प्रदेश, मध्य प्रदेश, महाराष्ट्र, मणिपुर, उड़ीसा, राजस्थान तथा त्रिपुरा इस श्रेणी में आते हैं।

(iii) ऐसे राज्य व केन्द्र शासित प्रदेश जहाँ पर जनजातीय जनसंख्या फैली हुई या बिखरी हुई है। इस श्रेणी में केरल, कर्नाटक, तमिलनाडु, उत्तर प्रदेश, पश्चिमी बंगाल, अंदमान एवं निकोबार द्वीप समूह, गोवा, दमण व दीव आते हैं।

श्रेणी (1) के राज्यों तथा केन्द्र शासित प्रदेशों की राजकीय योजनायें वास्तविक रूप से जनजाति विकास योजनायें हैं। अतः इनके संबंध में किसी उपयोजना का होना आवश्यक नहीं समझा गया। योजना आयोग ने कुछ को छोड़कर अन्य राज्यों को उप योजना बनाने की सलाह दी। आयोग ने अपने सुझाव के साथ उपयोजनाओं के लिये संदर्भों का एक बहुत बड़ा ढाँचा भी उपलब्ध कराया।

## उपयोजना (Tribal Sub-Plan) के कार्य

(1) उपयोजना के क्षेत्रों के लिये साधनों को पहचानना।

(2) जनजातीय क्षेत्रों के विकास के लिये स्पष्ट नीतियों को तैयार करना।

(3) इनको लागू करने के लिये एक प्रशासकीय योजना तैयार करना।

प्रशासनिक सीमाओं, स्थान, आर्थिक विकास का स्तर, नृजातीय संयोजन (एथनिक कम्पोजीशन) उपयोजना क्षेत्र के, प्राकृतिक साधनों तथा विकास की क्षमता को ध्यान में रखते हुये प्रत्येक राज्य को व्यावहारिक परियोजना कार्य क्षेत्रों में बाँटा जाता है। उस क्षेत्र की समस्याओं के सन्दर्भ में प्रत्येक इकाई को उपयोजना द्वारा बनायी गयी नीति के अनुसार ही गठित किया जाता है। यह नयी नीति योजना इस बात को मान्यता देती है कि इन क्षेत्रों की विभिन्न समस्याओं का एक हल नहीं है क्योंकि विभिन्न जनजातीय क्षेत्र व समुदाय सामाजिक व आर्थिक विकास के अलग-अलग स्तर पर हैं। फिर भी कुछ सामान्य समस्यायें ऐसी हैं जिन पर ध्यान देना आवश्यक है यद्यपि इन समस्याओं का समाधान स्थानीय स्थितियों पर निर्भर करता है।

उपयोजना की कार्य सूची में शोषण को दूर करने को प्राथमिकता दी गयी। एकीकृत जनजातीय विकास परियोजना द्वारा स्थानीय स्थितियों को समझने हेतु

उपयुक्त कार्यक्रम बनाने तथा उनको लागू करने का प्रयास लगातार किया जायेगा। इसके साथ-साथ इस बात का भी मूल्यांकन किया जायेगा कि इन योजनाओं से अत्यधिक उपेक्षित व शोषित वर्गों के कल्याण पर कैसा प्रभाव पड़ा।

### योजना में विकास कार्यक्रम

किसी भी योजना को केन्द्र की सहायता मिलना इस बात पर निर्भर करता है कि वह योजना केन्द्र द्वारा प्रायोजित है या नहीं। केन्द्र द्वारा प्रायोजित होने की स्थिति में राज्य को शत-प्रतिशत सहायता मिलती है जबकि राज्य की योजनाओं को केन्द्र की सहायता खण्ड अनुदान तथा ऋणों के रूप में मिलती है। केन्द्र द्वारा प्रायोजित तथा राज्य की योजना के कार्यक्रमों का वर्गीकरण निम्नवत है :

## केन्द्र द्वारा प्रायोजित योजनायें

(1) जनजातीय विकास खण्ड
(2) सहकारिता
(3) महिला छात्रावास
(4) मैट्रिक के बाद छात्रवृत्ति
(5) प्रतियोगी परीक्षाओं के लिये कोचिंग तथा परीक्षा पूर्व प्रशिक्षण परियोजनायें
(6) शोध प्रशिक्षण एवं विशेष परियोजनायें।

## राज्य की योजनायें

शिक्षा : मैट्रिक पूर्व छात्रवृत्ति, आवास अनुदान, छात्रावास, निःशुल्क पुस्तकों की सुविधा, स्टेशनरी, वर्दी तथा दोपहर का भोजन इत्यादि।

## आर्थिक विकास

कृषि कार्यों के लिये परिदान (सब्सिडी), बीज, खाद इत्यादि। कुटीर उद्योग, पुनर्वास, संचार, पशुपालन, उद्यान विज्ञान, मत्स्यपालन, नहर से सिंचाई तथा मृद्रा संरक्षण।

## स्वास्थ्य, आवासीय तथा अन्य

आवास, पीने के पानी की आपूर्ति, मेडिकल तथा जन स्वास्थ्य, सामाजिक एवं सांस्कृतिक गतिविधियाँ, स्वैच्छिक संस्थाओं को सहायता तथा अन्य।

## (1) बहुउद्देश्यीय विशेष जनजातीय खण्ड

1955 में बहुउद्देश्यीय विशेष जनजातीय खण्डों का प्रादुर्भाव जनजातीय क्षेत्रों के विकास के लिये प्रथम व्यवस्थित प्रयास था। जिन क्षेत्रों में जनजातीय जनसंख्या का बाहुल्य था उन क्षेत्रों के विकास की प्रक्रिया में गति लाने के उद्देश्य से 1956 में इस प्रकार 46 ब्लाक अलग-अलग राज्यों में खोले गये। यह सभी ब्लाक गृह तथा सामुदायिक विकास मंत्रालयों द्वारा संयुक्त रूप से प्रायोजित थे। राज्य सरकारों को इस कार्यक्रम के कार्यान्वयन का भार दिया गया। यह खण्ड सामान्य खण्डों से निम्न कारणों से भिन्न थे :-

(1) लागू किये जाने वाले विकास कार्यक्रम अधिक प्रबल थे।

(2) सामान्य खण्डों की तुलना में जनसंख्या तथा क्षेत्र कम थे।

(3) लोगों का सहयोग केवल अकुशल श्रमिकों को कम दामों पर लेने तक ही सीमित था।

(4) ऋणों को सहायता के रूप में बाँटा जाता था।

(5) इन क्षेत्रों में नियुक्त कर्मचारी उपयुक्त रूप से प्रशिक्षित होते थे।

इन बहुउद्देश्यीय विशेष जनजातीय खण्डों के अंतर्गत केन्द्र तथा राज्यों द्वारा आयोजित विभिन्न योजनाओं का कार्यान्वयन हुआ। फिर भी कुछ समय के पश्चात् ऐसा प्रतीत होने लगा कि इन खण्डों के अंतर्गत कार्य कर रही योजनायें व कार्यक्रम अपेक्षित फल नहीं दे रहे हैं।

अपेक्षित फल न मिलने के कारणों तथा कमियों पर प्रकाश डालने तथा और अच्छे सुझाव देने के उद्देश्य से वेरियर एल्विन की अध्यक्षता में एक समिति का गठन किया गया जो इस कार्यक्रम के विभिन्न पहलुओं पर भी दृष्टि डाले। एल्विन कमेटी के मुख्य अवलोकन निम्न थे :

(अ) यद्यपि इस कार्यक्रम में सभी आरम्भिक योजनाओं जैसी कमियाँ थीं फिर भी इसका विस्तार इसकी समुचित सफलता को देखते हुये न्यायोचित था।

(ब) सभी जनजातीय क्षेत्रों में कृषि तथा सिंचाई भूमि सुधार तथा मृद्रा संरक्षण जैसे संबद्ध विषयों को प्राथमिकता देनी चाहिये।

(स) जनजातीय पृष्ठभूमि के संदर्भ में सभी कार्यक्रमों तथा उनको करने की विधि में एक तारतम्य बनाये रखने का प्रयास किया जाना चाहिए।

तीसरी पंचवर्षीय योजना के दौरान जब जनजातीय विकास खण्डों की स्थापना हुई इस कार्यक्रम के रूपान्तरित रूप को बड़े पैमाने पर लिया गया।

## (2) जनजातीय विकास खण्ड

तृतीय पंचवर्षीय योजना (1961-1966) में जनजाति विकास खण्डों का प्रादुर्भाव हुआ। इन विकास खण्डों का प्रारूप तो सामुदायिक विकास खण्डों की भाँति था परन्तु इनकी प्रकृति अधिक गहन थी तथा इनका उद्देश्य जनजातियों के सामाजिक व आर्थिक स्तर में गतिशील सुधार लाना था।

प्रारम्भ में ये खण्ड एक लाख जनसंख्या वाले क्षेत्रों में बनाये गये जो कि विकास कार्यक्रमों की संरचना तथा क्रियान्वयन की एक इकाई हो गये। बाद में प्रत्येक इकाई की संरचना 25,000 जनसंख्या तथा 200 वर्ग मील के हिसाब से होने लगी। लोकप्रिय प्रतिनिधियों को खण्ड की सरकारी व्यवस्था से जोड़ा गया जिससे कि कार्यक्रम लोगों की आवश्यकता तथा अपेक्षाओं के अनुसार हो। 1966-67 के अंत तक विभिन्न राज्यों में 484 खण्डों की स्थापना की गई। यद्यपि किसी भी प्रकार का निश्चित प्रारूप नहीं बनाया गया था फिर भी इस बात पर बल दिया गया कि कुल धनराशि का 60 प्रतिशत आर्थिक विकास के कार्यक्रमों के लिए, 25 प्रतिशत संचार व संपर्क तथा 15 प्रतिशत सामाजिक सेवा के लिये रखा जाये। कई जनजातियों के दुर्गम स्थानों में रहने तथा उन स्थानों तक पहुँचने की कठिनाइयों को ध्यान में रखते हुए संचार कार्यक्रमों को अधिक प्राथमिकता दी गई। विद्यार्थी टास्क फोर्स के मूल्यांकन के अनुसार यद्यपि इस कार्यक्रम से जनजातियों के दृष्टिकोण, विशेषतया शिक्षा व कृषि के क्षेत्रों, में परिवर्तन हुआ है फिर भी यह कार्यक्रम अपेक्षित फल नहीं दे सका। प्राथमिकता निर्धारण के अनुसार निम्न कार्यक्रमों की योजना तथा क्रियान्वयन हुआ :

### कृषि

अस्थायी खेती में लगी जनजातियों को ऐसी खेती से अलग होने की आदत को प्रोत्साहन, फलों के पौधों, कलमों तथा तरकारियों के बीज की आपूर्ति, कृषि संयंत्र, मृदा संरक्षण के लिये ऋण व अनुदान, अल्पिका द्वारा सिंचाई तथा फार्म जहां पर विकसित तथा सुधरे हुये कृषि के तरीकों का प्रदर्शन किया जाये।

### पशु-पालन

सुअर पालन, मुर्गी पालन तथा भेड़ पालन ;

### छोटे व कुटीर उद्योग

विभिन्न प्रकार के कुटीर उद्योग जो कच्चे माल की स्थानीय उपलब्धता पर निर्भर हैं।

### सामाजिक शिक्षा

गाँवों में कार्यरत वर्तमान संस्थानों को सामुदायिक केन्द्रों में बदलना।

### महिलाओं व बच्चों के लिए कार्यक्रम

मनोरंजक व सांस्कृतिक कार्यक्रमों के माध्यम से स्वास्थ्य एवं सफाई की शिक्षा देना।

## (3) जनजातीय उपयोजना तथा संगठित जनजातीय विकास परियोजना

कुछ परिवर्तनों के साथ जनजातीय विकास खण्ड चौथी योजना तथा उसके बाद भी कार्य करते रहे। यद्यपि परिवर्तनशील स्थितियों ने इन समस्याओं के प्रति अलग दृष्टिकोण की माँग की, फिर भी यह कार्यक्रम क्रियान्वयन में अत्यधिक कठोर (Rigid) थे। सामाजिक सेवा, आर्थिक विकास व ढाँचे में विनियोग के उद्देश्य में यह जनजातीय विकास खण्ड बहुत छोटी इकाई साबित हुई, क्योंकि यह खण्ड मृदा संरक्षण, विस्तृत तथा मध्यम सिंचाई, सेकेंडरी तथा तकनीकी शिक्षा जैसी योजनाओं को समायोजित न कर सकें।

पाँचवीं योजना में सभी अनुसूचित क्षेत्रों व समूहों की विशिष्ट समस्याओं पर ध्यान देना आवश्यक हो गया था, जिसके फलस्वरूप इन जनजातियों व क्षेत्रों के विकास के लिए एक निश्चित स्वरूप सामने आया। जनजातीय जनसंख्या के आधिक्य वाले क्षेत्रों की स्थितियों तथा फैली हुयी जनजातीय जनसंख्या वाले क्षेत्रों की स्थितियों में पर्याप्त भिन्नता है, जो कि भिन्न दृष्टिकोण की माँग करती है। जिन क्षेत्रों में जनजातीय जनसंख्या अधिक है वहाँ पर जनजातियों की समस्याओं को ध्यान में रखते हुए क्षेत्रीय विकास का दृष्टिकोण अपनाना चाहिए। इन तथ्यों के कारण ही उपयोजना के विचार का उद्‌भव हुआ था। उपयोजना कोई परियोजना नहीं है। वरन् एक नये दृष्टिकोण का प्रतिनिधित्व करती है। इस नीति ने जनजातीय विकास की समस्या को स्पष्ट रूप से दो भागों में विभाजित किया है:

(1) वह क्षेत्र जिनकी जनजातीय जनसंख्या 50 प्रतिशत से अधिक है तथा अनुसूचित क्षेत्र।

(2) वह क्षेत्र जहाँ जनजातीय जनसंख्या बिखरी हुई है। इन दो श्रेणियों के अतिरिक्त कृषि-पूर्व प्रौद्योगिक स्तर पर पुराने जनजातीय समूहों को विशेष श्रेणी में रखा गया है।

प्रत्येक राज्य में जनजातीय बाहुल्य क्षेत्र या उपयोजनायें, विभिन्न व्यावहारिक परियोजना क्षेत्र से मिलकर बनती हैं। जन योजनाओं को एकीकृत जनजातीय विकास परियोजना के नाम से जाना जाता है। प्रत्येक परियोजना के लिए एक ऐसे एकीकृत क्षेत्र को विकास कार्यक्रम की आवश्यकता होती है जो उस क्षेत्र में रहने वाले लोगों की विशिष्ट समस्याओं का विशेष ध्यान रखे।

## उपयोजना की लम्बी अवधि के उद्देश्य हैं:

(1) जनजातीय तथा अन्य क्षेत्रों के विकास के स्तर की दूरी को कम करना।

(2) जनजाति समुदाय के रहन-सहन में सुधार लाना।

सभी प्रकार के शोषण का अन्त, सामाजिक तथा आर्थिक विकास की प्रक्रिया को गतिशील बनाना, लोगों में आत्म विश्वास जगाना तथा उनकी संगठन शक्ति की क्षमता को बढ़ाना कुछ ऐसे उद्देश्य हैं जिन्हें तुरन्त कार्यान्वित करने की आवश्यकता है। विकास कार्यक्रमों के संबंध में जनजातीय उपयोजनायें उस क्षेत्र में सार्वजनिक उपक्रम के प्रयास का यौगिक प्रतिनिधित्व करती हैं। उपयोजना के साधन इस प्रकार हैं।

(1) राज्य की योजना रूपरेखा।

(2) केन्द्रीय मंत्रालयों में सेक्टोरल (क्षेत्रीय) रूपरेखा।

(3) विशेष केन्द्रीय सहायता।

(4) संस्थागत वित्त।

उपयोजना की तैयारी के संबंध में योजना आयोग द्वारा जारी टिप्पणी के अनुसार इसका उद्देश्य है प्रत्येक राज्य के जनजातीय क्षेत्रों की विशेष समस्याओं का ध्यान रखते हुए सामान्य नीति का निर्धारण करना। इस नीति के कुछ मूल तत्व निम्न प्रकार से हैं :-

## शोषण की रोकथाम

जनजातियों में कल्याण के लिये कोई भी विकास क्रिया तब तक सफल नहीं हो सकती जब तक तरह-तरह के शोषण को न रोका जाय। एकीकृत ऋण व विपणन सेवाएं (integrated credit cum marketing services) जो कृषि तथा वन उत्पादनों के विक्रय को देखती हैं, व उपभोग संबंधी वस्तुओं को सप्लाई करती है, ऐसी संस्थाओं का व्यवस्थित तथा सुचारु रूप से कार्य करना आवश्यक है। वैधानिक तथा अधिशासी माध्यमों द्वारा पिछले ऋणों से मुक्ति दिलाने की प्रतिक्रिया को बढ़ावा देना

चाहिए। इन कार्यों के परिणामिक दायित्वों से निपटने के लिए भी उपयुक्त कदम उठाने चाहिये। इन सबके साथ-साथ भूमि हस्तान्तण को रोकने, हस्तांतरित भूमि को वापस दिलाने, बंधुआ मजदूर जैसी प्रथा को बन्द करने, औद्योगीकरण द्वारा उत्पन्न समस्याओं तथा आबकारी नीतियों का पुनर्निरीक्षण जैसे तत्वों पर भी विशेष ध्यान होना चाहिए।

## जनजातीय अर्थव्यवस्था का विकास

अधिकतर जनजातियाँ अपने जीवनयापन के लिए कृषि व वनों पर निर्भर रहती हैं। अतः कृषि के विकास को अत्यधिक प्राथमिकता दी गई है। भूमि का स्वामित्व तथा उसका विकास, सिंचाई की सुविधा तथा उपज के विकसित तरीके, यह सभी तत्व कृषि विकास में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। भूमि से संबंधित अभिलेखों की पूर्णता को भी प्राथमिकता देनी होगी। पोदू संस्कृति (Shifting Cultivators), वन के ग्रामवासी तथा वन के श्रमिकों की ओर विशेष ध्यान दिया जायेगा।

## रोज़गार के अवसरों की उत्पत्ति

जनजातीय क्षेत्रों में आर्थिक गतिविधियों का स्तर बहुत नीचा है, फिर भी इनके साधनों की क्षमता का उपयोग बहुत कम है। उद्यान विज्ञान कार्यक्रमों, सुअर पालन, पशुपालन तथा व्यावहारिक व्यवसायों के द्वारा उपलब्ध श्रमिकों के अच्छे उपयोग का अवसर बनाया जाना चाहिए। उन क्षेत्रों में स्थानीय कच्चे माल पर आधारित कुटीर उद्योगों का विकास करना चाहिए जिससे प्रकृमित (Processed) तथा उप प्रकृमित (semi-processed) सामान का अनुपात बढ़कर क्षेत्र के बाहर निर्यातित हो।

## मूल ढाँचे का प्रावधान

सामाजिक व आर्थिक विकास के लिए वैधानिक, संस्थागत तथा भौतिक ढाँचों के विकास को प्राथमिकता देना नितान्त आवश्यक है। जनजातियों की विशेष परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुए केन्द्रों में संचार व्यवस्था, स्कूल, ग्रामीण स्वास्थ्य केन्द्र, विपणन व ऋण संस्थाएं, ग्रामीण विद्युतीकरण, उपलब्ध श्रमिक शक्ति तथा प्रशिक्षण को एकीकृत रूप में योजनाबद्ध करना होगा।

## विशिष्ट समूह व समस्यायें

उपयोजना अपना ध्यान लोगों के कल्याण व विकास में लगाती है, अतः उन क्षेत्रों

व लोगों पर अधिक ध्यान देने की आवश्यकता है जो विशेष परिस्थितियों में रहते हैं। आदिम जनजाति समूह, जो अत्यधिक पिछड़े स्थानों पर हैं, स्थानांतरित कृषक (shifting cultivators) तथा जनजातियों जिन पर बड़ी योजनाओं का प्रभाव पड़ा, इस श्रेणी में आते हैं। ऐसे जनजातीय समूह जिन्हें अब तक के विकास से कोई लाभ नहीं मिला तथा ऐसी जनजातियाँ जो जनजातियों में भी अत्यधिक पिछड़ी हैं, को पहचान कर उन्हें विशेष सहायता देनी चाहिए।

उपयोजना की तैयारी में निम्नलिखित तत्वों की आवश्यकता है :

(1) जनजातीय जनसंख्या वाले क्षेत्रों की पहचान व सीमांकन

(2) आर्थिक व सामाजिक बाधाओं तथा विकासशील परिवर्तन के प्रवर्तकों की पहचान

(3) क्षमताओं का मूल्यांकन, विशेष समस्याओं तथा जनजाति क्षेत्रों की आवश्यकताओं को समझना

(4) उपयोजना के लिए साधनों की उपलब्धता का मूल्यांकन

(5) क्षेत्रीय सार्वजनिक कार्यक्रमों की संरचना

(6) उपयुक्त प्रशासकीय व्यवस्था का उपाय।

प्रत्येक राज्य में प्रशासनिक सीमाओं, स्थान, आर्थिक विकास के स्तर, नृजातीय संयोजन, प्राकृतिक साधनों तथा विकास की क्षमताओं को ध्यान में रखते हुए उपयोजना क्षेत्र को विभिन्न परियोजना क्षेत्रों में बाँटा जाता है। योजना तथा समन्वय के उद्देश्य से जनजातीय विकास खण्ड बहुत छोटी इकाई थी जिससे कई विकास खण्डों को मिलाकर एक परियोजना क्षेत्र बनाने का निर्णय लिया गया। इस प्रकार सम्पूर्ण जनजाति उपयोजना क्षेत्र सभी व्यावहारिक तथा एकीकृत जनजाति विकास परियोजनाओं (*इंटीग्रेटेड ट्राइबल डेवलपमेंट प्रोजेक्ट*) में बँट गया। अलग-अलग राज्यों में विभिन्न स्थितियों तथा एक ही राज्य के अलग-अलग क्षेत्रों में भिन्न परिस्थितियों के कारण परियोजना के आकार का निर्णय विशेष परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुए लिया गया। औसत रूप से परियोजना के अंतर्गत तीन से चार लाख की जनसंख्या तथा 6 से 7 विकास खण्ड आते हैं।

यह परियोजना अपने क्षेत्र के सभी विकास कार्यों का प्रतिनिधित्व करती हैं। इस परियोजना का दृष्टिकोण समस्याओं को हल करने तथा लोगों के कल्याण व सुरक्षा की व्यवस्था करने में सहायक होना चाहिए। इस परियोजना की परिकल्पना संबंधित क्षेत्र की वर्तमान प्रशासन प्रणाली के यौगिक रूप में की जाती है।

## (4) बहुउद्देश्यीय वृहद् समितियाँ

जनजातियों की अनेक आवश्यकताओं की आपूर्ति एक ही स्थान पर हो, इस उद्देश्य से इन सहकारी समितियों का गठन 1974 से देश के जनजातीय क्षेत्रों में प्रारम्भ हुआ। उनकी ऋण व विपणन की आवश्यकताओं की पूर्ति विशेष रूप से इन्हीं समितियों द्वारा की जाती है। बहुउद्देशीय विस्तृत समितियों की नीति भी जनजाति उन्मुख (ट्राइबल ओरियन्टेड) होनी चाहिए। इसके लिए ''बोर्ड ऑफ डायरेक्टर्स'' में जनजातियों के प्रतिनिधियों को रखा जाना चाहिए।

## योजना अवधियों में ली गई परियोजनायें

*नवीं पंचवर्षीय योजना* के आरम्भ तक निम्न कार्यक्रमों को लिया गया था :-

**(i) सुरक्षा संबंधी कदम**

(1) वैधानिक सहायता
(2) कृषि व छोटे वन उत्पादों का विपणन
(3) आवश्यक उपभोग की वस्तुओं की आपूर्ति व विक्रय
(4) बँधुआ श्रमिक मजदूर
(5) अनुत्पादक ऋण
(6) आबकारी प्रशासन का पुनर्गठन
(7) परंपरागत पंचायतों को मजबूत बनाना

**(ii) कृषि व वन**

(1) सर्वेक्षण व भूमि अभिलेख
(2) कृषि संबंधी शोध
(3) सामान्य कृषि विकास
(4) उत्पादक उद्देश्यों के लिए ऋण
(5) भूमिहीन श्रमिक
(6) युवा कृषकों का प्रशिक्षण
(7) वन्य ग्रामीण
(8) वनों तथा वनों पर आधारित आर्थिक व्यवस्था का विकास
(9) अस्थायी कृषि (Shifting Cultivation)

**(iii) पशु पालन**

**(iv) सिंचाई**

**(v) संचार व्यवस्था**

**(vi) विद्युत**

**(vii) उद्योग**

(1) छोटे पैमाने के उद्योग

(2) मध्यम श्रेणी के उद्योग तथा खान

**(viii) मुख्य बड़ी परियोजनाओं से प्रभावित जनजातियों के लिए विशेष कार्यक्रम**

**(ix) छोटे तथा अलग-अलग जनजाति समुदाय**

**(x) शिक्षा**

(1) 6 से 11 वर्ष के शत-प्रतिशत बच्चों तथा 11 से 14 वर्ष के 75 प्रतिशत बच्चों को सम्मिलित करना।

(2) आवासीय स्कूल

(3) मुख्य भोजन तथा वर्दी का प्रावधान

(4) छात्रावास

(5) मैट्रिक पूर्व छात्रवृत्ति

(6) स्तर में सुधार

(7) मातृभाषा में शिक्षा

(8) पाठ्येत्तर क्रिया व कलाप

(9) शारीरिक शिक्षा

(10) जूनियर हाईस्कूल व हाईस्कूल के भवनों का निर्माण

(11) 15 से 25 वर्ष वाले युवा वर्ग के लिए विशेष कार्यक्रम

(12) नागरिक शिक्षा

(13) शिक्षकों के बच्चों को वृत्ति

(14) अत्यधिक पिछड़े वर्ग के लिये शिक्षण कार्य कर रहे शिक्षकों को विशेष वेतन

(15) आवासीय सुविधाओं का निर्माण विशेषतया महिला शिक्षकों के लिए

(16) शिक्षकों के लिए नियुक्ति कार्यक्रम तथा पुनरावृत्ति

(17) जनजातीय बाजारों का सांस्कृतिक गतिविधियों के केन्द्र के रूप में विकास

**(xi) सार्वजनिक स्वास्थ्य**

(1) नवीन सार्वजनिक स्वास्थ्य केन्द्र

(2) निःशुल्क दवायें

(3) विशेष चिकित्सालय तथा चलित दवाखाने

(4) सुरक्षित तथा शुद्ध पीने का पानी

(5) जनजातीय क्षेत्रों में आदर्श नगरों का विकास

(6) जनजातीय आवास पर शोध

**(xii) प्रशासन व स्वैच्छिक संस्थायें**

(1) प्रशासनिक ढाँचे को मजबूत करना

(2) अत्यधिक पिछड़े क्षेत्रों में कार्यरत कर्मचारियों के लिए आवास

(3) विकास विभाग से संबद्ध उन सभी कर्मचारियों को विशेष वेतन जो अत्यधिक पिछड़े क्षेत्रों में कार्य कर रहे हैं।

(4) स्वैच्छिक संस्थाओं की सहायता

## विस्तृत आकलन/मूल्यांकन

जनजातीय विकास कार्यक्रमों का आकलन करते समय दो प्रथम विचार सामने आते हैं। एक विचार के अनुसार जनजातियों के विकास का दर्शन प्रयास बुरी तरह असफल हुआ है जबकि दूसरा विंचार इस कार्यक्रम की आंशिक सफलता के प्रभाव पर दुःख प्रकट करता है। आश्चर्यजनक बात यह है कि जनजातीय विकास कार्यक्रम के क्रियान्यवन को एक सफलता मानने का साहस किसी में नहीं था। छठी योजना में जनजातीय विकास के प्रति दृष्टिकोण एक प्रारम्भिक परिप्रेक्ष्य जैसे भारत सरकार द्वारा जारी किये गये। अभिलेख में भी कहा गया है कि "जनजातीय विकास के नाम पर बहुत-सा रुपया व्यय करने के पश्चात् जनजातियों के संविधान के अनुरूप सुरक्षा प्रदान करने में असफलता ही मिली है।" अपने वादों के अनुसार इन जनजातियों में लगातार लाभ पहुँचाने में असफलता ही मिली है। व्ययों का फल ऐसे लाभों में परिणत नहीं हुआ जो कि इस जनसंख्या को मिलते, दुर्भाग्यवश जनजातीय क्षेत्रों के विकास कार्यक्रम इच्छित फल देने में अक्षम रहे हैं।

इसमें यह भी कहा गया है कि कुछ लाभों का 75 प्रतिशत जनजातियों तक नहीं पहुँचा है तथा चेतावनी भी दी है कि "इस प्रकार के विकास की दर हानिकारक है।" पशुपालन के प्रभावों का मूल्यांकन करते हुये कहा गया है कि जनजातियों के नाम पर अपार धनराशि का व्यय किया गया है जिनका लाभ जनजातियों तक कभी नहीं पहुँचा। कई ऐसे कार्यक्रम हैं, जिन पर यह वात लागू होती है। जनजातीय विकास कार्यक्रमों के फलस्वरूप क्षेत्रों की जनजातियों तथा अन्य जातियों में दूरी बढ़ गई है।

इन कार्यक्रमों ने जनजातीय शोषण को और संगठित तथा प्रभावी बना दिया है, तथा उनको आर्थिक रूप से अधिक दुर्बल ही कर दिया है। छठी योजना का यह दावा, कि 1981 तक जनजातियों की समस्त समस्याओं का समाधान हो सकता है, कितना दुर्भाग्यपूर्ण व गैर-ज़िम्मेदाराना है।

एस.के.शर्मा (1981) ने जनजातीय विकास के कार्यक्रमों की असफलता पर एक शोध कार्य किया जिसके अनुसार बहुत-से विदेशी अवलोकन गम्भीर रूप से यह मानते हैं कि भारत सरकार जनजातीय विकास कार्यक्रमों को बढ़ावा देने में न केवल असफल हुई है इसके साथ-साथ जनजातियों के अविकसित स्तर को बनाये रखने में सहायक भी रहा है।

यह शोध तीन तथ्यों पर आधारित है :

(1) स्वतंत्रता के बाद सरकार द्वारा जनजातीय विकास के लिये निर्धारित धनराशि कम होने के अतिरिक्त जनजाति क्षेत्रों से लिये गये संसाधन मूल्यों की तुलना में भी कम थी।

(2) सामाजिक मूल्यों का अधिक मिश्रण करके सरकार जनजातियों के पारंपरिक वातावरण के शोषण में सहायक सिद्ध हुयी।

(3) जनजातियों को किसी भी वास्तविक राजनीतिक शक्ति को प्राप्त करने से रोका गया। पूर्वी क्षेत्रों को छोटी इकाइयों में बाँट दिया गया था जिसमें कि आदिवासी अल्पमत में ही रहें।

इस विषय पर और अध्ययन भी किये गये हैं जिनके अनुसार नियम तथा कार्यक्रमों के असफल होने में अन्य जाति के शक्तिशाली जमींदारों तथा जनजातियों की इन कार्यक्रमों के प्रति उदासीनता भी महत्त्वपूर्ण कारणों में से है। इन सभी तथ्यों के ध्यानपूर्वक विश्लेषण से पता चलता है कि दुर्भाग्यवश इन समस्याओं के समाधान के उद्देश्य से कोई भी नया कार्यक्रम लागू नहीं किया गया ।

*इन योजनाओं की असफलता के कारण हैं* - इनको बनाने वाले जिन्होंने जनजातियों के विकास का स्तर तथा उन क्षेत्रों से संबंधित स्थितियों पर कोई ध्यान नहीं दिया जिनके कल्याण व विकास के लिये यह योजनायें बनी थीं। आवास तथा सहकारिता जैसी बड़ी परियोजनाओं को बढ़ाने में तमाम साधनों को बरबाद किया गया जिनकी असफलता के कारण जनजातियों को कोई लाभ नहीं पहुँचा। आवासीय योजना की असफलता इसका एक ज्वलंत उदाहरण है।

जंगलों के बीच बनाये गये खपरैल के घर जिन पर सार्वजनिक धनराशि का बड़ा हिस्सा व्यय किया गया, या तो खाली पड़े रहे या बहुत जल्दी छोड़ दिये गये। इसका

कारण था योजना बनाने वालों को यह गलत अनुमान कि जो कुछ समतल पर रहने वाले लोगों के लिये अच्छा है वही जनजातियों में भी समस्त रूप से स्वीकारा जायेगा। प्रारम्भिक त्रुटियों पर इसकी असफलता का दायित्व नहीं है। सबसे आश्चर्यजनक बात यह है कि जनजातियों को बंद करके नहीं रखा जा सकता, ये योजनायें उनके अनुसार नहीं बनायी गयी। उपनिवेशीकरण तथा आवासीय परियोजनायें पूर्ण रूप से असफल रही हैं। जनजातियों के किसी भी कल्याण कार्यक्रम की तुलना में इन महत्त्वाकांक्षी परियोजनाओं पर अधिक धनराशि व्यय की गयी। कुछ महत्त्वपूर्ण राज्यों में से एक राज्य में तो उपनिवेशीकरण योजना की पूर्ण असफलता के कारण इसे तीसरी पंचवर्षीय योजना में सम्मिलित नहीं किया गया था।

यदि यह सारी योजनायें सामाजिक आर्थिक सर्वेक्षण के आधार पर प्राप्त आँकड़ों के अनुसार बनायी जाती तथा जनजातियों की आवश्यकताओं तथा क्षेत्रों का ध्यान रखा जाता तो इस असफलता से बचा जा सकता था।

कुछ और तथ्य जो जनजाति विकास कार्यक्रमों के असंतोषजनक परिणामों के कारण हैं निम्नलिखित हैं :-

(1) जनजातियों के अधिकारों की सुरक्षा के संबंध में अनुसूचित जाति तथा अनुसूचित जनजाति कमीशन तथा, अन्य उच्चस्तरीय समितियों द्वारा दिये गये परामर्शों तथा सलाह को लागू करने में की गयी देरी के कारण स्थितियां और बुरी हो गयीं इसके साथ-साथ जनजातीय विकास कार्यक्रमों की संरचना एवं क्रियान्विति के संबंध में दिये जाने वाले परामर्शों तथा सलाह की ओर ध्यान न देने के कारण बहुत से मूल्यवान संसाधनों की बरबादी हुयी तथा यह योजनायें असफल हुयीं।

(2) आंध्र प्रदेश सरकार के अतिरिक्त किसी भी राज्य सरकार ने इस बात पर ध्यान नहीं दिया कि सामान्य विकास योजनाओं से भी इन जनजातियों को लाभ है क्योंकि यह भी देश के नागरिक हैं। संभवतः राज्यों में योजना बनाने वालों के विचार से केवल विशेष प्रावधान ही ऐसा प्रावधान है जो जनजातियों के विकास कार्यक्रमों को आर्थिक रूप से लाभान्वित करता है।

(3) जनजातियों में विषमता की स्थितियों को दूर करने के बजाय विकास के प्रयासों ने इन्हें बढ़ा दिया है। इसका कारण है अधिक प्रगतिशील समूहों को अधिक लाभ मिलना।

(4) जनजातीय विकास खण्ड को सामान्य विकास कार्यक्रमों तथा सामुदायिक विकास कार्यक्रमों से कोई सहायता नहीं मिलती।

(5) इन खण्डों के लिये बनायी गयी योजना क्षेत्रों के अनुसार नहीं थी।

प्रशासकीय व्यवस्था भी जनजातीय विकास कार्यक्रमों के असंतोषजनक निष्पादन के लिये उत्तरदायी है। इन कार्यक्रमों के संबंध में जब कई विभाग स्वतंत्र रूप में अपनी भूमिका निभाते हैं तब जनजातीय लोगों को अपनी आवश्यकता पूर्ति के लिये बहुत दौड़ना पड़ता है। इस सन्दर्भ में योजना आयोग का अवलोकन है कि विभागीय बाहुल्यता उत्तरदायित्व के प्रसार के लिये जिम्मेदार बनी तथा इसके दूसरे परिणाम थे समन्वय की कमी तथा उपयुक्त नियंत्रण न होना। लोगों के विशेष कार्यक्रमों से संबंधित अधिकारियों से सम्पर्क करना कठिन हो जाता है। समन्वय तथा कार्यकुशलता को बढ़ाने के उद्देश्य से प्रशासकीय संगठन प्रणाली को विस्तार से बनाना होगा। अधिकारों का हस्तांतरण, उत्तरदायित्व की विशिष्टता तथा उपयुक्त लचीलापन इन सभी तथ्यों का समावेश प्रशासकीय प्रणाली में इस प्रकार करना चाहिये जिससे कि कार्यक्रम को लागू करने वाले अधिकारी मूल्यांकनों के आधार पर चल रही योजनाओं में समुचित परिवर्तन कर सकें। ऐतिहासिक कारणों के कारण जनजाति सहकारी क्षेत्रों में प्रशासकीय प्रणाली में सरलता की कमी रही है जिसके फलस्वरूप जनजातियों की ओर से इसे अधिक महत्त्व नहीं मिला। सभी विवादों, समीक्षाओं तथा प्रति समीक्षाओं के पश्चात् भी यह माना जाता है कि विकास हुआ है परन्तु निश्चित आँकड़ों की अनुपस्थिति के कारण यह निर्णय देना कठिन है कि विकास अधिक हुआ या कम। हमारे प्रशंसनीय उद्देश्यों तथा औसत कार्य निष्पादन के प्रकाश में यह बिल्कुल स्पष्ट है कि जनजाति विकास के प्रश्न पर पुनः विचार होना चाहिए। राँची विश्वविद्यालय के उप कुलपति डॉ. रामदयाल मुंडा ने जो कि स्वयं आदिवासी हैं, जनजातीय विकास के प्रश्न पर सरकार के दृष्टिकोण की आलोचना करते हुये एक साक्षात्कार में स्पष्ट रूप से कहा कि सरकार ऐसी प्रणाली में छत डाल रही है जो टिकाऊ नहीं है। इसका क्या औचित्य? इन प्रयासों के कोई भी लाभकारी परिणाम नहीं है। भूमि हस्तांतरण बिना रुके चल रहा है। बाहरी लोगों को अब भी प्रशिक्षण, ऋण तथा नियुक्तियों में प्राथमिकता मिलती है। विकेन्द्रीकरण का कोई उदाहरण नहीं है। भ्रष्टाचार तथा पक्षपात को अब भी विमुख राजनीतिक संस्कृति में बढ़ावा मिल रहा है।

## अनुसूचित जनजातियों का विकास

**अनुसूचित क्षेत्र और जनजातीय क्षेत्र :** अन्य समुदायों से भिन्न अनुसूचित जनजातियां समूहों में रहती हैं, इसलिए उनके विकास की गतिविधियां चलाने में क्षेत्रवार दृष्टिकोण सरलता से अपनाया जा सकता है और उनके हितों की रक्षा के लिए कानूनी प्रावधान किए जा सकते हैं। भूमि हस्तांतरण और अन्य सामाजिक पहलुओं के संबंध में अनुसूचित जनजातियों के हितों की रक्षा के लिए संविधान की

'पांचवीं' और 'छठी' अनुसूची में व्यवस्था की गई है। संविधान के अनुच्छेद 244 (1) के तहत पांचवीं अनुसूची में 'अनुसूचित क्षेत्रों' की परिभाषा देते हुए कहा गया है कि राष्ट्रपति से परामर्श के बाद अनुसूचित क्षेत्रों की घोषणा का आदेश जारी किया जा सकता है। संविधान के अनुच्छेद 244 (2) के तहत छठी अनुसूची असम, मेघालय, त्रिपुरा और मिजोरम के घोषित जनजातीय क्षेत्रों से संबद्ध है। इसमें ऐसे क्षेत्रों के लिए जिला परिषदों और/अथवा क्षेत्रीय परिषदों का प्रावधान किया गया है। इन परिषदों को व्यापक विधायी, न्यायिक और कार्यकारी अधिकार दिए गए हैं।

**पांचवीं अनुसूची-अनुसूचित क्षेत्र :** पांचवीं अनुसूची के तहत अनुसूचित क्षेत्रों की घोषणा के मानदंड इस प्रकार हैं—(क) जनजातीय संख्या का बाहुल्य, (ख) क्षेत्र का तर्कसंगत आकार और सघनता, (ग) व्यवहार्य प्रशासनिक सत्ता जैसे जिला, ब्लॉक या तालुक और (घ) पड़ोसी क्षेत्रों की तुलना में क्षेत्र का आर्थिक पिछड़ापन। राज्य के संदर्भ में 'अनुसूचित क्षेत्रों' का निर्धारण संबद्ध राज्यपाल की सलाह से राष्ट्रपति के अधिसूचित आदेश द्वारा होता है। 'अनुसूचित क्षेत्रों' में फेरबदल, बढ़ोतरी और कटौती करने, नए क्षेत्र शामिल करने या किसी आदेश को रद्द करने के लिए भी यही तरीका अपनाया जाता है।

**अनुसूचित क्षेत्रों के लाभ इस प्रकार हैं :** (क) राज्यपाल को अपने राज्य के अनुसूचित क्षेत्रों के लिए निम्नलिखित के संदर्भ में कानून बनाने का अधिकार दिया गया है : (1) जनजातीय लोगों की भूमि के हस्तांतरण पर रोक या प्रतिबंध, (2) अनुसूचित जनजातियों के सदस्यों को उधार देने के कारोबार को नियमित करना। ऐसा कोई भी नियम बनाने के लिए राज्यपाल अनुसूचित क्षेत्र में लागू राज्य की किसी विधायिका या संसद के कानून को निरस्त या संशोधित कर सकता है। (ख) राज्यपाल सार्वजनिक अधिसूचना जारी करके आदेश दे सकता है कि संसद या किसी राज्य की विधायिका का कोई कानून निर्दिष्ट फेरबदल और अपवाद के अनुसार ऐसे क्षेत्रों पर लागू नहीं होगा या उसके द्वारा निर्दिष्ट फेरबदल और अपवाद के अनुसार ऐसे क्षेत्रों पर लागू होगा। (ग) अनुसूचित क्षेत्र वाले राज्य के राज्यपाल राष्ट्रपति को हर वर्ष या जब भी राष्ट्रपति मांगेगा, उसे रिपोर्ट देंगे। यह रिपोर्ट राज्य के अनुसूचित क्षेत्र के प्रशासन और संघ के कार्यकारी अधिकारों के तहत क्षेत्र के प्रशासन और राज्य को निर्देश देने के संबंध में होगी। (घ) जनजातीय इलाके वाले राज्यों में जनजातीय सलाहकार परिषद स्थापित की जाएगी। राज्यपाल द्वारा भेजे गए जनजातीय के कल्याण और प्रगति से जुड़े मुद्दों के बारे में यह राज्य सरकार को सलाह देगी। जनजातीय सलाहकार परिषद में सदस्यों की संख्या 20 से अधिक नहीं होनी चाहिए जिनमें लगभग तीन-चौथाई अनुसूचित जाति के विधायक होने चाहिए।

(जनजातीय सलाहकार परिषद की स्थापना भारत के राष्ट्रपति के निर्देश पर किसी भी राज्य में की जा सकती है जहां अनुसूचित जनजातियां हों लेकिन अनुसूचित क्षेत्र न हों)। (च) पंचायतों का प्रावधान (अनुसूचित क्षेत्रों में विस्तार) अधिनियम, 1996 (पीईएसए) के अनुसार संविधान के 9वें भाग में दिए गए पंचायतों संबंधी प्रावधानों का विस्तार अनुसूचित क्षेत्रों तक किया गया है। इसमें अनुसूचित जनजातियों के लाभ के लिए विशेष प्रावधान किया गया है।

**छठी अनुसूची-जनजातीय क्षेत्र :** संविधान के अनुच्छेद 244 की छठी अनुसूची के तहत असम, मेघालय, त्रिपुरा और मिजोरम के जनजातीय इलाकों में स्वायत्त जिलों की पहचान की गई है। इन स्वायत्त जिलों में भी स्वायत्त क्षेत्रों की पहचान का प्रावधान किया गया है। इन्हें छठी अनुसूची के अनुच्छेद 20 की सारिणी के भाग-1, 2, 2 (क) और 3 में दिया गया है। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि ऐसे क्षेत्र जहां छठी अनुसूची के प्रावधान लागू होते हैं, जनजातीय क्षेत्रों के रूप में जाने जाते हैं। जनजातीय क्षेत्रों का राज्यवार ब्यौरा निम्न प्रकार है :

भाग-1 असम 1. उत्तर कछार पर्वतीय जिला, 2. कर्बी-आंगलोंग जिला, 3. बोडोलैंड क्षेत्रीय जिला, भाग-2 मेघालय 1. खासी पर्वतीय जिला, 2. जैंतिया पर्वतीय जिला, 3. गारो पर्वतीय जिला, भाग-2 क त्रिपुरा 1. त्रिपुरा जनजातीय जिला, भाग-3 मिजोरम 1. चकमा जिला, 2. मारा जिला, 3, लई जिला।

जिला या क्षेत्रीय परिषदों को जिले में प्राथमिक विद्यालयों, बाजारों, पोखरों, नौकाओं, मत्स्य क्षेत्रों, सड़कों, भूतल परिवहन और जलमार्गों की स्थापना, निर्माण और प्रबंधन के संबंध में राज्यपाल की मंजूरी से कानून बनाने का अधिकार दिया गया है। उत्तरी कछार पर्वतीय इलाकों और कर्बी-आंगलोंग की स्वायत्त परिषदों को माध्यमिक शिक्षा, कृषि, सामजिक सुरक्षा और सामाजिक बीमा, जन स्वास्थ्य तथा सफाई, लघु सिंचाई आदि क्षेत्रों के संबंध में भी कानून बनाने के नागरिक प्रक्रिया संहिता और आपराधिक प्रक्रिया संहिता के तहत अधिकार दिए गए हैं। इन्हें अपने क्षेत्र में राजस्व कर और कर एकत्र करने के लिए राजस्व प्राधिकरण के अधिकार और प्राकृतिक संसाधनों के नियम और प्रबंधन के लिए अन्य अधिकार भी दिए गए हैं।

## अनुसूचित जनजाति घोषित करने की प्रक्रिया

भारत के संविधान के अनुच्छेद 366 (25) के तहत अनुसूचित जनजातियों को इस प्रकार परिभाषित किया गया है : संविधान की धारा 342 के तहत आने वाली अनुसूचित जनजातियों के समान जनजातियां या जनजातीय समुदाय या ऐसी

जनजातियों या जनजातीय समुदायों के समूह अनुसूचित जनजातियों की श्रेणी में आते हैं। अनुच्छेद 342 के तहत अनुसूचित जनजातियों की पहचान के मामले में निम्नलिखित प्रक्रिया निर्धारित की गई है : 342 (1) के अनुसार राष्ट्रपति किसी राज्य या केंद्रशासित प्रदेश के संदर्भ में और राज्य मामले में राज्यपाल से परामर्श के बाद जनजातियों या जनजातीय समुदायों या उसके समूहों को अनुसूचित जनजातियों के रूप में अधिसूचित कर सकते हैं। यह अनुच्छेद जनजाति या उसके समूह को उनके राज्य/केंद्रशासित प्रदेश में इन समुदायों को उनके लिए संविधान में प्रदत्त संरक्षण उपलब्ध कर, संवैधानिक हैसियत प्रदान कर सकता है। इस प्रकार अनुच्छेद 342 (1) के अनुसार केवल वे जनजातियां अनुसूचित जनजातियां मानी जाएंगी जिनके बारे में राष्ट्रपति प्रारंभिक अधिसूचना के जरिए तत्संबंधी घोषणा करेंगे। इस सूची में किसी तरह का संशोधन संसदीय कानून की धारा 342 (2) के जरिए ही किया जा सकता है। संसद कानून बनाकर किसी भी जनजाति या जनजातीय समुदाय या उससे किसी समूह को अनुसूचित जनजातियों की सूची में जोड़ सकती है या उससे हटा सकती है। अनुसूचित जनजातियों की सूची राज्य विशेष के बारे में है। आवश्यक नहीं कि किसी एक राज्य में अनुसूचित जनजाति घोषित समुदाय, किसी दूसरे राज्य में भी अनुसूचित जनजाति मानी जाए।

## जनजातियों को अनुसूचित श्रेणी में सम्मिलित करना और उससे हटाना

इस प्रकार, किसी राज्य/केंद्रशासित प्रदेश विशेष के संबंध में अनुसूचित जनजातियों के प्रारंभिक विनिर्देश संबंधित राज्य सरकारों के साथ परामर्श के बाद राष्ट्रपति के आदेश की अधिसूचना से हटाए जाते हैं। इस अनुच्छेद में यह प्रावधान भी है कि अनुसूचित जनजातियों की राज्यवार/केंद्रशासित प्रदेशवार सूची बनाई जाए न कि अखिल भारतीय आधार पर।

किसी समुदाय को अनुसूचित जनजाति घोषित करने के आधार इस प्रकार हैं : (क) आदिम विशेषताएं, (ख) भिन्न संस्कृति, (ग) बड़े स्तर पर सार्वजनिक संपर्क से बचना, (घ) भौगोलिक अलगाव यानी पिछड़ापन।

संविधान में इसका उल्लेख नहीं है लेकिन ये मापदंड पूरी तरह से स्थापित हो चुके हैं। इनमें वर्ष 1931 की जनगणना और प्रथम पिछड़ा वर्ग आयोग (कालेलकर) 1955, अनुसूचित जाति/अनुसूचित जनजाति सूचियां (लोकुर समिति) 1965 के संशोधन पर सलाहकार समिति और अनुसूचित जातियों/अनुसूचित जनजातियों के लिए आदेश (संशोधन) विधेयक, 1967 (चंदा समिति) 1969 की रिपोर्ट को ध्यान में रखा गया है।

भारत के संविधान की धारा 342 के तहत 700 से अधिक (इनमें से कई एक से अधिक राज्यों में हैं) जनजातियों को अधिसूचित किया गया है। ये देश के विभिन्न राज्यों और केंद्रशासित प्रदेशों में फैली हैं। गौरतलब है कि हरियाणा, पंजाब और केंद्रशासित प्रदेश चंडीगढ़, दिल्ली और पुडुचेरी में किसी भी समुदाय को अनुसूचित जनजाति निर्दिष्ट नहीं किया गया है।

## अनुसूचित जनजाति प्रमाणपत्र जारी करने में ध्यान देने योग्य बिंदु

### सामान्य

अगर कोई व्यक्ति जन्म के आधार पर जनजातीय समुदाय का होने का दावा करता है तो निम्न बातों की पुष्टि की जानी चाहिए : (क) वह व्यक्ति जिस समुदाय का होने का दावा कर रहा है, क्या वह और उसके अभिभावक वास्तव में उस समुदाय से संबंध रखते हैं, (ख) क्या यह समुदाय संबंधित राज्य के संदर्भ में अनुसूचित जनजातियों को निर्दिष्ट करने वाले राष्ट्रपति के आदेश में शामिल है, (ग) क्या वह व्यक्ति उस राज्य और उस राज्य के तहत उस क्षेत्र से संबंध रखता है जहां उस समुदाय को अनुसूचित किया गया है, (घ) वह कोई भी धर्म अपना सकता है, (च) वह व्यक्ति या उसके माता-पिता/दादा-दादी आदि को इस संदर्भ में लागू राष्ट्रपति के आदेश की अधिसूचना के दिन उस राज्य/केंद्रशासित प्रदेश का स्थायी निवासी होना चाहिए, (छ) अगर किसी व्यक्ति की जनजाति उसके गृह राज्य/केंद्रशासित प्रदेश में अनुसूचित है और वह व्यक्ति इस संदर्भ में लागू राष्ट्रपति के आदेश की अधिसूचना जारी होने के समय नौकरी या पढ़ाई के सिलसिले में अस्थायी रूप से अपने स्थायी आवास से दूर हो तो वह भी अनुसूचित जनजाति का माना जा सकता है, (ज) लेकिन उसे अपने अस्थायी आवास के स्थान पर अनुसूचित जनजाति का नहीं माना जाएगा, भले ही उसकी जनजाति को राष्ट्रपति के आदेश के तहत उसके अस्थायी आवास वाले राज्य में अनुसूचित जनजाति घोषित किया गया हो, (झ) अगर किसी व्यक्ति का जन्म इस संदर्भ में राष्ट्रपति की अधिसूचना जारी होने के बाद हुआ हो तो अनुसूचित जनजाति के दर्जे के प्रयोजन के लिए उसका आवास स्थान राष्ट्रपति के आदेश की अधिसूचना के समय उसके माता-पिता का स्थायी आवास होगा। यह लक्षद्वीप की अनुसूचित जनजातियों पर लागू नहीं है।

### प्रवास पर अनुसूचित जनजाति के दावे

(क) जब कोई व्यक्ति राज्य के उस हिस्से में प्रवास करता है जहां उसका समुदाय अधिसूचित है और उसी राज्य के उस हिस्से में जाता है जहां उसका समुदाय

अनुसूचित नहीं है तब भी वह व्यक्ति उस राज्य से संबंधित अनुसूचित जनजाति का सदस्य बना रहेगा।

(ख) जब कोई व्यक्ति एक राज्य से दूसरे राज्य में प्रवास करता है तब वह व्यक्ति केवल उसी राज्य का अनुसूचित जनजाति का सदस्य माना जाएगा जहां का वह मूल निवासी है, न कि उस राज्य का जहां वह रह रहा है।

## विवाह के माध्यम से अनुसूचित जनजाति होने का दावा

इस संदर्भ में मार्गदर्शन करने वाला सिद्धांत कहता है कि किसी ऐसे व्यक्ति को जो जन्म से अनुसूचित जनजाति का सदस्य नहीं है, केवल इस आधार पर अनुसूचित जनजाति का सदस्य नहीं माना जाएगा क्योंकि उसने अनुसूचित जनजाति के सदस्य से विवाह किया है। इसी प्रकार, कोई अनुसूचित जनजाति का सदस्य इसी जाति का सदस्य बना रहेगा, चाहे उसने किसी ऐसे व्यक्ति से विवाह किया हो जो अनुसूचित जनजाति का न हो।

## अनुसूचित जनजाति प्रमाणपत्र जारी करना

अनुसूचित जनजाति के लोग अनुसूचित निर्धारक प्रमाणपत्र निम्नलिखित अधिकारियों में से किसी एक अधिकारी से प्राप्त कर सकते हैं : (1) जिला मजिस्ट्रेट/अतिरिक्त जिला मजिस्ट्रेट/जिलाधीश/उपायुक्त/अतिरिक्त उपायुक्त/उप जिलाधीश प्रथम श्रेणी/वेतनभोगी मजिस्ट्रेट/सिटी मजिस्ट्रेट/उपमंडलीय जिलाधीश/तालुका मजिस्ट्रेट/कार्यकारी मजिस्ट्रेट/अतिरिक्त सहायक आयुक्त (प्रथम श्रेणी वैतनिक मजिस्ट्रेट के दर्जे से नीचे का न हो), (2) मुख्य महाप्रांतीय मजिस्ट्रेट/अतिरिक्त मुख्य महाप्रांतीय मजिस्ट्रेट/महाप्रांतीय मजिस्ट्रेट, (3) राजस्व अधिकारी जो तहसीलदार के दर्जे से कम न हो, (4) उम्मीदवार और उसका परिवार आम तौर पर जिस क्षेत्र में रहता है वहां का उपमंडलीय अधिकारी, (5) प्रशासक/विकास अधिकारी (लक्षद्वीप द्वीपसमूह का प्रशासक/सचिव)।

## सत्यापन के बिना अनुसूचित जनजाति प्रमाणपत्र जारी करने के लिए अधिकारियों को दंड

अगर कोई अधिकारी बिना उचित सत्यापन के लापरवाही से अनुसूचित जनजाति प्रमाणपत्र जारी करता है तो उसके विरुद्ध भारतीय दंड संहिता के संबंधित प्रावधानों के तहत कार्रवाई की जाएगी। यह उस कार्रवाई के अतिरिक्त होगी जो प्रशासनिक कार्रवाई के अंतर्गत होगी।

## अन्य राज्यों/केंद्रशासित प्रदेशों से आए प्रवासियों का अनुसूचित जनजाति प्रमाणपत्र जारी करने की प्रक्रिया में छूट

अनुसूचित जनजाति के उन व्यक्तियों को जो रोजगार, शिक्षा आदि के उद्देश्य से एक राज्य से दूसरे राज्य में आए हैं उन्हें अपने मूल राज्य से एसटी प्रमाणपत्र हासिल करने में काफी मुश्किलें आती हैं। इस कठिनाई को दूर करने की दिशा में यह निर्णय लिया गया है कि राज्य सरकार/केंद्रशासित प्रशासन का निर्धारित अधिकारी ऐसे व्यक्ति को अपने माता/पिता को जारी प्रामाणिक प्रमाणपत्र हाजिर करने का अनुसूचित जनजाति प्रमाणपत्र जारी कर सकता है। अगर अधिकारी को लगता है कि प्रमाण पत्र जारी करने से पहले विस्तृत जांच जरूरी है तो वह जांच के बाद प्रमाणपत्र जारी कर सकता है। प्रमाणपत्र इस आधार के बिना जारी किया जाएगा कि व्यक्ति का राज्य/केंद्रशासित प्रदेश से कोई संबंध नहीं है, यद्यपि जहां पर वह रह रहा है, उस राज्य में वह लाभ का पात्र नहीं होगा।

## अनुसूचित जनजातियों की सूची में सम्मिलित करने या सूची से हटाने की प्रक्रिया

अनुसूचित जनजातियों को सूची में सम्मिलित करने या सूची से हटाने के दावों का निर्णय करने के तौर-तरीकों को सरकार ने जून 1999 में स्वीकृति दे दी। इन दिशा-निर्देशों के अनुसार केवल उन्हीं दावों पर विचार किया जाएगा जिन पर संबंधित राज्य सरकार, भारत का महापंजीयक और अनुसूचित जातियों और अनुसूचित जनजातियों का राष्ट्रीय आयोग सहमत होंगे। जब भी किसी राज्य/केंद्रशासित प्रदेश की अनुसूचित जनजातियों की सूची में किसी समुदाय को सम्मिलित किए जाने के प्रतिवेदन मंत्रालय को प्राप्त होंगे, तो वह संविधान की धारा 342 के तहत अपेक्षित सिफारिशें संबंधित राज्य सरकार/केंद्रशासित प्रदेश के महापंजीयक के पास भेज देता है। अगर संबद्ध राज्य सरकार प्रस्ताव की सिफारिश करती है तो उसे भारत के महापंजीयक के पास भेज दिया जाता है। भारत के महापंजीयक अगर राज्य सरकार की सिफारिश से संतुष्ट होते हैं तो वे केन्द्र सरकार को इस प्रस्ताव की सिफारिश करते हैं। तब सरकार इस प्रस्ताव को राष्ट्रीय अनुसूचित जनजाति आयोग के पास भेज देती है। अगर यह आयोग भी इस संबंध में सिफारिश करता है तो इस मामले को संबद्ध प्रशासनिक मंत्रालयों के साथ परामर्श के बाद मंत्रिमंडल के निर्णय के लिए भेज दिया जाता है। इसके बाद राष्ट्रपति के पास संशोधन के लिए जाने से पहले प्रस्ताव को संसद में बिल के रूप में प्रस्तुत किया जाता है।

## जनजातियों का विकास

हमने देखा है कि जनजातीय आबादी का मानव विकास सूचकांक शेष लोगों की तुलना में अत्यधिक कम है। इसका प्रमुख कारण यह है कि ये जनजातियां आम तौर पर समूहों में ऐसे क्षेत्रों में रहती हैं जो दूर-दराज और वन क्षेत्रों के निकट होते हैं। इनके दुर्गम इलाकों में बसने के कारण ही आम लोगों के लिए लागू किए जाने वाले विकास कार्यक्रम इन तक पहुंच नहीं पाते। फिर भी, भारत सरकार और राज्य सरकारों ने अनुसूचित जनजातियों के विकास और उनकी स्थिति सुधारने के लिए हाल के वर्षों में कई उपाय किए हैं लेकिन अभी बहुत कुछ किया जाना शेष है। मई 2004 में केंद्र सरकार द्वारा लागू किए गए राष्ट्रीय न्यूनतम साझा कार्यक्रम में अनुसूचित जनजातियों के विकास पर जोर दिया गया है।

## जनजातीय उपयोजना (टीएसपी)

अनुसूचित जनजाति के विकास के लिए जनजाति उपयोजना का आरंभ पंचवर्षीय योजना की शुरूआत में वर्ष 1974-75 में किया गया। इसके तहत अनुसूचित जनजाति की बड़ी आबादी वाले 21 राज्यों तथा 2 केंद्रशासित प्रदेशों को शामिल किया गया। इस विशेष रणनीति का उद्देश्य यह सुनिश्चित करना था कि केंद्र और राज्य स्तर पर चलाई जा रही विकास योजनाओं का उचित हिस्सा अनुसूचित जनजाति के लोगों तक पहुंचे। इसमें राज्य योजना की धनराशि ही नहीं बल्कि सभी केंद्रीय मंत्रालय/विभागों की धनराशि का लाभ भी अनुसूचित जनजाति को मिलना सुनिश्चित करने की बात की गई। टीएसपी राज्य/केंद्रशासित प्रदेश या केंद्रीय मंत्रालय/विभाग की सकल योजना का एक हिस्सा है इसलिए इसे उपयोजना कहा गया।

टीएसपी कानूनी और प्रशासनिक सहायता से विकास कार्यों को प्रोत्साहन देती है। टीएसंपी रणनीति 195 एकीकृत जनजाति विकास परियोजनाओं (आईटीडीपी)/ एकीकृत जनजातीय विकास एजेंसियों (आईटीडीए), 259 संशोधित क्षेत्र विकास पहुंच (एमएडीए) और 82 समूहों के माध्यम से लागू की जा रही है। इसके लाभ भिन्न-भिन्न स्थानों पर रहने वाली अनुसूचित जनजाति की जनसंख्या तक भी पहुंचाए जा रहे हैं। टीएसपी की धनराशि केंद्र द्वारा समर्थित योजनाओं, विशेष केंद्रीय सहायता, राज्य योजना और संस्थागत वित्त से मिलती है। केंद्रीय मंत्रालयों को अनुसूचित जनजाति के कल्याण व विकास के लिए बजट का कम से कम आठ प्रतिशत उपयोग करने का अनुरोध किया गया है।

## जनजातीय उपयोजना के लिए विशेष केंद्रीय सहायता

भारत सरकार ने जनजातीय उपयोजना के समर्थन में 1974 में राज्यों/केंद्रशासित प्रदेशों में एससीए, योजना लागू की है। इसका उद्देश्य पारिवारिक आय बढ़ाने के कार्यक्रमों में अंतर को दूर करना है। नतीजतन, सभी विकास कार्यक्रमों के तहत अनुसूचित जनजातियों को अधिक लाभ पहुंचाने के लिए उनके विकास हेतु नौवीं पंचवर्षीय योजना में उपलब्ध धनराशि में महत्त्वपूर्ण वृद्धि हुई। जनजातीय मामलों का मंत्रालय जनजातीय उपयोजना के तहत विशेष केंद्रीय सहायता, 21 जनजातीय राज्यों की सरकरों और दो केंद्रशासित प्रदेशों को उपलब्ध कराता है। इन राज्यों में पूर्वोत्तर राज्य-असम, मणिपुर और त्रिपुरा शामिल हैं लेकिन वर्ष 2003-04 से केंद्रशासित प्रदेशों के लिए जनजातीय उपयोजना को विशेष केंद्रीय सहायता के तहत धनराशि गृह मंत्रालय उपलब्ध करा रहा है। विशेष केंद्रीय सहायता का इस्तेमाल जनजातीय उपयोजना की राशि के साथ समन्वित रूप से किया जाता है जिससे उन कमियों को दूर किया जा सके जिनकी ओर राज्य योजना में ध्यान नहीं दिया जाता। टीएसपी की एससीए का उद्देश्य और कार्यक्षेत्र मूलतः दसवीं पंचवर्षीय योजना से टीएसपी की परिवार आधारित आय वृद्धि में भारी अंतर को मिटाना था। अब एससीए का उद्देश्य और कार्यक्षेत्र आय वृद्धि के लिए आधारभूत आकस्मिक आय को सम्मिलित करने तक बढ़ा दिया गया है।

**अनुच्छेद 275 (1) के तहत अनुदान :** भारतीय संविधान में अनुच्छेद 275 (1) के तहत अनुसूचित जनजातियों के कल्याण को बढ़ावा देने और अनुसूचित क्षेत्रों में प्रबंधन के स्तर को बढ़ाकर, राज्य के अन्य क्षेत्रों के समान करने के लिए सुनिश्चित विशेष वित्तीय सहायता उपलब्ध कराने का प्रावधान किया गया।

## जंगल बाहुल्य गांवों के विकास के लिए कार्यक्रम

दसवीं पंचवर्षीय योजना के दौरान जंगल बाहुल्य गांवों का विकास जनजाति विकास के क्षेत्र में एक अहम हिस्सा है। योजना आयोग ने प्रति गांव 15 लाख ₹ के औसत आवंटन के हिसाब से जंगल बाहुल्य गांवों के विकास के लिए जनजातीय मामलों के मंत्रालय को 450 करोड़ ₹ आवंटित किए हैं। 12 राज्यों में लगभग 2474 ऐसे जंगल बाहुल्य गांव हैं जिन्हें अभी भी राज्य का वन विभाग देखता है। अनुमान है कि इन गांवों में लगभग 2.5 लाख आदिवासी परिवार रहते हैं। इन जंगल बाहुल्य गांवों को राजस्व अर्जित गांवों में बदलने की प्रक्रिया विचाराधीन है।

## आदिम जनजाति समूहों के लिए योजना

वर्ष 1998-99 में इन समूहों के समूचे विकास के लिए केंद्रीय क्षेत्र की योजना शुरू

की गई। इस योजना के तहत अन्य किसी योजना में शामिल नहीं की गई परियोजनाएं/गतिविधियां शुरू करने के लिए समन्वित जनजातीय विकास परियोजनाओं, जनजातीय शोध संस्थानों और गैर सरकारी संगठनों को वित्तीय सहायता उपलब्ध कराई जाती है।

## अनुसूचित जनजाति के बालक-बालिकाओं के लिए छात्रावासों के निर्माण की योजना

इस योजना के तहत केंद्र नए छात्रावासों के निर्माण और/अथवा वर्तमान छात्रावासों के विस्तार हेतु सहायता देता है। इस योजना के तहत वर्ष 2007-08 तक छात्रावास निर्माण के लिए केंद्र और राज्य सरकार आधी-आधी लागत वहन करते हैं। अनुसूचित जनजाति के बालक-बालिकाओं के लिए छात्रावासों के निर्माण की योजना ग्यारहवीं पंचवर्षीय योजना में भी निम्न परिवर्तनों के साथ चालू हैं :

1. सभी राज्य/केंद्रशासित प्रदेशों/विश्वविद्यालयों में अनुसूचित जनजाति की बालिकाओं के लिए छात्रावास निर्माण की संपूर्ण लागत केंद्र वहन करेगा।
2. नक्सल प्रभावित क्षेत्रों में अनुसूचित जनजाति के बालकों के लिए छात्रावास निर्माण की लागत केंद्र सरकार वहन करेगी जबकि अन्य क्षेत्रों में 50 प्रतिशत लागत वहन करेगी। नक्सल प्रभावित क्षेत्रों में विश्वविद्यालयों को शत प्रतिशत केंद्रीय सहायता प्राप्त करने का अधिकार है।
3. व्यावसायिक प्रशिक्षण केंद्रों में भी इसी आधार पर केंद्रीय सहायता प्रदान की जाएगी।
4. छात्रावास निर्माण की अवधि पांच वर्ष से घटाकर दो वर्ष कर दी गई है।

## जनजातीय उपयोजना के क्षेत्र में आश्रम विद्यालयों की स्थापना

आश्रम स्कूल योजना का उद्देश्य अनुसूचित जनजाति के विद्यार्थियों के लिए उनके परिचित वातावरण में आवासीय विद्यालयों की स्थापना करना है जिससे जनजातीय विद्यार्थियों में साक्षरता दर बढ़ाई जा सके और उनकी साक्षरता दर देश के अन्य लोगों की साक्षरता दर के बराबर लाई जा सके। इस योजना में राज्य और केंद्र दोनों की आधी-आधी भागीदारी होती है जबकि केंद्रशासित प्रदेश में पूरा खर्च केंद्र वहन करता है।

## अनुसूचित जनजाति के विद्यार्थियों की मेरिट का उन्नयन

इस योजना का उद्देश्य दसवीं और बारहवीं के अनुसूचित जनजाति के विद्यार्थियों

को विशेष कोचिंग उपलब्ध कराना है जिससे वे इंजीनियरिंग और व्यावसायिक पाठ्यक्रमों में प्रवेश के लिए तैयारी कर सकें। राज्य/केंद्रशासित प्रदेशों में यह योजना शत-प्रतिशत केंद्रीय सहायता से मुहैया कराई जा रही है।

**अनुसूचित जनजाति के विद्यार्थियों के लिए मैट्रिक छात्रवृत्ति :** इस योजना का उद्देश्य अनुसूचित जनजाति के विद्यार्थियों को पंजीकृत पाठ्यक्रमों में मैट्रिक के बाद अध्ययन के लिए प्रोत्साहन देना है। इस योजना में पेशेवर, तकनीकी, गैर पेशेवर तथा गैर तकनीकी सभी स्तर के पाठ्यक्रमों को सम्मिलित किया गया है। इसमें दूरस्थ शिक्षा के लिए पत्राचार पाठ्यक्रम को भी सम्मिलित किया गया है। केंद्र की शत प्रतिशत सहायता में इसका कार्यान्वयन राज्यों/केंद्रशासित प्रदेशों द्वारा किया जाता है। अन्य आवश्यकताओं के लिए बजटीय प्रावधान है।

**जनजातीय क्षेत्रों में व्यावसायिक प्रशिक्षण :** इस योजना का उद्देश्य जनजातीय युवाओं में रोजगार/स्वरोजगार के अवसर प्राप्त करने के लिए कौशल विकसित करना है। केंद्रीय क्षेत्र की योजना के रूप में इसका प्रारंभ वर्ष 1992-93 में किया गया था। योजना को राज्य सरकारों, केंद्रशासित प्रदेशों के प्रशासन, संस्थाओं या संगठनों के जरिए सरकार द्वारा स्थापित स्वायत्तशासी निकाय, शैक्षिक और अन्य संस्थान जैसे स्थानीय निकाय, सहकारी समितियों और गैर सरकारी संगठनों द्वारा लागू किया जाता है। प्रत्येक व्यावसायिक प्रशिक्षण केंद्र की क्षमता 100 है जिसमें 50 लोगों के लिए छात्रावास की सुविधा भी शामिल है। क्षेत्र में उपलब्ध रोजगार केंद्र पांच व्यावसायिक प्रशिक्षण पाठ्यक्रम चलाता है। प्रत्येक जनजातीय बालक/बालिका को उनकी रुचि के दो कार्यों का प्रशिक्षण दिया जाता है। प्रत्येक पाठ्यक्रम की अवधि तीन महीने है। प्रशिक्षु को छह माह बाद उपनगरीय क्षेत्र के एक प्रशिक्षण शिल्पी से छह माह के लिए संबद्ध कर दिया जाता है। इससे वह प्राप्त प्रशिक्षण का व्यावहारिक प्रयोग कर सकता है। प्रत्येक पाठ्यक्रम के लिए यह अवधि तीन महीने की है। इसमें प्रशिक्षु को मासिक स्टाइपेंड और प्रशिक्षण सामग्री उपलब्ध कराई जाती है।

## कम साक्षरता वाले क्षेत्रों में जनजातीय बालिकाओं की शिक्षा

जनजातीय महिलाओं की साक्षरता दर बढ़ाने के उद्देश्य से वर्ष 1992-93 में पहली से पांचवीं कक्षा तक की बालिकाओं के लिए आवासीय विद्यालयों की स्थापना के लिए योजना की शुरुआत की गई। इस योजना का कार्यान्वयन राज्य सरकार के स्वायत्तशासी निकायों और स्वैच्छिक संगठनों के जरिए किया जाता है। वित्तीय वर्ष 2009 के प्रारंभ में इस योजना का पुनर्मूल्यांकन कर इसे नया नाम 'कम साक्षरता वाले जिलों में जनजातीय बालिकाओं में शिक्षा का सुदृढ़ीकरण' दिया गया। इसमें उन

ज़िलों को शामिल किया गया जहां वर्ष 2001 की जनगणना के अनुसार जनजातीय जनसंख्या 25 प्रतिशत या उससे अधिक है और जनजातीय महिला साक्षरता दर 35 प्रतिशत से नीचे है। चुने हुए 54 जिलों के अतिरिक्त ऐसी ही स्थिति वाले ब्लॉक और पीटीजी क्षेत्र भी योजना में शामिल हैं। नक्सल प्रभावित क्षेत्रों को योजना में प्रथामिकता दी गई है। सर्व शिक्षा अभियान, कस्तूरबा गांधी विद्यालय या शिक्षा विभाग की अन्य योजनाओं के तहत चलाए जा रहे विद्यालयों के बालिका छात्रावासों के लिए इस योजना के तहत मंत्रालय वित्तीय सहायता प्रदान कराता है। जहां इस प्रकार के विद्यालय नहीं हैं, वहां विद्यालय व छात्रावास सहित पूरे परिसर को शामिल किया जाता है। निःशुल्क शिक्षा के साथ ही जनजातीय बालिकाओं को आवास, वर्दी, पुस्तकें, भोजन का पैसा और इनसेंटिव दिया जाता है। इसके अतिरिक्त शैक्षिक परिसर संचालित करने वाले संगठन को व्यावसायिक/कौशल विकास प्रशिक्षण भी देना होता है।

**स्वैच्छिक संगठनों को अनुदान :** इस योजना का उद्देश्य स्वैच्छिक संगठनों के प्रयास से सरकार की कल्याण योजनाओं की पहुंच को बढ़ाना और शिक्षा, स्वास्थ्य, पेयजल, एग्रो हॉर्टिकल्चर उत्पादकता, सामाजिक सुरक्षा दायरे आदि क्षेत्रों में जनजातीय इलाकों में सेवा के अंतर को कम करना है और जनजातियों के सर्वांगीण विकास और सामाजिक आर्थिक उन्नयन के लिए अनुकूल वातावरण उपलब्ध कराना है। मंत्रालय अनुसूचित जनजातियों के कल्याण के लिए कार्यरत उन स्वैच्छिक संगठनों को आर्थिक सहायता प्रदान करता है जो आवासीय और गैर आवासीय विद्यालयों, छात्रावासों, अस्पतालों, चल चिकित्सा इकाइयों, कंप्यूटर प्रशिक्षण इकाइयों, पुस्तकालयों, दृश्य श्रव्य इकाइयों, कृषि प्रशिक्षण आदि परियोजना के लिए कार्य करते हैं। यह अनुदान सामान्यतः परियोजना की कुल अनुमोदित लागत का 90 प्रतिशत तक होता है और शेष 10 प्रतिशत राशि संबंधित संगठन द्वारा वहन की जाती है।

**राजीव गांधी राष्ट्रीय फेलोशिप :** इस योजना का उद्देश्य जनजातीय विद्यार्थियों को उच्च शिक्षा के लिए वित्तीय सहायता के रूप में फेलोशिप उपलब्ध कराना है। इस फेलोशिप का प्रारूप शोधार्थियों को एम.फिल., पीएच.डी. पाठ्यक्रमों के लिए यूजीसी द्वारा उपलब्ध कराई जा रही फेलोशिप के समान है।

**अनुसूचित जनजाति के विद्यार्थियों के लिए विदेश में उच्च शिक्षा के लिए राष्ट्रीय छात्रवृत्ति स्कीम (गैर योजना) :** इस याजना के अंतर्गत अनुसूचित जनजातियों, गैर अधिसूचित, घुमंतू और अर्ध घुमंतू जनजातियों के प्रतिभाशाली सदस्यों को इंजीनियरिंग, प्रौद्योगिकी और विज्ञान के क्षेत्र में निदिष्ट विषयों में स्नातकोत्तर, पीएच.डी. और डॉक्टरल परवर्ती अनुसंधान पाठ्यक्रमों के लिए विदेश में

उच्चतम शिक्षा हेतु वित्तीय सहायता दी जाती है। चुने हुए उम्मीदवारों को यात्रा भत्ता के अतिरिक्त विदेशी विश्वविद्यालय द्वारा वसूल की जाने वाली ट्यूशन फीस और अन्य शैक्षिक शुल्क आदि, गुजारा भत्ता और अन्य अनुदान दिए जाते हैं।

## अनुसूचित जनजाति के विद्यार्थियों के लिए उच्चस्तरीय शिक्षा योजना

जनजातीय मामलों के मंत्रालय ने वर्ष 2007-08 में अनुसूचित जनजाति के विद्यार्थियों के लिए उच्च स्तरीय शिक्षा की नई योजना शुरू की है जिसका उद्देश्य चुनिंदा उत्कृष्ट संस्थानों में से किसी में स्नातक और स्नातकोत्तर स्तर पर शिक्षा प्राप्त कर रहे मेधावी विद्यार्थियों को प्रोत्साहित करना है। इस छात्रवृत्ति योजना के अंतर्गत 127 उच्च स्तरीय सरकारी और निजी क्षेत्र के संस्थान मान्यता प्राप्त हैं जो प्रबंधन, चिकित्सा, इंजीनियरिंग, कानून और वाणिज्यिक पाठ्यक्रम संचालित कर रहे हैं। प्रति वर्ष 635 छात्रवृत्तियों की सीमा के साथ ही प्रत्येक संस्थान को पांच छात्रवृत्ति स्वीकृति की गई हैं। जनजातीय विद्यार्थी की सभी स्रोतों से पारिवारिक आय दो लाख ₹ प्रति वर्ष से अधिक नहीं होनी चाहिए। सरकारी/सरकारी सहायता प्राप्त संस्थानों के मामले में अनुसूचित जनजाति के विद्यार्थियों को पूरी ट्यूशन फीस और गैर प्रत्यर्पणीय शुल्क छात्रवृत्ति में शामिल हैं। हालांकि निजी क्षेत्र के संस्थानों के लिए प्रति वर्ष, प्रति विद्यार्थी दो लाख ₹ की सीमा तथा व्यावसायिक पायलट प्रशिक्षण के लिए निजी क्षेत्र के फ्लाइंग क्लब हेतु तय सीमा 3.72 लाख ₹ प्रति वर्ष प्रति विद्यार्थी है। इसके अतिरिक्त छात्रवृत्ति के तहत निम्न सुविधाएं भी उपलब्ध कराई जाती है (1) रहन-सहन खर्च 220 ₹ प्रति माह प्रति विद्यार्थी (वास्तविक खर्च के अनुसार), (2) पुस्तक और स्टेशनरी खर्च तीन हजार ₹ प्रति वर्ष प्रति विद्यार्थी, और (3) नवीनतम कंप्यूटर सिस्टम के लिए एक बार 45000 की एकमुश्त धनराशि।

**लघु वनोत्पादों के लिए सहायता अनुदान कार्यक्रम :** यह केंद्रीय क्षेत्र की योजना है। इसके तहत राज्य जनजातीय विकास सहकारी निगमों, वन विकास निगमों और वन उत्पाद (व्यापार और विकास) परिसंघों को लघु वन उत्पाद कार्यक्रम शुरू करने के लिए शत-प्रतिशत अनुदान दिया जाता है। इस योजना के तहत राज्य जनजातीय विकास सहकारी निगमों/वन विकास निगमों को निम्नलिखित प्रयोजनों के लिए धन दिया जाता है—(1) आवश्यकता पड़ने पर परिचालन क्षति समायोजित करते हुए लघु वन उप्पादों की मात्रा में वृद्धि करना, (2) लघु वन उत्पादों के कार्यक्रम प्रारंभ करने के लिए संबद्ध निगम का पूंजी आधार मज़बूत करना और इस प्रकार वर्तमान में उत्पादित लघु वन उत्पादों की मात्रा में बढ़ोतरी करना, (3) जहां भी आवश्यक हो वैज्ञानिक गोदाम सुविधाओं की स्थापना करना, (4) लघु वन उत्पादों के लिए मूल्य

संवर्धन के लिए प्रसंस्करण उद्योग लगाना जिससे जनजातियों को उनके लघु वन उत्पादों के लिए अधिकतम मूल्य सुनिश्चित किया जा सके, (5) जनजातियों को उपभोग ऋण प्रदान करने के लिए और (6) अनुसंधान और विकास प्रयासों में सहायता पहुंचाने के लिए।

**अनुसूचित जनजातियों द्वारा भ्रमण :** अनुसूचित जनजातियों के लिए भ्रमण की एक नई योजना शुरू की गई है। इसका उद्देश्य यह है कि ये लोग देश के विकसित क्षेत्रों का दौरा करके, जानकारी हासिल कर सकें और अनुभवों का आदान-प्रदान करें।

## राष्ट्रीय अनुसूचित जनजाति वित्त और विकास निगम

अनुसूचित जनजाति के आर्थिक विकास की गति को तेज करने और उस पर ध्यान केंद्रित करने के उद्देश्य से राष्ट्रीय अनुसूचित जाति और अनुसूचित जनजाति वित्त और विकास निगम को विभाजित कर, अप्रैल, 2001 में जनजातीय मामले के मंत्रालय के तहत राष्ट्रीय अनुसूचित जनजाति वित्त और विकास निगम की स्थापना की गई। इसे कंपनी अधिनियम की धारा 25 (ऐसी कंपनी जो लाभ के लिए नहीं है) के तहत लाइसेंस दिया गया। निगम की अधिसूचित शेयर पूंजी पांच सौ करोड़ ₹ और प्रदत्त पूंजी 230.50 करोड़ ₹ है। निगम के लिए बनाए गए अधिदेश (अंडरटेकिंग, स्वरोजगार उद्यम/कार्य) के अनुसार ऐसे जनजातीय परिवार जिनकी वार्षिक पारिवारिक आय गरीबी रेखा के नीचे रहने वालों से दोगुनी है, निगम से वित्तीय सहायता ले सकते हैं। निगम लक्षित समूह को कौशल और उद्यमिता विकास के लिए अनुदान के रूप में भी वित्तीय सहायता प्रदान करता है। वित्तीय सहायता संबद्ध मंत्रालय/राज्य सरकार और केंद्रशासित प्रदेश द्वारा नामित सरकारी एजेंसियों द्वारा प्रदान की जाती है। इसका उद्देश्य योग्य अनुसूचित जनजातियों की आय में सुधार करना और उनकी सामाजिक आर्थिक स्थिति में सुधार करना है। निगम लघु वनोत्पादों की खरीद/विपणन के लिए भी वित्तीय सहायता उपलब्ध कराता है।

## लाभार्थियों की योग्यता के मानदंड

लाभार्थी अनुसूचित जनजाति का होना चाहिए और उसकी वार्षिक आय गरीबी रेखा से नीचे जीवनयापन करने वाले लोगों की वार्षिक आय की दोगुनी (डीपीएल) से अधिक नहीं होनी चाहिए। (इस समय ग्रामीण क्षेत्रों में डीपीएल 39500 ₹ और शहरी क्षेत्रों में 54500 ₹ प्रति वर्ष है।)

स्वयं सहायता समूहों (एसएचजी) के मामले में समूहों के सभी सदस्य अनुसूचित जनजाति के होने चाहिए और उनकी पारिवारिक आय डीपीएल से कम होनी चाहिए।

इसी प्रकार सहकारी समिति के संदर्भ में ऐसी सहकारी समिति जिसके 80 प्रतिशत या इससे अधिक सदस्य अनुसूचित जनजाति के हों, ऋण जारी कर सकती है। राष्ट्रीय अनुसूचित जनजाति वित्त और विकास निगम, जनजातीय लोगों के आर्थिक विकास के लिए निम्नलिखित कार्यक्रम चला रही है :

**आय बढ़ाने के कार्यों के लिए सावधि ऋण :** (1) निगम 10 लाख ₹ तक की स्वतंत्र इकाई/लाभ केंद्र की व्यावहारिक योजना (योजनाओं)/परियोजना (परियोजनाओं) के लिए सावधि ऋण उपलब्ध कराती है। (2) निगम योजना/परियोजना लागत की 90 प्रतिशत तक की वित्तीय सहायता प्रदान करता है। एक लाख ₹ तक की योजना/परियोजना के लिए संचालकों को धनराशि के योगदान की आवश्यकता नहीं होती। हालांकि एक लाख ₹ से अधिक की योजना/परियोजना के लिए संचालक से इकाई की लागत के अनुसार 2-5 प्रतिशत धनराशि लगाने के लिए कहा जाता है। (3) ऐसी योजना/परियोजना जिसमें निगम की अंशधारित योजना 5 लाख ₹ तक है, तीन प्रतिशत प्रति वर्ष की ब्याज दर और इससे अधिक अंशधारित वाली योजना/परियोजना के लिए पांच प्रतिशत की ब्याज दर पर निगम ऋण देता है। एससीए को निगम द्वारा लगाई गई ब्याज दर के ऊपर तीन प्रतिशत प्रति वर्ष ब्याज दर लागू करने की अनुमति है। (4) लाभार्थी अधिकतम दस वर्ष में अपनी सुविधानुसार तिमाही/छमाही पर ऋण की किस्तों की अदायगी कर सकता है।

**ब्रिज ऋण :** निगम 10 लाख ₹ प्रति इकाई/लाभ केंद्र लागत वाली योजना/परियोजना जिसे एससीए ने वित्तीय सहायता प्रदान की हो, उसे पूरा करने के लिए भी ऋण उपलब्ध कराता है।

**स्वयं सहायता समूहों के लिए योजना :** (1) निगम ने स्वयं सहायता समूहों (एसएचजी) के लिए विस्तारित वित्तीय सहायता हेतु विशेष योजना शुरू की है और 25 लाख ₹ प्रति समूह तक की लागत वाली इकाई को योजना/परियोजना के लिए आर्थिक सहायता दी जाती है। (2) निगम द्वारा प्रति इकाई प्रति सदस्य 50 हजार ₹ तक के निवेश वाली योजना/परियोजना लागत की 90 प्रतिशत तक वित्तीय सहायता प्रदान की जाती है। (3) इस योजना के तहत संचालक का न्यूनतम योगदान इकाई की लागत का 10 प्रतिशत है।

**विपणन सहायता :** (1) जनजातियों द्वारा एकत्र/उत्पन्न वनोत्पाद/कृषि उत्पाद की खरीद और विपणन के लिए केंद्र/राज्य सरकार की एजेंसियों और राष्ट्रीय स्तर की फेडरेशन की कार्यगत पूंजी आवश्यकता को पूरा करने के लिए वित्तीय सहायता उपलब्ध कराई जाती है। (2) एससीए के जरिए लाभार्थियों को विपणन सहायता दी जाती है। ब्याज दर सावधि ऋण की ब्याज दर के समान होती है। (3) उन

केंद्र/राज्य/केंद्रशासित प्रदेश के संगठन, राष्ट्रीय स्तर के फेडरेशन जो खरीद से सीधे जुड़े हों, उन्हें सात प्रतिशत प्रति वर्ष की ब्याज दर से विपणन सहायता उपलब्ध कराई जाती है।

**अनुदान द्वारा सहायता :** सरकारी/अर्द्ध सरकारी/स्वायत्तशासी निकायों द्वारा अनुसूचित जनजाति के सदस्यों की कुशलता, उद्यमिता विकास संबंधी प्रशिक्षण के लिए नियमित प्रशिक्षण कार्यक्रम के मामले में शत-प्रतिशत अनुदान दिया जाता है।

## विशेष योजनाए

**(क) आदिवासी महिला सशक्तिकरण योजना (एएमएसवाई) :** इस योजना के तहत अनुसूचित जनजाति की महिलाओं के आर्थिक विकास के लिए रियायती ब्याज दर पर धनराशि दी जाती है। इसके लिए निगम प्रति स्वतंत्र इकाई/लाभ केंद्र 50 हजार ₹ लागत वाली योजनाओं/परियोजनाओं के लिए सावधि ऋण उपलब्ध कराता है। योजना/परियोजना लागत के 90 प्रतिशत तक की वित्तीय सहायता निगम द्वारा दी जाती है। एससीए प्रति वर्ष अधिकतम चार प्रतिशत तक की ब्याज दर लाभार्थी महिला से ले सकता है।

**(ख) लघु ऋण योजना :** लाभ में चल रहे वर्तमान स्वयं सहायता समूहों के लिए अनुसूचित जनजाति के योग्य व्यक्तियों को छोटे और रोजगार उद्यमों/कार्यों के लिए वित्तीय सहायता उपलब्ध कराने हेतु यह योजना बनाई गई है। एससीए लक्षित समूह के लिए योजना अनुसार मार्जिन मनी या सब्सिडी उपलब्ध कराता है, बाकी धनराशि निगम द्वारा दी जाती है। एससीए द्वारा सब्सिडी उपलब्ध न कराए जाने के मामले में निगम अधिकतम प्रति सदस्य 1500 ₹ के हिसाब से सावधि ऋण के रूप में शत-प्रतिशत धनराशि उपलब्ध कराता है।

## ट्राइबल कोऑपरेटिव मार्केटिंग डवलपमेंट फेडरेशन ऑफ इंडिया लिमिटेड (ट्राइफेड)

बहुराज्यीय सहकारी समिति अधिनियम, 1984 के तहत राष्ट्रीय स्तर के शीर्षस्थ निकाय के रूप में वर्ष 1987 में ट्राइफेड की स्थापना की गई। बहुराज्यीय सहकारी समिति अधिनियम, 2002 के अधिनियमित होने के बाद ट्रायफेड को इस अधिनियम में पंजीकृत कर इसे राष्ट्रीय सहकारी समिति के रूप में अधिनियम की दूसरी अनुसूची में अधिसूचित किया गया। नए बहुराज्यीय सहकारी समिति अधिनियम, 2002 (इसे बहुराज्यीय सहकारी समिति के नियम 2002 के साथ पढ़ा जाए) से सुसगंत बनाने के लिए अप्रैल, 2003 में ट्राइफेड की नियमावली में परिवर्तन किया गया। इसके अनुसार,

ट्राइफेड ने जनजातियों से लघु वनोत्पाद और अधिशेष कृषि उत्पादों की खरीद बंद कर दी है। यह खरीद अब राज्य की जनजातीय सहकारी/समिति फेडरेशन द्वारा की जाती है। ट्राइफेड अब जनजातीय उत्पादों के लिए बाजार का विकास करने वाले और सदस्य फेडरेशनों को सेवा प्रदान करने वाली इकाई के रूप में कार्य कर रहा है। ट्राईफेड अपनी दुकानों (ट्राइब्स इंडिया) के जरिए जनजातीय लोगों द्वारा बनाए गए उत्पादों (प्राकृतिक और जैविक उत्पाद, हस्तशिल्प आदि) के विपणन विकास में लगा है। दुकानों द्वारा इन उत्पादों की बिक्री प्रेषित माल के आधार पर की जाती है।

**वनों पर जनजातियों के अधिकार को मान्यता :** अनुसूचित जनजाति और अन्य पारंपरिक वन्य निवासी (वन अधिकार को मान्यता) अधिनियम, 2006 के तहत वनों में रहने वाली अनुसूचित जनजाति और अन्य वन निवासियों के वनों पर अधिकार को मान्यता दी गई है। ये लोग पीढ़ियों से इन वनों में रह रहे थे लेकिन औपनिवेशिक काल के दौरान वनों पर इनके अधिकार को समाप्त कर दिया गया और स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद इस ऐतिहासिक भूल को दोहराया गया और उनके साथ अन्याय हुआ। यह अधिनियम 31 दिसंबर, 2007 को अधिसूचित किया गया।

(1) इस अधिनियम को 1 जनवरी, 2008 से कार्यान्वयन के लिए 1 जनवरी, 2008 को नामांकित किया गया। इसके तहत राज्य सरकारों द्वारा जिला स्तरीय समिति और राज्य स्तर की निगरानी समिति का गठन किया गया।

(2) सभी राज्यों से अधिनियम के प्रावधानों के कार्यान्वयन के लिए नोडल अधिकारी नामित करने का अनुरोध किया गया है। राज्यों से निम्नलिखित तथ्यों को सुनिश्चित करने के लिए आवश्यक कदम उठाने का अनुरोध किया गया है–

(क) जागरूकता कार्यक्रमों, मुद्रित सामग्री जैसे क्षेत्रीय भाषाओं में पोस्टरों के जरिए अधिनियम के उद्देश्य, प्रावधानों तथा प्रक्रिया और नियमों की जानकारी देना।

(ख) अधिनियमों और नियमों का सभी क्षेत्रीय भाषाओं में अनुवाद तथा प्रकाशन व सभी ग्राम सभाओं, वन अधिकार समितियों और पंचायती राज, ग्रामीण विकास, जनजातीय एवं समाज कल्याण व वन विभागों सहित सभी सरकारी विभागों में इनका वितरण।

(ग) राज्य के अधिकारियों, नागरिक प्रतिनिधियों और गैर सरकारी संगठनों को अभिमुख करना, जिससे वे जागरूकता कार्यक्रमों में सहायता कर सकें।

(घ) उपमंडल तथा जिला स्तरीय समितियों को अधिनियम व नियमों के उद्देश्य, प्रावधानों व प्रक्रियाओं के प्रति संवेदनशील बनाना।

(3) अधिनियम के अनुसार, वन अधिकारों और भूमि अधिकारों के वितरण की पहचान का उत्तरदायित्व राज्य सरकार पर है। अधिनियम के कार्यान्वयन के लिए

अधिसूचित नियमों के तहत सभी राज्य सरकारों को निर्देश दिया गया है कि वे अनुसूचित जनजाति तथा अन्य परंपरागत वन निवासी (वन अधिकारों को मान्यता) अधिनियम, 2006 के अनुसार वन अधिकारों से संपन्न करने का कार्य शीघ्र पूरा कर लें।

(4) वेबसाइट http://www.tribal.gov.in पर परीक्षण के उद्देश्य से 4 जून, 2008 से अधिनियम के कार्यान्वयन की ऑनलाइन निगरानी के लिए वेब आधारित एमआईएस शुरू की गई है। हालांकि अंतिम वेबसाइट http://forestrights. gov.in होगी। (साभारः भारत 2013)

## जनजातीय विकास के लिए कार्यनीति तथा कार्यक्रम

❑ प्रथम पंचवर्षीय योजना में जनजातीय लोगों की समस्याओं को दूर करने के लिए एक स्पष्ट जनजातीय विकास कार्यनीति तैयार करने के स्थान पर सामुदायिक विकास दृष्टिकोण के माध्यम से अतिरिक्त वित्तीय संसाधन के प्रावधानों पर जोर दिया गया। इस योजना के अंत तक (1954), 43 विशेष बहुउद्देश्यीय जनजातीय विकास परियोजनाएं बनाई गईं। इन विशेष बहुउद्देश्यीय जनजातीय विकास परियोजनाओं से जनजातीय लोगों के हितों को पूरी तरह से ध्यान में नहीं रखा जा सका क्योंकि इन योजनाओं की संख्या ज्यादा थी और ये लगभग एक ही प्रकार की थी। यही दृष्टिकोण द्वितीय पंचवर्षीय योजना के दौरान भी जारी रहा। तृतीय पंचवर्षीय योजना के दौरान, जनजातीय विकास के लिए एक अलग कार्यनीति तैयार की गई जिसमें उन सामुदायिक विकास ब्लॉकों, जिनमें जनजातीय जनसंख्या की बहुलता 66 प्रतिशत और उससे अधिक थी, को जनजातीय विकास ब्लॉकों में परिवर्तित किया गया। चौथी पंचवर्षीय योजना के अंत तक देश में जनजातीय विकास ब्लॉकों की संख्या 504 तक बढ़ गई। जनजातीय विकास ब्लॉकों के माध्यम से विकास की इस कार्यनीति की अपनी सीमाएं थीं और इसलिए यह जातीय विकास ब्लॉकों के बाहर रहने वाली देश की जनजातीय आबादी जिसमें 60 प्रतिशत से ज्यादा जनजातीय जनसंख्या सम्मिलित है, के हितों का समाधान करने में विफल रही है।

## विद्यमान कार्यनीति - जनजातीय उपयोजना

❑ जनजातीय लोगों के त्वरित सामाजिक-आर्थिक विकास के लिए प्रो. एस.सी. दुबे की अध्यक्षता में शिक्षा और समाज कल्याण मंत्रालय द्वारा वर्ष 1972 में गठित एक विशेषज्ञ समिति द्वारा जनजातीय उपयोजना कार्यनीति तैयार की गई जिसे पहली बार पांचवीं पंचवर्षीय योजना में अपनाया गया।

अपनाई गई रणनीति आज तक जारी है तथा मुख्य विशेषताएं निम्नलिखित हैं : विस्तृत दिशानिर्देशों की योजना आयोग के कार्यदल द्वारा समीक्षा की जा रही है :

(i) किसी राज्य अथवा संघ शासित क्षेत्र की सीमा के भीतर जनजातियों के कल्याण और विकास से संबंधित योजना तैयार करना उस राज्य अथवा संघ शासित क्षेत्र की समग्र योजना का एक भाग है और इसलिए इसे उपयोजना कहा जाता है।

(ii) जनजातीय उपयोजना के अंतर्गत प्रदान की गई निधियां कम से कम प्रत्येक राज्य अथवा संघ शासित क्षेत्र की जनजातीय आबादी के अनुपात के बराबर होनी चाहिए।

(iii) किसी राज्य अथवा किसी संघ शासित क्षेत्र की जनजातियों और जनजातीय क्षेत्रों को जनजातीय उप-योजना के अंतर्गत लाभ प्रदान किए जाते हैं। ये लाभ किसी राज्य/संघ शासित क्षेत्र. की समग्र योजना से मिलने वाले लाभों के अतिरिक्त होते हैं।

(iv) जनजातीय उपयोजना में निम्नलिखित कार्यनीतियों की व्यवस्था होनी चाहिए:—

(क) जनजातीय उपयोजना क्षेत्रों के लिए संसाधनों की पहचान करना;

(ख) विकास के लिए मोटे तौर पर नीतिगत ढांचा तैयार करना; तथा

(ग) इसके कार्यान्वयन के लिए उपयुक्त प्रशासनिक कार्यनीति को परिभाषित करना।

**टीएसपी राज्य और संघ राज्य क्षेत्र**

| | |
|---|---|
| आंध्र प्रदेश | मध्य प्रदेश |
| असम | महाराष्ट्र |
| बिहार | मणिपुर |
| छत्तीसगढ़ | राजस्थान |
| गोवा | सिक्किम |
| गुजरात | तमिलनाडु |
| हिमाचल प्रदेश | त्रिपुरा |
| जम्मू और कश्मीर | उत्तर प्रदेश |
| झारखंड | उत्तराखंड |
| कर्नाटक | पश्चिम बंगाल |
| केरल | अंडमान और निकोबार द्वीपसमूह |
| ओडिशा | दमन और दीव |

(v) जनजातीय उपयोजना कार्यनीति को 22 राज्यों तथा 2 संघ राज्य क्षेत्रों में कार्यान्वित किया जा रहा है।

(vi) टीएसपी की अवधारणा जनजातीय बहुल अरुणाचल प्रदेश, मेघालय, मिजोरम और नागलैण्ड राज्यों तथा लक्षद्वीप तथा दादर और नगर हवेली संघ राज्य क्षेत्रों पर लागू नहीं है, जहां जनजातीय लोग जनसंख्या का 60% से अधिक हैं, क्योंकि इन राज्यों/संघ राज्य क्षेत्रों में वार्षिक योजना स्वयं जनजातीय योजना है।

❑ यद्यपि टीएसपी निधियां, जो कम-से-कम राज्य में कुल जनसंख्या के जनजातीय जनसंख्या के प्रतिशत के बराबर है, के तहत राज्यों को निधियां प्रदान करने की आशा की जाती है और यद्यपि जनजातीय कार्य मंत्रालय और योजना आयोग दोनों ने राज्यों को ऐसा करने के लिए लिखा है तो भी दुर्भाग्य से वर्ष 2011-12 के लिए वार्षिक योजना तैयार करते समय सभी राज्यों द्वारा इसका पालन नहीं किया गया।

## केन्द्रीय मंत्रालयों/विभागों के टीएसपी घटक

❑ केन्द्रीय मंत्रालयों/विभागों में टीएसपी रणनीति के पालन किए जाने की आशा की जाती है ताकि केन्द्रीय मंत्रालयों/विभागों में निधियों के पर्याप्त प्रवाह को सुनिश्चित किया जाए। पहले मंत्रालय/विभाग परियोजनाओं की अविभाज्यता का उल्लेख करते हुए टीएसपी के कार्यान्वयन में कठिनाई की रिपोर्ट दे रहे थे, परियोजनाओं को अनुसूचित जातियों/अनुसूचित जनजातियों सहित सभी समुदायों के लिए लागू किया जा रहा है। मंत्रालय ने वर्ष 2009 में इस बात को ध्यान में रखते हुए टीएसपी पर केन्द्रीय मंत्रालयों के लिए एक अलग रणनीति तैयार करने हेतु योजना आयोग से सम्पर्क किया है।

❑ योजना आयोग ने (क) टीएसपी के कार्यान्वयन में प्रचालनात्मक दिशानिर्देशों की समीक्षा करने, तथा (ख) टीएसपी के प्रभावी एवं अर्थपूर्ण कार्यान्वयन के लिए उपचारात्मक उपायों का सुझाव देने के लिए जून, 2010 में डा. नरेन्द्र जाधव, सदस्य, योजना आयोग की अध्यक्षता में एक कार्य बल का गठन किया है। इसने टीएसपी के लिए योजना परिव्यय को चिह्नित करने हेतु उनके दायित्व के अनुसार मंत्रालयों/विभागों के वर्गीकरण की सिफारिश की है। योजना आयोग ने जनजातीय कार्य मंत्रालय सहित 28 केन्द्रीय मंत्रालयों/विभागों द्वारा टीएसपी के तहत योजना निधियों के चिह्न के साथ-साथ कार्य बल की सिफारिशों को स्वीकृत किया है। सभी केन्द्रीय मंत्रालयों/विभागों को वार्षिक योजना प्रस्ताव 2011-12 में टीएसपी के तहत निधियों के चिह्न सुनिश्चित करना था। योजना आयोग ने मंत्रालयों/विभागों, जिनकी कोई बाध्यकारी प्रतिबद्धता नहीं है, से अनुसूचित जनजातियों के कल्याण की लक्ष्य

प्राप्ति करने का अनुरोध किया है। 31.2.2012 तक कुल 17 मंत्रालयों/विभागों ने अनुपालन के बारे में रिपार्ट की है। मंत्रालय ने निधियों के पर्याप्त चिह्नन की पुष्टिकरण तथा टीएसपी के तहत व्यय की स्थिति के लिए संबंधित मंत्रालयों/विभागों से कहा है।

## राज्य सरकारों की जनजातीय उपयोजना

❑ योजना आयोग ने भी राज्यों को निर्देश देते हुए आदेश जारी किया है कि राज्य के कुल बजट परिव्यय में से जनजातीय उपयोजना हेतु राशि आरक्षित रखें, जो अलग बजट शीर्ष कोड 796 में रखी जाती है। योजना आयोग द्वारा निर्गत दिशनिर्देशों के अनुसार जनजातीय उपयोजना की निधियां अपरिवर्तनीय तथा अव्यपगत हैं। इन दिशनिर्देशों में यह व्यवस्था भी की गई है कि राज्यों में जनजातीय उपयोजना के निरूपण एवं कार्यान्वयन हेतु जनजातीय कल्याण विभाग नोडल विभाग होगा। डॉ नरेन्द्र जाधव की अध्यक्षता वाली कार्य बल राज्यों द्वारा टीएसपी के कार्यान्वयन के लिए दिशानिर्देशों की समीक्षा कर रहा है।

❑ जनजातीय उपयोजना को अपनाने के लिए, जैसा कि जनजातीय उपयोजना को विशेष केन्द्रीय सहायता कार्यक्रम के अन्तर्गत निधियों की निर्मुक्ति हेतु दिशा-निर्देशों में उपबंधित है, कुल आबंटन के 10 प्रतिशत की राशि निर्धारित की जाती है एवं इसे उन राज्यों को निर्मुक्त किया जाता है, जो जनजातीय उपयोजना क्रियान्वयन से संबंधित विगत समय में निष्पादन के आधार पर प्रोत्साहन राशि हेतु अर्हता प्राप्त करते हैं, अर्थात् जो पूर्व वर्ष में कार्यान्वयन एजेन्सियों को राज्य के जनजातीय विकास विभाग के बजट शीर्ष के माध्यम से अनुमोदित जनजातीय उपयोजना निधियों की 75 प्रतिशत से अधिक राशि उपयोग कर चुके हैं।

❑ संविधान के अनुच्छेद 275(1) के अन्तर्गत अनुदान कार्यक्रम के तहत निधियों की निर्मुक्ति हेतु दिशा निर्देशों में समान रूप से दस प्रतिशत आबंटन का प्रावधान है, जिसके अन्तर्गत ऐसी निधियां उन 22 राज्यों को निर्मुक्त की जाती हैं, जो उपर्युक्त रूप से अर्हता प्राप्त करते हैं; तथा 4 जनजातीय बहुल राज्यों के मामले में मंत्रालय की केन्द्रीय क्षेत्रीय योजनाओं के तहत निर्मुक्त अनुदान के 75 प्रतिशत भाग का उपयोग करना ऐसी विशेष निधियां हेतु अर्हता मानदण्ड हैं। अभिनव परियोजनाओं हेतु अनुदान पर विचार करने के लिए मंत्रालय राज्यों से प्राप्त ऐसे प्रस्तावों की समीक्षा करता है ताकि यह सुनिश्चित किया जा सके कि इन राशियों को अभिनव परियोजनाओं हेतु ही उपयोग किया जाता है; तथा जनजातीय उपयोजना को अपनाने हेतु संस्थागत ढांचे में परिवर्तन लाने हेतु यह एक उपकरण है।

## जनजातीय विकास कार्यक्रमों का वित्त पोषण

❑ जनजातीय विकास के लिए निधियां निम्नलिखित स्रोतों से आती हैं :

(i) राज्य योजना।

(ii) जनजातीय उपयोजना (टीएसपी) को विशेष केन्द्रीय सहायता, (एससीए) के विशेष क्षेत्र कार्यक्रमों तथा संविधान के अनुच्छेद 275(1) के तहत अनुदान तथा मंत्रालय की अन्य योजनाओं के तहत निधियां।

(iii) केन्द्रीय मंत्रालयों/विभागों के क्षेत्रीय कार्यक्रम, और

(iv) संस्थागत वित्त।

(*साभार:* जनजातीय कार्य मंत्रालय)

## वर्ष 2011-12 की विशेषताएँ

❑ अनुसूचित जनजातियों के अधिकार, कल्याण और विकास पर और अधिक ध्यान देने के लिए इस वर्ष के दौरान मंत्रालय द्वारा और नई पहलें और कार्यक्रम शुरू किए गए हैं। अनुसूचित जनजाति की आबादी के लाभ के लिए विभिन्न हितधारियों की हिस्सेदारी में अभिज्ञात क्षेत्रों में कार्यक्रमों और योजनाओं को प्रभावी तथा समय पर पूरा करने के सतत प्रयास किये गये हैं।

❑ जनजातीय कार्य मंत्रालय द्वारा प्रशासित अनुसूचित जनजाति एवं अन्य परंपरागत वन निवासी (वन अधिकारों की मान्यता) अधिनियम, 2006 जिसका उद्देश्य ऐसे वनों में पीढ़ियों से निवास करने वाली अनुसूचित जनजातियों एवं अन्य परंपरागत वन निवासियों, जिनके अधिकारों को दर्ज नहीं किया गया है, को वनभूमि पर उनके अधिकारों को मान्यता देना तथा उन्हें वन अधिकार सौंपना हैं, के प्रचालन हेतु इसे 31.12.2007 को अधिसूचित किया गया है। इस अधिनियम के प्रावधानों के कार्यान्वयन हेतु अनुसूचित जनजातियों तथा अन्य परम्परागत वन निवासी (वन अधिकारों की मान्यता) नियम, 2008 को भी दिनांक 1 जनवरी, 2008 को अधिसूचित कर दिया गया है।

• इस अधिनियम और इसके तहत अधिसूचित किए गए नियमों के अनुसार इन अधिकारों को मान्यता देने तथा वन अधिकार प्रदान करने और भूमि अधिकारों के संवितरण का उत्तरदायित्व राज्य सरकारों संघ राज्य क्षेत्र सरकारों के पास है। इस अधिनियम को प्रचालित करने और नियमों को अधिसूचित किए जाने के बाद, जनजातीय कार्य मंत्रालय ने दिनांक 11.1.2008 को राज्य सरकारों/संघ क्षेत्र सरकारों को इस [illegible] को कार्यान्वित करने के लिए समय-सीमा के अनुसार आवश्यक

कार्रवाई शुरू करने के लिए कहा था। इसके बाद, सभी राज्यों/संघ राज्य क्षेत्रों को इस अधिनियम को कार्यान्वित करने के संबंध में समय-सीमा के साथ-साथ कार्रवाई किए जाने वाले बिन्दुओं को भी अग्रेषित किया गया था। सभी राज्यों/संघ राज्य क्षेत्रों को यह निर्देश दिया गया था कि वन-निवासी अनुसूचित जनजातियों और अन्य परम्परागत वन निवासियों तथा इस अधिनियम के तहत संबंधित प्राधिकरणों को इस अधिनियम के उद्देश्यों, प्रावधानों और प्रक्रियाओं के बारे में जागरूकता पैदा करने के सभी आवश्यक उपाय किए जाएं। उन्हें यह भी सलाह दी गई थी कि इस अधिनियम और नियमों का सभी क्षेत्रीय भाषाओं में अनुवाद तथा उन्हें प्रकाशित कर प्रतियां पंचायती राज, ग्रामीण विकास, जनजातीय और समाज कल्याण तथा वन विभागों सहित सभी ग्राम सभाओं, वन अधिकार समितियों तथा सरकार के सभी विभागों को वितरण की व्यवस्था करने और अधिकारियों, नागरिक प्रतिनिधियों तथा राज्य के गैर-सरकारी संगठनों के प्रबोधन को सुनिश्चित किया जाए ताकि उन्हें जागरूकता कार्यक्रमों इत्यादि में संसाधन व्यक्तियों के रूप में अन्य व्यक्तियों को सहायता प्रदान करने के लिए बुलाया जा सके।

• प्रधानमंत्री का कार्यालय, मंत्रिमंडल सचिवालय और योजना आयोग इस अधिनियम के कार्यान्वयन की प्रगति की निगरानी जनजातीय कार्य मंत्रालय द्वारा भेजी जा रही मासिक प्रगति रिपोर्टों के माध्यम से कर रहा है। जनजातीय कार्य मंत्रालय राज्य सचिवों/जनजातीय कल्याण/विकास विभागों के आयुक्तों की समीक्षा बैठकें आयोजित करके इस अधिनियम के कार्यान्वयन की समीक्षा कर रहा है। दिनांक 18/19.02.2008, 16.05.2008, 27.06.2008. 11.11.2008. 4/05.11. 2009 तथा 07.04.2011 और 26.7.2011 को अब तक ऐसी 7 समीक्षा बैठकें हुई हैं। इन बैठकों के दौरान, कार्यान्वयन की प्रगति की समीक्षा करते समय अधिनियम के प्रावधानों के संदर्भ में राज्य/संघ राज्य क्षेत्र सरकारों द्वारा उठाए गए मुद्दों को भी स्पष्ट किया गया।

• अनुसूचित जनजाति तथा अन्य परंपरागत वन निवासी (वन अधिकारों की मान्यता) अधिनियम, 2006 के कार्यान्वयन को गति प्रदान करने के लिए वर्ष के दौरान निम्नलिखित उपाय किए गए हैं :

• यह मंत्रालय अधिनियम के कारगर कार्यान्वयन हेतु सभी आवश्यक उपाय करने के लिए राज्य सरकारों और संघ राज्य क्षेत्र प्रशासनों से विचार-विमर्श कर रहा है। इस उद्देश्य के लिए माननीय जनजातीय कार्य और पंचायती राज मंत्री; माननीय जनजातीय कार्य राज्य मंत्री और मंत्रालय के वरिष्ठ अधिकारी राज्यों/संघ राज्य क्षेत्रों का दौरा कर रहे हैं।

• अधिनियम के प्रावधानों के संबंध में कुछ मुद्दों पर कुछ राज्यों द्वारा मांगे गए स्पष्टीकरण इनकी जांच तथा जहां भी आवश्यक था, कानून और न्याय मंत्रालय के परामर्श के पश्चात मंत्रालय द्वारा जारी कर दिए गए थे;

• अनुसूचित जनजाति तथा अन्य परंपरागत वन निवासी (वन अधिकारों की मान्यता) अधिनियम, 2006 के कार्यान्वयन की प्रगति की समीक्षा करने के लिए माननीय जनजातीय कार्य और पंचायती राज मंत्री की अध्यक्षता में दिनांक 07.04. 2011 को जनजातीय कल्याण विभागों के राज्य सचिवों/आयुक्तों के साथ एक बैठक आयोजित की गई थी। कार्यान्वयन की प्रगति की समीक्षा करने के लिए जनजातीय कल्याण विभाग के राज्य सचिवों/आयुक्तों के साथ दिनांक 26 जुलाई, 2011 को सचिव की अध्यक्षता में एक अन्य बैठक आयोजित की गई थी।

• राज्यों/संघ राज्य क्षेत्रों के साथ मंत्रालय द्वारा किए गए प्रयासों और सतत अनुरोध के परिणामस्वरूप 31.12.2011 तक 31.68 लाख दावे दायर किए गए और 12.46 लाख से अधिक अधिकार पत्र संवितरित कर दिए गए हैं। 17 हजार से अधिक अधिकारक पत्र संवितरित हेतु तैयार हैं। कुल 27,16,349 दावे निपटा दिए गए हैं, जो कुल प्राप्त दावों का 85.73% है। 14 राज्यों से उपलब्ध सूचना के अनुसार वन भूमि की सीमा, जिसके तहत 12,33,316 अधिकार पत्र संवितरित किए गए हैं, 16,49,378.42 हैक्टेयर (40,73,964.71 एकड़) है।

• अधिनियम के कार्यान्वयन का विश्लेषण दर्शाता है कि दावों की अस्वीकृति की घटना अधिक हैं। माननीय/जनजातीय कार्य और पंचायती राज मंत्री के निदेशों और राष्ट्रीय सलाहकार परिषद से प्राप्त सूचना के आधार पर, इसका प्रभावी कार्यान्वयन सुनिश्चित करने के लिए अधिनियम के तहत नियमों और दिशानिर्देशों की समीक्षा की जा रही है। दावेदारों के लिए अधिकार पत्र के संवितरण को सरल बनाना इसका उद्देश्य रहा है। मंत्रालय इस कवायद को पूरा करने जा रहा है।

❑ माननीय मंत्री जी ने, प्रारूप राष्ट्रीय जनजातीय नीति की समीक्षा के पश्चात निदेश दिया है कि भावी निदेश के लिए संदर्भ दस्तावेज के रूप में इसे और अधिक संक्षिप्त, केन्द्रित तथा अनुकूल बनाने लिए नीति के कुछ पहलुओं का पुनरीक्षण करने की आवश्यकता है। इस पर कार्रवाई प्रारंभ की गई है। मंत्रालय पहले ही इस प्रक्रिया में है कि मंत्रालय में नीति कार्यान्वयन प्रकोष्ठ के सृजन के लिए स्वीकृत 11 पदों में से कम से कम 40% स्थान भरे जाएं ताकि प्रारूप नीति से संबंधित कार्य शीघ्र पूरा हो सके।

❑ मंत्रालय पिछले वर्षों की तरह, इस वर्ष के दौरान प्रभावी जनजातीय उपयोजना संघटक (केन्द्रीय मंत्रालयों/विभागों में और राज्यों/संघ राज्य क्षेत्रों के संबंध में राज्यों/संघ राज्य क्षेत्रों की अनुसूचित जनजातीय जनसंख्या के अनुपात में) को अलग

बजट शीर्ष में रखने की और जनजातियों के कार्यक्रमों/योजनाओं के कार्यान्वयन को अधिक केन्द्रीकृत तथा एकीकृत रूप से समर्थ बनाने के लिए सक्रिय रूप से वकालत करता है ताकि संसाधनों के बिखराव से बचा जा सके। ऐसे राज्यों, जो अपनी जनजातीय जनसंख्या के अनुपात में जनजातीय उप-योजना के लिए निधियां अभिनिर्धारित नहीं कर रहे हैं, को भी मंत्रालय की चिंता से अवगत करा दिया गया है। 28 केन्द्रीय मंत्रालयों/विभागों द्वारा वर्ष 2011-12 के दौरान टीएसपी के लिए योजना परिव्यय को अलग-अलग चिह्नित करने हेतु संशोधित दिशनिर्देशों का अनुवर्तन मंत्रालय द्वारा किया गया था तथा संतोषजनक फीडबैक की समीक्षा की गई थी। मंत्रालय ने दिनांक 28.11.2011 तथा 21.02.2012 और 05.03.2012 को भुवनेश्वर, गोवाहाटी तथा बंगलौर में 6 राज्यों के साथ राज्यों द्वारा टीएसपी के निरूपण तथा प्रभावी कार्यान्वयन प्रत्येक पर क्षेत्रीय कार्यशालाएं आयोजित की।

❑ जनजातीय क्षेत्रों/आवास स्थलों में शिक्षा के संवर्धन हेतु मंत्रालय अनुसूचित जनजाति छात्रों हेतु एकलव्य आदर्श आवासीय विद्यालयों (ईएमआरएस), जो गुणवत्ता में देश के अन्य विद्यालयों के समतुल्य है, की स्थापना हेतु राज्य सरकारों को निधियां देता है। यह कार्यकलाप जून, 2010 में ईएमआरएस पर जारी संशोधित दिशानिदेशों के अनुसार जारी रहे।

❑ इस वर्ष मैट्रिकोत्तर छात्रवृत्ति की केंद्रीय प्रायोजित योजना, जो मंत्रालय की एक प्रमुख उपलब्धि है, को संशोधित किया गया है। संशोधित योजना के तहत, रखरखाव तथा अन्य भत्तों को बढ़ा दिया गया है। इसके अतिरिक्त, वार्षिक आय सीमा तथा पाठ्यक्रमों के समूहीकरण में संशोधन किया गया है।

❑ कक्षा 9 तथा 10 के अनुसूचित जनजातीय विद्यार्थियों के लिए मैट्रिक पूर्व छात्रवृत्ति की केंद्रीय प्रायोजित एक नई योजना शुरू की जा रही है। मंत्रालय द्वारा तैयार किए गए प्रस्ताव पर वित्त मंत्रालय (व्यय विभाग) का अनुमोदन प्राप्त हो गया है। योजना के तहत लगभग 22 लाख विद्यार्थियों को कवर करने का प्रस्ताव है।

❑ संसद द्वारा शीतकालीन सत्र, 2011 में संविधान (अनुसूचित जनजातियां) आदेश (संशोधित अधिनियम, 2011)(दिनांक 8 जनवरी, 2012)/(2012 की सं. 2) पारित किया था और 'भारत के राजपत्र' में 9 जनवरी, 2012 को प्रकाशित किया गया है। मणिपुर की अनुसूचित जनजाति की सूची में इन्पुई, रेंगमै, लियांगमै, तांगमुख और माते जैसे 6 नए समुदायों को जोड़ा गया है और अरुणाचल प्रदेश के गालोंग के स्थान पर गालो किया गया है।

❑ 27.12.2011 को लोक सभा में कर्नाटक राज्य में अनुसूचित जनजाति मेडा के पर्याय 'मेडारा' को शामिल करने के लिए संविधान (अनुसूचित जनजातियों) आदेश (दूसरा संशोधन) विधेयम, 2011 प्रस्तुत किया गया था। उपर्युक्त विधेयक को

सामाजिक न्याय एवं अधिकारिता संबंधी स्थायी समिति को भेजा गया था। जन साधारण की सुविधा के लिए मंत्रालय की वेबसाइट पर वर्ष 1950 से 2012 तक अनुसूचित जनजातियों के समुदायों/जातियों के बारे में सभी अधिसूचनाएं अपलोड की गई हैं।

❑ अनुसूचित जनजातियों के लिए संविधान में विभिन्न सुरक्षा प्रदान करने के प्रभावी कार्यान्वयन में राष्ट्रीय अनुसूचित जनजाति आयोग (एनसीएसटी) नेतृत्व देता है। एनसीएसटी अनुसूचित जनजातियों से प्रभावी विभिन्न मंत्रालयों के विधायी प्रस्तावों पर महत्वपूर्ण सुझाव प्रदान करते हैं।

❑ 29-30 अक्तूबर, 2011 को माननीय राष्ट्रपति की अध्यक्षता में हुए राज्यपालों के सम्मेलन के दौरान जनजातीय कार्य और पंचायती राज मंत्री ने अनुसूचित क्षेत्रों के प्रशासन में राज्यपालों के महत्व पर बल दिया है। संविधान की पांचवीं अनुसूची द्वारा राज्यपालों के अधिकारों को उजागर करते हुए, उन्होंने उनसे अनुसूचित जनजातियों और अन्य परंपरागत वन निवासियों के लाभ के लिए पंचायत (अनुसूचित क्षेत्रों को बढ़ावा) अधिनियम (पीईएसए) और वन अधिकार अधिनियमों (एफआरए) के कार्यान्वयन में मंत्रालय की सहायता का अनुरोध किया है।

❑ मंत्रालय अनुसूचित क्षेत्रों के प्रशासन पर राज्यपाल की रिपोर्ट प्राप्त करने और अनुसूचित क्षेत्र वाले राज्यों से निरन्तर संपर्क बनाये हुए है और जनजातीय परामर्शदायी परिषद (टीएसी) की बैठकें नियमित रूप से आयोजित करने के बारे में है।

❑ मंत्रालय ने अनुसूचित जनजातियों के समग्र विकास के लिए मूलभूत सुविधाओं के संबंध में उनके द्वारा कार्यान्वित की जा रही विभिन्न योजनाओं/कार्यक्रमों में पर्याप्त निवेश सुनिश्चित करने के लिए सचिव (जनजातीय कार्य) की अध्यक्षता में एक समन्वय समिति का गठन किया है, जिसमें योजना आयोग के अतिरिक्त, स्वास्थ्य एवं परिवार कल्याण, विद्यालय शिक्षा और साक्षरता, पेयजल वितरण, बिजली, श्रम तथा रोजगार और ग्रामीण विकास के मंत्रालयों/विभागों के प्रतिनिधि शामिल हैं। समिति की वर्ष के दौरान 3 बैठकें हुई हैं।

❑ वर्ष 2011-12 के दौरान, मंत्रालय ने 26.7.2011 तथा 14.11.2011 को अनुसूचित जनजातियों के विकास हेतु सभी केंद्रीय प्रायोजित और केंद्रीय क्षेत्र योजनाओं के कार्यान्वयन के लिए सभी राज्य सरकारों तथा संघ राज्य क्षेत्र प्रशासनों की दो बैठकें आयोजित की हैं।

❑ विशेष रूप से कमजोर जनजातीय समूहों (पीटीजी) के विकास की केंद्रीय क्षेत्र योजना के कार्यान्वयन को सरल तथा कारगर बनाने के लिए राज्य सरकारों से परामर्श किया गया है। राज्यों से पीटीसी की आवश्यकताओं को ध्यान में रखते हुए भागीदारी

रूप में इस योजना के कार्यान्वयन के लिए 12वीं योजना हेतु 'संरक्षण-सह-विकास (सीसीडी) योजना' को तैयार करने के लिए कहा गया है। पीटीसी की पौषणिक आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए सीसीडी योजनाएं विशेष हस्तक्षेप कर सकती हैं।

❑ मंत्रालय ने विशेषज्ञ समिति के सहयोग से अंडमान और निकोबार द्वीप समूह की जारवा जनजाति पर मौजूदा नीति की समीक्षा पूरी कर ली है। विशेषज्ञ समूहों की रिपोर्ट के आधार पर, सचिव, जनजातीय कार्य मंत्रालय की अध्यक्षता में, जारवा की सुरक्षा हेतु अंडमान और निकोबार द्वीप समूह प्रशासन द्वारा उठाए गए विभिन्न सुझावों को सहमति दी है। समिति ने निर्णय लिया है कि नीति में अब बदलाव की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि वर्तमान नीति द्वारा सुझाव पहले ही कवर किए गए हैं। नीति में बदलाव, यदि भविष्य में आवश्यक हों, अंडमान और निकोबार द्वीप समूह साक्ष्य आधारित अनुसंधान करेगा।

❑ मंत्रालय डॉ. टी. हक समिति की रिपोर्ट के आधार पर लघु वन उत्पाद के लिए निम्नतम समर्थन मूल्य (एनएसपी) को लागू करने पर विचार कर रहा है। इस के संबंध में मंत्रालय द्वारा 24.10.2011 तथा 05.12.2011 को दो बैठकें आयोजित की गई हैं, जिसमें राज्यों, योजना आयोग और अन्य संबंधित केंद्रीय मंत्रालयों के प्रतिनिधि भी मौजूद थे।

❑ वर्ष 2011-12 के दौरान राष्ट्रीय अनुसूचित जनजाति वित्त और विकास निगम ने 2 योजनाएं प्रारंभ की हैं। इनमें एक "आदिवासी शिक्षा ऋण योजना" है जिसके तहत भारत में पीएचडी सहित प्रौद्योगिकी/व्यावसायिक शिक्षा प्राप्त करने हेतु अनुसूचित जनजातीय विद्यार्थियों को प्रतिवर्ष 6% की रिआयती ब्याज दर पर 5 लाख ₹ तक वित्तीय सहायता प्रदान की जाती है। दूसरी योजना के तहत ट्राइफेड के पास सूचीबद्ध जरूरतमंद जनजातीय कारीगारों को रिआयती वित्त प्रदान किया जाता है।

❑ इसके अतिरिक्त, जरूरतमंद अनुसूचित जनजातियों को एनएसटीएफडीसी की रिआयती सहायता की चैनलाइजिंग हेतु सेन्ट्रल बैंक ऑफ इण्डिया तथा वैतरणी ग्राम्य बैंक ओडिसा के साथ 2 समझौता ज्ञापन किए हैं।

❑ भारतीय जनजातीय सहकारी विपणन विकास संघ लि. (ट्राइफेड) ने देश में अनेक खुदरा बिक्री केंद्रों के नेटवर्क "ट्राइब्स इंडिया" के माध्यम से जनजातीय उत्पादों का विपणन जारी रखा और इस वर्ष के दौरान (31.12.2011 तक) 630.58 लाख रूपये मूल्य के उत्पाद की बिक्री की। इस वर्ष के दौरान ट्राइब्स इंडिया के 3 और बिक्री केंद्र खोले गए।

❑ 31.01.2012 को माननीय जनजातीय कार्य और पंचायती राज मंत्री द्वारा

जनजातियों के बौद्धिक संपदा अधिकारों के संरक्षण और जनजातीय हस्तशिल्प तथा हथ-करघा के लिए विशिष्ट पहचान सृजित करने के लिए जनजातीय शिल्प केन्द्र खोला गया। जनजातीय केन्द्र, ट्राइफेड द्वारा जनजातियों द्वारा निर्मित उत्पादों का उपयोग तथा विपणन करेगा।

❑ मंत्रालय द्वारा सांस्कृतिक मंत्रालय के सहयोग से 20 से 22 मार्च, 2012 तक त्रिदिवसीय जनजातीय नृत्य तथा संगीत पर्व का आयोजन किया गया। इस अवसर पर, खेलकूद, शिक्षा तथा संस्कृति में विशिष्ट जनजातीय विजेताओं और जनजातीय कल्याण के लिए योगदान देने वालों को राष्ट्रीय जनजातीय पुरस्कार किए गए।

❑ नई दिल्ली में गणतंत्र दिवस परेड-2012 के दौरान जनजातीय कार्य मंत्रालय ने आजीविका अवसरों तथा शिक्षा हेतु विभिन्न उपायों के सृजन द्वारा जनजातीय अधिकारिता को चित्रित करते हुए झांकी निकाली।

(साभारः जनजातीय कार्य मंत्रालय)

## जनजातीय विकास में लगी प्रमुख संस्थायें
## (Important Organisations involved in Tribal Development)

### ट्राइबल कोआपरेटिव मार्केटिंग डेवलपमेंट फेडरेशन ऑफ इंडिया
### (Tribal Cooperative Marketing Development Federation of India)

*ट्राइफ़ेड (TRIFED)*

जनजातियों को प्राइवेट व्यापारियों के शोषण से बचाने और उनके छोट-मोटे वनोत्पाद एवं फ़ालतू खेतिहर उत्पादनों के यथोचित मूल्य की प्राप्ति को सुनिश्चित करने के लिए भारत सरकार ने अगस्त, 1987 में एक ट्राइबल कोआपरेटिव मार्केटिंग डेवलपमेंट फेडरेशन ऑफ इंडिया (ट्राइफेड) का गठन किया है। इसकी प्राधिकृत शेयर पूंजी 20 करोड़ रुपये है। अप्रैल 1988 से यह प्रभावी ढंग से कार्य कर रहा है। अपने प्रथम कार्य-वर्ष में इसने 12 वस्तुओं का व्यापार हाथ में लिया। लगभग सभी वस्तुओं की जो ऊंची कीमतें जनजातियों को दी गयीं वे पीछे के वर्षों में उन्हें कभी नहीं मिली। अपने द्वितीय वर्ष (1989-90) में ट्राइफेड ने अपने कार्य व्यापार में वृद्धि की और बहुत नयी वस्तुओं का व्यापार अपने हाथ में लिया। इसे जनजाति क्षेत्रों में पैदा होने वाले गोंद, सींग और रामतिल के बीजों के निर्यात की स्रोत एजेंसी नियुक्त किया गया है। साथ ही, इसे जंगल में पाये जाने वाले तिलहन के बीजों और अन्य वस्तुओं का संग्रह करने, तैयार करने और उनका भंडारण करने की शीर्ष केन्द्रीय एजेंसी भी घोषित किया गया है।

## राष्ट्रीय अनुसूचित जाति एवं अनुसूचित जनजाति वित्त विकास निगम (National Scheduled Caste and Scheduled Tribe Finance and Development Corporation) एन.एस.एफ.डी.सी. (NSFDC)

भारत सरकार द्वारा कम्पनी अधिनियम, 1956 की धारा 25 के अंतर्गत 'नेशनल शिड्यूल्ड कास्ट ऐंड शिड्यूल्ड ट्राइब्स फाइनेंस ऐंड डेवलपमेंट कार्पोरेशन' (एन. एस. एफ. डी. सी.) की स्थापना की गयी है जिसने 8 फरवरी 1989 से अपना कार्य प्रारंभ किया था। इसका प्रत्येक प्राधिकृत शेयर 1000 रुपए का है और समादत्त शेयर पूंजी 50 करोड़ रुपए है जो सबकी सब सरकार द्वारा धारित है।

इस निगम का उद्देश्य अनुसूचित जातियों एवं अनुसूचित जनजातियों के आर्थिक विकास के उद्दीप्त करना तथा साथ ही राज्य स्तर के अनुसूचित जाति विकास निगमों और अन्य एजेंसियों के शोचनीय आर्थिक स्थिति को पहचानना तथा उनकी पूर्ति करना है। इसे अनुसूचित जातियों एवं अनुसूचित जनजातियों के आर्थिक विकास के लिए यत्नशील सभी एजेंसियों के लिए एक शीर्ष संस्थान के रूप में भी काम करना है। रोज़गार के साधनों को पैदा करने की विकासशील योजनाओं को प्रारंभ करने के साथ ही इसे ऐसी मार्गदर्शी परियोजनाओं में, जो आगे चलकर राज्य स्तर के निगमों अथवा इस क्षेत्र में लगी दूसरी एजेंसियों द्वारा लिये जा सकें, पूंजी निवेश करके एक उत्प्रेरक की भूमिका भी अदा करना है।

निगम का लक्ष्य है कि आठवीं पंचवर्षीय योजना (1990-95) की अवधि में ग़रीबी की रेखा से नीचे रहने वाले, अनुसूचित जातियों और अनुसूचित जनजातियों के लगभग 5,50,000 परिवारों के कल्याणार्थ काम करेगा। 1990-91 में 50,000 परिवारों से शुरू करके आठवीं पंचवर्षीय योजना अवधि में अर्थात् 1994-95 तक इन परिवारों की संख्या दो लाख तक पहुँच जायेगी। आठवीं पंचवर्षीय योजना की अवधि (1990-95) में एन. एस. एफ. डी. सी. को शेयर पूंजी के रुपये 530 करोड़ रुपये की आवश्यकता होगी जिसमें 200 करोड़ रुपए भारत सरकार देगी और शेष 330 करोड़ रुपए एन. एस. एफ. डी. सी. प्रदान करेगा।

29

# सामाजिक परिवर्तन और समकालीन जनजातीय समाज

जनजाति समुदायों के स्थानों की भौगोलिक स्थितियों, उनकी आबादी, सांस्कृतिक विभिन्नताओं, आर्थिक स्तरों और सान्दर्भिक स्थितियों में मौजूद अंतर के कारण उनके लिए सरकार द्वारा चलाई जा रही नीतियों, उनके कार्यान्वयन और विकास संबंधी कार्यक्रमों के प्रभावों में भी काफी अंतर नज़र आता है। आर्थिक एवं राजनीतिक शक्तियों के फलस्वरूप उनका संसार दुनिया के सामने एकाएक अनावरित हुआ है जिससे उन समुदायों में अनेक सामाजिक परिवर्तन हुए हैं। उनमें आये या हो रहे परिवर्तनों का उल्लेख करना कोई सरल काम नहीं है। मोटे तौर पर उन सबके प्रति जनजातियों की प्रतिक्रिया मिली-जुली और असमान रही है। यदि हम उन पर विकास संबंधी प्रक्रिया के परिणामों की जांच करें तो हमें ऐसी स्थितियां मिलती हैं जो सकारात्मक भी हैं और नकारात्मक भी। यही नहीं, इन स्थितियों में भी जनजातियों के एक ही समूह में और विभिन्न समूहों में हुए परिवर्तनों के परिणाम में अंतर हो सकता है।

अपने ग्रंथ "ट्राइबल ट्रांसफार्मेशन इन इंडिया (5 खण्डों में) की भूमिका में बुद्धदेव चौधरी ने उनकी अतुलनीय अनेकता पर प्रकाश डालते हुए उनमें हो रहे परिवर्तनों के निम्नलिखित प्रमुख पहलुओं का उल्लेख किया है :

1. परिधिस्थ और हाशिये पर पहुंचे अस्तित्व से अपने अधिकारों की उग्र जागरूकता तक का रूपान्तरण।
2. उनकी प्रगति और उनका विकास आशा के अनुरूप मुख्यतः इसलिए नहीं हुआ क्योंकि कार्यक्रमों के बनाने और उन्हें अमल में लाने के काम में खामियां रह गयीं, उदाहरणार्थ स्थानीय संवेदनशील आवश्यकताओं को समझने और उनकी पूर्ति करने में गलतियां की गईं। कार्यक्रमों को अमल में लाने का काम जिन व्यक्तियों को दिया गया उनमें परानुभूति का अभाव था। उनके पास जनजातियों की संस्कृति संबंधी अंतर्दृष्टि नहीं थी। वह एक ऐसा श्रेष्ठ वर्ग

(अभिजात) तैयार करने की प्रक्रिया थी जिसे उच्च पूंजीवादी बाजार व्यवस्था में धकेला जा सके।

3. श्रेष्ठ वर्ग मौजूदा लोकतंत्रीय संस्थाओं द्वारा उभर कर सामने आया है और उसी ने विकास के लाभों को बटोरा है।

स्थिति की मांग है कि इन तथ्यों पर गम्भीरता से सोचा जाय और विकास कार्यक्रमों में ऐसी प्रक्रियाएं और शर्तबन्दी अपनाई जाये जिससे स्थितियों को सम्भाला जा सके।

1994 में सम्पन्न *''पीपुल्स ऑफ इंडिया प्रोजेक्ट''* (एन्थ्रोपोलॉजिकल सर्वे ऑफ इंडिया) में 635 जनजाति समुदायों का अध्ययन किया गया था। यह प्रोजेक्ट जनजातियों, उनके समूहों और क्षेत्रीय इकाइयों सहित उनकी विभिन्न इकाइयों का अध्ययन था। इसमें वे परिमाण सूचक आंकड़े भी सामने आये हैं जो मुख्य राष्ट्रीय धारा से जनजातियों को मिलाने और विकास संबंधी प्रयासों के प्रति उनकी प्रक्रिया से संबंधित हैं। विकास संबंधी प्रयासों में मोटे तौर से निम्नलिखित परिवर्तन देखे जा सकते हैं :

1. एक ऊंचे वर्ग (elite) का उदय, जिसमें हैं उद्यमी व्यापारी (156 जनजातियाँ), अध्यापक (380), प्रशासक (156), इंजीनियर-डॉक्टर (150), और फौजी अधिकारी (178)।
2. राजनीतिक नेतृत्व में भी उन लोगों का प्रवेश हुआ है। विभिन्न स्तरों पर जनजातियों के लोग अपनी भूमिका अदा कर रहे हैं जैसे गांव पंचायतों में (362), क्षेत्रीय स्तर पर (185) और राष्ट्रीय स्तर पर (45) जनजातीय समुदाय।
3. शिक्षा के क्षेत्र में अनुक्रिया (response) अच्छी रही है, लड़कों और लड़कियों दोनों के मामलों में। बीच में पढ़ाई छोड़ने वालों की संख्या भी कम हुई है। शिक्षा के स्तर में 1961 के 8.53 प्रतिशत से बढ़कर 1981 में 16.35 प्रतिशत तक (असम को छोड़कर) वृद्धि हुई है।
4. जनजातियाँ स्वास्थ्य और चिकित्सा की सुविधाओं का लाभ भी उठा रही हैं और 531 जनजातियों ने उनके बारे में अनुकूल सम्मति प्रकट की है। इसके अलावा मृत्यु और जन्म की दर भी लगातार गिरावट पर है।
5. बहुत सी जनजातियाँ सरकार द्वारा चलाई जा रही स्वरोजगार योजनाओं से परिचित हैं और उनमें हिस्सा ले रही हैं। उनकी संख्या इस प्रकार है :

कृषि (438), पशुपालन (302), सुअर पालन (160), टोकरी साजी (151), कुक्कुट पालन (164), मत्स्य पालन (98), लघु उद्योग (67) आदि।

6. जनजातियों के क्षेत्रों में इलेक्ट्रानिक मीडिया भी व्यापक रूप से पहुंच चुका है :
   रेडियो (91 प्रतिशत), टी.वी. (27 प्रतिशत)

फ्यूरर-हेमेंडॉर्फ का उदाहरण देते हुए एच.एम. माथुर ने कहा है कि विकास की कार्रवाइयां अनेक जनजातियों में सक्रिय और वांछित परिवर्तन लाने में सफल हुई हैं। उनकी सामाजिक अर्थव्यवस्था के स्तर में धीरे उन्नति हो रही है और उसी प्रगति के साथ वे राष्ट्रीय जीवन में हिस्सा भी ले रहीं हैं। फिर भी, कुछ समुदाय ऐसे हैं जो मौजूदा प्रक्रिया में पिछड़ रहे हैं।

ऊपर जिन सामान्य प्रवृत्तियों का उल्लेख किया गया है वे तभी समझी जा सकती हैं जब जनजातियों में होने वाले बड़े परिवर्तनों को ही देखा जाय। किन्तु, छोटे स्तर पर किये गये अनेक अध्ययन अधिकांशतः एक भिन्न चित्र प्रस्तुत करते हैं तथा जनजातियों के प्रति हमारी नीतियों और कार्यक्रमों के बारे में बहुत से महत्त्वपूर्ण मुद्दे और नीति संबंधी सवाल उठाते हैं। जैसे :

1. विकास संबंधी चालू नीतियों में कौन सी सम्भाव्य हैं जो उन्हें सफल बना सकती हैं।
2. विकल्प क्या है और क्या विकास संबंधी दिशाएं सचमुच ही वांछनीय हैं एवं जो तबके इन कार्रवाइयों से लाभ प्राप्त कर रहे हैं क्या वे सचमुच ज़रूरतमन्द हैं?
3. वन-नीति, बड़ी परियोजनाओं का निर्माण, भारी खदान कार्य, औद्योगीकरण तथा कृषि नीतियों से संबंधित बातों पर सोचते समय जनजाति के सामान्य लोगों की दरिद्रता और शक्तिहीनता का कैसे पता लगाया जाता है? उसे कैसे सुधारा या खत्म किया जा सकता है? स्थिति ऐसी हो गई है कि उसे "आन्तरिक उपनिवेशवाद" के नाम से पुकारा जाता है।
4. जनजाति क्षेत्रों में निवेश, विशेष रूप से टी.एस.पी. द्वारा, लगातार बढ़ता गया है। विश्लेषकों का कथन है कि निवेश का अधिकांश बाह्य संरचना के कार्यों में खर्च करके उसके स्रोतों को लगभग खत्म किया गया है और उनका प्रश्न है कि उन निवेशों से जनजाति के साधारण व्यक्तियों को क्या लाभ पहुंचा है ?

ऊपर बताई गई स्थितियों के साथ ही उपचारात्मक कार्रवाइयों का मूल्यांकन डा. भूपिन्दर सिंह ने अपनी पुस्तक Sixth Plan Mid Term Appraisal (1983) में किया है। उनका निष्कर्ष है :

1. छठी योजना के योजना रणनीति में परिवारोन्मुख कार्यक्रमों को अपनाने का जो परिवर्तन किया गया है उसे और अधिक बढ़ाने की आवश्यकता है। छठी योजना के मध्य तक इन कार्यक्रमों के लिए आने वाली निधियां यद्यपि बहुत कम थीं फिर भी उन्हें प्रारम्भ कर दिया गया। उन्हें अपना ऐसा प्रभाव छोड़ना ही था जिसे महसूस किया जाये।
2. परिवारोन्मुख कार्यक्रमों द्वारा जिन लक्ष्यों की पूर्ति की गयी उनसे परिवारों की प्रस्तावित संख्या में वृद्धि तो हो गयी किन्तु गरीबी रेखा के ऊपर उठने की क्षमता पैदा करने का मूल उद्देश्य भुला दिया गया। वह कहीं भी दिखाई नहीं देता। इस स्थिति को गौर से देखने और इसका मूल्यांकन करने की जरूरत है।
3. परिवारों पर आधारित कार्यक्रमों, बाह्य संरचनात्मक कार्यों और मानव संसाधनों के विकास के बीच तालमेल बेहद जरूरी है। इसका बहुत ही अच्छा नियोजन होना चाहिए।
4. संसाधन जुटाने व विकास योजनाओं के लिये जिस एकीकृत प्रशासनिक संरचना की आवश्यकता होती है उसे विकसित करना चाहिये जो आम आदिवासियों की पहुँच में हो तथा उन के प्रति संवेदनशील हो।
5. जनजाति क्षेत्र से जो भी राष्ट्रीय संसाधन निर्यात किये जाते हैं उनसे जो क्षेत्रीय असंतुलन पैदा होता है उसे ठीक किया जाना चाहिए जिससे कि उन संसाधनों से जनजाति समाज का लाभ हो सके।

## केस स्टडीज़

### संग्रहक व आखेटक

गाडगिल एवं गुहा कृत ''हंटर गैदरर्स'' में यह साक्ष्य दिया गया है कि जनजाति के इस वर्ग ने औपनिवेशिक सरकार के आरम्भ में अपनी जीविका के साधन खोने शुरू कर दिये थे। इससे उन्हें जीविका के लिए भटकना पड़ा। समूह असंगठित और दरिद्र होने लगा। जेनुकुरूबा जो वन संबंधी ज्ञान में परंपरा से माहिर थे आज हाथी पालने और वन-उत्पादन एकत्र करने में वन-विभाग की सहायता करके गुजारा करने पर मजबूर हैं। वे लोग हालांकि वन-विभाग के लिए महासंपत्ति का अर्जन करा रहे हैं, क़िन्तु उन्हें मजदूरी के रूप में नगण्य राशि दी जाती है। केरल के पहाड़ी पंडरम अनाधिकार प्रवेश के क्षेत्र में रह रहे हैं। उन्हें हर समय वन-विभाग का यह डर सताता रहता है कि कहीं उन्हें उनके क्षेत्र से निकाल न दिया जाय। इसलिए वे वन विभाग के अधिकारियों के शोषण का शिकार होते रहते हैं और उनकी सेवा करते रहते हैं।

चेंचू जनजाति कुछ क्षेत्रों में अपराध के काम करने पर विवश हो चुकी है। बाविस्कर (1905) के अनुसार भीलों और छत्तीसगढ़ के झाबुआ जिले की भिलाला जनजातियों ने अपराध पेशा अपना लिया है। कारण जंगल पर बढ़ता हुआ राज्य सरकार का नियंत्रण और कृषि योग्य भूमि की अवनति होना है। जी.पी.रेड्डी के अध्ययन (सत्य नारायण 1990) में चेंचुओं की पुनर्वास योजना की असफलताओं पर प्रकाश डाला गया है। कारण ये बताये गये हैं : उन्हें खेती का काम सीखने के लिए पर्याप्त समय नहीं दिया गया, परियोजना अधिकारियों द्वारा कृषि-कार्यों का अकुशल प्रबन्ध, चेंचुओं के वैयक्तिक जीवन और उनके सामाजिक संगठनों के प्रति अधिकारियां की असंवेदनशीलता, बहुत बड़ी कृषिगत कालोनी का निर्माण जो छोटे सामूहिक जीवन के आदी चेंचुओं की जीवन शैली के लिए नितांत अनुपयुक्त था और उन किसानों की आबादियों के बीच चेंचुओं को बसाया जाना जो चेंचुओं से डरते हैं और उनके पुनर्वास को निरन्तर निरुत्साहित करते हैं।

## कारीगर और शिल्पी

गाडगिल एवं गुहा (1992) ने बताया है कि लोहारी जैसे कुछ पेशे किस प्रकार पूरी तरह खत्म हो गये और अगड़ियों तथा असूरों ने छोटी-मोटी खेती या मजदूरी करने का पेशा अपना लिया। इसके अलावा कच्चा माल उपलब्ध न होने के कारण अन्य दस्तकारियां भी बन्द हो गयीं जैसे टोकरीसाज़ी। वन-विभाग बांस का ज्यादा मूल्य लेने लगा जिसके कारण जनजातियों को टोकरी या झाबा आदि बनाना छोड़ना पड़ा। इस प्रकार उनका पेशा खत्म हुआ और वे गरीब और दरिद्र होते गये। चौधरी (1990) ने उन 49 जनजातियों का उल्लेख किया है जो मुख्यतः दस्तकारी के पेशे द्वारा अपनी जीविका कमाते थे। उनके निष्कर्ष हैं : (क) हालांकि जनजातियों की अनेक दस्तकारियां बहुत लोकप्रिय हुई हैं किन्तु उन्हें प्रोत्साहित करने के लिए सरकार ने जो भी योजनाएं चलाईं वे उनके दस्तकारी के लिए लाभप्रद नहीं हैं। (ख) दस्तकारियों की विपणन व्यवस्था सही नहीं है जिसके कारण मूल-दस्तकारी के स्थान पर उनकी नकल बाजार में आने लगी है। असली दस्तकार घाटे में चला गया और नकली लाभ उठा रहा है।

एक अन्य अध्ययन में बताया गया है कि मध्य प्रदेश की धुरवा जनजाति की दशा इसलिए शोचनीय स्थिति में पहुंच गयी क्योंकि उनके संबंध में सरकार की नीतियां त्रुटिपूर्ण रहीं, विशेष रूप से प्रशिक्षण, विपणन-व्यवस्था और औज़ारों की आपूर्ति के मामले में गड़बड़ी।

## झूम कृषि करने वाली जनजातियाँ

सरकार की वन-नीति और वैकल्पिक आर्थिक विकास कार्यक्रमों में उसकी अपूर्णता के कारण उन जनजातियों को भी हानि पहुंची जो झूम कृषि करने के आदी थीं। वे अब पहले से अधिक जागरूक होकर सरकारी नीतियों का विरोध कर रहे हैं (गाडगिल एवं गुहा 1992)। विरोध के इन आन्दोलनों से अधिकांशतः जनजातियों का उत्पीड़न हुआ है, कभी-कभी वे लाभप्रद भी सिद्ध हुए हैं जैसे, चीड़ के पेड़ लगाने के विरुद्ध पहाड़ी मादिया की कार्रवाई। हालांकि, अक्सर यह महसूस किया गया है कि झूम कृषि को नियंत्रित किया जाय और उसके स्थान पर कोई अन्य वैकल्पिक कृषि या वन-रोपण कार्य दिया जाय। फिर भी, ऐसे कार्यक्रम अधिकांशतः सीमित ही रहे हैं। त्रिपुरा के तीन ऐसे मामले सामने आये हैं जिनमें कुछ अंशों तक सफलता मिली है। झूम कृषि अभी भी प्रचलित है हालांकि स्थिर कृषि भी धीरे-धीरे स्थान ग्रहण कर रही है। अन्य वैकल्पिक काम जैसे पशु पालन, बागान लगाना, फूलों की खेती करना आदि के क्षेत्र में भी कुछ सफलताएं मिली हैं। जनजातियों के एक हिस्से ने बागान का काम हाथ में लिया है और पट्टेदारी संबंधी सुधारों के फलस्वरूप कुछ लोग ज़मीनों के मालिक भी बन गये हैं। दूसरी ओर वन-विभाग द्वारा झूम की ज़मीनें अधिगृहीत करने के फलस्वरूप कुछ लोग भूमिहीन खेतिहर मजदूर भी बन गये हैं। जनजातियों में भूमिहीन खेतिहर मजदूरों का वर्ग इससे पहले कभी नहीं देखा गया था। ये लोग अब बागानों में मजदूरी करते हैं।

## स्थिर या स्थापित कृषि

ठाकुर द्वारा दुमका के लोगों का जो अध्ययन किया गया है उसमें बताया गया है कि जनजातियों को यद्यपि कृषि की बहुत सी उन्नत प्रविधियां बताई गई हैं फिर भी उन्होंने उनमें से कुछ को ही अपनाया है : उदाहरणार्थ - पंक्तियों में बुवाई, खाद के गड्ढे आदि जिनमें खर्चा कम आता है। रासायनिक उर्वरकों के इस्तेमाल को सफलता नहीं मिली वरन् सिंचाई के पर्याप्त साधनों के अभाव में उससे नुकसान हुआ। वस्तुतः जनजाति क्षेत्रों के लिए उपयोगी बागानी खेती संबंधी अनुसंधानों की आज भी कमी है। विस्तार एजेंटों (प्रशिक्षण) ने भी सच्चे अर्थों में दिलचस्पी नहीं ली है, उनमें अपने काम के प्रति कोई उत्साह नहीं है।

मयूरभंज संबंधी महापात्र (1970) के अध्ययन में लगभग इन्हीं बातों पर प्रकाश डाला गया है। उन्होंने खास तौर से इस बात पर जोर दिया है कि परिवर्तन लाने के लिये यह जरूरी है कि प्रयास में निरन्तरता बरती जाय। प्रौद्योगिक परिवर्तनों के प्रारम्भ

को खेतिहर रस्मों से जोड़ा जाये तथा उसमें जनजातियों के पुरोहितों का सहयोग लेना चाहिए क्योंकि अपने समाजों में उन की आज भी साख है।

झारखंड के संथालों के बारे में एक अध्ययन के अनुसार संथालों के प्रत्येक आठ उप-समुदाय के बीच ''मुरमू'' (पुरोहित), ''मर्दी'' और ''तूदू'' सबसे ज्यादा प्रभावशाली होते हैं। उनके पास जमीनें भी होती हैं और सरकारी योजनाओं से उन्होंने ही सबसे ज्यादा लाभ उठाया है। बाकी संथाल समुदाय उन लाभों को नहीं प्राप्त कर सका है।

## आधुनिक लोकतंत्रीय संस्थाएं

''द पीपुल्स ऑव इंडिया'' नामक रिपोर्ट में गोंड लोगों का उल्लेख करते हुए बताया गया है कि उनमें अधिनियमित पंचायतों अथवा चुनाव द्वारा गठित संस्थाएं हैं। इनका काम गांव स्तर पर कल्याण और विकास के कार्यक्रमों के कार्यान्वयन तक सीमित है। ''परंपरागत गोंड नेताओं और अधिनियमित पंचायतों के बीच कोई झगड़ा नहीं है और गांव के नेतागण जो गांव के शक्तिशाली समुदाय के रूप में उदय हुए हैं, गांव की राजनीति में सक्रिय हैं और सत्ता के निकट रहते हैं। परंपरागत पंचायतों ने अपनी कार्रवाइयों को वैवाहिक विवादों तक ही सीमित कर लिया है।"

झारखंड के ग्रामीण इलाकों में पंचायती राज के जरिए प्रोत्साहित वहां के नेतृत्व की भूमिका के बारे में प्रसाद (1974) के अध्ययन के अनुसार यह नवोदित नेतृत्व अपनी पृष्ठभूमि (शिक्षा, लिंग, पेशा आदि) के मामले में परंपरागत नेतृत्व से कुछ ज्यादा भिन्न नहीं है। किन्तु, उन्हें उनकी भूमिका के बारे में अपर्याप्त प्रशिक्षण दिया गया है। वे प्रतिनिधित्व तो करते हैं किन्तु उनका प्रतिनिधित्व अपने गुण-धर्म में स्तरीय नहीं है। उनमें अपनी जनता के हित में सामूहिक रूप से प्रयास करने की कमी है। वे ज्यादातर अपनी शान शौकत और अपने स्वार्थों की पूर्ति के चक्कर में रहते हैं। प्रसाद ने इस तथ्य का रेखांकन भी किया है कि जनजातियों के इस नेतृत्व में बहुत कुछ वही दुर्गुण पनपे हैं जो देश की मुख्य धारा की नेतृत्व-संस्कृति में पनपते दिखाई पड़ते हैं।

जनजाति क्षेत्रों की प्राचीन परंपरागत संस्थाओं की स्थिति और उनके मौजूदा औपचारिक एवं अधिनियमित संस्थाओं से संबंधों का अनुसूचित जाति एवं अनुसूचित जनजाति के कमिशनर की 29वीं रिपोर्ट में आलोचनात्मक दृष्टि से विवेचन किया गया है। रिपोर्ट में कहा गया है :

1. जनजातियों की जो परंपरागत स्वायत्तशासन करने वाली संस्थाएं थी उनकी आज के प्रशासन या विकास की मौजूदा प्रक्रिया में न तो कोई भूमिका है और

न नये विचारों से उन्हें कोई लाभ ही मिल रहा है। वे संस्थाएं पूरी तरह अलग-थलग पड़ गई हैं। इन संस्थाओं में सक्रियता केवल तभी आती दिखाई पड़ती है जब कुछ बहुत ही महत्त्वपूर्ण मसले अपनी संकटापन्न स्थिति में पहुंच जाते हैं।

2. औपचारिक संस्थाएं जिन्हें स्वायत्तशासन की पद्धति के रूप में जनजाति समुदाय को दिया गया है, अभी तक उनकी अपनी साख नहीं बन पाई है। इनमें से ज़्यादातर प्रभावहीन और दस्तूरी ढंग से कामकाज करती हैं। वस्तुतः ये वोट की राजनीति और अनैतिक नेतृत्व की वजह से सामाजिक बहिष्कार का कारण बन गई हैं।

3. स्थिति द्विघात्मक हो गई है अर्थात सामाजिक मामले परंपरागत संस्थाओं के पास जाते हैं और शेष अन्य मामले अधिनियमित संस्थाओं के पास। फलस्वरूप जनजातियों के सीधे और सरल लोग अक्सर विभ्रम और "क्या करें क्या न करें" की स्थितियों में पड़ कर परेशान हो जाते हैं।

सातवीं योजना में परंपरागत संस्थाओं को मान्यता देने पर विचार किया गया है। क्योंकि उनके प्रति व्यापक आदर भावना है और उनकी जड़ें गहरी जमी हुई हैं। आठवीं योजना के विकास प्रक्रिया में जनजातियों को अंतर्ग्रस्त करने की कार्रवाइयों पर चर्चा करते हुए कहा गया है कि जनजातियों की परंपरागत संस्थाओं को नई पद्धति से जोड़ा जाय जिससे उनकी अपेक्षाकृत अधिक सहभागिता प्राप्त की जा सके। इस लेख में पहले दिये गये उदाहरण भी इस आवश्यकता पर बल देते हैं। इतना सब महसूस किये जाने पर भी, अभी तक इस सिलसिले में कोई ठोस कदम नहीं उठाया गया है अर्थात परंपरागत संस्थाओं आदि को निर्वाचन के बिना अधिनियमित संस्थाओं के साथ जोड़ने का कोई प्रयास नहीं किया गया है। दूसरी तरफ छत्तीसगढ़ व मणिपुर आदि कुछ राज्यों में संविधान की छठी अनुसूची को अंगीकार करके निर्वाचित संस्थाओं को अपेक्षाकृत ज्यादा अधिकार देने की बातचीत चल रही है। डा.बी.डी. शर्मा अपनी 29वीं रिपोर्ट में एक पूर्णतः भिन्न तरीके पर जोर देते हैं जैसा कि आन्ध्र प्रदेश के आदिलाबाद में होता है। वहां राय-सभाएं होती हैं अर्थात ऐसा सम्मेलन जिसमें नई और पुरानी दोनों संस्थाओं के लोग हिस्सा लेते हैं। दूसरे शब्दों में पूरा गांव-समाज बाहर वालों से, जिसमें सरकारी विभागों के अधिकारी भी शामिल हैं, मिलकर व्यवहार और बातचीत करते या मसले हल करते हैं।

# 30

# प्रशासनिक तथा संस्थागत व्यवस्था

स्वतंत्रता के आगमन ने भारतीय जनजातीय जनसंख्या के विकास में एक नयी आशा का संचार किया जिसका उद्देश्य अविकसित जनजातियों के स्तर को ऊपर उठाना तथा उन्हें समुचित सुरक्षा प्रदान करना था। भारतीय संविधान के अनुच्छेद 46 में राष्ट्रीय नीति की निदेशक सिद्धान्त (Directive principles) स्पष्ट करते हुये कहा गया है "राष्ट्र सभी दुर्बल वर्गों का शैक्षिक एवम् आर्थिक विकास करेगा तथा विशेष रूप से अनुसूचित जातियों व जनजातियों को सामाजिक अन्याय तथा शोषण से बचायेगा।" अनुच्छेद 275 के अन्तर्गत राज्य को केन्द्र सरकार से उन विकास कार्यक्रमों के लिये सहायता मिलेगी जो कि जनजातियों के कल्याण तथा उत्थान के लिये केन्द्र सरकार द्वारा अनुमोदित हैं। इसके अतिरिक्त जनजातीय क्षेत्रों की प्रशासन प्रणाली को अन्य क्षेत्रों की प्रशासन प्रणाली के स्तर तक उठाने में सहायता मिलेगी। अपनी जनजाति विकास योजनाओं को लागू करने के लिये सरकार ने एक तिहरी (three tier) प्रशासकीय व्यवस्था बनाई।

## (1) केन्द्र में प्रशासकीय व्यवस्था

सन् 1964 तक जनजाति कल्याण संबंधी सभी कार्यों का उत्तरदायित्व गृह मंत्रालय के पास था परन्तु इसके बाद कार्यों का भार, सामाजिक सुरक्षा विभाग की स्थापना करके, उसको सौंप दिया गया। गृह मंत्रालय के अन्तर्गत पिछड़े वर्ग के कल्याण व विकास के लिए एक नये विभाग के निर्माण की सलाह, इस वर्ग के सामाजिक कल्याण पर अध्ययन कर रहे एक दल ने दी थी। अनुच्छेद 339 के अन्तर्गत राष्ट्रपति द्वारा नियुक्त अनुसूचित जनजाति कमीशन ने जनजातिगत समस्याओं से निपटने के लिये गृह मंत्रालय से एक अलग विभाग बनाने की सलाह दी। शीलू आओ कमेटी की रिपोर्ट के अनुसार यह सलाह जनजातीय समुदायों के विकास को गतिशील बनाने के विचार से दी गई थी। जनजातीय कल्याण कार्यक्रमों को अनुसूचित जाति तथा अन्य पिछड़ी जातियों के कल्याण कार्यक्रमों से जोड़ना बिल्कुल भी व्यावहारिक नहीं था।

अनुसूचित जाति के पिछड़ेपन व समस्याओं का कारण गलत व अवसरवादी सामाजिक व्यवस्था है जबकिं जनजातियों तथा आदिवासियों के पिछड़ेपन का कारण कठिन भौगोलिक स्थितियाँ हैं। इसलिये जनजातियों की समस्याओं को समझने तथा उन्हें हल करने के लिए सामाजिक सुरक्षा विभाग बना तो इस विभाग को विधि मंत्रालय के अन्तर्गत रखा गया। गृह मंत्रालय ने अनुसूचित व जनजातीय क्षेत्रों के प्रशासन के अलावा सभी प्रकार के कल्याणकारी कार्यों का उत्तरदायित्व इस नये विभाग को दे दिया। इसके अतिरिक्त सामाजिक सुरक्षा विभाग को कुछ और कार्य भी दे दिये गये जो अब तक शिक्षा मंत्रालय, गृह मंत्रालय तथा श्रम सेवा नियोजन व उद्योग मंत्रालय द्वारा निष्पादित किये जाते थे। 1964 में इस विभाग का पुनर्गठन किया गया तथा इसे समाज कल्याण विभाग का नाम दे दिया गया। इसके द्वारा संचालित कई शिक्षा, वाणिज्य, तथा श्रम, सेवा नियोजन व पुनर्वास मंत्रालयों में हस्तांतरित कर दिये गये। 1967 में फिर फेर-बदल हुआ जब योजना आयोग, शिक्षा व गृह मंत्रालय के कुछ विषय तथा कार्य, समाज कल्याण विभाग के पास आ गये। समाज कल्याण अन्य विषयों के उत्तरदायित्व के साथ-साथ अनुसूचित जाति, अनुसूचित जनजाति, पिछड़े वर्ग तथा पूर्व अपराधी जनजाति के कल्याण के लिये भी उत्तरदायी है। अनुसूचित जाति व जनजाति क्षेत्र के प्रशासन तथा अनुसूचित जनजाति की सेवा तथा सुरक्षा से संबंधित सभी कार्य अब भी गृह मंत्रालय के पास ही थे। बाद में जनजाति विकास के लिये एक सम्पूर्ण निदेशक की नियुक्ति भी की गई।

1967 तक समाज कल्याण विभाग के पास ऐसी सुविधा तथा तकनीक नहीं थी जिससे अनुसूचित जातियों व जनजातियों के लिये विकास की योजनायें तैयार की जातीं तथा उन योजनाओं के राज्यों द्वारा लागू होने पर उनकी प्रगति पर दृष्टि रखी जा सकती। अनुसूचित जातियों तथा अनुसूचित जनजातियों के कल्याण के लिये नियुक्त कमिशनर ही इन कार्यों को अपने नियमित उत्तरदायित्वों के साथ-साथ परिणति दे रहे थे। इस व्यवस्था के असन्तोषजनक परिणामों के फलस्वरूप यह निर्णय लिया गया कि कमिशनर को तमाम कल्याणकारी योजनाओं पर दृष्टि रखने के उत्तरदायित्व से मुक्त किया जाये तथा यह दायित्व महानिदेशक 'पिछड़ा वर्ग कल्याण' के अन्तर्गत एक अलग संगठन को सौंप दिया जाये। इस व्यवस्था के अन्तर्गत अनुसूचित जातियों व जनजातियों के कमिशनर के क्षेत्रीय संगठन, जिसमें 17 क्षेत्रीय कार्यालय थे, की निदेशक-पिछड़ावर्ग कल्याण विभाग में स्थानान्तरित कर दिया गया। इसके पश्चात यह विभाग ''महानिदेशक पिछड़ा वर्ग कल्याण'' के नाम से जाना जाने लगा। इस स्थानांतरण के फलस्वरूप क्षेत्रीय कार्यालय को पांच आंचलिक कार्यालयों

में बाँटा गया तथा प्रत्येक कार्यालय का प्रधान एक आंचलिक निदेशक हुआ। इन सभी कार्यालयों का पूर्ण नियंत्रण महानिदेशक के कार्यालय से होता है। सभी आंचलिक निदेशकों के सहायक एक या अधिक उप निदेशक हैं जिनका कार्य राज्य सरकार से लगातार सम्पर्क बनाये रखना है जिससे कि कल्याणकारी योजनाओं को शीघ्रता से लागू किया जा सके।

इस प्रकार हम देखते हैं कि अनुसूचित जनजातियों सहित कमज़ोर वर्गों के कल्याण का कार्य अनेक मंत्रालयों/विभागों के अंतर्गत था। आबादी के इन वर्गों के विकास कार्य को अधिक तीव्र और संबंधित करने के लिए 25 दिसम्बर 1985 को एक नये "कल्याण मंत्रालय" का गठन किया गया। इस नये मंत्रालय के अन्तर्गत निम्नलिखित विषयों का भी समावेश किया गया, जैसे :

(1) अनुसूचित जातियाँ, अनुसूचित जनजातियाँ और सामाजिक एवं आर्थिक दृष्टि से पिछड़े वर्ग/अन्य पिछड़े वर्ग, धार्मिक एवं भाषायी अल्पसंख्यक जिनके हित-संरक्षण का कार्य पहले गृह मंत्रालय के पास था।

(2) विकलांगों (नेत्रहीन, मूक, बधिर तथा शारीरिक एवं मानसिक रूप से अक्षम) के कल्याण से संबंधित कार्य तथा सामाजिक सुरक्षा कार्यक्रम (मदिरापान और नशीले ड्रग्स की लतों, किशोरावस्था में पड़ जाने वाली बुरी आदतों और बूढ़ों के कल्याण से संबंधित कार्य) जो पहले सामाजिक एवं महिला कल्याण विभाग के अंतर्गत थे।

(3) वक्फ़ प्रशासन जो पहले विधि मंत्रालय के पास था। महिला एवं बाल विकास विभाग को 26 अप्रैल 1990 के कल्याण मंत्रालय के अंतर्गत कर दिया गया जहाँ उसका कल्याण विभाग और महिला एवं बाल विकास विभाग के रूप में नये सिरे से गठन किया गया। इस तरह हम देखते हैं कि अनुसूचित जनजातियों से संबद्ध मामलों का केन्द्र-बिन्दु कल्याण मंत्रालय ही था।

चूंकि इस मंत्रालय के कार्यक्रमों का ज्यादा बल समाज के कमजोर और आर्थिक तथा सामाजिक दृष्टि से दीन-हीन तबकों पर था, कल्याण मंत्रालय का नाम बदलकर 1998 में सामाजिक न्याय और अधिकारिता मंत्रालय (Ministry of Social Justice and Empowerment) कर दिया गया। इसे अनुसूचित जातियों, जनजातियों, अल्पसंख्यकों, पिछड़े वर्गों, विकलांगों, वृद्धों, बेघर बच्चों तथा नशा पीड़ित लोगों जैसे समाज के दीन हीन एवं कमजोर वर्गों के कल्याण, सामाजिक न्याय और सबलीकरण का दायित्व सौंपा गया।

## वर्तमान प्रणाली

परन्तु एक और परिवर्तन का हाल में सूत्रपात किया गया है। अब पहली बार एक अलग और स्वतंत्र *जनजातीय मामलों के* मंत्रालय (Ministry of Tribal Affairs) का सृजन किया गया है। सामाजिक न्याय एवं अधिकारिता मंत्रालय से अलग करके अक्तूबर, 1999 में इसकी नींव रखी गयी है।

## जनजातीय मामलों के मंत्रालय का अनुदेश (मैंडेट)

1. अनुसूचित जनजातियों के लिए सामाजिक सुरक्षा और निर्विघ्न जीवन का निश्चित आश्वासन,
2. जनजातीय कल्याणः जनजातीय कल्याण नियोजन, परियोजना निर्माण, शोध, मूल्यांकन, सांख्यिकी और प्रशिक्षण।
3. जनजातीय कल्याण पर स्वयंसेवी प्रयासों को प्रोत्साहन और इनका विकास।
4. इन जनजातियों से संबद्ध छात्रों को छात्रवृत्ति की सुविधा।
5. अनुसूचित जनजातियों का विकास।
6. इस सूची में निर्दिष्ट विषयों में से किसी से संबंधित संयोजी अथवा अधीनस्थ कार्यालयों या अन्य संगठनों की स्थापना।
7. (i) अनसूचित क्षेत्र
   (ii) सड़कों और निर्माणाधीन पुलों तथा उनपर स्थित घाटों (फेरीज़) के अलावा असम के स्वायत जिलों से संबंधित मुद्दे; और
   (iii) संविधान की छठी अनुसूची के पैरा 20 से संबद्ध तालिका के भाग 'ए' में निर्दिष्ट अनुसूचित क्षेत्रों एवं जनजातीय क्षेत्रों के लिए राज्यों के राज्यपालों द्वारा बनाए गए विधान।
8. (i) अनुसूचित क्षेत्रों के प्रशासन और अनुसूचित जनजातियों के कल्याण पर रिपोर्ट प्रस्तुत करने वाला आयोग; और
   (ii) किसी राज्य में अनुसूचित जनजातियों के कल्याण के लिए आवश्यक योजनाओं की रूपरेखा तैयार करने तथा उन्हें क्रियान्वित करने से संबंधित निर्देश जारी करना।
9. अनुसूचित जनजातियों के संबंध में 'राष्ट्रीय अनुसूचित जाति और अनुसूचित जनजाति आयोग' की रिपोर्ट।

## टिप्पणी

अनुसूचित जनजातियों से संबद्ध संभागीय (sectoral) कार्यक्रमों और विकास योजनाओं, नीति नियोजन, मानीटरिंग, मूल्यांकन आदि की दृष्टि से उनके विकास कार्यक्रमों के नीति-निर्धारण, नियोजन तथा संयोजन या समन्वयन के लिए जनजातीय मामलों का मंत्रालय 'नोडल' मंत्रालय का काम करेगा। उनके संयोजन (कोआर्डिनेशन) के लिए संबद्ध केन्द्रीय मंत्रालय/विभाग, राज्य सरकार और केन्द्र शासित प्रदेश या संघ राज्य के प्रशासन भी जिम्मेदार होंगे। प्रत्येक केन्द्रीय मंत्रालय/विभाग अपने संभाग (Sector) के संदर्भ में 'नोडल' मंत्रालय या विभाग का काम करेगा।

## अनुसूचित जाति व अनुसूचित जनजाति आयुक्त

अनुच्छेद 338 के अन्तर्गत 1950 से एक विशेष अधिकारी नियुक्त था जो कि कमिशनर फॉर शिड्यूल्ड कास्ट एण्ड शिड्यूल्ड ट्राइब्ज के नाम से जाना जाता था। धेबर कमीशन के अनुसार कमिशनर का कार्यालय जनजातीय कल्याण योजनाओं में एक विशेष मान्यता रखता था। यह कार्यालय संविधान तथा केन्द्रीय व राज्य सरकार के बीच सम्पर्क बनाये रखने का साधन भी था।

यह कार्यालय एक ऐसा माध्यम था जिसके द्वारा केन्द्र सरकार तथा लोकसभा को अनुसूचित जनजातियों की सुरक्षा तथा कल्याणकारी योजनाओं की प्रगति की सूचना मिलती रहती थी।

## कार्य

अनुच्छेद 338 के अनुसार कमिशनर का कार्य सुरक्षा तथा कल्याणकारी योजनाओं पर दृष्टि रखना तथा वार्षिक रिपोर्ट तैयार करके उसे राष्ट्रपति के समक्ष प्रस्तुत करना है। इस रिपोर्ट पर लोकसभा में भी चर्चा होती है। गवर्नर की ही रिपोर्ट की भाँति इस रिपोर्ट का आशय भी राष्ट्रपति, लोकसभा तथा केन्द्रीय सरकार को, अपने दायित्वों को संवैधानिक रूप से निभाने में सहायता करना है। केन्द्रीय सरकार ने कमिशनर को रिपोर्ट के स्वरूप या विषय से संबंधित कोई भी निर्देश नहीं दिये हैं। संभवतः केन्द्र सरकार इस मामले में कमिशनर पर किसी प्रकार का दबाव नहीं डालना चाहती। इसके फलस्वरूप प्रत्येक वर्ष लोकसभा में एक दस्तावेज़ प्रस्तुत होता है जिसमें अनुसूचित क्षेत्रों तथा कल्याणकारी योजनाओं की सफलता, असफलता तथा प्रशासन की कमियों का वर्णन एक कथानक के रूप में होता है।

दो उपायुक्त तथा एक सहायक आयुक्त तथा कुछ शोध व सहायक कर्मचारी आयुक्त के सहायक के रूप में काम करते हैं। 1967 में जब आयुक्त के कार्यालय का पुनर्गठन हुआ तो इस बात पर भी ध्यान दिया गया कि कमिशनर चुनी हुई समस्याओं पर विशेष अध्ययन के लिए विभिन्न विश्वविद्यालयों, शोध संस्थाओं, स्वैच्छिक संस्थाओं तथा अन्य संस्थाओं की सेवायें प्राप्त कर सकता है। इस प्रकार के अध्ययन पर हुये व्यय की प्रतिपूर्ति के लिये आवश्यक प्रावधानों को कमिशनर के अधिकारों में सम्मिलित कर देना चाहिये। अनुसूचित जनजातियों तथा अनुसूचित जातियों की समस्याओं के मूल रूप से भिन्न होने के कारण अनुसूचित क्षेत्र तथा अनुसूचित जनजाति आयोग ने अनुसूचित जनजाति के लिये एक अलग (कमिशनर) आयुक्त की माँग की। इस सलाह को ध्यान में रखते हुये शीलू आओ कमेटी ने राय दी कि यदि आवश्यक हो तो संविधान के अनुच्छेद 338 को संशोधित करके उसमें दो विशेष अधिकारों का प्रावधान किया जा सकता है—एक अनुसूचित जातियों के लिये तथा एक अनुसूचित जनजातियों के लिये।

## गैर वैधानिक (Non- Statutory) कार्य

गृह मंत्रालय के साथ बाद में हुये समझौते के फलस्वरूप कमिशनर अपने संवैधानिक कार्यों के साथ-साथ निम्न कार्यों का भी उत्तरदायी है :-

1. राज्य सरकार की उन सभी कल्याणकारी योजनाओं की प्रगति का मूल्यांकन जिन्हें केन्द्र सरकार से सहायता मिली हो।
2. केन्द्र से सहायता प्राप्त कर रही गैर-सरकारी संस्थाओं की कार्यकारिणी समिति में केन्द्र सरकार का प्रतिनिधित्व करना।
3. केन्द्र से सहायता प्राप्त कर रही गैर-सरकारी संस्थाओं का लेखा-परीक्षण करना तथा
4. राज्य सरकारों द्वारा प्रस्तावित योजनाओं के संबंध में केन्द्र सरकार को सलाह देना।

संविधान (65वाँ संशोधन) अधिनियम 1990 द्वारा 'विशेष अधिकारी' के स्थान पर "अनुसूचित जातियों और अनुसूचित जनजातियों के राष्ट्रीय आयोग" की व्यवस्था की गयी। आयोग में अध्यक्ष, उपाध्यक्ष और पाँच सदस्य होंगे जो राष्ट्रपति द्वारा नियुक्त किये जायेंगे। आयोग को अपनी कार्यपद्धति अपने आप सुनिश्चित करने का अधिकार है। आयोग के कर्तव्यों और अन्य कार्यों पर विस्तार से प्रकाश डाला गया है। पाठकगण तुलनात्मक अध्ययन करके विवर्तनों और परिवर्तनों को समझ सकते हैं।

## अनुसूचित जनजातियों का राष्ट्रीय आयोग

इस महत्वपूर्ण आयोग का गठन संविधान के अनुच्छेद 338 में संशोधन के द्वारा एक नये अनुच्छेद 338 के अंतर्गत हुआ था। इस संशोधन के द्वारा वर्ष 2003 में अनुसूचित जातियों व अनुसूचित जनजातियों के राष्ट्रीय आयोग को दो भागों में बांट दिया गया—(i) अनुसूचित जनजातियों का राष्ट्रीय आयोग व (ii) अनुसूचित जनजातियों का राष्ट्रीय आयोग। इस प्रकार 19 फरवरी, 2004 को यह दोनों आयोग गठित हो गए।

आयोग का मुख्यालय दिल्ली में है तथा छः राज्यों में इस के क्षेत्रीय कार्यालय हैं। आयोग के कार्य, कर्त्तव्य, व अधिकार निम्न हैं—

- अनु. जनजातियों के लिए सभी संविधानिक सुरक्षाओं के कार्यान्वयन की समीक्षा व अनुश्रवण
- अनु. जनजातियों की शिकायतों की पड़ताल व निवारण
- अनु. जनजातियों के विकास के लिये नियोजन में हिस्सेदारी, तथा उन के सामाजिक-आर्थिक विकास का मूल्यांकन
- प्रतिवर्ष भारत के राष्ट्रपति को अनु. जनजातियों के लिये सुरक्षात्मक प्रावधानों की समीक्षा पर रिपोर्ट प्रस्तुत करना
- राष्ट्रपति द्वारा निर्देशित किसी भी कार्य का निर्वहन

आयोग की धारा (9) के अनुसार केंद्र तथा राज्य सरकारों को अनु. जनजातियों से संबंधित नीतिगम मामलों में आयोग से परामर्श करना होगा।

## अन्य मंत्रालय

गृह मंत्रालय, शिक्षा मंत्रालय व समाज कल्याण मंत्रालय के अतिरिक्त खाद्य, कृषि, सामुदायिक विकास तथा सहकारिता मंत्रालय और योजना आयोग भी किसी न किसी सन्दर्भ में अनुसूचित जनजातियों से संबंधित कार्य में अपना योगदान देते हैं। इस प्रकार सरकारी नियुक्तियों में आरक्षण तथा अनुसूचित व जनजाति क्षेत्रों का प्रशासनिक कार्य गृह मंत्रालय के अन्तर्गत आता है। शिक्षा मंत्रालय अनुसूचित जातियों व अनुसूचित जनजातियों के लिये विदेशों में छात्रवृत्ति की व्यवस्था करता है। सामुदायिक विकास विभाग का संबंध राज्यों में कार्य कर रहे जनजाति विकास खण्डों से है। योजना आयोग में पिछड़े वर्गों तथा अनुसूचित जनजातियों के कल्याण का कार्य संयुक्त सचिव द्वारा संयुक्त निदेशक की सहायता से निष्पादित होता है।

## (2) राज्य स्तर पर व्यवस्था

संविधान के अनुच्छेद 164 के अनुसार बिहार, मध्य प्रदेश तथा उड़ीसा में जनजाति कल्याण मंत्रालय मंत्रियों के नेतृत्व में पूर्ण रूप से कार्य कर रहे हैं। इससे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि संविधान बनाते समय इस बात का विशेष ध्यान रखा गया था कि जनजातीय लोगों की ओर उपयुक्त ध्यान दिया जा सके, विशेषतया उन क्षेत्रों में जहाँ उनकी जनसंख्या अधिक है।

जनजातीय कार्यक्रमों में लगी प्रशासनिक व्यवस्था अलग-अलग राज्यों में भिन्न-भिन्न है। जबकि मध्य प्रदेश व पश्चिमी बंगाल में जनजाति व हरिजन कल्याण विभाग, असम में अनुसूचित क्षेत्र व पिछड़ा वर्ग कल्याण विभाग तथा बिहार में कल्याण विभाग हैं, अन्य राज्यों में जनजातीय कल्याण कार्यक्रमों को चलाने का उत्तरदायित्व समाज कल्याण विभाग निदेशालयों पर है।

राज्य सचिवालयों में इस संगठन व्यवस्था का निरीक्षण करने के पश्चात् अनुसूचित क्षेत्र तथा अनुसूचित जनजाति आयोग ने उन राज्यों में पृथक् जनजातीय कल्याण विभाग बनाने पर अधिक बल दिया है, जहाँ की जनजातीय जनसंख्या 10 लाख से अधिक हैं। इस सलाह से कुछ ऐसे राज्य प्रभावित होंगे जो अनुच्छेद 164 के अन्तर्गत नहीं आते परन्तु जिनकी जनजातीय जनसंख्या पर्याप्त संख्या में है।

इसके साथ-साथ अन्य कई राज्यों में चल रहे जनजातीय विकास व कल्याण कार्यक्रमों को एक गति मिलेगी। इस विभाग पर समाज कल्याण, अनुसूचित जाति, पिछड़े वर्ग के कल्याण का भार नहीं डालना चाहिये क्योंकि जनजातीय कल्याण योजनायें विकास के सभी पहलुओं को ध्यान में रखकर बनाई जाती हैं जिसके कारण ये समाज कल्याण की योजनाओं की प्रकृति से भिन्न होती हैं। विभाग को केवल नीति निर्धारण करने, समन्वय स्थापित करने तथा प्रदेश में गृह मंत्रालय के विभाग का प्रतिरूप होने का कार्य करना चाहिए।

## (3) ज़िला तथा निचले स्तर की व्यवस्था

जनजातियों के लिये बनी सभी योजनाओं तथा कल्याणकारी कार्यक्रमों को प्रभावी रूप से लागू करने का कार्य ज़िला स्तर पर होता है। ज़िलाधिकारी, उसके सहायक कर्मचारी तथा उस स्तर पर कार्य कर रहे अन्य विभागों के अधिकारी मिलकर एक अधिशासी संस्था बनाते हैं। कल्याणकारी व विकास कार्यक्रमों को लागू कर उन्हें गति देना बहुत कुछ इस संस्था की कार्यक्षमता पर निर्भर करता है। इस समय जिला स्तर की संस्थाओं में कोई समानता नहीं है।

अधिकतर, कलेक्टर जिले का प्रभारी अधिकारी होता है। विभिन्न विभागों तथा विकास की गतिविधियों का उत्तरदायित्व कलेक्टर पर ही होता है। इन संस्थाओं की विविधता, इनकी स्वतन्त्रता तथा समन्वय की कमी के कारण कलेक्टर कुछ अधिक करने की स्थिति में नहीं रह जाता। ऐसी स्थितियों में एक समाज कल्याण अधिकारी है, जो समन्वय के कार्य को सुचारु रूप से करने के साथ समय-समय पर कलेक्टर को योजनाओं की प्रगति से अवगत कराता रहता है। कुछ राज्यों में उपायुक्त एक मण्डल का मुखिया है तथा सभी विकास कार्यों का प्रभारी अधिकारी है। उसके कार्यों में उसके नियन्त्रण में कार्य कर रहे उपमण्डलीय अधिकारी तथा तकनीकी अधिकारी उसकी सहायता करते हैं। इस कारण नियमों तथा विकास योजनाओं को लागू करने तथा उनको सुचारु रूप से चलाने में सक्षम हो जाता है। इस तरह की व्यवस्था को एकांगी प्रशासन कहा जा सकता है। कुछ अन्य राज्यों में अनुसूचित क्षेत्रों को अलग-अलग जिलों में विभाजित करके, उपायुक्त को अनेक अधिकार देकर उसे प्रभारी अधिकारी बना दिया जाता है। इस प्रकार की व्यवस्था, कुछ राज्यों में जहां कठिन प्राकृतिक परिस्थितियों के कारण समय पर सरकारी आदेश मिलना कठिन है, अत्यन्त उपयोगी सिद्ध हुई है।

आजकल सभी राज्यों व केन्द्र शासित प्रदेशों में ग्राम पंचायतें हैं। लोकतान्त्रिक विकेन्द्रीकरण के प्रभाव में आने से कल्याण व विकास की विभिन्न योजनायें ग्राम पंचायतों के पास आ गई हैं। ग्राम पंचायतों की सहायता से विकास की योजनाओं का मौलिक स्तर पर क्रियान्वयन ग्रामीण क्षेत्रों में तो सफलतापूर्वक हुआ है परन्तु जनजातीय क्षेत्र, विशेषतया पिछड़े जनजातीय क्षेत्र अब भी इन योजनाओं के सफल क्रियान्वयन की प्रतीक्षा कर रहे हैं। इस असंतोषजनक प्रगति का कारण है यह नयी व्यवस्था जो जनजातियों की प्रथाओं व परंपराओं को महत्त्व नहीं देती, जिसके फलस्वरूप ये सभी योजनायें जनजातीय लोगों को अनुपयुक्त लगती हैं।

## जनजातीय सलाहकार समिति

संविधान की पाँचवीं अनुसूची में किये गये प्रावधान के अनुसार, आंध्र प्रदेश, बिहार, गुजरात, मध्य प्रदेश, महाराष्ट्र, उड़ीसा तथा राजस्थान जैसे जनजाति क्षेत्रों वाले सभी राज्यों में जनजातीय सलाहकार समिति का गठन किया गया है। इस प्रकार की समिति उत्तर प्रदेश, तमिलनाडु तथा पश्चिमी बंगाल में भी गठित की गई है जहाँ पर जनजाति क्षेत्र नहीं हैं परन्तु जनजातियाँ हैं। इन जनजातीय सलाहकार समितियों का प्रारूप लगभग उसी प्रकार है जैसा कि अन्य राज्यों तथा केन्द्र शासित प्रदेशों में जनजाति सलाहकार समितियों का है। जिन क्षेत्रों में अनुसूचित जनजातियों के लिए

इस प्रकार की विशेष समिति नहीं है वहाँ जनजातीय हितों की देखभाल सामान्य सलाहकार परिषद करती है। जनजातीय सलाहकार समिति की संरचना अधिक से अधिक 20 सदस्यों द्वारा होती हैं। उसके साथ इस बात का भी प्रयत्न किया जाता है कि लगभग दो-तिहाई सदस्य ऐसे हों जो विधान सभा में अनुसूचित जनजातियों का प्रतिनिधित्व करते हों। उनकी नियुक्ति से संबंधित नियमों के बनने में राज्यपाल महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाता है। परंपरा के अनुसार राज्य का मुख्यमंत्री ही समितियों व संगठनों का अध्यक्ष होता है जिसका सकारात्मक प्रभाव जनजातीय प्रतिनिधियों के आत्मविश्वास पर पड़ता है। धेबर कमीशन ने भी इस परंपरा का समर्थन करते हुये सुझाव दिया है कि किसी भी जनजातीय सलाहकार समिति का अध्यक्ष ऐसे ही व्यक्ति को होना चाहिए जिसका प्रभाव सभी विभागों पर हो क्योंकि कल्याण योजनाओं को लागू करने की प्रक्रिया में विभिन्न विभागों की सेवाओं तथा उनकी सहायता की आवश्यकता पड़ती है।

## कुछ प्रशासनिक विषय

अभी तक प्रशासक यह नहीं समझ पाये थे कि विकास कार्यों का प्रशासनिक कार्य सामान्य प्रशासनिक कार्यों से भिन्न था। विशेषतया जनजातीय विकास कार्यों का प्रशासन और भी कठिन था, क्योंकि इन विकास कार्यों का उद्देश्य अत्यधिक पिछड़े समुदायों के विशेष हितों की रक्षा करना है तथा उस पर अधिक ध्यान देना है। इस प्रकार के लक्ष्य की प्राप्ति सामान्य (नियमित) प्रशासकों के द्वारा नहीं की जा सकती। अतः यह परम आवश्यक है कि जनजातीय विकास के लक्ष्य की पूर्ति के लिये शासकों का चयन अत्यधिक सावधानी से किया जाना चाहिये। इन कार्यों में ऐसे ही लोग प्रभावशील हो सकते हैं जो जनजातीय क्षेत्र के लोगों के कल्याण के लिए समर्पित हों। इसके साथ-साथ जनजातीय क्षेत्र ऐसे प्रशासकों को अपने नित्य कार्यों से अलग हट कर कुछ रचनात्मक कार्य करने का समुचित अवसर भी देते हैं। दुर्भाग्यवश इस प्रकार के प्रशासकों की संख्या अधिक नहीं है। एच. एम. माथुर (1981) के विचार से इस प्रकार के लोगों की संख्या अधिक होनी चाहिए जिन्हें ऐसी दिनचर्या व फार्म आकर्षित करते हों और जो जनजाति विकास कार्यों से संबंधित हों। परन्तु अधिकतर कार्मिक नीतियां तथा पद्धतियां अच्छे कार्यकर्त्ताओं का उत्साह बढ़ाने तथा विकास योजनाओं से जोड़ने में असफल रही हैं। इसके अतिरिक्त चयन, प्रशिक्षण, नियुक्ति तथा जीवन वृत्ति के प्रारूप (कैरियर पैटर्न) के प्रति नगरीय झुकाव भी इस प्रकार के कार्यों के प्रति रुचि में कमी का एक कारण हैं। जनजातीय विकास कार्यक्रमों से अधिक से अधिक लोगों को जोड़ने के लिए वर्तमान नीतियों में संशोधन की आवश्यकता है।

कई स्थानों पर जहाँ विकास योजनायें या तो असफल हो गई हैं या उनकी प्रगति असंतोषजनक है, इसका दायित्त्व संस्थाओं व असफल प्रशासन पर है। अर्द्ध-विकसित जनजातियों पर टिप्पणी करते हुये एस. के. शर्मा (1981) ने कहा कि विकेन्द्रित जनजाति विकास प्रबंधन (Decentralized Tribal Development Management) बहुआयामी ढांचे (Multi-tier Structure) की स्थापना, अन्तर्संस्थान सम्पर्क (Inter Institutional Linkage) की समस्या को जन्म देती है। जनजातीय क्षेत्रों में प्रशासन प्रणाली अधिकतर एक सूत्रीय प्रशासन पद्धति के आधार पर है। विकास कार्यक्रमों में एक समय पर ही विभिन्न स्थानों पर अलग-अलग गतिविधियां होती हैं जिनका प्रशासनिक समन्वय व एकीकरण संभव नहीं था। लम्बे समय से एक केन्द्रीय प्रशासनिक ढाँचा बनाये रखने की प्रवृत्ति रही है जिसका ध्यान जनजाति क्षेत्रों पर बहुत कम जाता है, परन्तु नयी चुनौतियों ने प्रशासनिक संस्थाओं का ऐसा तन्त्र बनाया है जो भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में कार्य कर रहा है। कार्मिक प्रशासन के केन्द्रीकरण के इस परिवर्तन का अपना आशय है।

आर्थिक अनुदानों तथा पैसा मिलने की पुरानी तथा घिसी-पिटी प्रणाली के कारण भी कई संस्थागत तथा प्रशासकीय रुकावटें आती हैं। प्रशासन को कसी हुई प्रणाली की सम्मिलित प्रबन्ध प्रणाली के महत्त्व को समझना चाहिये। यह प्रणाली विभिन्न व्यवसायों तथा विभागों के अधिकारियों को एक मंच देगी जहां पर विकास कार्यक्रमों को लागू करने के उत्तरदायित्व को सभी एक साथ निभायेंगे।

# 31

# शोध व प्रशिक्षण

शोध व प्रशिक्षण किसी जनजातीय विकास तथा प्रशासकीय योजना के महत्त्वपूर्ण घटक हैं। यह दोनों ही योजना के प्रारम्भ से लेकर लागू होने तक तथा उसके बाद के परिणामों को बनाने में अत्यधिक महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। इन परिणामों से ही योजना की सफलता का मूल्यांकन होता है तथा यह भी पता चलता है कि हमें कितनी सफलता मिली और अपेक्षित परिणामों के लिये अभी कितने प्रयास करने हैं। धेबर कमीशन की रिपोर्ट के अनुसार जनजातीय विकास एवं कल्याण की सभी योजनायें प्रकृति के अनुसार होनी चाहिए। इसके लिये हमें उनके रहन-सहन, संस्कृति तथा धर्म आदि की प्रारम्भिक जानकारी होनी चाहिये जिससे विकास के कार्यक्रम जनजातियों की आवश्यकताओं व आशाओं के अनुरूप हों। जनजातियों के इन पहलुओं पर शोध कार्य किसी भी सफल योजना के लिये पूर्वापेक्षित है।

## शोध

जनजातियों के सामाजिक संगठन, मूल्यांकन तथा संस्कृति के अन्य पहलुओं पर शोध, एक महत्त्वपूर्ण आयाम है। इस प्रकार के शोध के विभिन्न पहलू हैं। शोध द्वारा किसी भी जनजाति के सामाजिक संगठन तथा अर्थव्यवस्था का ज्ञान, उनका रहन-सहन, कलायें तथा हस्तकलायें, भाषा, स्वास्थ्य तथा खान-पान आदि की सूचना मिलती है। इस प्रकार के शोध से सूचना/जानकारी प्राप्त होने के साथ-साथ जनजातीय विकास की योजनाओं को प्रारूप देने में सहायता भी मिलती है। इसके अतिरिक्त उस क्षेत्र की आर्थिक सक्षमता की जानकारी के साथ-साथ इस बात का भी ध्यान रखना चाहिये कि किस प्रकार क्षेत्रीय लोगों की क्षमता व योग्यता के सम्मिश्रण से जनजातीय अर्थव्यवस्था का विकास करके इन लोगों का जीवन स्तर ऊँचा किया जाय। सभी कल्याणकारी परिणामों का मूल्यांकन उनके लक्ष्य निर्धारण तथा योजनाओं को गति देने के दृष्टिकोण से करना चाहिये। जनजातियों के अन्य समाज के साथ घुलने-मिलने में इस प्रकार की विकास योजनायें कितनी सहायक सिद्ध हैं, यह जानने

के लिये जनजातियों के व्यक्तित्व पर इन योजनाओं के प्रभाव का अध्ययन करना भी आवश्यक है। सरकारी एवं गैर-सरकारी दोनों माध्यमों के प्रति आदिवासियों की प्रतिक्रिया अत्यन्त महत्त्वपूर्ण एवं निर्णायक होती है क्योंकि इन्हीं प्रतिक्रियाओं पर सभी विकास एवं कल्याणकारी योजनाओं का भविष्य निर्भर करता है। वर्तमान समय में जनजातीय कल्याण तथा नृजाति विज्ञान से संबंधित विभिन्न विषयों पर शोध कार्य निम्न संस्थाओं द्वारा किया जा रहा है :

### 1. सरकारी संस्थायें

(अ) सांस्कृतिक/जनजातीय शोध संस्थान

(ब) गृह मंत्रालय, केन्द्रीय सरकार

### 2. अन्य संस्थायें

(अ) विश्वविद्यालय

(ब) गैर-सरकारी संगठन

जनजातीय जीवन एवं समस्याओं पर शोधकार्य कर रही कुछ संस्थाओं का संक्षेप में वर्णन :-

### (1) जनजातीय शोध संस्थान, बिहार

सामाजिक, आर्थिक सर्वेक्षण तथा अध्ययन के साथ-साथ यहाँ एक अभिविन्यास केन्द्र (ओरियेंटेशन सेंटर) भी है जहाँ कल्याणकारी गतिविधियों से संबंधित कर्मचारियों को प्रशिक्षण दिया जाता है।

### (2) जनजातीय शोध संस्थान, मध्य प्रदेश

यह संस्थान सामाजिक व आर्थिक सर्वेक्षणों का संचालन करने, योजनाओं का मूल्यांकन करने के साथ-साथ जनजातीय कल्याणकारी योजनाओं में कार्यरत कर्मचारियों को अभिविन्यास प्रशिक्षण (ओरियेंटेशन ट्रेनिंग) की व्यवस्था भी करता है।

### (3) जनजातीय शोध ब्यूरो, उड़ीसा

यह संस्थान जनजातीय जीवन के अध्ययन के अतिरिक्त विभिन्न जनजातीय कल्याणकारी योजनाओं का मूल्यांकन भी करता है।

## (4) सांस्कृतिक शोध संस्थान, पश्चिम बंगाल

यहाँ विभिन्न सामाजिक व आर्थिक अध्ययनों के अतिरिक्त जनजातीय भाषाओं पर भाषा शास्त्रीय (फिलोलॉजिकल) अध्ययन की व्यवस्था है जिससे कि इन भाषाओं की प्रवेशिकायें (Primers) तैयार की जा सकें। इन सभी कार्यों के साथ-साथ यहाँ पर योजनाओं का मूल्यांकन भी होता है।

## (5) जनजातीय शोध संस्थान, आंध्र प्रदेश

जनजातियों के मनोवैज्ञानिक, सामाजिक व आर्थिक सर्वेक्षण तथा अध्ययन के साथ यहाँ लोक गीतों को संग्रहित किया गया है।

इन केन्द्रों के अतिरिक्त असम, गुजरात, महाराष्ट्र व राजस्थान की सरकारों ने भी जनजातीय शोध संस्थान स्थापित किये हैं। हाल ही में, उत्तर प्रदेश हरिजन एवं समाज कल्याण निदेशालय के तत्त्वावधान में शोध एवं मूल्यांकन की एक विशेष शाखा का गठन किया गया है। जनजातीय क्षेत्रों में सर्वेक्षण के साथ-साथ यह शाखा मूल्यांकन का भी कार्य करती है।

इन सभी संस्थाओं के अतिरिक्त शोध इकाइयाँ शिलांग में उत्तर पूर्व सीमांत संस्थान (अब अरुणाचल प्रदेश) द्वारा तथा कोहिमा में नागा सांस्कृतिक संस्थान, नागालैण्ड सरकार द्वारा स्थापित की गई हैं।

भारतीय मानववैज्ञानिक सर्वेक्षण संस्थान (एंथ्रोपोलॉजिकल सर्वे ऑफ इंडिया), रजिस्ट्रार जनरल ऑफ इंडिया की हस्तकला एवं सामाजिक अध्ययन इकाई, राष्ट्रीय शैक्षिक शोध एवं प्रशिक्षण संस्थान (एन.सी.ई.आर.टी.) की जनजातीय शैक्षिक इकाई तथा लखनऊ, रायपुर, बड़ौदा, उदयपुर व राँची विश्वविद्यालय जैसे संस्थान भी जनजातीय शोध कार्य में लगे हैं। बहुत-सी गैर-सरकारी संस्थायें भी जनजातीय कल्याण के क्षेत्र में सर्वेक्षण व शोध का कार्य कर रही हैं। इन्हें सरकार से कुछ अनुदान भी मिलता है। इन संस्थाओं में मुख्य हैं - उदयपुर का भारतीय लोक कला मंडल तथा नेशनल कौंसिल ऑफ अप्लाइड एकोनामिक्स रिसर्च, नयी दिल्ली। भारतीय लोक कला मंडल ने राजस्थान के आदिवासियों पर कुछ वृत्त चित्र बनाये हैं। इसके अतिरिक्त इस संस्था ने विंध्य प्रदेश तथा मध्य प्रदेश के महाकौशल क्षेत्र में कुछ जनजातियों के बीच सांस्कृतिक सर्वेक्षण भी किया है। लोक कला मंडल ने मध्य प्रदेश की 12 जनजातियों की सर्वेक्षण रिपोर्ट तैयार कर ली है। इन कार्यों के लिये सरकार ने कुछ अनुदान भी दिया था। नेशनल कौंसिल ऑफ एप्लाइड एकोनामिक्स रिसर्च भी इस क्षेत्र में प्रशंसनीय कार्य कर रही है। इस संस्था ने मध्य प्रदेश के अनुसूचित क्षेत्रों

तथा अनुसूचित जनजातियों जैसे बालाघाट, बेतुल, छिन्दवाड़ा, दुर्ग, बस्तर, मंडला, रायगढ़, धार तथा रायसेन आदि जिलों में सामाजिक व आर्थिक सर्वेक्षण के अतिरिक्त अन्य संबंधित विषयों में भी अध्ययन किया है।

आगरा, मुम्बई, नागपुर, पटना, मद्रास आदि कुछ ऐसे विश्वविद्यालय हैं जहां मानवविज्ञान विभाग के पूर्ण रूप से कार्यरत होने के साथ-साथ जनजातीय जीवन तथा संस्कृति पर शोध कार्य भी किये गये हैं।

जनजातीय शोध से संबंधित कोई भी कार्य या समीक्षा, जनसंख्या विभाग द्वारा किये गये बहुमूल्य कार्यों की सहायता के बिना अधूरी ही रहेगी। जनसंख्या विभाग ने अनुसूचित जनजातियों के आँकड़े, उनकी जनसंख्या, लिंगानुपात, ग्रामीण-नगरीय विभाजन, व्यावसायिक वितरण, साक्षरता स्तर तथा धर्म आदि को ध्यान में रखकर बनाये हैं। इसके अतिरिक्त इस विभाग ने इस देश के अलग-अलग भागों के 300 गांवों से संबद्ध जनजातियों पर नृजातीय (एथनोग्राफ़िक) लेख तथा जनजातीय हस्तकला व सामाजिक-आर्थिक स्थितियों पर विनिबंध (मोनोग्राफ) तैयार किये हैं। इस प्रकार जनगणना के समय एकत्रित सूचनाओं ने अनुसूचित जनजातियों की समस्याओं के अध्ययन में अत्यधिक महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई तथा इस प्रकार के अध्ययन को एक गति प्रदान की। इन तथ्यों से एक बात सामने आती है कि जनगणना से संबंधित सभी संस्थाओं को अनुसूचित जनजातियों के विकास हेतु बन रही सभी योजनाओं तथा संबद्ध क्रियाकलापों से जोड़ना चाहिये।

विभिन्न जनजातीय शोध संस्थाओं द्वारा किये गये कार्यों की समीक्षा करते हुये शीलू आओ कमेटी ने कहा कि यद्यपि यह सभी संस्थायें उपयोगी कार्य कर रही हैं परन्तु इनमें से कुछ की रुचि शैक्षिक कार्य करने में है, जबकि कुछ और संस्थायें समय-समय पर आँकड़े एकत्र करने में अधिक समय लगाती हैं जो कि शोध कार्य में लगाना चाहिये। आँकड़े एकत्र करने का कार्य राज्य सरकार की प्रगति, मूल्यांकन एवं समन्वय शाखायें अधिक उपयुक्त तरीके से कर सकती हैं।

आंध्र प्रदेश, असम, गुजरात, मध्य प्रदेश, उड़ीसा तथा पश्चिमी बंगाल ऐसे राज्य हैं जिनमें जनजातीय शोध केन्द्र इनकी राजधानियों में स्थित हैं जबकि कुछ अन्य राज्यों में राजधानियों से दूरी पर स्थित हैं। जैसे महाराष्ट्र का शोध केन्द्र पूना में तथा राजस्थान का उदयपुर में स्थित हैं। कुछ विशेषज्ञों का विचार है कि यदि यह शोध केन्द्र उन्हीं जनजातीय क्षेत्रों के बीच स्थित हों तो जनजातीय समस्याओं का अध्ययन अधिक गहनता से किया जा सकता है।

जनजातीय कल्याण विभाग ने किसी भी शोध संस्थान के अध्ययन का सही

उपयोग नहीं किया। कल्याण विभाग की वे योजनायें जो असफल हो गयीं या आशातीत फल न दे सकीं, इन अध्ययनों के प्रकाश में अपनी त्रुटियों का आभास कर सकतीं थी जिससे भविष्य में ऐसी योजनाओं में सुधार किया जा सकता था। भूमि एवं आवासीय योजनाओं का निराशाजनक निष्पादन एवं असफलता, सहकारी समितियों की धीमी प्रगति, औद्योगीकरण के लिये जनजातीय क्षेत्रों की भूमि का विस्तृत अधिग्रहण तथा उसका जनजातीय अर्थव्यवस्था पर विपरीत प्रभाव, नदी घाटी योजनायें तथा अन्य कई कारण जो कि आदिवासियों के कल्याण पर बुरा प्रभाव डालते हैं। इन सभी अनियमितताओं तथा कार्यक्रमों की असफलता के कारणों को जानने का उत्तरदायित्व शोध संस्थानों को देना चाहिये था।

इस बात का स्पष्ट रूप से अनुभव किया जाना चाहिये कि जनजातीय शोध संस्थान अलग रहकर कार्य नहीं कर सकते। इन शोध संस्थानों में अधिक से अधिक रचनात्मक परिणाम लेने के लिये जनजातीय कल्याण विभाग को समय-समय पर अपनी कठिनाइयों से अवगत कराना चाहिये तथा इन संस्थाओं में कार्यरत व्यावसायिक मानवविज्ञानियों, समाजशास्त्रियों तथा अर्थशास्त्रियों की विशिष्ट राय से जनजातीय विकास के क्षेत्र में अधिक से अधिक कार्य करके इन्हें अपेक्षित विकास तथा सेवायें प्रदान करनी चाहिये।

## प्रशिक्षण

स्वतंत्रता से पूर्व भारत में लोक प्रशासन का मतलब शांति बनाये रखने तथा राजस्व एकत्रित करने से था। 1950 के दशक के मध्य से विकास कार्यों पर अधिक बल दिया गया था। इसके साथ उपयुक्त परिवेश तथा प्रशिक्षित कार्यकर्त्ताओं की आवश्यकता का गम्भीरता से अनुभव किया गया। जी.एस.ग्रेवाल (1981) के अनुसार इस प्रकार की सभी विकास योजनायें कुछ विशेषज्ञों तथा सक्षम कार्यकर्त्ताओं की मांग करती हैं जिनका उद्देश्य देश के किसी एक भाग या पूरे राष्ट्र का विकास करना है। विकास पारस्परिक माध्यमों के बनने, उनके मूल्यांकनों तथा उनके लागू होने की शाश्वत प्रक्रिया है जो हमें एक निश्चित समय में एक लक्ष्य तक पहुंचाती है। इस प्रकार यह प्रक्रिया पारंपरिक प्रशासन प्रणाली (जैसे शांति स्थापना या राजस्व एकत्र करना) से मूल रूप से भिन्न हैं। उसका सीधा संबंध सामाजिक व आर्थिक परिवर्तन की योजनाओं को क्रियान्वित करने से है। विकास का प्रशिक्षण मनुष्य को जीवन के प्रति अपनी प्रवृत्ति तथा व्यवहार को बदलने के साथ-साथ आधुनिक तकनीक तथा सामाजिक संबंधों के माध्यम से एक गतिशील एवं प्रगतिशील समाज बनाने की भी शिक्षा देता है।

जिन क्षेत्रों में जनजातीय जीवन का बाहुल्य है वहाँ के विकास की प्रक्रिया अन्य अविकसित क्षेत्रों की विकास प्रक्रिया से भिन्न नहीं है। के.के.श्रीवास्तव (1981) के अनुसार जनजातीय क्षेत्रों को (1) दुर्गम क्षेत्र जो अपनी भौगोलिक स्थितियों के कारण लम्बे समय तक शेष जनजातियों से अलग हो जाते हैं तथा (2) उपनिवेशी प्रशासन की उपेक्षा के कारण पिछड़ापन, इन दो मूल तथ्यों की सहायता से चित्रित किया जाता है। आदिवासियों में एक पहलू ऐसा है जो सभी क्षेत्रों में समान रूप से पाया जाता है, वह है उनका आर्थिक व सामाजिक पिछड़ापन। परन्तु नीतियों, भाषा व संस्कृति में यह लोग आम जनसंख्या से भिन्न हैं। इसके अतिरिक्त उनमें आपस में भी अनेकतायें हैं। इसीलिये उनके विकास की परियोजनाओं को बनाने तथा उनको लागू करने से पहले कार्यकर्त्ताओं को विशेष प्रशिक्षण की आवश्यकता है जिससे यह कार्यकर्त्ता जनजातियों की समस्याओं को भली-भांति समझ सकें। एल्विन कमेटी ने इस बात पर ध्यान दिया था कि विशिष्ट बहुउद्देशीय जनजातीय खण्ड (SMPTDB) में कार्यरत अनेक कर्मचारी जो कि भिन्न-भिन्न सांस्कृतिक, सामाजिक एवं आर्थिक पृष्ठभूमि के थे, न तो जनजातियों के रहन-सहन को समझ सके और न ही उनकी दैनिक समस्याओं को। यह उदाहरण केवल जनजातीय विकास में लगे लोगों के उपयुक्त प्रशिक्षण के महत्त्व को उजागर करने के लिये है।

जनजातीय विकास कार्यक्रम जनजातीय समुदायों तक निम्न संस्थाओं के माध्यम से पहुँचते हैं :-

(1) सामान्य एवं जनजातीय विकास कार्यक्रमों में कार्यरत विभिन्न स्तरों के अधिकारियों द्वारा

(2) विभिन्न गैर-सरकारी स्वैच्छिक संस्थाओं तथा उनके कार्यकर्त्ताओं द्वारा

(3) पंचायत तथा अन्य वैधानिक संगठनों के पदाधिकारियों तथा कर्मचारियों द्वारा

(4) ग्रामीण/जनजातीय नेताओं द्वारा

राज्य सरकार के विभिन्न अधिकारी, जो जनजातीय विकास के कार्यक्रमों की योजना बनाने तथा उनको लागू करने में कार्यरत हैं तथा जिन्हें समुचित प्रशिक्षण की आवश्यकता है, निम्न श्रेणियों में विभाजित किये जा सकते हैं।

(क) **योजना तथा प्रशासकीय अधिकारीः** इस श्रेणी में जनजातीय कल्याण के निदेशक, मंडल कमिशनर तथा जिलाधिकारी आते हैं।

(ख) **पर्यवेक्षक जिनसे क्षेत्र के कार्यकर्त्ताओं के मार्गदर्शन की आशा की जाती है :** इस श्रेणी में जनजातीय विकास खण्ड परियोजना के अधिशासी अधिकारी, विकास अधिकारी तथा जिला कल्याण अधिकारी आते हैं।

(ग) **जिला तथा उसके ऊपर के स्तर का तकनीकी स्टाफ जो क्षेत्र कार्य नहीं करता :** इस श्रेणी में उप निदेशक कृषि, वन पालक, शिक्षा अधीक्षक, सिविल सर्जन तथा अधिशासी अभियन्ता आते हैं।

(घ) **जिला स्तर से नीचे की तकनीकी स्टाफ :** इस श्रेणी में सहायक अभियन्ता, ओवरसियर, स्वायल कंजर्वेशन एंड एक्सटैंशन अधिकारी, सहायक शल्य चिकित्सा स्वास्थ्य कंपाउंडर्स, कृषि अधिकारी, सहकारिता अधिकारी, संगठनकर्त्ता, सामाजिक शिक्षा कार्यकर्त्ता, ग्राम्य उद्योग विस्तार अधिकारी, फरेस्ट रेंजर तथा हाऊस ऑफिसर आते हैं।

(ङ) **क्षेत्र स्टाफ :** ग्राम सेवक व ग्राम सेविकायें, सैनिटरी इंसपेक्टर, हेल्थ विज़िटर, मिडवाइव्स, स्टॉकमेन-कम-हेल्थ सुपरवाइजर, हेड कांस्टेबल, फॉरेस्ट गार्ड्स तथा कृषि सहायक।

गैर-सरकारी स्वैच्छिक संस्थाओं के कार्यकर्त्ताओं को निम्न श्रेणियों में विभाजित किया जा सकता है :

(क) पदाधिकारी

(ख) तकनीकी कर्मचारी जो क्षेत्र में कार्य नहीं करते

(ग) क्षेत्र में कार्यरत तकनीकी कर्मचारी।

## प्रशिक्षण सुविधायें

जनजातीय समुदायों में कार्य कर रहे अधिकारियों की विभिन्न श्रेणियों को समुचित प्रशिक्षण देने की व्यवस्था आंध्र प्रदेश, बिहार, गुजरात, मध्य प्रदेश, राजस्थान तथा पश्चिमी बंगाल के शोध केन्द्रों में हैं। राँची (झारखंड), जबलपुर (मध्य प्रदेश), भुवनेश्वर (उड़ीसा), तथा उदयपुर (राजस्थान) में एक-एक जनजातीय अभिविन्यास एवं अध्ययन केन्द्र (ट्राइबल ओरियेंटेशन एंड स्टडी सेंटर) की स्थापना की गई है। इन केन्द्रों में जनजातीय विकास कार्यों से संबद्ध लोगों को समुचित प्रशिक्षण दिया जाता है। शीलू आओ कमेटी के अनुसार 'यद्यपि इन सभी जनजातीय अभिविन्यास केन्द्रों के प्रशिक्षण कार्यक्रमों में किसी भी जनजातीय क्षेत्र के अंतर्गत कार्य कर रहे लोगों को वहाँ के जीवन व सांस्कृतिक मूल्यों तथा वहाँ की कार्यप्रणाली को भली-भांति समझने पर बल दिया गया है, फिर भी इन कार्यकर्त्ताओं व केन्द्रों में कोई समन्वय नहीं है।'

जनजातीय अध्ययन केन्द्रों के प्रशासन का उत्तरदायित्व सामुदायिक विकास विभाग पर होने के कारण ऐसी स्थितियाँ उत्पन्न हो गयी हैं। इससे अलग शोध संस्थानों का प्रशासनिक उत्तरदायित्व जनजातीय कल्याण विभाग पर है। सामुदायिक विकास केन्द्रों के अधिकारियों का कहना है कि दोनों विभागों में दिये जाने वाले प्रशिक्षण का कार्यक्रम संयुक्त रूप से तैयार किया जाता है तथा सामुदायिक विकास केन्द्रों द्वारा स्वीकृत किया जाता है। इस प्रकार जनजातीय विकास खण्ड में नियुक्त तथा कार्यरत पर्यवेक्षकों तथा अन्य कार्यकर्त्ताओं के प्रशिक्षण का उत्तरदायित्व जनजातीय अभिविन्यास केन्द्रों पर है। दूसरी ओर जनजातीय शोध केन्द्रों का उत्तरदायित्व ग्राम स्तर के कार्यकर्त्ता तथा अन्य लोगों को प्रशिक्षित करना है जो मुख्यतः जनजातीय विकास खण्ड में कार्य कर रहे हैं।

उपरोक्त संस्थाओं के अतिरिक्त टाटा मानव विज्ञान संस्थान, मुम्बई जैसी अन्य संस्थायें भी हैं जिन्होंने प्रशिक्षण के क्षेत्र में प्रशंसनीय कार्य किया है। टाटा मानव विज्ञान संस्थान ने मुख्यतः उन पर्यवेक्षक अधिकारियों को प्रशिक्षित किया है जो जिला तथा उसके नीचे के स्तर पर कार्यरत हैं। राँची के सोशल एजूकेशन आर्गेनाइज़र ट्रेनिंग सेंटर ने भी इस क्षेत्र में प्रशंसनीय कार्य किये हैं। कस्तूरबा गाँधी राष्ट्रीय स्मारक ट्रस्ट जैसी गैर-सरकारी संस्थायें भी प्रशिक्षण कार्यक्रम चलाती हैं जो मुख्यतः महिलाओं द्वारा संचालित होता है।

अधिकतर आदिवासी अनपढ़ होते हैं जिसके कारण उन तक कोई भी विचार या ज्ञान की बात गाँव के बड़े बुजुर्ग या नेता द्वारा ही पहुँचती है। इस प्रकार ये जनजातीय नेता तथा बड़े बुजुर्ग आदिवासियों के ज्ञानवर्द्धन, उन्हें बाहरी संसार के विचारों को समझने तथा प्रशासन तक इनके विचार पहुंचाने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। किसी भी विकास कार्यक्रम के लिये स्थानीय जनजातीय नेताओं का विश्वास प्राप्त करना अत्यंत आवश्यक है। यद्यपि सामुदायिक विकास विभाग के विभिन्न कार्यक्रम में इन नेताओं के प्रशिक्षण का कार्यक्रम भी सम्मिलित है तथा इनका प्रशिक्षण आदिवासी गांवों में कैम्प लगाकर किया जाता है, फिर भी यह सफल नहीं हो पाता। इसका कारण है इस कड़ी का दुर्बल होना क्योंकि अधिकतर ऐसे कैम्प औपचारिक कक्षाओं में परिवर्तित हो जाते हैं जिनका कोई प्रभाव इन नेताओं पर नहीं पड़ता। सबसे दुर्भाग्यपूर्ण बात यह है कि कुछ स्थानों पर जनजातीय नेता अपने स्वार्थों के कारण अपनी भूमिका के उत्तरदायित्व को लगभग भुला देते हैं तथा अपने जनजातीय लोगों व प्रशासन के बीच एक स्वस्थ संबंध बनाये रखने में असफल हो जाते हैं।

धेबर कमीशन ने इस बात पर बल दिया है कि सम्पूर्ण कार्यक्रम को एक जनजातीय झुकाव देना आवश्यक है। आदिवासियों को ग्राम तथा खण्ड के स्तर पर

काम देने का प्रयास करना चाहिए। आदिवासियों को प्रारम्भिक स्कूलों के शिक्षक, नर्स, कंपाउंडर्स तथा वन रक्षक जैसे कई पदों पर आसानी से नियुक्त किया जा सकता है जिनमें उच्च शिक्षा आवश्यक नहीं है।

धेबर कमीशन की रिपोर्ट को आधार बनाकर श्रीवास्तव (1981) ने अपने विचार प्रस्तुत किये जिनके अनुसार सैद्धान्तिक, नृविज्ञान, समाजशास्त्र, अर्थशास्त्र, सांख्यिकीय तथा औपचारिक पाठ्यक्रमों से परिपूर्ण कोई भी प्रशिक्षण कार्यक्रम जिसका उद्देश्य सामान्य विकास है, क्षेत्रीय या स्थानीय समस्याओं का समाधान नहीं कर सकता। किसी भी जनजातीय विकास कार्यक्रम को लागू करने के लिये व्यक्तिगत रुचि होनी आवश्यक है। सभी को पाठ्यक्रमों में निश्चित समूहों के व्यावहारिक ज्ञान को भी सम्मिलित करना चाहिये जैसे उस क्षेत्र का सामाजिक व आर्थिक विकास तथा विभिन्न क्षेत्रों में रहने वाली विभिन्न जनजातियों का ज्ञान।

इस अध्ययन का समापन ग्रेवाल (1981) द्वारा बताये गए प्रशिक्षण के उद्देश्य व आवश्यकताओं से किया जाना ही अत्यधिक उपयुक्त होगा।

उनके अनुसार प्रशिक्षण कार्यक्रम का प्रयत्न होना चाहिये कि वह -

(1) इस प्रकार का ज्ञान व उत्सुकता पैदा करे जिससे कि प्रशासन तकनीकी व व्यावहारिक दोनों ही पहलुओं को सम्मिलित करे तथा कठिन से कठिन समस्याओं का उत्तम हल सामने आये।

(2) सरकार तथा प्रशासन के संबंधों को स्पष्ट करे।

(3) प्रशासक को विकास कार्यों में उसकी भूमिका समझाने में सहायता करे।

(4) प्रशासकीय व्यवहार व कार्यों के उद्देश्य/प्रत्यय (Concept) को स्थापित करे।

(5) तकनीकी तथा व्यावहारिक प्रशासन की दोनों नीतियों को प्रस्तावित करे।

जनजातीय विकास कार्यक्रमों की सफलता इन कार्यक्रमों को लागू कर रही सरकारी तथा गैर-सरकारी संस्थाओं के दृष्टिकोण पर निर्भर करती है। अतः जनजातियों की कल्याण प्रक्रिया में वर्षों से उपेक्षित भारत की इन जनजातियों की संस्कृति तथा परंपराओं के साथ-साथ बौद्धिक, सामाजिक, आर्थिक व मनोवैज्ञानिक पहलुओं का अध्ययन कार्यक्रम से जुड़ी सभी संस्थाओं के लिये अत्यंत आवश्यक है।

# 32

# स्वैच्छिक/ग़ैर-सरकारी संस्थाओं की भूमिका

जब भी हम जनजाति कल्याण कार्यक्रम में ग़ैर-सरकारी संस्थाओं की बात करते हैं, ईसाई मिशनरियों से लेकर आजकल की विभिन्न स्वैच्छिक संस्थाओं सहित सभी को सम्मिलित करते हैं। इस प्रक्रिया में हम उन सभी ऋषियों, संन्यासियों एवं योगियों की भूमिका को अनदेखा कर देते हैं जो कि संभवतः सभ्य समाज के पहले ऐसे प्रतिनिधि थे जिन्होंने इन जनजातियों के बीच एक लम्बा समय व्यतीत कर उनके उत्थान का सर्वप्रथम प्रयास किया। ऋषि व संन्यासी अधिकतर जंगलों में जाकर प्रकृति की सुन्दरता का आनन्द लेने तथा अन्ततः निर्वाण प्राप्त करने के लिये कठिन तपस्या करते थे। इनकी संख्या अधिक थी तथा अधिकतर ऋषि मुनि अपने जीवन के अंतिम समय तक हिमालय या विंध्याचल पहाड़ियों की गुफाओं में रहते थे। इनका व्यवहार वहाँ के वन्य प्राणियों के प्रति भी अच्छा था। इससे हम निश्चित रूप से मान सकते हैं कि इन संन्यासियों का व्यवहार अपने साथ रहने वाले वर्तमान जनजातियों के पूर्वजों के प्रति सद्भावनापूर्वक रहा होगा। इसी सद्भावनापूर्ण व्यवहार के फलस्वरूप मध्य भारत के गोंड, अरुणाचल प्रदेश, लद्दाख या हिमालय के अन्य किसी भी भाग के आदिवासी आज भी उन ऋषियों व मुनियों का स्मरण श्रद्धापूर्वक करते हैं। इन मुनियों से संबंधित लोक कथायें व लोक गीत भी हैं। ''यह संन्यासी आदिवासियों को दवायें देते थे तथा इसकी समस्याओं में उनका साथ देते थे। इसी शृंखला के मध्य (युग) शबरी और एकलव्य जैसी परंपरा है'' (नारायण जी 1968)। धेबर कमीशन (1960-61) की रिपोर्ट में भी इन सब तथ्यों की पुष्टि की गई है। इस बात को भी माना गया है कि यद्यपि उस समय न तो जनजातियों की भौतिक आवश्यकताओं को पूरा करने का कोई ठोस कार्यक्रम था और न ही सामाजिक कल्याण की कोई योजना, फिर भी इन संन्यासियों ने उन जनजातियों को एक ऐसा शांतिपूर्ण वातावरण दिया जो किसी भी मानव जाति या जनजाति के लिये आज भी एक महान् उपहार हो सकता है।

## कल्याणकारी संस्था के रूप में ईसाई धर्म
## (Christianity as Welfare Agency)

भारत की जनजातियों को उनके कल्याण कार्यक्रम देने का श्रेय सर्वप्रथम पाश्चात्य

देशों के ईसाई मिशनरियों को जाता है। के.एन.सहाय (1968) के अनुसार वे सभी संस्थायें जिन्होंने भारतीय जनजातियों और अन्य दलित वर्गों के सांस्कृतिक पटल को बदलने में अपना योगदान दिया है, ईसाई मिशनरियां संभवतः उन सब में सबसे प्राचीन हैं। इन मिशनरियों को उच्चकोटि की समाज सेवा व परंपरा बनाने का भी श्रेय है जिसका अनुसरण बाद में अन्य संस्थाओं ने भी किया। शैक्षिक योजनाओं के क्षेत्र में सर्वप्रथम पदार्पण करने वाले इन्हीं मिशनरियों ने जनजातियों के लिये पहला अस्पताल खोला। इन सब कार्यों के साथ-साथ इन संस्थाओं ने जनजातियों में विकास की भावना तथा अधिकार बोध भी जागृत किया।

जिन क्षेत्रों में इन ईसाई मिशनरियों ने धर्म प्रचार किया वहाँ विभिन्न कल्याणकारी योजनाओं के अन्तर्गत अस्पताल, स्कूल, दवाखाने तथा अनाथालय खोलकर इनके जीवन की कठिनाइओं को दूर करने के साथ-साथ इन्हें भौतिक सुख उपलब्ध कराने के सभी प्रयास किये गये। इन मिशनरियों ने मध्य भारत तथा पूर्वोत्तर भारत की जनजातियों के बीच इन योजनाओं को सबसे अधिक कार्यान्वित किया। जनजातियों को शैक्षिक एवं स्वास्थ्य सुविधायें प्रदान करने के साथ-साथ कुछ मिशनरियों ने इन जनजातियों के लिये आर्थिक योजनाओं का नेतृत्व भी किया। इसका उत्कृष्ट उदाहरण है छोटानागपुर की कैथोलिक मिशनरी, जिसने उस क्षेत्र में सहकारी ऋण समिति की स्थापना की। बहुत-सी मिशनरियों ने जनजातियों को कृषि के आधुनिक तरीकों से अवगत कराया। विभिन्न व्यावसायिक प्रशिक्षण केन्द्रों की स्थापना के पश्चात् भी जनजातियों के बीच अनुदान व्यवसायों से जीविकोपार्जन की शिक्षा पर अधिक बल दिया गया।

संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि ईसाई धर्म ने तब तक उपेक्षित एवं शोषित भारतीय जनजातियों की सामाजिक, आर्थिक स्थिति को विभिन्न कल्याणकारी योजनाओं के द्वारा विकसित किया। सहाय के अनुसार ईसाई मिशनरियों की कल्याणकारी योजनायें जिन्हें "दया तथा धर्म के कार्य" के नाम से जाना जाता है, धर्म प्रचार के कार्य से अलग नहीं मानी जा सकतीं तथा इन्हें साथ-साथ ही चलना चाहिये। मिशनरियों के इस दृष्टिकोण ने ऐसी कई संस्थाओं की आलोचना को आमंत्रित किया जो ईसाई नहीं थी।

भारतीय एकता की समस्या पर टिप्पणी करते हुये एम. एन. श्रीनिवास (1962) ने कहा "एक सच्चे धर्म में आस्था रखने वाले लोगों का यह विचार कि दूसरे धर्मों के लोगों को अपने धर्म में परिवर्तित करना उनका परम कर्त्तव्य है, एक साधारण सामान्य बात हो सकती है परन्तु यह प्रक्रिया हिन्दुओं के दृष्टिकोण से नैतिक व बौद्धिक आक्रमण है, विशेषकर ऐसी स्थिति में जब अधिकतर परिवर्तित जनसंख्या

अनपढ़ व ग़रीब हो। हिन्दुओं के अनुसार जिन क्षेत्रों में हरिजन व जनजाति के लोग रहते हैं, वहाँ पर स्कूल, अस्पताल तथा अन्य कल्याणकारी संस्थाओं का खुलना, धर्म परिवर्तन कराने की योजना में एक प्रलोभन रहा है। मानववाद को धर्म परिवर्तन से मिला देने के कारण ही मिशनरियां किसी स्वतंत्र एवं उदार विचार वाले हिन्दू के लिये भी संदेहास्पद हैं।''

दुर्भाग्यवश धर्म परिवर्तन के अधिक आग्रह ने इन मिशनरियों के कार्यों एवं प्रतिष्ठा पर सीधी चोट पहुँचाई। धेबर कमीशन की रिपोर्ट के अनुसार विभिन्न क्षेत्रों में इस प्रकार की शिक्षा ने परिवारों व गांवों को विभाजित कर दिया। जो गाँव अब तक एक साथ रहते व काम करते थे, अब दो भागों में बँट गये जिसमें एक भाग ईसाई धर्म का अनुयायी हो गया। ऐसे गाँव भी थे जहाँ पाँच-पाँच मिशनरियां ईसाई धर्म की अलग-अलग मान्यताओं का प्रचार कर रही थीं। इसके अतिरिक्त कुछ मिशनरियों का दृष्टिकोण ही नकारात्मक व विध्वंसक था। उनके अनुसार ईसाई धर्म के अतिरिक्त अन्य सब व्यर्थ था। इस प्रक्रिया में जनजातीय जीवन के कुछ सुन्दर पहलू पीछे छूट गये। जनजातियों को अपने-अपने व्यतीत जीवन की उपेक्षा करने की शिक्षा दी गई, जिसके कारण उनमें एक प्रकार की हीन भावना ने जन्म लिया। इन सभी विवादों, अनियमितताओं एवं जनजाति संस्कृति के पतन का उत्तरदायित्व केवल मिशनरियों पर ही नहीं था। कुछ सामाजिक कार्यकर्त्ताओं, गैर-सरकारी संस्थाओं एवं संकीर्ण विचारधारा के प्रशासनिक अधिकारियों ने भी जनजातियों को अपने बीते हुए जीवन की उपेक्षा करने तथा अपनी ही संस्कृति पर लज्जित होने को विवश किया।

कुछ कमियों तथा त्रुटियों के बाद भी ईसाई धर्म ने भारत की जनजातियों के कल्याण में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभायी। इन मिशनरियों के कुछ अस्पताल, स्कूल व व्यावसायिक प्रशिक्षण केन्द्र ऐसे सुदूरवर्ती तथा कठिन भौगोलिक स्थितियों/स्थानों पर कार्यरत हैं जिन्हें देखकर इन मिशनरियों की सेवा भावना का आभास होता है। आर्थिक क्षमता तथा सादगी के संदर्भ में अन्य संस्थाओं को इनसे बहुत कुछ सीखना चाहिये। सुदूरवर्ती पहाड़ों व वनों में इनके आत्मबलिदान एवं समर्पित कार्यों की सबसे बड़ी मान्यता यह है कि हम जब भी किसी आदर्श सामाजिक कार्यकर्त्ता की प्रशंसा करते हैं, उसे ''मिशनरी भावना से भरा हुआ'' कहते हैं।

## सामाजिक कार्यकर्त्ता तथा अन्य स्वैच्छिक संस्थायें

भारत में निःस्वार्थ समाज सेवा की परंपरा बहुत पुरानी है तथा स्वैच्छिक संस्थायें भारत के लिये नई नहीं हैं। 1971 में भील सेवा मंडल की संरचना गुजरात में हुई थी। इसके साथ पंचमहल जिले की मीरकनेडी नामक जगह में एक आश्रम भीलों व रानी

परेज जनजातियों में कार्य करने के आशय से बनाया गया था। इसे मुख्य संचालक थे ए.बी.ठक्कर जो ठक्कर बापा के नाम से प्रसिद्ध थे। कालान्तर में ठक्कर बापा जनजाति कल्याण के कार्य में महान् कार्यकर्त्ता के रूप में सामने आये। स्वतंत्रता से पूर्व उन्होंने ऐसे ही 21 संस्थान देश के विभिन्न भागों में स्थापित किये। उनके व्यक्तित्व में एक प्रकार का जादू था। कार्यकर्त्ताओं को बनाने, उनमें इन कार्यों के प्रति अभिरुचि भावना जाग्रत करने तथा उन्हें इन्हीं कार्यों में लगाने में वह दक्ष थे। समाज सेवा के इन तीन दशकों का रोमांचक गौरवशाली इतिहास, दृढ़ निश्चयी, समर्पित और सिद्धान्तवादी ठक्कर बापा की ही देन है। 1948 में भारत के प्रथम राष्ट्रपति डा. राजेन्द्र प्रसाद के साथ ठक्कर बापा ने "भारतीय आदिम जाति सेवक संघ" का निर्माण किया। इसका उद्देश्य है "आदिम जातियों का सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक एवं शैक्षिक विकास, जिससे उन्हें राष्ट्रीय जीवन में सामान्य नागरिक का स्थान प्राप्त हो।" यह शीर्षस्थ संस्था मुख्यतः अन्य संस्थाओं की गतिविधियों का समन्वय करती है। धेबर कमीशन की रिपोर्ट के अनुसार इस संघ ने संविधान बनने के समय जनजातियों के कल्याण की योजनाओं को स्वरूप देने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई है। इस शीर्षस्थ संस्था से आज लगभग पूरे देश की 100 से अधिक संस्थायें संबद्ध हैं। ये संस्थायें अपनी शक्तियों का उपयोग जनजातियों की आर्थिक प्रगति एवं शैक्षिक विकास में करती रही हैं। गुजरात तथा महाराष्ट्र में "वन श्रमिक सहकारी संस्था" (Forest Labour Co-operatives) जैसे अग्रणी इस संस्था के समर्पण का ज्वलंत उदाहरण है।

इन सबके अतिरिक्त "सर्वेंट्स ऑफ इंडिया सोसाइटी" तथा रामकृष्ण मिशन जैसी स्वैच्छिक संस्थायें भी इस कार्य में लगी हैं। हाल ही में इन संस्थाओं ने जनजाति कल्याण कार्यों को बढ़ावा देने के लिये प्रादेशिक तथा राष्ट्रीय स्तर पर कार्य किया। इन संस्थाओं की अधिकतर गतिविधियाँ शिक्षा, स्वास्थ्य सहायता, सहकारिता तथा कभी-कभी स्थानीय स्वयं सरकार जैसे कार्यों से संबंधित होती हैं। रामकृष्ण मिशन की अधिकतर शाखायें असम, बिहार तथा पश्चिमी बंगाल में हैं। इस मिशन के सभी संस्थान सेवा-भाव की परंपरा को सफलतापूर्वक निभाने के साथ-साथ चरित्र निर्माण पर भी बल देते हैं। यह मिशन धर्म परिवर्तन की शिक्षा से बिल्कुल दूर हैं।

कुछ महत्त्वपूर्ण ग़ैर-सरकारी संस्थायें हैं जो जनजातीय कल्याण के कार्य को अपने कार्यक्रमों में स्थान देती हैं। उनमें सर्व सेवा संघ, गांधी स्मारक निधि, कस्तूरबा स्मारक निधि, आदिम जाति सेवा संघ, अशोक आश्रम, टाटा सामाजिक विज्ञान संस्थान तथा भारतीय लोक कला मंदिर इत्यादि मुख्य हैं।

अधिकतर गैर-सरकारी संस्थायें मुख्यतः शिक्षा और लोक स्वास्थ्य के क्षेत्र में कार्य

कर रही हैं। इधर कुछ समय से इन संस्थाओं ने अपने कार्यक्षेत्र में, जाति विकास, सहकारिता, वन, वाणिज्य एवं उद्योग, लघु एवं ग्राम्य उद्योग, सहकारी खेती, पशुपालन, पंचायत के कार्य, सांस्कृतिक गतिविधियों, नशाबंदी तथा कानूनी सलाह आदि को भी सम्मिलित किया है।

इन संस्थाओं के कार्य तथा गतिविधियाँ आदिवासियों तक पहुँचें, इसके लिये केन्द्रीय सरकार राष्ट्रीय स्तर की संस्थाओं को अनुदान भी देती है। राज्य सरकारें उन संस्थाओं को सहायता देती हैं जो उस राज्य में सुचारु रूप से कार्य कर रही हैं।

जनजातीय कल्याण विकास में जो भी ग़ैर-सरकारी संस्थायें कार्यरत हैं, उनके सहयोग के महत्त्व को धीरे-धीरे व्यापक मान्यता मिल रही है। राज्य के सलाहकार मंडल के सदस्यों की क्षमता में उनके प्रतिनिधियों को, जनजातीय विकास योजनाओं के बनाने एवं उनको लागू करने की प्रक्रिया में सम्मिलित किया जाता है।

शीलू आओ कमेटी ने इस प्रकार की स्वैच्छिक संस्थाओं की एक प्रवृत्ति पर ध्यान आकर्षित कराया। यह प्रवृत्ति है केवल उन्हीं जनजातीय क्षेत्रों में कार्य करना जो तुलनात्मक रूप से अधिक विकसित हैं। इस प्रवृत्ति के फलस्वरूप कई बार एक ही क्षेत्र में कई संस्थाओं ने एक ही प्रकार के विकास कार्य किये। सभी स्वैच्छिक संस्थाओं का उत्साहवर्द्धन इस बात के लिये करना चाहिये कि वे ऐसे कार्यकर्त्ताओं की श्रेणियाँ बनायें जो प्रशिक्षित व समर्पित होने के साथ-साथ जनजातीय कल्याण के कार्य को अपनी जीविका बनायें। केन्द्र सरकार, भारतीय आदिम जाति सेवक संघ को अब इस आशय से अनुदान देती है कि यह संघ ऐसे आजीवन व विश्वसनीय कार्यकर्त्ताओं की श्रेणी बन सके जो जनजाति समुदायों में जाकर निःस्वार्थ सेवा करें जो सर्वेंट्स ऑफ इंडिया तथा सर्वेंट्स ऑफ द पीपुल सोसाइटी की ही परिपाटी के अनुसार हों।

किसी भी लोकतांत्रिक व्यवस्था के लिये यह आवश्यक है कि सभी रचनात्मक कार्यों का निष्पादन ग़ैर-सरकारी संस्थाओं द्वारा हो। इस प्रकार की गतिविधियाँ आम आदमी को उसके "होने तथा किसी के काम आने" की उसकी खोज को संतुष्ट करती है। धेबर कमीशन की रिपोर्ट के अनुसार "लोकतांत्रिक तथा प्रशासनिक व्यवस्था कितनी ही अच्छी क्यों न हो, लोकतंत्र अपनी प्रकृति के कारण थोड़ा उदासीन होता है, जबकि एक गैर-सरकारी संगठन सरलता से वैयक्तिक रूप दे सकता है।" अपने इन्हीं वैयक्तिक संबंधों से यह गैर-सरकारी संगठन जनसमूह की शाश्वत शक्तियों को एक अविरल धारा में प्रवाहित कर संपूर्ण जगत का विकास करने में सहायक हो सकते हैं।

# 33

# जनजातीय विकास में मानवविज्ञान की भूमिका

अफ्रीका के बाद भारत में सबसे अधिक जनजातियों के होने के पश्चात् भी जनजाति कल्याण एवं विकास की समस्या का प्रसंग यहाँ अधिक पुराना नहीं है।

सर्वप्रथम स्वतंत्रता के बाद भारत ने अपनी जनजातियों के विकास के लिये एक नीति का निर्धारण किया जिसका उद्देश्य अविकसित जनजातियों का विकास करना तथा उन्हें समान स्तर पर लाना था। सरकार ने इस योजना को सुचारु रूप से लागू करने के उद्देश्य से अधिकारियों के अतिरिक्त समाज विज्ञानियों (सोशल साइंटिस्ट) विशेषतया मानवविज्ञानियों (एन्थ्रोपोलॉजिस्ट), सामाजिक कार्यकर्त्ताओं तथा विभिन्न स्वैच्छिक संस्थाओं को इस कार्यक्रम में सम्मिलित किया।

जनजातियों के कल्याण एवं विकास के लिये मानवविज्ञानियों के ज्ञान का उपयोग अचानक ही प्रारम्भ नहीं हुआ। मानवविज्ञानियों की क्षमताओं का उपयोग व्यावहारिक उद्देश्यों में करना हमने वर्षों में सीखा। आइये इस महत्त्वपूर्ण विज्ञान की समीक्षा करें।

सन् 1750 ई., जब प्रशासनिक अधिकारियों, मिशनरियों, सामाजिक कार्यकर्त्ताओं एवं अन्य लोगों ने जनजातियों में अपनी अभिरुचि दिखाई तब तक भारत की अधिकतर जनजातियाँ बिल्कुल अलग-थलग रहीं। इन सभी अधिकारियों एवं कार्यकर्त्ताओं ने जनजातियों की सहायता करने का प्रयत्न तो किया परन्तु समझ और विचारों के अनुसार इन लोगों के उद्देश्यों एवं संस्कृति के अलग होने के कारण इनके द्वारा अपनाये गये तरीके भी विभिन्न प्रकार के थे।

सक्षम शासन में मानवविज्ञान की भूमिका के महत्त्व का आभास सर्वप्रथम सन् 1807 ई. में तब हुआ जब ईस्ट इंडिया कंपनी के कोर्ट ऑफ डाइरेक्टर्स ने यह निर्णय दिया कि "इस प्रकार का ज्ञान भविष्य में देश की शासन प्रणाली के लिये अत्यधिक महत्त्वपूर्ण था। इस आशय से बंगाल की जनजातियों के रहन-सहन एवं धर्म के बारे में एक नृजातीय सर्वेक्षण (एथनोग्राफिक सर्वे) करने के लिये कौंसिल के गवर्नर-जनरल द्वारा डॉ. फ्रांसिस बुखानन की नियुक्ति की गयी"। (विद्यार्थी, 1968) इसके पश्चात् मानवविज्ञान में अभिरुचि एवं ज्ञान रखने वाले विभिन्न प्रशासनिक अधिकारियों जैसे

रिज्ले, थर्सटन, डाल्टन, ग्रिगसन, गॉर्डन एवं अन्य की भी नियुक्ति की गई। इन अधिकारियों ने भारत की जातियों एवं जनजातियों से संबद्ध अनेक हस्तपुस्तिकायें (हैंडबुक्स), गज़ेट एवं विनिबंध (मोनोग्राफ) तैयार किये जिसके फलस्वरूप बहुत कम समय में विभिन्न नृजातीय (एथनोग्रैफिक) साहित्य एकत्र हो गया। इस साहित्य के वैज्ञानिक मूल्यांकन पर गम्भीर प्रश्न नहीं होने चाहियें क्योंकि ये साहित्य प्रारम्भिक नृजातीय विज्ञानियों द्वारा तैयार किये गये थे। इस प्रकार के साहित्य में अधिकतर भौगोलिक स्थिति एवं वहाँ रहने वालों के विषय में सामान्य रूप से चर्चा की गई थी। आदिवासियों से सम्पर्क बनाने तथा उनके जीवन में हस्तक्षेप करने के दुष्परिणामों के संदर्भ में जे.एन.हटन ने 1931 में अपने विचार प्रस्तुत कर इस सम्पूर्ण प्रक्रिया पर पहली बार एक प्रश्नचिह्न लगाया। एस.सी.रॉय ने भी बिहार की जनजातियों के लिये समान विचार प्रस्तुत किये। इसी समय एक संपूर्ण मानवविज्ञानी डी.एन.मजूमदार ने 'हो' जनजाति के बीच क्षेत्र कार्य प्रारम्भ किया। इनके अध्ययन एवं क्षेत्रकार्य के आधार पर 1937 ई. में रिपोर्ट प्रकाशित हुई। इस रिपोर्ट के अनुसार 1979 ई. के डाल्टन के अध्ययन की तुलना में 1937 ई. तक 'हो' जनजाति का अधिक ह्रास (degeneration) हुआ था। डी.एन.मजूमदार ने कोरवा जनजाति का भी अध्ययन किया तथा उनकी दुखदायी स्थितियों पर प्रकाश डाला।

मध्य प्रांत की बैगा जनजाति के बारे में वैरियर एल्विन का चिरस्मणीय विनिबंध प्रथम ऐसा प्रलेख माना जाता है जिसमें जनजातियों के भविष्य से संबंधित नृजातीय विचार खुलकर सामने आये। वैरियर एल्विन के अनुसार बैगा जनजाति "उत्थान एवं सभ्यता की अत्यधिक तेज़ एवं अनियमित प्रक्रिया की शिकार" हो गई थे। इस समस्या के हल के लिये उन्होंने एक राष्ट्रीय पार्क (national park) के निर्माण की सलाह दी जिसमें बैगा तथा अन्य जनजातियों के सदस्य रह सकें। उन्होंने यह भी सुझाव दिया कि "प्रशासक इस प्रकार से कार्य करें जिससे आदिवासियों/ जनजातियों का जीवन मुक्त एवं प्रसन्न हो तथा वहाँ किसी प्रकार के मिशनरियों व धर्म प्रचारकों का हस्तक्षेप न हो।" इन सभी सुझावों एवं आलेखों के बाद एक और आलेख "लॉस ऑफ नर्व" (Loss of Nerve, 1941) सामने आया जिसने जनजातियों के जीवन में हस्तक्षेप न करने तथा उन्हें अलग रखने के विचार का खुलकर समर्थन किया। एल्विन एक महत्त्वपूर्ण व्यक्तित्व थे जिसके कारण उन्हें अपने समय के मानवविज्ञानियों के बहुमत द्वारा मुख्य तथा महत्त्वपूर्ण वक्ता माना जाता था। जनजातियों के प्रति अपने इन विचारों के एल्विन एवं अन्य मानवविज्ञानियों को भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस से संबंद्ध सामाजिक कार्यकर्त्ताओं द्वारा "अलगाववादी" (Isolationists), "पुनरुत्थानवादी" (Revivalists), रूढ़िवादी (No changers/Status quoists) जैसे

विशेषण दिये गए। यद्यपि अधिकतर मानवविज्ञानी एल्विन के इस मत से पूर्णतया सहमत नहीं थे। वैरियर एल्विन के अतिरिक्त, डॉ. एल. पी. विद्यार्थी तथा अन्य मानव विज्ञानियों तथा विचारकों ने भी जनजातियों के विकास में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया।

ठक्कर बापा (ए.वी.ठक्कर) के नेतृत्व में आदिवासियों के संदर्भ में विभिन्न सामाजिक कार्यकर्त्ताओं तथा राजनीतिज्ञों के विचार एक समान थे। इन लोगों ने स्थितियों का लाभ उठाते हुये समस्त मानवविज्ञानी समुदाय को अलगाववादी (आइसोलेशनिस्ट) बताया जबकि मानवविज्ञानियों का एक बड़ा समूह ऐसा था जो जनजातियों के जीवन में हस्तक्षेप के दुष्परिणामों को ध्यान में रखते हुए भी एल्विन के विचारों से पूर्ण रूप से सहमत होने के लिये तैयार नहीं था। ऐसे सभी मानवविज्ञानी यह चाहते थे कि ''प्रगति'', ''सभ्यता'' एवं ''विकास'' के नाम पर जनजातियों का पतन एवं ह्रास न होने दिया जाय। परन्तु हानि तो निश्चित रूप से हो चुकी थी तथा सामाजिक कार्यकर्त्ताओं के लिये एल्विन, समस्त मानवविज्ञानियों पर तरह-तरह के आरोप लगाने का मनचाहा बहाना बन गये। मानव विज्ञान तथा समस्त मानवविज्ञानी समुदाय पर भाँति-भाँति के आरोप तथा आक्षेप लगाये गये। सन् 1941 में आर.आर. काले व्याख्यान देते हुए ठक्कर बापा ने मानवविज्ञानियों पर स्वार्थी होने के आरोप लगाते हुये कहा ''इसी कारण ये मानवविज्ञानी जनजातियों को अलग एवं पहाड़ों तथा जंगलों की कठिन परिस्थितियों में रखना चाहते हैं, कुछ ऐसे ही जैसे इन जनजातियों को एक शीशे के ढाँचे में अध्ययनकर्त्ताओं की उत्सुकता के लिये किसी संग्रहालय में रखा जाये।" ठक्कर बापा के विचार से ''पृथक् वाद'' एवं ''अलगाववाद'' के विचार देश की एकात्मकता के लिये हानिकारक थे। उन्होंने जनजातियों के पूर्ण आत्मसात की माँग करते हुए एक सामाजिक कार्यकर्त्ता की भाँति जनजातियों की कठिनाइयों को 5 भागों में विभाजित कर उनका सरलीकरण कर दिया :-

(1) भुखमरी

(2) निरक्षरता

(3) संचार/संवाद की कमी

(4) अस्वस्थता

(5) प्रशासन में कमियाँ तथा नेतृत्व की कमी।

## स्वतंत्रता के पश्चात्

पिछली सदी के तीसरे व चौथे दशक में उत्पन्न इन तमाम विवादों ने भारत में व्यावहारिक मानवविज्ञान (एप्लाइड एन्थ्रोपोलॉजी) के विकास पर बहुत बड़ा व विनाशकारी प्रभाव डाला।

1947 में स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद जब सरकार का ध्यान जनजातियों के कल्याण की ओर गया तब भी मानवविज्ञानियों तथा जनजातियों की समस्याओं के विशेषज्ञों के विचारों पर कोई ध्यान नहीं दिया गया। जनजातियों की समस्याओं को लेकर सरकार द्वारा इन लोगों के विचारों की अवहेलना की गई थी। किसी प्रकार के मानववैज्ञानिक शोध अथवा सलाह के लिये इनकी आवश्यकता तथा महत्त्व को नहीं समझा गया। इस स्थिति ने ऐसी प्रवृत्ति को बढ़ावा दिया जो कि जनजाति के लोगों के लिए बिल्कुल लाभदायक नहीं थी। राजनीतिज्ञों एवं सामाजिक कार्यकर्त्ताओं ने जो कि जनजातियों को (येन केन प्रकारेण) किसी भी कीमत पर "सभ्य" बनाने में लगे हुये थे, जनजातियों की समस्याओं के विशेषज्ञों का स्थान ले लिया था। सरकार में तथा सभी उच्च पदों पर इन्हीं लोगों के सहकर्मी पदासीन थे, जिसके कारण इन तथाकथित "जनजाति विशेषज्ञों को अपनी मनमानी करने से रोकनेवाला कोई नहीं था। इस प्रकार की व्यवस्था ने उन सामाजिक कार्यकर्त्ताओं को वैज्ञानिक एवं अर्धअधिकारी भी बना दिया। प्रशासनिक पदों पर आसीन होकर यही लोग जनजाति समस्याओं के राष्ट्रीय एवं अंतर्राष्ट्रीय सम्मेलनों में सरकार का प्रतिनिधित्व करते थे।

अब तक सभी मानवविज्ञानी अवहेलना एवं उपेक्षा का शिकार थे तथा इनकी आवश्यकता संग्रहालयों एवं सर्वेक्षण के अतिरिक्त कहीं नहीं थी।

यह स्थिति लगभग 1960 तक रही परन्तु मानवविज्ञानी भी चुपचाप नहीं बैठे थे। ये लोग नित्य नये विचारों तथा तरीकों की खोज तथा उनका विकास कर रहे थे। परिवर्तित सामाजिक-राजनीतिक परिवेश में इन मानवविज्ञानियों ने जनजाति विकास एवं कल्याण के लिये अत्यधिक उपयोगी एवं व्यावहारिक नीतियों एवं कार्यक्रमों की योजना प्रस्तुत की। एल्विन ने भी अपने विचारों में परिवर्तन कर एक सुविचारित परियोजना तथा सुनियोजित परसंस्कृतीग्रहण की आवश्यकता पर ज़ोर दिया परन्तु निषिद्धता तथा निर्देशों के माध्यम को लेकर पुराने वैचारिक मतभेद अब भी हल नहीं हुये थे।

अन्यायपूर्ण एवं ग़लत नीतियों के दुष्परिणामों में सरकार को यह स्पष्ट अनुभव हुआ कि अब तक सही विशेषज्ञों के साथ अन्याय हुआ है, जिसके फलस्वरूप इस बात पर ज़ोर दिया गया कि राजनीतिज्ञ, सामाजिक कार्यकर्त्ता एवं मानवविज्ञानी एक साथ मिलकर वैचारिक परामर्श द्वारा सुचारु रूप से कार्य करें। इस प्रवृत्ति ने नये-नये शोध संस्थानों, जनजाति सलाहकार समितियों तथा विभिन्न कमेटियों को जन्म दिया। यद्यपि मानवविज्ञानियों ने इन स्थितियों को स्वीकारा परन्तु इसका यह तात्पर्य बिल्कुल नहीं है कि वे जनजातियों के मुक्त जीवन को "सभ्य" बनाने की प्रशासन एवं

सामाजिक कार्यकर्त्ताओं की नीति से सहमत थे। जनजातियों की समस्याओं को लेकर कार्यरत मानवविज्ञानी किसी भी ऐसे विचार से सहमत नहीं हो सकते जो मूल्यरहित हों तथा पैतृकता की भावना (Spirit of paternalism) के स्वतः निर्धारण के अधिकार पर आधिपत्य किये हों।

## जनजातीय विकास के नये आयामों पर मानवविज्ञान की पकड़

जनजाति विकास में मानवविज्ञान की बदली हुई भूमिका के बारे में विचार-विमर्श करने से पूर्व क्रोबर (1953) का उदाहरण प्रस्तुत करना अत्यधिक उपयुक्त होगा। क्रोबर ने मानविकी को समझने तथा इसके सुधार के लिये कार्यक्रमों को लागू करने में मानवविज्ञान की भूमिकाओं को अन्य विधाओं से अधिक महत्त्वपूर्ण बताया है। "मानवविज्ञान आँकड़ों की व्यवस्था में कितना भी विशिष्ट क्यों न हो, यह स्पष्ट है कि अंततः यह समन्वय विज्ञान (Coordinating Science) है जैसे कि एक निगम अलग-अलग क्षेत्रों की कम्पनियों का समन्वय करता है। हम मानवविज्ञानी चीन को उतनी गहराई से कभी नहीं जान सकते जितना कि एक चीनी विशेषज्ञ (Sinologist), या मूल्यों, जमां (क्रेडिट) तथा बैंकिंग को एक अर्थशास्त्री, या आनुवंशिकता को एक जीव वैज्ञानिक। परन्तु हम यह देखते हैं कि इन सभी विद्वानों की दृष्टि यदि पड़ती भी है तो सविराम एवं बदलते स्वरूप में। चीनी सभ्यता के कुछ अंश, अर्थशास्त्र तथा आनुवंशिकता या ज्ञान की कुछ और अत्यधिक विकसित ज्ञान की शाखाओं को समझना अवश्य मनुष्य के सभी हिस्सों, प्रवृत्तियों तथा उत्सुकताओं में एक तारतम्य तथा संबंध स्थापित करता है—जो कि मनुष्य के बाहर, उसके भीतर है और उसका उत्पाद हैं। यह काम केवल मानवविज्ञानी का है।"

यदि मानवविज्ञान समाकलित (Integrated) विज्ञान के रूप में मनुष्य के भौतिक एवं सांस्कृतिक दोनों पक्षों को समान/स्वच्छ रूप से लेता है, तो इसकी अनुप्रयुक्त (applied) या व्यावहारिक शाखा व्यापक है और मनुष्य की आवश्यकताओं की पूर्ति तथा विकास के लिये विकास की योजना बनाने तथा कार्यान्वित करने में प्रयत्नरत है।

एक 'आदिवासी' जिस प्रकार दुनिया को देखता है और एक प्रशासक जिस प्रकार आदिवासी को देखता है दोनों के दृष्टिकोण भिन्न-भिन्न हैं। यद्यपि मानवविज्ञानी व्यावहारिक प्रशासन के अनुभवों का अभाव होने के कारण कभी-कभी अपने विचारों को प्रशासनिक उपयोग के लिये साधारण भाषा में व्यक्त नहीं कर सकता, फिर भी मानवविज्ञानी होने के कारण वह विकास कार्यक्रमों के आँकड़ों के महत्त्व को औरों से अधिक समझ सकता है। विकास का अभिप्राय उन्नति के साथ-साथ परिवर्तन भी है। इसमें भौतिक एवं मानवीय दोनों पक्षों का सम्मिश्रण है। कोई विचार जो मनुष्य के

विकास का मापदंड बनता है मानवविज्ञानियों को बिल्कुल स्वीकार नहीं है। ऐसे विचार से जब विभिन्न भौतिक निवेश एक निश्चित अनुपात में एकत्र किये जाते हैं, तब ऐच्छिक उत्पाद प्राप्त होते हैं, जिन्हें विकास की दर, राष्ट्रीय आय या प्रति व्यक्ति आय जैसे मापदंडों पर नापा जा सकता है। इस विचार के अनुसार विकास अपने आप में एक मूल्य है। अभौतिकवादी तत्वों का इसमें अधिक महत्त्व नहीं है। समाज सेवा को केवल आधारभूत संरचना तथा सामाजिक परिवर्तन को ऐसे विकास का परिणाम माना जाता है। किसी भी मानवविज्ञानी को इस प्रकार का यांत्रिकीय विकास स्वीकार नहीं है। उसने निरंतर इस तथ्य पर जोर दिया है कि विकास की गतिशीलता के लिये सामाजिक और सांस्कृतिक तत्व भी अत्यंत आवश्यक अंग हैं। सामाजिक परिवर्तन किसी भी विकास परियोजना की स्थिति का अक्रियात्मक परिणाम नहीं है - विद्यार्थी (1981, वही)।

इस सन्दर्भ में विकास की धारणा को संबंधित समुदाय की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि के अनुसार परिभाषित एवं संचालित करना आवश्यक है। जब भी हम किसी क्षेत्र के विकास की बात करते हैं तो वहाँ के तौर-तरीकों, पारंपरिक मान्यताओं और ऐतिहासिक पृष्ठभूमि पर समुचित ध्यान देना आवश्यक होता है।

एक मानवविज्ञानी, जो जनजातियों के बीच कार्य करता है, को उसे अन्य किसी भी तरह की कार्यशील संस्थाओं, कार्यकर्त्ताओं या प्रशासन की अपेक्षा अधिक सुविधा (advantage) रहती है। प्रशासकों को उनके बीच जाने का समय ही कठिनाई से प्राप्त होता है। इसके साथ-साथ एक ओर जहाँ मिशनरियों व सामाजिक कार्यकर्त्ताओं का उद्देश्य उन्हें "शिक्षित" करना एवं बदलना होता है, वहीं दूसरी ओर मानवविज्ञानी का उद्देश्य मात्र उनसे कुछ सीखना एवं अपना ज्ञानवर्द्धन करना होता है। मानवविज्ञानी को इस प्रकार दो लाभ होते हैं :-

(1) उन लोगों के मध्य लम्बा प्रवास

(2) उनसे कुछ सीखने और समझने का सम्मिलित प्रयास।

यह दोनों मिलकर मानवविज्ञानी को एक ऐसा व्यक्ति बनाते हैं जो किसी भी विकास कार्यक्रम या योजना के लिए सलाह देने योग्य होता है। फिर भी मानवविज्ञानी भी सभी बुराइयों को दूर करने के लिये रामबाण होने का दावा नहीं करते। वे समस्या को पूर्ण रूप से समझने का प्रयास करते हैं और सरकार को ठोस एवं व्यावहारिक परामर्श देते हैं।

मानव समाज, विशेषकर सरल/जनजातीय समाजों, की समस्याओं को समझने व उनके निदान व उपचार प्रस्तुत करने में मानवशास्त्र की विशिष्टता के आधार बताते

कार्यों, विशेष ज्ञान, गहरी समझ व संवेदनशील विचारों के कारण मानवविज्ञानी जनजातियों के संदर्भ में एक विशिष्ट स्थान रखते हैं। अब निश्चित रूप से प्रशासकों को सामान्य रूप में (as generalist) और मानवविज्ञानियों को विशेष रूप में (as specialist) एक साथ मिल कर जनजाति विकास कार्यक्रमों को एक सुखद सफलता का रूप देना चाहिये। इस प्रकार मानवविज्ञान का उपयोग सामान्यतया सम्पूर्ण समाज के लिये और विशेषतया जनजातियों के उत्थान के लिये अत्यधिक उत्तम रूप में किया जाना चाहिये।

हुये प्रसिद्ध मानवशास्त्री जॉर्ज फॉस्टर ने तीन आयाम प्रस्तुत किये :

(i) मानवशास्त्र एक दृष्टिकोण की हैसियत से

(ii) मानवशास्त्र मानवसमाज विशेषकर सरल समाजों के बारे में एक भंडार (storehouse) के रूप में

(iii) मानवशास्त्र की विशिष्ट शोध/तथ्य संकलन प्रणाली

मानवशास्त्र केवल एक विषयमात्र नहीं है वरन् मानव समाज को देखने व समझने का एक दृष्टिकोण भी है। वह समग्रता में मानव समाज को देखता है और सांस्कृतिक सापेक्षवाद (Cultural relativism) में विश्वास रखता है (एक दृष्टिकोण के रूप में मानवशास्त्र को सविस्तार समझने के लिये इसी लेखक की एक अन्य पुस्तक **सामान्य मानवशास्त्र** देखें। यहाँ पर इस विषय पर अधिक तथ्य नहीं दिये जा सकते)। इसके अतिरिक्त यह भी सत्य है कि अपने 150-200 वर्षों के इतिहास में मानवशास्त्र ने सरल समाजों का सब से अधिक अध्ययन किया है। इस प्रकार सरल समाजों के बारे में तथ्यों का एक बड़ा भंडार इकट्ठा हो गया है। शोध व तथ्य संकलन की प्रविधियों में जो प्रविधि मानवशास्त्र को विशिष्टता प्रदान करती है, वह है सहभागी अवलोकन (Participant Observation)पद्धति, जिस के द्वारा एकत्रित किया गया डाटा (Data) अत्यन्त विश्वसनीय तो होता ही है, 'अन्दर वाली बात' (insider's view) भी दिखाता है। अपनी इन विशिष्टताओं से लैस हो कर एक मानवशास्त्री जब जनजातीय/ग्रामीण विकास में कार्य करता है तो उसकी भूमिका उन सभी अन्य समाज विज्ञानियों व प्रशासनिक अधिकारियों से विशिष्ट हो जाती है जो इसी क्षेत्र में कार्यरत हैं।

एक और पक्ष जो मानवविज्ञानी को औरों से अलग स्थान देता है वह उसका परिणाम में न उलझे रहना। उसके लिये विकास के माध्यम भी उतने ही महत्त्वपूर्ण हैं, जितना कि योजना का पूर्ण होना क्योंकि वह जानता और समझता है कि किसी भी विकास योजना की असंगति, पद्धति योजना के लिये अवरोधक और हानिकारक होती है। सरकार की विभिन्न योजनाओं का असफल होना इसी बात का प्रमाण है। अब अधिकतर विश्लेषणकर्त्ता यह मानते हैं कि इन योजनाओं की असफलताओं के कारण योजनाओं का अव्यावहारिक होना, प्रशासन का उदासीन रहना, स्थानीय लोगों तथा उनके सांस्कृतिक मूल्यों की उपेक्षा तथा अव्यावहारिक मापदंड हैं।

इन स्थितियों का कारण यह भी है कि अभी तक प्रशासन यह नहीं समझ पाया है कि मानवविज्ञानी ही ऐसे विशेषज्ञ हैं जो जनजातियों के मामलों में सरकार को उचित परामर्श दे सकते हैं तथा उसका मार्गदर्शन कर सकते हैं। अपने व्यावहारिक

# BIBLIOGRAPHY
# (ग्रंथावली)


Adam, L. 1949 *Primitive Art,* Hermondsworth : Pelican.

Aiyappan, A. 1937 *Social and Physical Anthropology of Nayadis of Malabar.* Madras : Government Press.

1945 *Iravas and Culture Change.* Madras : Government Press.

1965 "Some Patterns of Tribal Leadership" *Economic Weekly*, Vol.17, No.2.

Alamchiba, A.M. 1961 *Woromung: An ao Naga Village.* Census of India, 1961, Vol.1, Monograph No.1, New Delhi : Office of the Registrar General of India.

Anand, V.K. 1968 *Nagaland in Transition,* New Delhi : Associated Publishing House.

Anderson, J.D. 1913 *The Peoples of India,* Cambridge.

Archer, W.G. 1947 "Ritual Friendship in Santhal Society", *Man in India*, Vol. 27, No.1.

Atal, Yogesh 1968 *The Changing Frontiers of Caste.* New Delhi : National Publishing House.

Atkinson,Edwin T. 1973 *The Himalayan Gazetteer.* Delhi : Cosmos Publications.

Aurora, G.S. 1972 *Tribe-Caste-Class Encounter.* Hyderabad : Administrative Staff College of India.

Bagchi, P.C. 1920 *Pre-Aryan and Pre-Dravidian in India.* Calcutta.

Bage, S.K. 1965 "Anthropologist and Tribal Administration", *Journal of Social Research,* Vol.8, No.1.

Bailey, F.G. 1957 *Caste and The Economic Frontier.* Bombay : Oxford University Press.

1960 *Tribe, Caste and Nation : A Study of Political Activity and Political Change*

# आख़िरी बात

*दुनिया ने मुझे बांट लिया हस्बे ज़रूरत*
*खुद अपनी ज़रूरत के लिये भी न बचा मैं*

★

*मैं सच कहूँगा मगर फिर भी हार जाऊँगा*
*वो झूठ बोलेगा और लाजवाब कर देगा*

★

*उन्होंने मुझसे अनगिनत वादे किये; इतने कि*
*मुझे सब याद भी नहीं हैं। लेकिन पूरा सिर्फ़*
*एक वादा किया। उन्होंने कहा था कि मेरी*
*ज़मीन ले लेंगे और उन्होंने ले ली।*

★

*मेरी हरी-भरी पहाड़ियाँ कहाँ गईं ? मेरे*
*बचपन में चरागाहें इतनी हरी-भरी थीं कि*
*मेरे मवेशी व जानवर यहाँ साल भर चरते थे।*
*आज नज़र उठा कर देखता हूँ तो केवल भूरी-*
*भूरी चट्टानें ही नज़र आती हैं। मैं क्या करूँ ?*

★

*जब वो मेरे इलाके में आये थे तब इतने पतले*
*थे जैसे सुई का नाका।*
*अब देखो इतना मुटा गये हैं जैसे हल का मुट्ठा।*

| | | |
|---|---|---|
| | | *in Highland Orissa.* Manchester : Manchester University Press. |
| | 1961 | "Tribe and Caste in India", *Contributions to Indian Sociology*, No.5. |
| Banerjee, A.C. | 1950 | *The Constitution of the Indian Republic.* Calcutta : A. Mukherjee & Co. Ltd. |
| Banerji, M. | 1964 | *Primitive Man in India.* Ambala. |
| Bardhan, A.B. | 1977 | *Ansuljhi Janjati Samasya* (Hindi). Delhi : Communists Party in India. |
| Barkataki, S. | 1969 | *Tribes of Assam—India : The Land and People (Compiled).* New Delhi : National Book Trust. |
| Belshaw, C.S. | 1965 | *Traditional Exchange and Modern Markets*. New Jersey & New Delhi : Prentice Hall. |
| | 1972 | "Development : The Contribution of Anthropology", *International Social Science Journal,* Vol.24. |
| Benedict, Ruth | .1934 | *Patterns of Culture*. Boston : Hughton. |
| Benfield, E.C. | 1958 | *The Moral Basis of Backward Society.* New York : Free Press. |
| Berreman, Gerald D. | 1962 | *Behind Many Masks.* Ithaca : Cornell University Press. |
| Beteille, Andre (Ed.) & T.N. Madan | 1975 | *Encounter and Experience : Personal Accounts of Field Work.* Delhi : Vikas Publishing House. |
| Bhagwati, Jagdish | 1966 | *The Economics of Under-developed Countries.* New York : McGraw Hill. |
| Bhargava, B.S. | 1949 | *The Criminal Tribes.* Lucknow : Ethnographic and Folk Culture Society. |
| Bhartiya Adimjati Sevak Sangh | 1957 | *Tribes of India.* Delhi. |
| Bhatt, G.S. | 1963 | *Bharat Mein Samaj Shastra, Prajati Evam Sanskriti* (Hindi), Sahitya Sadan, Dehradun. |
| Bhowmik, K.L. | 1971 | *Tribal India : A Profile in Indian Ethnology.* Calcutta : World Press. |

| | | |
|---|---|---|
| Chauhan, B.R. | 1970 | *Towns in the Tribal Setting*. Delhi : National Publishing House. |
| Childe, V.G. | 1946 | *What Happened in History*? New York: Penguin. |
| Crooke, W. | 1968 | *The Tribes and Castes of the North-Western Provinces of Agra and Oudh*, Vol. 2. Calcutta : Superintendent, Government Press. |
| Culshaw, W.J. | 1945 | "The Santhal Rebellion", *Man in India*, Vol.25, No. 4. |
| | 1949 | *Tribal Heritage : A Study of the Santhals*, London : Lutterworth Press. |
| Dalton, E.T. | 1872 | *Descriptive Ethnology of Bengal*. Calcutta : Government of Bengal. |
| Danielou, Alain | 1964 | *Hindu Polytheism*, New York : Pantheon Books. |
| Das A.K. & S.K. Banerjee | 1962 | *The Lepchas of Darjeeling District*, Calcutta : Tribal Welfare Department, Government of West Bengal. |
| Das A.K. & M.M.Raha | 1967 | *The Rabhas of West Bengal*, Calcutta : Government of West Bengal. |
| Das, R.K. | 1971 | "*The Problems of* Tribal Identity *in Manipur*", The Eastern Anthropologist, Vol.24, No.2. |
| Das, T. | 1931 | *The Wild Kharia of Manbhum*. Calcutta. |
| Das, T.C. | 1945 | *The Purums : An Old Kuki Tribe of Manipur*, Anthropological Papers No.7. Calcutta : University of Calcutta. |
| Dave, P.C. | 1960 | *The Grasias*, Delhi : Bhartiya Adimjati Sevak Sangh. |
| Dee, Brown | 1973 | *Bury My Heart at Wounded Knee*, New York : Bantom Books. |
| Dhan, R.O. | 1967 | *These Are my Tribesmen, The Oraon*. Ranchi : Lutherian Church Press. |
| Diamond, A.S. | 1935 | *Primitive Law*. London. |
| Doshi, J.K. | 1974 | *Social Structure and Social Change in a Bhil Village*. New Delhi : New Heights. |

Biswas, P.C. 1956 *Santhals and Santhal Parganas*. Delhi.

Boas, Franz 1963 *The Mind Primitive Man*. New York, Free Press.

Bodley, John H. 1982 *Victims of Progress,* California : The Benjamin Cummings Publishing Company.

Bose, J.K. 1935 "The Gana Nokma Ceremony of the Garo of Assam", *Man in India,* Vol. 15, No. 4.

Bose, N.K. 1941 "The Hindu Method of Tribal Abroption", *Science and Culture,* Vol. 7.

1967 *Culture and Society in India*. Bombay : Asia Publication House.

1967 *Problems of National Integration.* Simla: Indian Institute of Advanced Study.

1971 *Tribal Life in India*. New Delhi : National Book Trust.

Bose. S.C. 1960 "Nomadism in High Valleys of Uttarakhand and Kumáon", *Geographical Review of India*, Vol. 22.

Briggs, G.N. 1920 *The Chamar*, Calcutta : Calcutta Association Press.

Burn, R. 1902 *Census of India,* Vol.16, Allahabad: Government Press.

Cantile, Keith 1934 *Notes on Khasi Law*, Aberdeen : L Henry Munroe Ltd.

Cameron, W.B. 1966 *Modern Social Movements*, New York : Random House.

Carstairs, Morris 1957 *Twice Born*, London : The Hogarth Press.

Chakarabarti, M.&D. Mukherjee 1971 *Indian Tribes*. Calcutta : Saraswati Library

Chattopadhya, K.P. 1953 "Tribal Education", *Man in India,* Vol.33, No.1.

Chaturvedi, S.C. 1964 *Andaman Island*. Delhi : National Book Trust.

| | | |
|---|---|---|
| | 1950 | *Bonda Highlanders*. Bombay : Oxford University Press. |
| | 1954 | *Tribal Myths of Orissa*. London : Oxford University Press. |
| | 1955 | *The Religion of An Indian Tribes (Saoras)*. London ; Oxford University Press. |
| | 1958 | *Myths of the North-East Frontier of India*. Shillong : North-East Frontier Agency. |
| | 1959 | *India's North East Frontier in the Nineteenth Century*. London : Oxford University Press. |
| | 1960 | *A Philosophy for NEFA*. Shillong : Government of Assam. |
| | 1960 | *The Tribal World of Verrier Elwin*. Bombay : Oxford University Press. |
| | 1961 | *Nagaland.* Shillong : Research Department, Advisor's Secretariat. |
| | 1968 | *The Kingdom of the Young*. London : Oxford University Press. |
| | 1969 | *The Nagas in the Nineteenth Century*. Bombay : Oxford University Press. |
| Enthoven, R.E. | 1920 | *Tribes and Castes of Bombay* (3 Vols.). Bombay : Government Central Press. |
| Evans-Prichard, E.E. | 1937 | *Witchcraft, Oracles and Magic Among the Azande*. Oxford : Clarendon Press. |
| | 1940 | *The Nuer.* Oxford : Clarendon Press. |
| | 1956 | *Social Anthropology*. London : Lowe and Brydone Ltd. |
| Firth, Raymond | 1951 | *Elements of Social Organisation*. Watts and Co. |
| | 1955 | "Some Principles of Social Organisation". Calcutta, *Journal of the Royal Anthropological Institute*, No.85. |
| Forde, C. Daryll | 1950 | *Habitat, Economy and Society*, London: Methuen & Co. |

Dovring, F. 1965 "Bondage, Tenure and Progress", *Comparative Studies in Society and History*, Vol.7.

Dube, Leela 1969 *Matriliny in Islam*. Delhi : National Publishing House.

Dube, S.C. 1947 *Field Songs of Chhattisgarh*. Lucknow: Universal Press.

1951 *The Kamar*. Lucknow : The Universal Publishers.

1958 *India's Changing Villages*. London : Routledge and Kegan Paul.

(Ed.) 1977 *Tribal Heritage of India*, Delhi : Vikas Publishing House.

Dutta, Kalikinkar 1940 *The Santhal Insurrection*. Calcutta : Calcutta University.

Dutta, Parul Nabendu 1956 *The Santhal : A Study in Culture Change*. Delhi : Manager of Publications, Government of India.

Dutta, Majumdar 1959 *The Tangsas*. Shillong : North East Frontier Agency.

Ehrenfels, U.R. 1952 *Kadar of Cochin*. Madras : University of Madras.

Ellis, R.H. 1924 *A Short Account of the Laccadiv Island & Minicoy* : Madras.

Elwin, Verrier 1939 *The Baiga*. London : John Murray.

1942 *The Agaria*. London : Oxford University Press.

1943 *Muria Murder and Suicide*. London : Oxford University Press.

1944 *Folktales of Mahakoshal*. London : Oxford University Press.

1947 *The Muria and Their Ghotul*. Bombay : Oxford University Press.

1948 "Notes on the Juang", *Man in India*, Vol.28, No. 1-2.

1949 *The Myths of Middle India*. London, Bombay : Oxford University Press.

Gorer, Geoffrey 1938 *Himalayan Village : An Account of the Lepchas of Sikkim*. London : Michael Joseph.

Government of India 1959 *Adivasi*. Delhi : Publication Division.

Government of Madhya Pradesh 1964 *The Tribes of Madhya Pradesh*, Bhopal.

1967 *A Study of Tribal People and Tribal Areas of Madhya Pradesh*. Bhopal.

Government of Rajasthan 1956 *Tribal Rehabilitation in Rajasthan*. Jaipur.

Griffith, Keith & A.R. Khan 1978 "Poverty in the Third World : Ugly Facts and Fancy Models", *World Development* March, 1978.

Griffith, W.G. 1944 "Folklore of the Kols", *Man in India*, Vol. 24, No.2.

1946 *The Kol Tribes of Central India*. Calcutta: Royal Asiatic Society of Bengal.

Grierson, G.A. 1916 *The Linguistic Survey of India*. Calcutta: Government of India.

Grigson, W.V. 1938 *The Maria Gonds of Bastar*, Oxford.

Guha, B.S. 1938 *The Racial Elements of India*. Bombay: Popular Prakashan.

Gurdon, P.R.T. 1914 *The Khasis*. London : Macmillan & Co.

Harris, Marvin 1971 *Culture, Man and Nature : Introduction to General Anthropology*. New York : Thomas-Cromwell.

Hasan, Amir 1971 *A Bunch of Wild Flowers and Other Essays*. Lucknow : Ethnographic and Folk Culture Society.

1972 *The Kols of Patha*. Allahabad : Kitab Mahal.

Hasnain, Nadeem 1974 "Jounsar Bawar : Jahan Draupadi Adarsh Hai", *Navjivan*, Jan. 13, 1974. Lucknow.

1975 "The Kolta : A Study in the Ethnography of the Poor." *The Eastern Anthropologist*, Vol.28, No.4.

Fuchs, Stephen 1960 *The Gond and Bhumia of Eastern Mandla*. Bombay : New Literature Publishing Co.

1965 *Rebellious Prophets*. Bombay : Asia Publishing House.

1973 *The Aboriginal Tribes of India*. New Delhi : The Macmillan Company.

Furer-Heimendorf, Christopher 1939 *The Naked Nagas*, London : Routledge and Kegan Paul.

1943 *The Chenchu*, London : Macmillan.

1945 *The Reddis of Bison Hills : A Study in Acculturation. London : Macmillan.*

1948 *Rajgonds of Adilabad : A Present Culture of Deccan*. London : Macmillan.

1955 *Himalayan Barbary*. London : John Murray.

1962 *The Apatanis and Their Neighbourhood*. London : Routledge and Kegan Paul.

1969 *The Konyak Nagas : An Indian Frontier Tribe*, New York : Holt, Reinhart and Winston.

1976 *Return to the Naked Nagas*. New Delhi: Vikas Publishing House.

Gans, Herbert 1962 *The Urban Villagers,* New York : Macmillan.

Ghurye, G.S. 1943 *The Aborigines-so-called and Their Future*. Poona : Gokhle Institute of Politics and Economics.

1950 *Caste and Class in India*. Bombay : Popular Book Depot.

1957 *The Mahadev Kolis*, Bombay : Popular Book Depot.

1963 *The Scheduled Tribes*. Bombay : Popular Prakashan.

Gluckman, Max 1965 *Politics, Law and Ritual in Tribal Societies*. London : Basil Blackwell.

I.L.O. 1953 *Indigenous Peoples*. Geneva.

Indian Conference of Social Work 1964 *Souvenir on Welfare of Tribes and Denotified Communities*. Bhopal.

Iyer, L.K. Anantha Krishna 1935 *The Mysore Tribes and Castes* Vol.I. Mysore : The Mysore University.

Jay, Edward 1970 *Tribal Village of Middle India*. Calcutta: Anthropological Survey of India.

Jones, Steve 1978 "Tribal Underdevelopment in India", *Development and Change*, Vol.9, No.1.

Joshi, M.M. 1967 *Bastar : India's Sleeping Giant*. New Delhi : Peoples' Publishing House.

Kaberry, Phillis M. 1939 *Aboriginal Woman : Sacred and Profane*. London : George Routledge and Sons Ltd.

Kar, P.C. 1920 *British Annexation of Garo Hills*. Calcutta.

Karsten, R. 1935 *The Origins of Religion*. London : Trubner and Co.

Kapadia, K.M. 1961 *Marriage and Family in India*. Poona : Deccan College.

Karve, Irawati 1953 *Kinship Organization in India*. Poona : Deccan College.

1961 *Hindu Society : An Interpretation*. Poona : Sangam.

Kluckhonn, C. 1950 *Mirror for Man*. London : George G. Harrap & Co. Ltd.

Koppers, Wilhelm 1954 "Primitives Man and His World Picture", *The Eastern Anthropologist*, Vol.8, No.3.

Krader, L. 1959 "The Ecology of Nomadic Pastoralism", *International Social Sciences Journal*, Vol.11, No.14.

Kutty, A.R. 1972 *Marriage and Kinship in an Island Society*. Delhi : National Publishing House.

Lal, A.K. 1977 *Politics of Poverty : A Study of Bonded Labour*, New Delhi : Chetna.

| | | |
|---|---|---|
| | 1982 | *Bonded for Ever*. Delhi : Harnam Publications. |
| | 1991 | Indian Anthropology. Delhi : Palaka Prakashan. |
| | 2004 | Indian Society and Culture : Continuity and Change. Lucknow: Bharat Book Centre. |
| Hastings, James (Ed.) | 1908-26 | *Encyclopedia of Religion and Ethics*, (13 Vols.). New York : Scribers. |
| Hatch, W.J. | 1928 | *The Land Pirates of India*, London : Seeley Service and Company Ltd. |
| Henry, Jules | 1964 | *Jungle People*. New York : Random House. |
| Herkovits, M.J. | 1950 | *Man and His Works*, New York : Knopf. |
| | 1952 | *Economic Anthropology*. New York : Knopf. |
| Hivale, S. | 1946 | *The Pardians*. Bombay : Oxford University Press. |
| Hockings, Paul | 1965 | *Culture Change Among the Badaga : A Community in South India*. Berkley : California University Press. |
| Hodson, T.C. | 1908 | *The Meithis*, London : David Natt. |
| | 1921 | "The Garo and Khasi Marriage Systems Contrasted", *Man in India*, Vol.1, No.2. |
| | 1922 | *The Primitive Culture of India*. Calcutta: The Royal Asiatic Society. |
| Hoebel, E.A. | 1954 | The Law of the Primitive Man : *A Case Study in Comparative Legal Dynamics*. Harvard : Harvard University Press. |
| Hutton, J.H. | 1921 | *The Angami Nagas*. London: Macmillan. |
| | 1921 | *The Sema Nagas*. London : Macmillan. |
| | 1951 | *Caste in India*. Bombay : Oxford University Press. |
| Hu, C.T. | 1956 | "Marriage by Exchange Among the Tharus-With a Geneological Case Study", *The Eastern Anthropologist*, Vol.10, No.2. |

Malinowski, B. 1948 *Magic, Science and Religion*. Boston and Glenco.

1949 *Crime and Custom in Savage Society*. London : Routledge & Kegan Paul Ltd.

Mamoria, C.B. 1957 *Tribal Demography in India*. Allahabad: Kitab Mahal.

Man, R.S. 1973 "Jarwas of Andaman-An Analysis of Hostility", *Man in India*, Vol. 53, No.2.

Mandelbaum, David G. 1970 *Society in India*. California : University of California Press.

Mankekar, D.R. 1967 *On the Slippery Slopes in Nagaland*. Bombay : Manakatala.

Marret, R.R. 1914 *The Threshold of Religion*. New York.

Mathur, K.S. 1964 *Caste and Ritual in a Malwa Village*. Bombay : Asia Publishing House.

Mathur, K.S. & B.C. Agarwal (Ed.) 1974 *Tribe, Caste and Peasantry*. Lucknow : Ethnographic & Folk Culture Society.

Mathus, H.M. (Ed.) 1976 *Development Administration in Tribal Areas*. Jaipur : The H.C.M. State Institute of Public Administration.

(Ed.) 1977 *Anthropology in the Development Process*. Bombay : Vikas Publishing House.

Mayer, A.C. 1952 *Land and Society in Malabar*. London: Oxford University Press.

McLaughlin, Barry (Ed.) 1969 *Studies in Social Movements*. New York: Free Press.

Mead, Margaret 1929 *Coming of Age in Samoa*. London : Jonathan Cape.

1930 *Growing Up in the New Guinea*. New York : William Marrow.

1955 *Cultural Patterns and Technological Change*. UNESCO : Mentor Books.

Metcalfe, Thomas R. 1965 *The Aftermatch of Revolt in India*, 1832-1870, Princeton : Princeton University Press.

| | | |
|---|---|---|
| Lathan, R.G. | 1959 | *Ethnography of India*. London : Macmillan. |
| Leach, K E.R. | 1954 | *The Political Systems of Highland Burma*. London : G Bell & Sons. |
| | 1954 | "Aesthetics" in E.E. Evans Pritchard's "The Institutions of Primitive Society". London : Basil Blackwell. |
| Leuva, K.K. | 1963 | *The Asur : A Study of Primitive Iron Smelters*. Delhi : Bhartiya Adimjati Sevak Sangh. |
| Levi-Strauss, C. | 1966 | *The Savage Mind*. London : Wiedenfield and Nicholson. |
| Lewis, I.M. | 1968 | "Tribal Society" in David L. Sil's (Ed.) *International Encyclopedia of the Social Sciences*. Vol. 16. London : Macmillan. |
| Linton, R. (Ed.) | 1945 | *The Science of Man in World Crises*. Columbia University Press. |
| Lowie, R.H. | 1921 | *Primitive Society*. London : Routledge & Kegan Paul Ltd. |
| | 1924 | *Primitive Religion*. New York. |
| Luiz, A.A.D. | 1962 | *Tribes of Kerala*. New Delhi : Bharatiya Adimjati Sevak Sangh. |
| Mahapatra, L.K. | 1970 | *Transformation of Tribal Society in India*. Delhi : Delhi University National Lecture. |
| Maine, H. | 1861 | *Ancient Law*. London. |
| Majumdar, D.N. | 1944 | *The Fortunes of Primitive Tribes*. Lucknow : Universal Publishers. |
| | 1944 | *Races and Cultures of India*. Lucknow : Universal Publishers. |
| | 1950 | *The Affairs of a Tribe : A Study in Tribal Dynamics*. Lucknow : Universal Publishers. |
| | 1962 | *The Himalayan Polyandry*. Bombay : Asia Publishing House. |
| Majumdar, D.N. & T.N. Madan | 1967 | *An Introduction to Social Anthropology*. Bombay : Asia Publishing House. |

| | | |
|---|---|---|
| Office of the Commission for Scheduled Castes and Scheduled Tribes | 1968 | *Handbook on Scheduled Castes and Scheduled Tribes*, New Delhi. |
| O'Malley, L.S.S. | 1935 | *Popular Hinduism*, Cambridge : Cambridge University Press. |
| Orans, Martin | 1965 | *The Santhals : A Tribe in Search of a Great Tradition*. Detroit : Wayne State University Press. |
| Oraon, Kartik | 1964 | "Tribes and Tribalism of India", *Journal of Social Research*, Vol.17, Nos. 1-2. |
| Pandey, B.M. | 1968 | "Development Schemes as Factors of Change in Tribal Areas", *Journal of Social Research*, Vol. 11, No.2. |
| Pant, S.D. | 1935 | *The Social Economy of the Himalayas*. London : George Allen & Unwin Ltd. |
| Pangtey, K.S. | 1969 | *Lonely Furrows of the Borderland*. Lucknow : Universal Publishers. |
| Parmar, Y.S. | 1975 | *Polyandry in the Himalayas*. Delhi : Vikas Publishing House. |
| Parry, N.E. | 1932 | *The Lakhers*. London : Macmillan. |
| Patel, M.L. | 1974 | *Changing Land Problems of Tribal India*. Bhopal : Progress Publishers. |
| Playfair, A. | 1909 | *The Garos*, London : Nutt. |
| Prabhu, P.N. | 1954 | *Hindu Social Organisation*, Bombay : Popular Book Depot. |
| Prasad, Saileshwar | 1974 | *Where the Three Tribes Meet*. Allahabad Indian International Publication. |
| Publication Division | 1973 | *The Tribal People of India*. New Delhi: Government of India. |
| Radcliffe-Brown, A.R. | 1948 | *The Andaman Islanders*, Glencoe : Ilinois Free Press |
| | 1952 | *Structure and Function in Primitive Society*. London : Cohen and West. |
| Radcliffe-Brown, A.R. & Daryll Forde | 1950 | *African Systems of Kinship and Marriage*. London : Oxford University Press. |

Mills, J.P. 1922 *The Lhota Naga*. London : Macmillan.

1926 *The Ao Naga*. London : Macmillan.

1936 *The Rengma Naga*. London : Macmillan.

Misra, B.B. 1959 *The Central Administration of the East Indian Company*, 1773-1834. Bombay : Oxford University Press.

Misra, U.S. & P.K. Tewari 1975 *Bhartiya Adivasi* (Hindi). Lucknow : Uttar Pradesh Hindi Grantha Academy.

Morgan, L.H. 1877 *Ancient Society*, New York.

Mukherjee, B. & B.C. Roychowdhary and D. Ghosh. 1973 *The Chero of the Palamau*. Calcutta : Anthropological Survey of India.

Mukherjee, D.P. 1958 *Diversities*. New Delhi : People's Publishing House.

Murdock, G.P. 1950 *Outlines of Cultural Material*. New Haven: Human Relations Area Files Inc.

Murthy, B.S. 1969 *Depressed and Oppressed Forever in Agony*. Delhi : S. Chand & Co.

Nadel, S.F. 1953 *Anthropology and Modern Life*. Canberra : Australian National University.

Naik, T.B. 1956 *The Bhils*. Delhi : Bhartiya Adimjati Sevak Sang.

Nair, Kusum 1961 *Blossoms in the Dust : The Human Element in India's Development*. London: Gerald Duckworth and Co. Ltd.

Nakane, Chie 1967 *Garo and Khasi*. The Hague : Mouton.

Nash, Manning 1966 *Primitive and Peasant Economic Systems*. San Francisco : Chandler.

Nath, Y. 1960 *Bhils of Ratnamal*. Baroda : The M.S. University of Baroda.

Oakley, E.S. 1905 *Holy Himalayas*. Edinburgh : Oliphant Anderson & Ferrier.

Oaten, Farley 1909 *Travel and Travellers in India*, 1400-1700. London : Kegal Paul.

New Delhi : Office of the Registrar General of India.

Roy, David 1938 "The Place of the Khasis in the World", *Man in India*, Vol. 18.

Roy, Mrinal 1967 "Changing Pattern of Leadership in an Oraon Village" in L.P. Vidyarthi (Ed.) *Leadership in India*. Bombay : Asia Publishing House.

Roy, S.C. 1912 *The Mundas and their Country*. Ranchi : City Bar Library.

1915 *The Oraons of Chotanagpur*. Ranchi : City Bar Library.

1925 *The Birhor*. Ranchi : Man in India Office.

1935 *The Hill Bhuiyas of Orissa*. Ranchi : Man in India Office.

Roy, S.C. & R.C. Roy 1937 *The Kharia*. Ranchi : Man in India Office.

Russell, R.V. and R.B. Hiralal 1916 *The Tribes and Castes of the Central Provinces of India*, Vol. III, London : Macmillan.

Rustomji, N.K. 1955 "Tribal Administration in the North-East Frontier Agency" in *The Adivasis*. Delhi : Publication Division, Govt. of India.

Sachchidanand 1954 "Birsa : An Adivasi Fighter for Freedom", *Vanyajati*, Vol.4.

1964 *Cultural Change in Tribal Bihar*. Calcutta : Bookland.

1965 *Profiles of Tribal Cultures in Bihar*. Calcutta : Firma K.L. Mukhopadhyay.

1967 "Socio-economic Aspects of Tribal Education" in *Tribal Education in India*, New Delhi : N.C.E.R.T.

1968 *The Tribal Village in Bihar : A Study in Unity and Extension*. New Delhi : Munshi Ram Manohar Lal.

Radin, Paul 1953 *The World of Primitive Man*. New York: Grove Press.

Raghaviah, V. 1956 *Tribes of India*. Delhi : Bhartiya Adimjati Sevak Sangh.

1976 *Tribal Revolts.* Nellore : Andhra Rashtriya Adimjati Sevak Sangh.

Rao, Prasad 1971 "Sahukar and Tribal Society, *Tribe*, Vol. 28, No. 3-4.

Read, Herbert 1946 *Art and Society*, London : Faber and Faber.

Redfield, Robert 1941 *The Folk Culture of Yucatan*. Chicago: University of Chicago Press.

1953 *The Primitive World and Its Transformation*. Ithaca : The Cornell University Press.

1955 *The Little Community*. Chicago : University of Chicago Press.

1956 *Peasant Society and Culture : Anthropological Approach to Civilization*. Chicago : University of Chicago Press.

Risley, H.H. 1915 *The People of India*. New Delhi : Oriental Books Reprint Corporation.

Rivers, W.H.R. 1906 *The Todas*. London : Macmillan.

Robertson, Alexander 1938 *The Mahar Folk : A Study of Untouchables in Maharasthra*. Calcutta: Y.M.C.A. Publishing House.

Rose, H.A. 1914 *Tribes and Castes of Punjab and North-West Frontier Provinces*, Vol. III, Lahore : Civil and Military Gazette Press.

Roy Burman, B.K. 1966 *"Some dimensions of transformation of Tribal societies in India", Journal of Social Research*, Vol.11, No.1.

Roy Burman, B.K. & S.P. Thukral 1970 "*Demographic and Socio - economic Profiles of the Hill Areas of North-Eastern India—Census of India*, 1961.

Singh, Inderjit 1944 *The Gondwana and the Gonds.* Lucknow : Universal Publishers.

Singh, K. Suresh (Ed.) 1966 *Dust Storm and the Hanging Mist.* Calcutta : Firma K.L. Mukhopadhya.

1972 *Tribal Situation in India.* Simla : Indian Institute of Advanced Study.

Singh, Yogendra 1973 *Modernisation of Indian Tradition.* Delhi: Thompson Press.

Sinha, D.P. 1968 *Culture Change in an Inter-Tribal Market.* London : Asia Publication House.

Sinha, Kamleswar 1970 *Meghalaya : Triumph of the Tribal Genius.* New Delhi : Indian School Supply Depot.

Sinha, Raghuvir 1962 *The Akas.* Shillong : Research Department, Advisor's Secretariat.

Sinha, S.C. & Jyotisen and S. Panchabi 1969 "The Concept of Diku among the Tribes of Chotanagpur", *Man in India*, Vol. 49, No.2.

Sinha, Surjit 1957 "Tribal Culture of Peninsular India", *Man in India.* Vol. 37, No.3.

1965 "Tribe-Caste and Tribe-Peasant Continuum in Central India". *Man in India*, Vol. 45, No.1.

1968 "*Tribal Solidarity and Messianic Movements*", *Contributions to Indian Sociology*, New Series, No.11.

Smith, W.C. 1925 *The Ao Naga Tribe of Assam.* London: Macmillan.

Sparkman, John J. 1961 "Economic, Social and Political Implications of Community Development", *Community Development Review*, Vol.6.

Spicer, Edward H. 1952 *Human Problems in Technological Change : A Case Book.* New York : Russell Sage Foundation.

| | | |
|---|---|---|
| | 1976 | *The Harijan Elite*, Delhi : Thompson Press. |
| Sahay, B.N. | 1968 | *Pragmatism in Development : Application of Anthropology*. New Delhi : Book Hive. |
| Sahlins, Marshall D. | 1968 | *Tribesmen*. New York : Prentice Hall. |
| Sarkar, S.S. | 1974 | *The Aboriginal Races of India* Calcutta. |
| Save, K.J. | 1945 | *The Warlis*, Bombay. |
| Saxena, R.N. | 1962 | *Social Economy of a Polyandrous People*. London : Asia Publishing House. |
| Schneider, De. and K. Gough | 1961 | *Matrilineal Kinship*. Berkley and Los Angles : University of California Press. |
| Schneider, Harold K. | 1975 | "Economic Development and Anthropology", Annual Review of Anthropology. |
| Shah, P.G. | 1964 | *Tribal Life of Gujarat*. Bombay : Gujarat Research Society. |
| Shakespeare, J. | 1912 | *The Lushai-Kuki Clans*. London : Macmillan. |
| Sharma, B.D. | 1977 | "Planning for Educational Development in Tribal Areas." (*Occasional Papers on Tribal Development*), Ministry of Home Affairs, New Delhi. |
| | 1978 | "Tribal Development Administration" in S.K. Sharma (ed.) *Dynamics of Development : An International Perspective*. Delhi : Concept. |
| Shaw, William | 1929 | *Notes on the Thadow Kukis*. Calcutta : Government of Assam. |
| Shukla, B.K. | 1959 | *The Daflas of the Subansiri Region*. Shillong: North Eastern Frontier of India Press. |
| Siddique, M.K.A. | 1971 | *Hindustan ke Adivasi* (Urdu). Calcutta : Anthropological Survey of India. |
| Singh, Bhupender | 1977 | "Tribal Development at Cross-roads : A Critique and a Plea", *Man in India*, Vol. 57, No.3. |

| | | |
|---|---|---|
| Watt, George | 1887 | "The Aboriginal Tribes of Manipur", *Journal of the Royal Anthropological Institute*, Vol.16. |
| Westermark, E. | 1926 | *A Short History of Marriage*. London : Macmillan. |
| Wilke Arthur., Fran French & Raj P. Mohan | 1979 | "Tribal India". "Unintentional Acculturation". *Bulletin of the International Committee on Urgent Anthropological and Ethnological Research*, No.21. |
| Wilkinson, Paul | 1971 | *Social Movements*, London : Pall Mall. |
| Wilson Godfrey & Monica Wilson | 1945 | *The Analysis of Social Change*. Cambridge : Cambridge University Press. |
| Wiser, William A. | 1936 | *The Hindu Jajmani System*. Lucknow : Lucknow Publishing House. |
| Wolf, Eric | 1966 | *Peasant*. New York : Prentice Hall. |
| Zaltman, G & R. Duncan | 1977 | *Strategies of Planned Change*. New York : John Wiley. |

**Reports and Proceedings**

Report of the Study Team on Tribal Development Programmes, Planning Commission, 1969.

Shilu Ao Committee Report, 1969.

Approach to Fifth Plan (1974-79) Planning Commission, 1973.

Report of the Steering Group on Development of Backward Classes and Social Welfare for the Fifth Five Year Plan, Planning Commission.

Report of the Task Force on Development of Tribal Areas, New Delhi. Planning Commission.

Report of the Scheduled Areas and Scheduled Tribes Commission headed by U.N. Dhebar, 1960-61, Government of India.

Report of the Special Working Group on Cooperation for Backward Classes, 1962—Ministry of Home Affairs, Government of India.

Tribal Development in the Fifth Plan : Some Basic Policy Papers. Vol.1, 1975 (Report of the Task Force on Development of Tribal Areas headed by L.P. Vidyarthi. Ministry of Home Affairs, Government of India).

| | | |
|---|---|---|
| Srinivas, M.N. | 1953 | *Religion and Society among the Coorgs of South India*. Oxford : The Clarendon Press. |
| Srivastava, S.K. | 1958 | *The Tharus : A Study in Cultural Dynamics*. Agra : Agra University Press. |
| Steiner, Franz | 1967 | *Taboo*. Harmondsworth : Penguin. |
| Thaper, Romesh (Ed.) | 1977 | *Tribe, Caste and Religion*, New Delhi: Macmillan. |
| Thurnwald, R. | 1933 | "Nomads", *Encyclopedia of Social Sciences*. |
| Thurston, E. & Rangachari | 1909 | *Castes and Tribes in Southern India*, Vol. 2. Madras : Government Press. |
| Thusu, K.N. | 1965 | *The Dhurwas of Bastar*.Calcutta : Anthropological Survey of India. |
| Taylor, E.B. | 1913 | *Primitive Culture*. London. |
| U.N.O. | 1979 | *Rural Development Administration in India* : Some Emerging Policy Issues. Bangkok. |
| Venkat Rao, A. | 1976 | *A Century of Tribal Politics*. New Delhi: S. Chand. |
| Vidyarthi, L.P. | 1963 | *The Maler : A Case Study in Nature-Man-Spirit Complex of Hill Tribe in Bihar*. Calcutta : Bookland. |
| | 1964 | *Cultural Contours of Tribal Bihar*. Calcutta. Punthi Pustak. |
| | 1968 | *Applied Anthropology in India*. Allahabad : Kitab Mahal. |
| | 1969 | *Cultural Configuration of Ranchi*. Calcutta : Bookland. |
| (Ed.) | 1981 | *Tribal Development and its Administration*. New Delhi : Concept Publishers. |
| Vidyarthi L.P.& B.K. Rai | 1977 | *Tribal Culture of India*. New Delhi : Concept Publishers. |
| Virottam, B. | 1969 | *The Nagabansis and Cheros*. New Delhi: Munshi Ram Manohar Lal. |

Reports of the Commissioner for Scheduled Castes and Scheduled Tribes, Government of India.

Report of Group on Administrative Arrangement and Personal Policies in Tribal Areas. Ministry of Home Affairs, Government of India.

Sixth Five Year Plan. New Delhi " Planning Commission, Government of India.

Report of *Kolta Enquiry Commission*, Lucknow : Government of Uttar Pradesh.

Approach to Tribal Development in Sixth Plan : A Preliminary Perspective, Ministry of Home Affairs.

Seventh Five Year Plan (1985-90), Vol. I & II : Planning Commission, Government of India.

Eighth Five Year Plan (1992-97), Vol. I & II. Planning Commission.

Ninth Five Year Plan, Planning Commission.

Tenth Five Year Plan, Planning Commission.

Eleventh Five Year Plan, Planning Commission.

Reports of National Commission of SC & ST

Reports of National Commission of ST

Mid-term Appraisal of 11th Plan

# संलग्नक
# (Annexures)

पश्चात् हिमाचल प्रदेश की स्थापना के समय भी ऐसी आवश्यकता का अनुभव हुआ। 'पिछड़े वर्ग आयोग' की सलाह को लागू करने की प्रक्रिया में भी 1956 में इन आदेशों में पुनः परिवर्तन आवश्यक हो गये। 'बम्बई पुनर्गठन अधिनियम, 1960' के अन्तर्गत महाराष्ट्र तथा गुजरात राज्यों की संरचना के समय पुनः इन आदेशों में परिवर्तन किये गये। अंदमान एवं निकोबार द्वीप समूहों के लिए 1959 तथा दादरा नगर हवेली के लिए 1962 में अलग आदेश जारी किए गए। 1966 में पंजाब के पुनर्गठन के फलस्वरूप अनुसूचित जनजातियों की सूची पंजाब से हिमाचल प्रदेश में हस्तांतरित कर दी गयी। संवैधानिक अनुसूचित जनजाति आदेश 1968, तथा संवैधानिक (गोवा, दमन एवं दीव) अनुसूचित जनजाति आदेश 1968 के अंतर्गत उत्तर प्रदेश तथा गोवा, दमन एवं दीव में पाँच-पाँच जनजातियों को अनुसूचित जनजाति घोषित किया गया है। इस कड़ी में अंतिम दो आदेश 1989 तथा 1991 में जम्मू एवं कश्मीर में कुछ जनजातियों को अनुसूचित जनजातियाँ घोषित करके पारित किये गये है।

## सलाहकार समिति (1965)

जनजातियों तथा अनुसूचित जनजातियों के वर्गीकरण के संबंध में संविधान ने स्पष्ट रूप से नीतियों की घोषणा नहीं की है। फिर भी संविधान द्वारा किये गये विशेष प्रावधानों के अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि यह वर्गीकरण इन जनजातियों के पिछड़ेपन पर आधारित होता है। अनुसूचित जनजातियों के अधिकतर दुर्गम स्थानों में रहने तथा विकास की मुख्य धारा से अलग हो जाने के कारण इनके कल्याण तथा विकास पर अधिक ध्यान देने की आवश्यकता ने ही इन्हें इस श्रेणी में रखा है। 1950 तथा 1956 में अनुसूचित जनजातियों की सूची तैयार करने में जनजातियों के पिछड़ेपन तथा आदिम होने की जाँच की गयी थी। इन सूचियों पर लोकसभा में तथा बाहर भी असंगत होने का आरोप लगाया गया। जून 1965 में एक सलाहकार समिति का गठन किया गया जिसका उत्तरदायित्व था अनुसूचित जाति तथा अनुसूचित जनजाति की सूची के परिवर्तन तथा संशोधन में सरकार को सलाह देना।

इस समिति ने अगस्त 1965 में अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत की जिसमें अनुसूचित जातियों तथा अनुसूचित जनजातियों की संशोधित सूचियों की सलाह दी गई।

# 1. अनुसूचित जनजातियों के सामान्य लक्षण

## 'अनुसूचित जनजाति' शब्द की उत्पत्ति

26 जनवरी 1950 को भारतीय संविधान के लागू होने के पश्चात् ही जनजातियों तथा जनजाति समुदायों को "अनुसूचित जनजाति" की विशिष्ट संज्ञा देने की आवश्यकता महसूस हुई। भारत सरकार के अधिनियम, 1935 में "पिछड़ी जनजातियों" का संदर्भ है तथा भारत सरकार के आदेश 1936 की तेरहवीं अनुसूची के अंतर्गत असम, बिहार, उड़ीसा, मध्य प्रान्त तथा बेरार, मद्रास तथा बम्बई की कुछ जनजातियों को पिछड़ी जनजातियों की श्रेणी में रखा गया था।

सर्वप्रथम "आदिम जनजातियों" को अनुसूचित करने का प्रयास 1931 की जनगणना के समय हुआ था।

## अनुसूचित जनजातियों की विशेषतायें

"किसी समुदाय को 'अनुसूचित जनजाति' के रूप में चिह्नित करने के लिये उस में निम्नलिखित विशेषतायें या लक्षण होने चाहियें—(i) आदिम लक्षण (ii) एक विशिष्ट संस्कृति (iii) बाहरी जनों से संपर्क स्थापित करने में संकोच व कतराना (iv) भौगोलिक अलगाव, व (v) सामाजिक तथा आर्थिक पिछड़ापन।

सूची में अनुसूचित जनजातियों का समावेश एक निरन्तर प्रक्रिया है" (जनजातीय मामलों के मंत्रालय की वार्षिक रिपोर्ट 2003-04)।

अनुच्छेद 342 के अन्तर्गत राष्ट्रपति किसी भी राज्य या केन्द्र शासित प्रदेश के संबंध में जनजातियों या जनजाति समुदायों या इन समुदायों के एक भाग को उसी राज्य या केन्द्र शासित प्रदेश से संबंधित अनुसूचित जनजाति घोषित कर सकता है।

इस प्रावधान को आगे बढ़ाने (लागू करने) के विचार से राष्ट्रपति ने संविधान (अनुसूचित जनजाति) आदेश 1950 के नाम से भाग A तथा भाग B प्रदेशों के संबंध में एक आदेश पारित किया। आगे आने वाले वर्षों में भाग C के राज्यों के लिये भी समान आदेश जारी किया गया।

## अनुसूचित जनजातियों की सूची का परिशोधन

संवैधानिक रूप से अनुसूचित जनजातियों के संबंध में राष्ट्रपति द्वारा जारी किए गये आदेशों में लोकसभा के नियमों के द्वारा ही परिवर्तन किया जा सकता है। इस परिवर्तन की आवश्यकता सर्वप्रथम 1953 में आंध्र प्रदेश राज्य के बनने के समय हुई तथा एक वर्ष

### बिहार

असुर, अगड़िया, भूमिज, बैगा, बथूड़ी, बेदिया, बिझिंया, बिरहोर, बिरजिया, चेरो, चिक बराएक, गोंड, गोरेट, हो, करमाली, खड़िया, खरवार, खोंड, किसान नगेसिया, कोरा, कोरवा, लोहरा या लोहर, महली, मल पहाड़िया, मुंडा, ओरॉव, परहइया, संथाल, सौरिया पहाड़िया, सबर, कवार, कोल, थारू।

### झारखण्ड

असुर अगड़िया, बैगा, बंजारा, बथुड़ी, बेदिया, बिंझिया, बिरहोर, बिरजिया, चेरो, चिक बरायक, गोंड, गौरेट, हो, कर्माली, खड़िया व उपनाम, खरवार, खोंड, किसान व नगेसिया कोरा, कोरवा, लोहरा, मछली, मलपहाड़िया व उपनाम, मुंडा, ओरॉव, पड़हइया, संथाल, सौरिया पहाड़िया, सावर, भूमिज, कवार, कोल।

### उत्तर प्रदेश

भोक्सा, भोटिया, जौनसारी, राजी, थारु, गोंड, धुरिया, नायक, ओझा, पठारी, राजगोंड, खरवार खरैवार, सहरिया, परहाया, बैगा, पंखा, पनीका, पतारी, चेरो, भुईया

### उत्तराखंड

भोटिया, बुक्सा, जौनसारी, राजी, थारु

### उड़ीसा

बगाटा, बैगा, बंजारा या बंजर, बथुड़ी, भोतडा या धोतडा, भुइयां या भुयान, भूमिया, भूमिज, भुंजिया, बिंझल, बोंडों पोराजा, भरतुआ चेंचू, दल, देसुआ भूमिज, दिदाई, धरुआ, गोंडिया, गडाबा, गोंड, गोंडो धरा, होलवा, हो, जुआग, किसान, कोल, कोलनाकोल, लोहर, कोल्हा, कोली, कोंडा दोरा, कोरुआ, कांधा गवडा, कांधा गंडा, कवर, खड़िया, खरवार, खोंड या कंध, कोरिय, कोया, कूली, कोंड या कांधा, कोल्हा, भटिया, महाली, मनकीदी, मनकिरदिया, मत्या, मिर्धा, मुंडा, मंदरी, मिरधास, ओराओं, ओमनात्य, परेंगा, परोजा, पैतिया, राजोर, संथाल, सओरा, शबर या लोध, सोन्टी थरुआ।

### मध्य प्रदेश

अगरिया, अंध, बैगा बिरहुल, बिरहोर, बियार, बिमार, भुंजिया, भैना, भूनिया, भिंझतार, भील मीना, मरिया, भूमिया, पट्रा, बैगा, भील व भिलाला, पटेलिया तथा बरेला, भील, भीलमीना धनवार, दामोर, गोंड या दरोई, गोंड तथा पठारी, गोंड, गडाबा गडवा, गरमिसा गहावार, हलबा या हलबी, कोल (दहैत), कोल, कोरकू, कमार, कवार, कोरवा, कोलम, कोर, करकू, कवार, ससर, खड़िया, कोंड या खोंड, मुंडा, मीना, मोगिया, मवासी माझी, मझवार,

# II. अनुसूचित जनजातियों की सूची

### अरुणाचल प्रदेश

अबोट, अक्का, अपातानी, बर्मा, दफला, गलोंग, गोंबा, खांपती, खोवा, मिशमी, सिंहफ़ों, शीरदुकपेन।

### असम

बोरो, बोरो कचारी, चकमा, दिमसा, होज़ाई, हाजोंग, कचारी, लालुंग, मैच, मिकिर।

### मेघालय

गारो, हमर, खासी।

### नागालैण्ड

नागा, सितेंग।

### मणिपुर

कुकी

### त्रिपुरा

भूटिया, भील, चकमा, चैमल, गारो, हलम, जमतिया, कूकी, खसिया, लुशार्द, लेपचा, मोग, मुंडा, नोआतिया, ओरंग, रियंग, संथाल त्रिपुरा या त्रिपुरो टिप्पेरा, उपेचाई।

### मिज़ोरम

लाखेर, मिज़ो, मात, पाकी

### पश्चिमी बंगाल

असुर, बैगा, बंजारा, बथूठी, बादिया, बिधिया, बिरहोर, भूमिज, भूतिया, केरो, चिक, बराहक, चकमा, गारो, गोंड, गोरैट, हो, हजंग, कोरा, करमाली, खरबार, खोंड, किसान, करवा, लोधा या खेरिया, लेपचा, लोहरा, मलपहाड़िया, मुंडा, माघ, महाली, मेच, मरू, महली, नगेसिया, ओराँव, परहडया राभा, संताल, सौरिया पहाड़िया, सावर है।

गमता, हसादरु, हक्की पिक्की, कैकुरबा, कथोडी, कोकना, कोली धोर, कोया, करुवा, कुडिया, कनियाम्, कुरुमान, कुरीछायन, कोटा, कोरागा, कोंडा रेड्डी, कोंडा काकुश, काहूनायकन्, कम्मारा, कादर, मलैकुडी, मलेरु, मराठा, मेदा, मर्ती, मुदुगार, मलयकंडी, महामलासार, मदियन, नैकडा, पर्धी, पटेलिया, पोमला, पोरामा, पुलायों, पुनिया, पलियान, रथावा, राजगोंड, सोलीगारु, सोल्गा, ढोडा, विटोलिया, वर्ली, पेरावा।

### तमिलनाडु

औडियान, अर्नदान, येरुलाज, ऐरावलन, कादर, कझाई, कहूनायकन्, कोंडो काकुश, कोंडा रेड्डी, कोरागा, कोटा, कुडिया, कुरीछायन, कुरुमान, कुलांयां, कोचूवेलन, कनीकरण, कुरुम्बा, कनियन, मलसार, मलैकिन्ये। मुदुगर, मुथुरन, मलांन्न्, मल्यारयन, मलयान, मल्गैवेदन, मलीपन्द्रम, मलाय आर्यम्, मलक्र्कुरावन, मलयाली, पलियान, पलियार, रोल्गा, उराली, उल्लादन, विशासन।

### केरल

अरुआदन, येरुलज, एरावलन कन्निकर, कोचूवेलन, कडियन, कझारा, कहूनायकन्, कोंडाकाकुस रेड्डी, कोरागा, कोरा, कुडिया, कुरीछाचन, कुरुमान, करुम्बा, मथुवान, मलक्कुरावन, मलाय अरयान, मलाय पन्धरम, मलाय वेदन, मलायम्, मर्ल्यापर, मलार, मल्ला मलसार, मलाय कंदी, ख् भीर्ती, पल्यान, पल्लियार, पुलांया, पुनियन, उराली, उल्लादन, विशवन।

### लक्षद्वीप, मिनिकॉय व अमिनदिवी द्वीपसमूह

लक्षद्वीप मिनीकाय तथा अमिनदिवी द्वीपसमूह में रहने वाली जनजातियाँ या उनके पूर्वज जिनका जन्म इन्हीं द्वीप समूहों में हुआ था।

### अंदमान तथा निकोबार द्वीपसमूह

अंदमानी, जरवा, निकोबारी, ओंगे, शोमपेन, सेंटीनलीस।

### जम्मू व कश्मीर

बकरवाल, गद्दी तथा लद्दाख की बौद्ध जनसंख्या।

निहाल, नर, नगसिया, ओराँव, परधान, पर्धी, पर्जा, पतिका, पाओ, पनिका, सहारिया, सेहारिया, सौर, सवर, सोनर, सओंता।

## छत्तीसगढ़

अगड़िया, अंध, बैगा, भैना, भरिया व उपनाम उपजनजातियाँ भटरा, भील व उपजनजातियाँ, भील मीना, भुंजिया, निथार, बिंझवा, बिरहोर व बिरहुल, दमार धनवार, जगदाबा, गौंड व हलबा व हलबी, कमार, कोड़कू, कवार, व उपनाम, खैरवार, खड़िया, कोंढ, कोल, कोलम, कोरवा, मांझी, मझवार, मवासी, मुंडा, नगेसियो, ओरांव, पाओ, परधान व उपनाम, पर्धी, बहेलिया व उपनाम, परजा, सहरिया व उपनाम, साओंता, सौर, सवार, सोनर।

## हिमाचल प्रदेश

गद्दी, गूजर, जाद/लांबा/खंपा/मोत् कनौरा या किन्नर, लहूला, पंगवाला, संवगला।

## राजस्थान

भील, भील मीना, चोधरा, दामोर, दुबला, धोदिया, धनका, गरमिया, गमित, गोंड या राजगोंड, कथोडी या कटकारी, कोकना, कुकना, कोली, धोर, कारकू मीना, पोमला, पटेलिया, पर्ध्री, रथावा, से थरिया, वर्ली, विटोलिया।

## महाराष्ट्र

अंध, भील, वर्दा, बवाया या बमया, विंसवार, बिरहुल, मैना, भरवाउद्व भुजिया, मन्नरा, चोधारा, चारण, धनका, दुबला, धोदिया, धनवार, गोंड, गमित, गडावा, हलवा या हलवी, कथोठी या कटकारी, कोकना/कोकनी/कुकना, कोली धोर, कंध, कोल, कोलम, कारकू, कोखा, खड़िया, खरवार, कुवार, कामर, कुनवी, कौधरी, कोली मल्हार, कोली महादेव, कोया, नैकदा या नैका, नगेसिया निहाल, आरों, पोमला, पटेलिया, पर्धी, अकरैनी महल के परुआ, भील, परजा, परधान, पाधर, रथावा, रावर, सिद्धी, साबर, साओं तो, ठाकुर या ठाकर, थोटी।

## आंध्र प्रदेश

अंध, बगारा, भील, बाल्मीक, चेंचू, गडावा, गोंड, पहाड़ी रेड्डी जटापु, कझारा, कोलम, कोया, कोंडा दोरा, कोंडा काकू, कोंडा रेड्डी खोंड, कोरिया, कुलिया, कहूनायकम्, कोरिया विंधु, मली, भन्ने दोरा, नाखा दोरा, नायक, पोरजा, परधार, रेड्डी दोरा, रोना, रेने/सबरा, सुगाली, थोरी, बाल्मीक, यर्नदिया, येरुकुला।

## कर्नाटक

अर्नदान, बर्दा, बमया, भील, चोधरा, चेंचू, धनका, धोधिया दुबला, एकलिया, गोदालू,

# IV. जनजातीय भाषायें

अबर आदी, अगरिया, ऐमोल, अका/हूसो, अनल, अंदमानी*, ब्ररिया, अंगामी, ओ, असुरी, बंजारी/लभामनी, भीली, भूमिज, बिरजिया/बिहिया, बोड/बोरो, छांग-नागा, चीरू, छोटे, दफला, देओरी, दिमासा, गदाबा, गोंडी, हक्की पिक्की*, जटापू*, हलम, हेंगना*, हमर, हो, जुआंग, कबुई, काया नागा, कन्नौरी, खड़िया, खासी, खवाथलांग, खेरवारी, खेजटा, खोहराव खेंड/कोंध, किसान, कोछ, कोडा/कोरा, कोलामी, कोम, कोंडा, को नयाक, कोरकू, कोरवा, कोटा, कोया, कुई, कूकी (अविशिष्ट), कुरुक/ओराओं, लाखेट, ललूंग, अम्बादी, लभकांग, लेपचा, ल्होटा (नागा), लुशाई/मिजो, मकवारे, माओं, मराम, मारिंग, मिकिट, मेथेयी (मणिपुर), मीरी, मिशमी, मरु, मुंडा (मुदरी), नागा (अविशिष्ट), निकोबारी, नांकहे, ओंगे*, पैटे, पराजा, पर्जी, नवाई, फोम, पोचरी, पुरुम् राभा, राल्टे, रंगखोल, रेंगमा, संताली, सवारा (सओरा), सेमा (नागा), शोमपेन*, सिमता (नागा) सिंगाफो, तांगखुल, तंगसा*, थोडो, टोडा, त्रिपुरी, उचई*, वैफेई, वगदी, वांचो, थिमयंगरी, जेमी नागा।

---

* यद्यपि इन मातृभाषाओं का वर्गीकरण नहीं हो सकता फिर भी यह जनजातीय भाषायें मानी जाती हैं।

# V. अनुसूचित जातियों व अनुसूचित जनजातियों की जनसंख्या (लाखों में)

| वर्ष | कुल जन-संख्या | अनु.जाति की जन-संख्या | अनु.जातियों का प्रतिशत | अनु.जन-जातियों की जनसंख्या | अनु.जन-जातियों का प्रतिशत |
|---|---|---|---|---|---|
| 1961 | 4390 | 650 | 14.6 | 300 | 6.9 |
| 1971 | 5480 | 800 | 14.5 | 390 | 6.9 |
| 1981 | 6850 | 1060 | 15.5 | 540 | 7.9 |
| 1991 | 8443 | 1382 | 16.48 | 677 | 8.08 |
| 2001 | 10286 | 1666 | 16.20 | 843 | 8.20 |

# VI. जनजातीय जनसंख्या (राज्य तथा केन्द्रशासित प्रदेश) (लाखों में)

| *राज्य/केन्द्र शासित प्रदेश* | *जनजातीय जनसंख्या* | *प्रतिशत* |
|---|---|---|
| उत्तराखंड | 2.56 | 3.02 |
| झारखंड | 70.87 | 26.30 |
| महाराष्ट्र | 85.77 | 8.85 |
| पश्चिमी बंगाल | 44.07 | 5.50 |
| आंध्र प्रदेश | 50.24 | 6.59 |
| छत्तीसगढ़ | 66.17 | 31.76 |
| तमिलनाडु | 6.51 | 1.04 |
| कर्नाटक | 34.64 | 6.55 |
| राजस्थान | 70.98 | 12.56 |
| गुजरात | 74.81 | 14.76 |
| उड़ीसा | 81.45 | 22.13 |
| केरल | 3.64 | 1.14 |
| हिमाचल प्रदेश | 2.45 | 4.02 |
| त्रिपुरा | 9.93 | 31.05 |
| मणिपुर | 7.41 | 34.20 |
| मेघालय | 19.93 | 85.94 |
| दमन, दीव | 0.14 | 8.85 |
| नागालैण्ड | 17.74 | 89.15 |
| अरुणाचल प्रदेश | 7.05 | 64.22 |
| मिज़ोरम | 8.39 | 94.46 |
| सिक्किम | 1.11 | 20.60 |
| अंदमान निकोबार द्वीप | 0.29 | 1.27 |
| दादरा नगर हवेली | 1.37 | 62.24 |
| लक्षद्वीप | 0.57 | 94.51 |
| उत्तर प्रदेश | 1.08 | 0.06 |
| बिहार | 7.58 | 0.91 |
| मध्य प्रदेश | 122.33 | 20.27 |

स्रोत : भारत 2005

# VII. अनुसूचित जनजातियों की जनसंख्यानुसार राज्यों/केन्द्रशासित प्रदेशों का क्रम

| *क्रम* | *राज्य/केन्द्र शासित प्रदेश* | *राज्य की जनसंख्या में अनुसूचित जनजातियों का प्रतिशत* | | |
|---|---|---|---|---|
| | | *1971* | *1981* | *1991* |
| 1. | मिज़ोरम | 93.55 | 94.26 | 94.75 |
| 2. | मेघालय | 80.58 | 80.48 | 91.31 |
| 3. | नागालैण्ड | 83.99 | 88.61 | 79.93 |
| 4. | अरुणाचल प्रदेश | 69.82 | 79.02 | 76.80 |
| 5. | त्रिपुरा | 28.44 | 28.95 | 31.80 |
| 6. | मणिपुर | 27.30 | 31.18 | 31.75 |
| 7. | उड़ीसा | 22.43 | 23.11 | 28.05 |
| 8. | मध्य प्रदेश-छत्तीसगढ़ | 22.97 | 20.14 | 27.09 |
| 9. | सिक्किम | 23.27 | 23.27 | 26.85 |
| 10. | गुजरात | 14.22 | 13.99 | 17.60 |
| 11. | राजस्थान | 12.21 | 12.13 | 14.25 |
| 12. | महाराष्ट्र | 9.19 | 5.86 | 10.95 |
| 13. | बिहार-झारखंड | 8.31 | 8.75 | 10.06 |
| 14. | आंध्र प्रदेश | 5.93 | 3.81 | 7.15 |
| 15. | पश्चिम बंगाल | 5.63 | 5.72 | 6.75 |
| 16. | कर्नाटक | 4.91 | 4.79 | 6.08 |
| 17. | हिमाचल प्रदेश | 4.61 | 4.09 | 5.77 |
| 18. | केरल | 1.03 | 1.26 | 1.35 |
| 19. | तमिलनाडु | 1.07 | 0.76 | 1.04 |

| *क्रम* | *राज्य/केन्द्र शासित प्रदेश* | *राज्य की जनसंख्या में अनुसूचित जनजातियों का प्रतिशत* | | |
|---|---|---|---|---|
| | | *1971* | *1981* | *1991* |
| 20. | उत्तर प्रदेश-उत्तराखंड | 0.21 | 0.22 | 0.33 |
| 21. | जम्मू एवं कश्मीर | | उपलब्ध नहीं | |
| **केन्द्र शासित प्रदेश** | | | | |
| 1. | लक्षद्वीप | 93.82 | 92.82 | 92.30 |
| 2. | दादरा व नगर हवेली | 78.82 | 88.89 | 87.68 |
| 3. | दमन दीव | 93.99 | 13.92 | 15.84 |
| 4. | अंदमान निकोबार द्वीप | 11.85 | 15.72 | 11.47 |

# VIII. अनुसूचित जनजातियाँ—कुछ महत्त्वपूर्ण तथ्य व आँकड़े

(1) 2001 की जनगणना के दौरान 8.45 करोड़ लोगों को, जो कि देश की कुल जनसंख्या के 8.14 प्रतिशत थे, अनुसूचित जनजाति जनसंख्या घोषित किया गया था। 1991 में इनकी संख्या 6.77 करोड़ थी जो कि कुल जनसंख्या का 8.08 प्रतिशत थी।

(2) अनुसूचित जनजातियों का 55% भाग पूर्वी तथा मध्य जनजातीय क्षेत्रों (पश्चिमी बंगाल, बिहार व झारखण्ड, मध्य प्रदेश व छत्तीसगढ़, उड़ीसा तथा आंध्र प्रदेश का कुछ भाग), 28% भाग पश्चिमी जनजातीय क्षेत्रों (गुजरात, महाराष्ट्र, राजस्थान, दादरा नगर हवेली तथा गोवा, दमन एवं दीव) में रहता है। केवल 6% भाग दक्षिण में (आंध्र प्रदेश का कुछ भाग, कर्नाटक, केरल तथा तमिलनाडु 10%, उत्तर-पूर्वी भारत, 0.83% प्रतिशत हिमाचल प्रदेश तथा 0.10% लक्षद्वीप व मिनीकाय द्वीप समूह तथा अंदमान निकोबार द्वीप समूह में है।

(3) चार राज्यों मेघालय (91.32%), नागालैण्ड (79.93), अरुणाचल प्रदेश (76.8%), मिज़ोरम (94.75%) तथा दो केन्द्र शासित प्रदेशों दादरा तथा नगर हवेली (87.68%) व लक्षद्वीप (92.30%) में कुल जनसंख्या का 70% या उससे अधिक भाग अनुसूचित जनजातियों का है। पांच राज्य-छत्तीसगढ़, झारखंड (27.09%), मणिपुर (31.75%), उड़ीसा (28.05%), सिक्किम (26.85%) तथा त्रिपुरा (31.8%) हैं जिनकी कुल जनसंख्या का 20% भाग जनजातियों का है।

(4) जनजातीय बाहुल्य राज्यों के बाहर 24 जिले ऐसे हैं जिनमें जनजातीय जनसंख्या का बाहुल्य है अर्थात् 50% या अधिक भाग अनुसूचित जनजातियों का है।

(5) 650 खण्डों में वे बहुमत में हैं।

(6) देश के 93,846 गांवों को जनजातीय गाँव घोषित किया गया है।

(7) ऐसा आकलन है कि 75% से अधिक जनजातीय जनसंख्या ऐसे क्षेत्रों में रहती है जहाँ पर इनका बहुमत है।

(8) जिन क्षेत्रों में जनजातियाँ रहती हैं उनमें से अधिकतर क्षेत्र देश के पिछड़े क्षेत्रों के अंतर्गत आते हैं।

(9) देश के भौगोलिक क्षेत्र का लगभग 15% भाग ऐसा है जिसमें जनजातीय जनसंख्या सर्वाधिक है।

(10) एक ओर जहाँ 50% या इससे अधिक जनजातीय जनसंख्या वाले गाँवों के समूहों, खण्ड, जिलों तथा राज्यों को मानचित्रों में दर्शाया गया है वहीं दूसरी ओर यह भी देखा गया कि महाराष्ट्र के थाने जिले से मणिपुर के तेंगनोपल जिले तक विस्तृत जनजातीय पट्टी (tribal belt) है जिसका पार्श्व विस्तार उत्तर के उप-हिमाचल तथा दक्षिण में समुद्र तटों तक है।

(11) उत्तर पूर्व तथा उप हिमाचल क्षेत्रों में रहनेवाली कुछ जनजातियों के भाई-बंधु/सजातीय लोग भारत की सीमा के बाहर भी हैं।

(12) जबकि देश के संपूर्ण भौगोलिक क्षेत्र का 20% भाग ही जनजातीय क्षेत्र है ऐसा अनुमान है कि लगभग 70% खनिज सम्पदा तथा वन, जल व विद्युत संसाधनों का बड़ा हिस्सा इन्हीं क्षेत्रों में हैं।

(13) 1961 में नगरीय क्षेत्रों में केवल 2.61% जनजातीय जनसंख्या की घोषणा की गयी थी। 1971 में यह बढ़कर 3.52% हो गयी। 1971-81 के दौरान जनजातीय क्षेत्रों में बहुत-से कस्बों तथा उद्योगों की स्थापना हुई। इसके पश्चात् भी जनजातियों के वीच नगरीय जनसंख्या का प्रतिशत 6.20% ही था।

(14) 1991 की जनगणना के अनुसार अनुसूचित जनजातियों की साक्षरता 29.60 है। 1971 में साक्षरता 11.30% थी। विभिन्न राज्यों की साक्षरता के प्रतिशत का अंतर ध्यान देने योग्य है। जैसे आंध्र प्रदेश के 7.62% से लेकर मिज़ोरम के 59.63% तक।

(15) 1991 में अनुसूचित जनजातियों के 50.93% भाग को कृषक, 36.67% को कृषि श्रमिक तथा शेष को अन्य श्रेणियों में बाँटा गया।

(16) भारत में कुछ ऐसी जनजातियाँ हैं जो पूर्ण रूप से वनों तथा एकत्रित भोजन पर निर्भर रहती हैं। बिरहोर, चेंचू आदि जनजातियाँ इस श्रेणी में आती हैं। यह लोग मुख्यतः उन्हीं वस्तुओं पर निर्भर नहीं रहते जिन्हें ये एकत्र करते हैं। ये लोग कृषकों से, इन वस्तुओं का विनिमय कर लेते हैं या व्यावसायियों को बेच देते हैं।

(17) स्थानांतरित खेती लगभग 267 लाख एकड़ भूमि पर तथा 3.55 लाख परिवारों द्वारा की जाती है। एकास्थित खेती अधिकतर जनजाति जनसंख्या के जीवनयापन का मुख्य साधन है। फिर भी जिन क्षेत्रों में यह जनजातियाँ अन्य लोगों के साथ रहती हैं वहाँ पर इनके द्वारा खेती की जाने वाली भूमि अनुपजाऊ या कम उत्पादक है।

(18) कुटीर उद्योगों द्वारा जीवनयापन करने वाली छोटी जनजातियों की जनसंख्या छितरी हुई है। पश्चिमी बंगाल तथा बिहार की महाली (डोलची बनाने वाले) तथा मध्य प्रदेश की अगरिया (लोहार) जैसी जनजातियाँ इस श्रेणी में आती हैं।

(19) अत्यधिक अविकसित जनजातियाँ जो कि विशेष ध्यान देने योग्य "आदिम जनजातियाँ" घोषित कर दी गई हैं, की संख्या 72 है तथा इनकी जनसंख्या केवल 13,94,692 है।

(20) जनजातीय उपयोजना 1974 से 18 राज्यों तथा 2 केन्द्रशासित प्रदेशों में कार्यरत है। इनके नाम हैं, आंध्रप्रदेश, असम, बिहार, गुजरात, हिमाचल प्रदेश, कर्नाटक, केरल, मध्य प्रदेश, महाराष्ट्र, मणिपुर, उड़ीसा, राजस्थान, तमिलनाडु, त्रिपुरा, उत्तर प्रदेश, पश्चिमी बंगाल, अंदमान निकोबार द्वीप समूह तथा गोवा, दमन व दीव। सिक्किम में जनजातीय उपयोजना का आरम्भ 1980 में हुआ। इस योजना के अंतर्गत 15% अनुसूचित जनजाति जनसंख्या सम्मिलित थी। सातवीं योजना में इस उपयोजना के अन्तर्गत शत-प्रतिशत अनुसूचित जनजातियों को सम्मिलित करने का लक्ष्य था जो अब पूरा हो चुका है।

# IX. चुनी हुई प्रधान एवं गौण (Major/Minor) जनजातियाँ तथा उनका वितरण

| | |
|---|---|
| 1. भील | मध्य प्रदेश व छत्तीसगढ़, महाराष्ट्र, राजस्थान तथा गुजरात में लगभग 52 लाख |
| 2. गोंड | मध्य प्रदेश व छत्तीसगढ़, महाराष्ट्र, आंध्र प्रदेश, गुजरात व उड़ीसा में लगभग 48 लाख |
| 3. संथाल | बिहार व झारखण्ड, उड़ीसा, पश्चिमी बंगाल में लगभग 36 लाख |
| 4. ओराँव | बिहार व झारखण्ड, उड़ीसा, पश्चिमी बंगाल तथा मध्य प्रदेश व छत्तीसगढ़ में लगभग 17 लाख |
| 5. मीना | राजस्थान तथा मध्य प्रदेश व छत्तीसगढ़ में लगभग 15 लाख |
| 6. मुंडा | बिहार व झारखण्ड, मध्य प्रदेश व छत्तीसगढ़, उड़ीसा तथा पश्चिमी बंगाल में लगभग 12 लाख |
| 7. खोंड | बिहार व झारखण्ड, उड़ीसा, मध्य प्रदेश व छत्तीसगढ़ तथा पश्चिमी बंगाल में लगभग 9 लाख |
| 8. हो | बिहार व झारखण्ड, उड़ीसा तथा पश्चिमी बंगाल में लगभग 5 लाख |
| 9. नागा | नागालैण्ड तथा अन्य उत्तर पूर्वी राज्यों में लगभग 5 लाख |

(जनगणना, 1991)

1. शॉम्पेन, 214
2. जरवा, 200
3. आन्गे, 97
4. सेंटनलीस, 80
5. ग्रेट अंदमानी, 28

यह सभी जनजातियाँ अंदमान व निकोबार द्वीप समूह के विभिन्न समूहों में रहती हैं।
(जनगणना, 1991)

# X. अत्यधिक अविकसित अवस्था में रहने वाली जनजातियाँ (आदिम जनजातीय समूह)

| क्र.स. | प्रदेश/केन्द्र शासित प्रदेश | आदिम जनजातीय समूह |
|---|---|---|
| 1. | आंध्र प्रदेश | 1 बोडो गडाबा |
| | | 2 बोडो पोरोजा |
| | | 3 गूरोब गडावा |
| | | 4 खोंड परोजा |
| | | 5 परेंगी परोजा |
| | | 6 थोटी |
| | | 7 डोंगरिया खोंडा |
| | | 8 कोंडा सवारस |
| | | 9 कुटिया खोंड |
| | | 10 चेंचू |
| | | 11 कोलम |
| | | 12 कोंडा रेड्डी |
| 2. | बिहार/झारखण्ड | 1 असुर |
| | | 2 बिरहोर |
| | | 3 बिर्जिया |
| | | 4 सवर |
| | | 5 हल (पहाड़ी) खड़िया |
| | | 6 कोरवा |
| | | 7 मल पहाड़िया |
| | | 8 परहट्टया-पहाड़िया |
| | | 9 सौरिया पहाड़िया |
| 3. | गुजरात | 1 कथोड़ी |
| | | 2 सिद्दीस |
| | | 3 कोलघा |

| क्र.स. | प्रदेश/केन्द्र शासित प्रदेश | | आदिम जनजातीय समूह |
|---|---|---|---|
| | | 4 | कोटवलिया |
| | | 5 | पाधर |
| 4. | मध्य प्रदेश/छत्तीसगढ़ | 1 | अबुझमारिया |
| | | 2 | बैगा |
| | | 3 | भैरा |
| | | 4 | पहाड़ी (हिल) कोरवा |
| | | 5 | सहारिया |
| | | 6 | कामर |
| 5 | महाराष्ट्र | 1 | मरिया गोंड |
| | | 2 | करकटिया |
| | | 3 | कोलम |
| 6. | उड़ीसा | 1 | बिरहोर |
| | | 2 | दिदायी |
| | | 3 | मनकिदिया |
| | | 4 | लोधा |
| | | 5 | बोंडा |
| | | 6 | डोंगरिया कोंध |
| | | 7 | कुटिया कोंध |
| | | 8 | लंजिया सौरास |
| | | 9 | पौदी मुआन |
| | | 10 | सौरा |
| | | 11 | खड़िया |
| | | 12 | जुआंग |
| 7. | राजस्थान | 1 | सेहरिया |
| 8. | त्रिपुरा | 1 | रियंग |
| 9. | पश्चिम बंगाल | 1 | बिरहोर |
| | | 2 | टोटा |
| | | 3 | लोधा |
| 10. | उत्तर प्रदेश/उत्तराखंड | 1 | राजी |
| | | 2 | बुक्सा |

| क्र.स. | प्रदेश/केन्द्र शासित प्रदेश | | आदिम जनजातीय समूह |
|---|---|---|---|
| 11. | कर्नाटक | 1 | जेनु करूबा |
| | | 2 | कोरागा |
| 12. | केरल | 1 | कोलानाइकन |
| | | 2 | कादर |
| | | 3 | कुरूम्बा |
| | | 4 | कट्टनाइकन |
| 13. | मणिपुर | 1 | मर्रम नागा |
| 14. | तमिलनाडु | 1 | कट्टनाइकम |
| | | 2 | कोटा |
| | | 3 | टोडा |
| | | 4 | इरुलास |
| | | 5 | कुरूम्बा |
| | | 6 | पनिवॉन |
| 15. | अंदमान निकोबार द्वीप समूह | 1 | ग्रेट अंदमानी |
| | | 2 | जरवा (अनुमानित) |
| | | 3 | ओंग |
| | | 4 | सेंटेनलीस (अनुमानित) |
| | | 5 | शाम्पेन |
| **आदिम जनजातीय समूहों की संख्या** | | **72** | |

# XI. अनुसूचित जातियों व अनुसूचित जनजातियों में साक्षरता दर

| *वर्ष* | *अनुसूचित जाति* | *अनुसूचित जनजाति* |
|---|---|---|
| 1961 | 10.27 | 8.53 |
| | (3.29) | (3.16) |
| 1971 | 14.67 | 11.30 |
| | (6.44) | (4.85) |
| 1981 | 21.38 | 16.35 |
| | (10.93) | (3.04) |
| 1991 | 39.4 | 29.60 |

(कोष्ठक में लिखी संख्यायें महिलाओं की साक्षरता प्रतिशत को दर्शाती हैं।)

# XII. छठी अनुसूची में शामिल जनजातीय क्षेत्र

भाग-1

असम

1. उत्तरी कछार पहाड़ी जिला
2. कार्बी आंगलोंग (मिकिर पहाड़ी) जिला

भाग-2

मेघालय

1. खासी पहाड़ी जिला
2. जैन्तिया पहाड़ी जिला
3. गारो पहाड़ी जिला

भाग-3

मिजोरम

1. चकमा जिला
2. लक्खा जिला
3. माकी जिला

भाग-4

त्रिपुरा

1. त्रिपुंरा जनजातीय क्षेत्र स्वशासी जिला परिषद
2. उत्तरी त्रिपुरा का जिला
3. दक्षिणी त्रिपुरा का जिला
4. पश्चिमी त्रिपुरा का जिला

# XIII. अनुसूचित क्षेत्रों एवं अनुसूचित जनजाति क्षेत्रों का प्रशासन (पाँचवीं अनुसूची और अनुसूचित जनजाति क्षेत्रों का प्रशासन)*

उद्देश्य और नीति संबंधी अध्याय में हमने इस प्रश्न का समाधान करने का प्रयास किया है कि अनुसूचित जनजातियों की आबादी के लिए संविधान में जो व्यवस्थाएं की गयी हैं उन्हें अमली रूप कैसे दिया जाय। इस अध्याय में पाँचवीं अनुसूची की कुछ व्यवस्थाओं को कार्यरूप में परिणत करने के बारे में बताया गया है - विशेष रूप से जो काम अब तक हो चुका है उसके सन्दर्भ में। अध्याय के दूसरे खण्ड में जनजातियों के प्रशासन का उल्लेख किया गया है। अनुसूचित क्षेत्रों और जनजातीय क्षेत्रों के बीच के अंतर को समझने की आवश्यकता है। अनुसूचित क्षेत्र वे हैं जैसे कि पाँचवीं अनुसूची के अंतर्गत राष्ट्रपति के ज्ञापन में परिभाषित किये गये हैं। उसमें अनुसूचित क्षेत्रों और टी.एस.पी. के क्षेत्रों को एक ही धरातल पर लाने का प्रयास किया गया है। मोटे तौर पर वे दोनों एक जैसे हैं भी। "जनजातीय क्षेत्र" का कोई सही अर्थबोधन या लक्षणार्थ नहीं है। किन्तु, उसे टी.एस.पी. क्षेत्र अर्थात् जनजातियों की आबादी आदि को मिलाकर समझा जा सकता है। अध्याय के अंतिम खण्ड में जनजातीय क्षेत्रों के बारे में बताया गया है।

2. संविधान की पाँचवीं अनुसूची जनजातीय क्षेत्रों में शान्ति-व्यवस्था और अच्छी सरकार की जिम्मेदारी राज्यों को सौंपती हैं। संघ सरकार के प्रशासनिक अधिकार, ऐसे क्षेत्रों के प्रशासन के लिये राज्यों को निर्देश देने तक सीमित हैं। पाँचवीं अनुसूची के अनुसार कायदे-कानून बनाने के अधिकार राज्यपाल को दिये गये हैं। यह अनोखा तरीका संघ-सरकार और राज्य-सरकार के कानूनों को अनुसूचित क्षेत्रों में लागू होने की प्रक्रिया में लोचशीलता लाने के लिये किया गया है। इसका यदि सोद्देश्य प्रयोग किया गया तो जनजाति क्षेत्र में टी.एस.पी. तंत्र को प्रभावी ढंग से लागू करने में मदद मिलेगी।

3. फिर भी, अभी तक राज्यों द्वारा पाँचवीं अनुसूची की व्यवस्थाओं को पूरी तरह लागू नहीं किया गया है। हालांकि पाँचवीं अनुसूची के दूसरे पैराग्राफ के तुरन्त बाद के पैराग्राफ में यह अभिकल्पना की गयी है कि शान्ति व्यवस्था और अच्छी सरकार के लिए नियम-कानून बनाये जायेंगे, विशेष रूप से -

---

***स्रोत :** पाँचवीं पंचवर्षीय योजना की अवधि में अनुसूचित जनजातियों के विकास से संबंधित कृतिक समूहों की रिपोर्ट का आठवाँ अध्याय—दिसम्बर 1984, गृह मंत्रालय, भारत सरकार, नई दिल्ली।

(क) अनुसूचित जाति के लोगों द्वारा या उनके बीच भूमि के हस्तान्तरण को रोकने और निषिद्ध करने के लिए

(ख) इन जनजातियों के सदस्यों में भूमि के आवंटन को नियमित करने के लिए।

(ग) रुपया कर्ज देने के व्यापार को विनियमित करने के लिए।

अनेक राज्य ऐसे हैं जिन्होंने इन विषयों के बारे में या तो नियम बनाये नहीं हैं और यदि बनाये हैं तो जनजातियों में कर्ज देने की प्रथा को रोकने की व्यवस्थाएं नहीं की हैं। जहां तक भूमि के पृथक्करण संबंधी कानून का संबंध है केरल सरकार ने 1975 में केरल अनुसूचित जनजाति (भूमि हस्तांतरण विरोधी एवं पृथक् की गयी भूमि को फिर लौटाने के लिए) अधिनियम पास किया था लेकिन उसे अब तक जनजाति-क्षेत्रों में लागू नहीं किया गया है। आंध्र प्रदेश की सरकार ने ऐसा प्रशासनिक आदेश जारी किया है जो आंध्र प्रदेश (अनुसूचित क्षेत्र) भूमि हस्तांतरण कानून, 1959 के अमलीकरण में विघ्न डालता है। दोनों में काफी विरोधाभास है। प्रशासनिक आदेश के अनुसार जनजाति के लोगों की जो भूमि गैर-जनजातीय लोगों के पास है उनमें से जिनके पास 5 एकड़ सिंचित और 10 एकड़ असिंचित भूमि है उनसे वह भूमि लौटाई नहीं जा सकती और इस प्रकार वह भूमि जनजातियों को दिलाई भी नहीं जा सकती।

4. जनजातियों से संबंधित उप-योजना नीति की सफलता में शोषण विरोधी कार्यवाहियों ने काफी योगदान किया है। पाँचवीं अनुसूची के आधार पर शोषण-विरोधी कानून आसानी से बनाये जा सकते हैं, क्योंकि उसमें उनके लिए काफी गुंजाइश है। इन कानूनों को पूरी सच्चाई के साथ लागू भी करना चाहिए जिससे टी.एस.पी. के अंतर्गत उनके विकास से संबंधित कार्रवाइयों का समर्थन और पोषण किया जा सके। धेबर आयोग (1961) की रिपोर्ट के पैराग्राफ 5.20 में कहा गया है कि पाँचवीं अनुसूची के पाँचवें पैराग्राफ़ में जो कुछ कहा गया है उस पर निश्चित अवधि में अमल करना चाहिए। उस दृष्टिकोण को आज भी सामने रखा जा सकता है। हम आशा करते हैं कि सभी राज्य सरकारें सातवीं योजना के प्रथम वर्ष के अंत तक उससे संबंधित कार्रवाई शुरू कर देंगी और आवश्यकतानुसार संबद्ध नियम और कानून बनायेंगी।

5. इस बात का उल्लेख किया जा चुका है कि राज्य की सरकार को यह अधिकार प्राप्त है कि वह अनुसूचित जाति क्षेत्रों को शान्ति व्यवस्था और अच्छी सरकार प्रदान करने के लिए नियम-कानून बनाये। यह भी बताया जा चुका है कि इन क्षेत्रों में मौजूदा हालात और प्रचलित अवस्थाओं के सन्दर्भ में आवश्यक नियम बनाये जा चुके हैं। भूमि, मजदूरी, जंगल और आबकारी संबंधी विषयों में शोषण के विरुद्ध आवाजें उठती रहती हैं। वे बाहरी धन के आने, जनजाति क्षेत्र में घुसपैठ और धर्म परिवर्तन संबंधी कार्यकलापों से भी प्रसन्न नहीं है। शोषण के अन्य माध्यमों के बारे में एक अलग अध्याय में लिखा गया है। अतः हम मांग करते हैं कि (क) जनजाति क्षेत्रों में बाहरी लोगों का, विशेषतः विदेशियों का प्रवेश विनियमित किया जाय, (ख) विदेशी धन और विदेशियों को जनजाति क्षेत्र में सक्रिय होने की स्वीकृति

न दी जाय और इस प्रयोजन की पूर्ति के लिये विदेशी मुद्रा (नियम) एक्ट 1978 में संशोधन किये जायें।

## राज्यपाल की रिपोर्ट

6. संविधान की पाँचवीं अनुसूची के तीसरे पैराग्राफ में कहा गया है कि जिस राज्य में जनजातियों के क्षेत्र हों उसके राज्यपाल को वहीं के प्रशासन के बारे में राष्ट्रपति को रिपोर्ट देने की व्यवस्था है। इसके बारे में मौजूदा विचार यह है कि ये रिपोर्ट एक घिसीपिटी परिपाटी जैसी बन गयी है और अधिकांशतः जनजाति विकास विभागों की वार्षिक रिपोर्ट की संशोधित प्रति जैसी होती हैं। संघ सरकार ने ऐसे कोई मामले या पहलू निश्चित नहीं किये हैं जिनका इन रिपोर्टों में होना जरूरी है। इसमें संदेह नहीं कि इन रिपोर्टों के लिए कोई पक्का रूप-स्वरूप लागू करना अवांछनीय होगा। साथ ही राज्यपालों पर जिसे अनुसूचित क्षेत्रों के प्रशासन के बारे में पाँचवीं अनुसूची में व्यापक अधिकार प्राप्त हैं, यह विश्वास किया जा सकता है कि वे उन क्षेत्रों की महत्त्वपूर्ण एवं जरूरी बातों से राष्ट्रपति को सूचित करते रहें। फिर भी, गृह मंत्रालय को यह निगरानी रखनी चाहिए कि राष्ट्रपति को मिलने वाली राज्यपालों की रिपोर्ट से राज्य के जनजातीय क्षेत्रों की वास्तविक स्थितियों की इतनी सही जानकारी मिलती रहे, जिससे उन इलाकों के विकास के मार्गदर्शक सिद्धांत बनाये जा सकें।

## जनजातीय सलाहकार परिषद

7. संविधान की पाँचवीं सूची के चौथे पैरा में जनजाति वाले राज्यों में जनजातीय सलाहकार परिषद बनाने की व्यवस्था है। ऐसे परिषद उन राज्यों में भी हो सकते हैं जहां जनजाति के लोग तो हैं किन्तु जनजाति क्षेत्र नहीं हैं किन्तु यह राष्ट्रपति के निर्देश से ही हो सकता है। एक धारणा यह भी उत्तरोत्तर बढ़ रही है कि जनजाति सलाहकार परिषद की बैठकें बहुत कुछ वह नहीं करती हैं जिनकी उनसे अपेक्षा की जाती है। विभिन्न राज्यों में सलाहकार परिषद के कार्यकलाप के बारे में जो नियम बने हुए हैं उनके अनुसार केरल, त्रिपुरा, उत्तर प्रदेश और राजस्थान में वर्ष में 4 बार इस परिषद की बैठकें होती हैं; आंध्र प्रदेश, बिहार, हिमाचल प्रदेश, महाराष्ट्र, उड़ीसा और पश्चिम बंगाल में वर्ष में ये बैठकें दो बार होती हैं। मध्य प्रदेश, तमिलनाडु और गुजरात में वर्ष में कितनी बैठकें होंगी इसका स्पष्टीकरण नहीं किया गया है। इस तरह इस बारे में ऐसी कोई एकरूपता नहीं है कि इन सलाहकार परिषदों की बैठक वर्ष में कितनी बार होगी। वांछित यह लगता है कि देश भर के संबद्ध राज्यों में जनजातीय सलाहकार परिषद की बैठकों में समानता हो। प्रत्येक छः महीने में कम से कम एक या वर्ष भर में कम से कम दो बैठकें होनी चाहिए। जिन राज्यों में इससे ज्यादा बैठकें होती है वहां वैसा होने दिया जाय।

8. राज्यों में जनजाति सलाहकार परिषद की बैठकों की संख्या भी काफी महत्त्वपूर्ण एवं विचारणीय है। परिशिष्ट 11 में ऐसी बैठकों का विवरण दिया गया है विशेषतया उन दस राज्यों में जहां ये परिषद बने हुए हैं। बैठकों के होने में जो अनियमिताएं व अव्यवस्थाएं हुई

हैं वे परिशिष्ट में स्पष्ट हैं। चूंकि जनजातीय सलाहकार परिषद एक महत्त्वपूर्ण संस्था है और उसे इसलिए संगठित किया गया है कि वह संबद्ध प्रशासन का सिंहावलोकन करते हुए अपनी रचनात्मक समीक्षा और व्यावहारिक सुझावों से प्रशासन को सफल और सुदक्ष बनाने में योगदान करें इसलिए राज्य के राज्यपाल को उचित समय पर उसकी बैठकों को बुलाने और उससे परिणामकारी कार्यवाहियां कराने के सिलसिले में अपेक्षाकृत अधिक सक्रिय भूमिका निभानी चाहिए। जैसा कि 5वीं अनुसूची के पैराग्राफ 3 और 5 से स्पष्ट है कि केन्द्रीय सरकार को यह प्रशासकीय अधिकार प्राप्त है कि वह राज्यों के अनुसूचित क्षेत्रों के प्रशासन को अपेक्षाकृत कुशल और प्रभावी बनाने के लिए राज्य सरकारों को आवश्यक-निर्देश दे सकता है और चूंकि जनजातियों के कार्यक्रमों की सफलता के लिए उनमें सुयोग्य लोगों को शामिल और सक्रिय होना आवश्यक है इसलिए हम यह सुझाव देना चाहेंगे कि केन्द्रीय सरकार जनजाति सलाहकार समिति को पर्याप्त मात्रा में सक्रिय बनाने के लिए राज्य सरकारों को समुचित और स्पष्ट निर्देश दें।

## जनजाति क्षेत्रों का प्रशासन

9. देश के जनजाति क्षेत्रों में 1974-75 से, विभिन्न अवधियों के लिए उप-योजना पर काम हो रहा है। प्रशासन और जनजाति क्षेत्रों के नियंत्रण से संबंधित ऐसी व्यवस्थाएं संविधान के 244(1) अनुच्छेद का अनुसरण करते हुए उसकी पाँचवीं सूची में सम्मिलित की गई हैं। ये व्यवस्थाएं असम और मेघालय को छोड़कर सभी राज्यों के जनजाति क्षेत्रों और अनुसूचित क्षेत्रों के प्रशासन पर लागू होती हैं। इस अनुसूची के अंतर्गत राज्य के राज्यपालों को अनुसूचित क्षेत्रों में अच्छी सरकार और शांति बनाये रखने के लिए आवश्यक नियम कानून बनाने के विस्तृत अधिकार भी दिये गये हैं।

10. देश में अनुसूचित क्षेत्रों/जनजाति क्षेत्रों में जो प्रशासनिक इकाइयां बनाई गयी हैं वे निम्नलिखित हैं :

1. टी.आई.डी.पी./आई.टी.डी.पी.ए.एस. इनमें राज्यों के जनजाति बहुल क्षेत्र हैं अर्थात् 22 पूरे जिले, 633 पूरे ब्लाक तथा 97 आंशिक जिले और 280 आंशिक ब्लाक। ये ज्यादातर जनजाति बहुल भौगोलिक क्षेत्रों का प्रशासन देखते हैं। जबकि उड़ीसा और आंध्र प्रदेश ने एजेंसी का नमूना अपना रखा है जो सोसाइटीज रजिस्ट्रेशन एक्ट के अन्तर्गत पंजीकृत है। ये इकाइयां आई.टी.डी.ए. कहलाती हैं। अन्य राज्यों ने उन्हें सरकारी संगठनों का रूप दिया है। देश में इस समय 181 आई.टी.डी.ए./आई.टी.डी.पी हैं।
2. जहां जनजाति के लोग आम जनता के साथ मिश्रित रूप से रहते हैं, और जिनमें जनजातियों की आबादी 50 प्रतिशत है उन क्षेत्रों के लिए विशेष व्यवस्था की गयी है और उन्हें ''मॉडीफाइड एरिया डेवलपमेंट एप्रोच'' (एम.ए.डी.ए.) के नाम से पुकारा जाता है। ऐसे क्षेत्रों के विकास के लिए एक नया दृष्टिकोण अपनाया गया है। छठी

योजना के अंतिम वर्ष के दौरान एम.ए.डी.ए. के लिए 245 परियोजनाएं थीं। ये परियोजनायें अंशकालीन अथवा पूर्णकालीन विशेष अधिकारियों की देखरेख में हैं।

3. अनुसूचित जनजातियों के सबसे पिछड़े हिस्से जिन्हें आदिवासी जनजाति कहा जाता है, के लिए अलग परियोजनाएं बनाई गयी हैं। इन परियोजनाओं की संख्या 72 है। इनके प्रशासन को जनजाति की सबसे छोटी इकाई माना जाता है तथा इनमें प्रशासन के लिए विशेष कर्मचारीगण लगाये जाते हैं।

11. ऊपर बताई गयी इकाइयों से अलग, कुछ राज्यों ने क्षेत्रीय जनजाति विकास प्राधिकरण बना रखे हैं। बिहार की राज्य सरकार ने कानून बनाकर जनजातियों के लिए तीन विकास प्राधिकरण बना रखे हैं। एक उत्तरी छोटानागपुर का, दूसरा दक्षिणी छोटानागपुर का और तीसरा संथाल परगना का। मुख्यमंत्री इन तीनों का अध्यक्ष है। एक क्षेत्रीय विकास कमिशनर है जिसकी सहायतार्थ एक सचिवालय निदेशक के स्तर के अधिकारी हैं। कमिशनर, प्राधिकरण के सचिव के रूप में भी काम करता है। एक अलग क्षेत्रीय प्राधिकरण रखने का प्रयोग अभी हाल में (1980) मध्य प्रदेश में भी किया गया था, तथा बस्तर पूर्वी जोन, मध्य जोन, उत्तर-पूर्वी जोन और दक्षिण-पश्चिमी जोन के लिए पांच क्षेत्रीय प्राधिकारी बनाये गये थे। इस मामले में सत्ता प्रशासकीय आदेश द्वारा स्थापित की गयी थी। क्षेत्रीय कमिशनर को प्राधिकरणों का अध्यक्ष तथा एक राज्य मंत्री को इन तीनों प्राधिकरणों की समीक्षा एवं सलाहकार समिति का अध्यक्ष बनाया गया था। स्थानीय विधायक, सांसद, जनपद-अध्यक्ष और खण्ड-का कमिशनर आदि समिति के सदस्य थे। कमिशनर उसका अध्यक्ष था। बिहार और मध्य प्रदेश दोनों राज्यों में इन विशिष्ट अधिकारियों को रखने का उद्देश्य यही था कि इन्हें उच्चतर प्रशासनिक और वित्तीय अधिकार और सत्ता प्रदान करके क्षेत्रीय कार्यवाहियों में समन्वय के साथ ही जनजातियों के विकास की योजनाओं को जल्द से जल्द एवं प्रभावी ढंग से कार्यान्वित कर लिया जाय।

12. आई.टी.डी.पी. के बारे में यह सोचा गया था कि वे उस स्तर पर योजना और विभिन्न कार्यवाहियों के अधिकारियों के बीच क्षेत्रीय कार्यक्रमों के बारे में सलाह-मशविरा करके समन्वित कार्यवाही का निश्चयीकरण तथा उसे अमल में लाने का काम कर लेंगे। इसी लक्ष्य को ध्यान में रखते हुए इन इकाइयों के लिए समुचित वरिष्ठ अधिकारियों को उनके ''परियोजना प्रशासक'' के रूप में नियुक्त किया गया था तथा जिलाधीश को परियोजना स्तर/परियोजना कार्यान्वयन समितियों का अध्यक्ष बनाया गया था। किन्तु, जहां पूर्णकालिक परियोजना अधिकारियों/परियोजना प्रशासकों की नियुक्ति ने एक हद तक जनजाति-विकास कार्यक्रमों को अमल में लाने की आतुरता प्रदर्शित की वहीं यह भी देखा गया कि आई.टी.डी.पी. स्तर पर जिस समन्वय की कल्पना और आशा की गयी थी वह नहीं किया जा सका। इसके प्रमुख कारण निम्नलिखित प्रतीत होते हैं :

1. बहुत से राज्यों में परियोजना अधिकारियों/परियोजना प्रशासकों को समन्वय करने वाली भूमिका नहीं सौंपी गयी; या तो उनकी अपनी इच्छा नहीं हुई या फिर कलेक्टर

द्वारा उसके लिये उनसे कहा नहीं गया। जबकि इस इरादे की सरकारी घोषणा में ज्यादातर राज्यों में कोई कमी नहीं रखी गयी फिर भी, व्यावहारिक रूप से इन अधिकारियों ने इसके लिए अलग अधिकारी की व्यवस्था के ऊपर उठकर रोजमर्रा के काम में भी समन्वय लाने का प्रयास नहीं किया।

२. परियोजना अधिकारियों को जो भी कर्मचारी विशेष रूप से प्रशासन और वित्तीय कार्यों के लिए दिए गये वे आम तौर से विकास के दूसरे विभागों के कार्यों से तटस्थ रहकर जनजाति कल्याण/जनजाति विकास विभाग के कार्यों तक ही सीमित रहे। कुछ राज्यों में उन्होंने केवल केन्द्र से प्राप्त होने वाली विशेष सहायता संबंधी काम किया और कुछ स्फुट राज्यों में वे फालतू कर्मचारियों की स्थिति में रहे। इस तरह, उनकी स्थिति आई.टी.डी.पी. के तंत्र में जैसी सोची गयी थी उससे कहीं अधिक नीची सिद्ध हुई।

३. उड़ीसा और आंध्र प्रदेश जैसे कुछ राज्यों में परियोजना प्रशासकों को ब्लाक विकास अधिकारियों की वार्षिक कार्य सम्पादन संबंधी रिपोर्ट (सी.आर.) में प्रविष्टियां करने का अधिकार दिया गया। किन्तु, वैसा अन्य राज्यों में नहीं किया गया और इस तरह ब्लाक और आई.टी.डी.पी. के बीच के संबंध या तो अपरिभाषित रहे या फिर संदिग्धार्थ।

४. आई.आर.डी. जैसे ग्रामीण क्षेत्रों के लिए आर्थिक विकास की विशिष्ट एजेंसियां हैं जैसे डी.आर.डी.ए. जो कार्यान्वयन करती हैं। डी.आर.डी. एवं आई.टी.डी.पी. के बीच कोई सीधा संबंध नहीं है, सिवा इसके कि आई.टी.डी.पी. का परियोजना अधिकारी डी.आर.डी.ए. का सदस्य होता है। यही बात डी.पी.ए.पी., एन.आर.ई.पी. और आर. एल.ई.जी.पी. पर भी लागू होती है। जिस परिस्थिति में इन विशिष्ट कार्यक्रमों को विकसित किया गया था उसमें जिला अथवा खण्ड का दृष्टिकोण रखा गया था, टी. टी.डी.पी. का दृष्टिकोण नहीं। अब आवश्यकता इस बात की है कि ग्रामीण विकास एजेंसियों और आई.टी.डी.पी. के बीच सीधा संबंध रखा जाय।

## परियोजना स्तर पर समन्वय के लिए कार्रवाइयां

13. यदि अनुसूचित जनजाति के विकास के लिये एकीकृत तरीका अपनाना है तो आई. टी.डी.पी. स्तर पर कार्यक्रमों का समन्वित होना अनिवार्य है। हम समझते हैं कि देश के जिलों में विकास प्रशासन की वृद्धि के संदर्भ में आई.टी.डी.पी. परियोजना प्रशासक को विकास संबंधी प्रशासन की सभी बातें उसके अधिकार क्षेत्र में देना सरल और सुविधाजनक नहीं है। ऐसे कदम के फलस्वरूप विभागीय पर्यवेक्षकों के बीच मुकाबला, जिम्मेदारी और नियंत्रण संबंधी खींचतान पैदा होने के साथ-साथ एक दूसरे के बीच अनावश्यक पत्र-व्यवहार की स्थितियां पैदा हो सकती हैं किन्तु हमें इस बारे में कोई सन्देह नहीं है कि एक आई.टी. डी.पी. अधिकारी, बड़ी आसानी के साथ क्षेत्र के जनजातीय विकास का सर्वोच्च अधिकारी

होते हुए भी क्षेत्र के जनजातीय विकास और सभी विकास कार्यक्रमों का नियंत्रण अधिकारी का एक साथ काम कर सकता है। इसे आई.टी.डी.पी. में विशेष रूप से व्यावहारिक सिद्ध होना चाहिए क्योंकि उसमें सम्पूर्ण उप-खंड और सभी ब्लांक शामिल होते हैं। ऐसे मामलों में परियोजना अधिकारी/परियोजना प्रशासक नियंत्रण अधिकारी एवं सभी विकास एजेंसियों व कार्यक्रमों के पर्यवेक्षक के रूप में काम कर सकता है। ऐसे मामलों में यह भावना कि परियोजना अधिकारी कलेक्टर का एक अतिरिक्त अधिकारी है, तर्कसंगत वहीं जंचेगी जहां राज्य सरकारों द्वारा दोनों के बीच का अंतर स्पष्ट और परिभाषित कर दिया जाय। ऐसा प्रबन्ध 22 पूर्ण जिलों और 633 पूर्ण ब्लाकों में, जो आई.टी.डी.पी. के अन्तर्गत आते हैं, कोई कठिनाई पैदा नहीं करेगा। शेष आई.टी.डी.पी. क्षेत्रों जिनमें जिलों और ब्लाकों के अंश मात्र हैं, अलग-अलग क्षेत्रों के हिसाब से विचार किया जा सकता है।

14. आई.आर.डी.पी., डी.आर.ए.पी., आर.एल.ई.जी.पी. और एन.आर.ई.पी. संबंधी योजनाओं के मामले में परियोजना अधिकारी को जनजातीय परियोजना क्षेत्र का माध्यमिक स्तर का पर्यवेक्षक बनाया जा सकता है जो कलेक्टर के प्रति जिम्मेदार हो सकता है। उसे कार्यक्रमों को अमल में लाने वाले अधिकारियों के कार्य सम्पादन के बारे में रिपोर्ट देने का अधिकार भी दिया जा सकता है।

15. कालांतर में राज्य प्रशासनों ने यह भी महसूस किया कि परियोजना प्रशासक (पी.ए.) जो आमतौर से राज्य सेवा के प्रथम श्रेणी के होते हैं, को जिले स्तर के अन्य अधिकारियों पर नियंत्रण का अधिकार देना सम्भव नहीं हैं क्योंकि जिले स्तर के ये अधिकारी भी केन्द्रीय या राज्य सेवाओं के प्रथम श्रेणी के अधिकारी होते हैं। न्याचार (प्रोटोकाल) या श्रेणी के अलावा एक महत्त्वपूर्ण उद्देश्य यह भी रहा है कि नियंत्रण का अधिकार उस अधिकारी को न दिया जाय जो जिले स्तर के अधिकारी के काम को नहीं देखता है। दोनों के बीच संतुलन कायम करने और जिला प्रशासन की मौजूदा संरचना और जनजातीय विकास की फौरी जरूरत को पूरा करने के लिए हम निम्नलिखित समाधान प्रस्तुत करते हैं।

जो परियोजना प्रशासक (पी.ए.) अखिल भारतीय संवर्ग के हों वे परियोजना क्षेत्र में काम करने वाले राज्य सरकारों के कॉडर के और विकास सेवाओं के द्वितीय श्रेणी के सभी अधिकारियों के कार्य की वार्षिक प्रविष्टियां कर सकते हैं। यह पी.ए. के विवेक पर निर्भर रहे कि वह ऐसे द्वितीय श्रेणी के अधिकारियों के कार्यालयों का निरीक्षण करें अथवा उनके क्षेत्रीय कार्य का मुआइना करें।

16. ऊपर कही गई बातों से स्पष्ट है कि जहां हम आई.टी.डी.पी. को कार्यक्रमों को अमल करने वाली एजेंसी प्रस्तावित करते हैं वहीं हम उसे पर्याप्त मात्रा में इतनी मजबूत एजेंसी भी बनाना चाहते हैं कि वह अनेक महत्त्वपूर्ण क्षेत्रों में हस्तक्षेप भी कर सके। इसके लिये यह वांछनीय होगा कि आई.डी.टी.पी. को कुछ सहायक परियोजना अधिकारी प्रदान किये जायें जो विकास के विभिन्न विभागों के प्रभारी हों और अपने-अपने विभाग के मामले में परियोजना प्रशासक की सहायता कर सकें। इन सहायक अधिकारियों की संख्या आई.टी.

डी.पी. के अन्तर्गत आने वाले क्षेत्र, उसकी आबादी और उस क्षेत्र के लिए अपनाई गयी आवश्यक योजना पर निर्भर करेगी।

17. ऊपर दिये गये प्रस्तावों के बावजूद आई.टी.डी.पी. को जनजातीय क्षेत्रों के विकास संबंधी प्रशासन में हस्तक्षेप करने वाली प्रभावी एजेंसी बनाने के लिए परियोजना-प्रशासक/अधिकारी जनजातीय उप-योजना क्षेत्र की उप-खण्ड स्तरीय विकास समितियों की अध्यक्षता कर सकता है और जहां कलेक्टर या एस.डी.ओ. किसी भी स्तर की ऐसी समितियों के अध्यक्ष हैं वहां परियोजना प्रशासक/अधिकारी स्वतः और सदैव उन समितियों के सदस्य बनाये जायें। इस संबंध में इस प्रकार की संस्तुतियों को "जनजातीय क्षेत्रों के प्रशासन में जनजाति के लोगों की अंतर्ग्रस्तता और भागीदारी" शीर्षक के अंश में देखा जा सकता है।

## जिला/क्षेत्र/राज्य स्तर

18. आई.टी.डी.पी. स्तर की परियोजना बनाने और उस पर अमल करने वाली समिति का अध्यक्ष कलेक्टर होता है। इस समिति में सरकारी अधिकारी और गैर सरकारी लोग, दोनों होते हैं। गुजरात और महाराष्ट्र में जहां जिला स्तर पर पंचायती राज प्रशासन संतोषप्रद रूप में कार्य कर रहा है, जिला परिषद के कार्यकारी प्रशासक को भी महत्त्वपूर्ण भूमिका में रखा गया है। इसमें कोई अत्युक्ति नहीं है कि जनजाति क्षेत्रों के प्रशासकों को अधिक सार्थक और प्रभावी बनाने के लिए कलेक्टर के एकीकृत करने वाले प्राधिकार का पूरा-पूरा इस्तेमाल किया जाना चाहिए।

19. आई.टी.डी.पी./जिला और राज्यस्तर पर जनजातीय विकास विभागों के बीच अनेक महत्त्वपूर्ण कार्यकर्त्ता हैं, जैसे, (1) खण्ड आयुक्त और विभिन्न राज्यों में जनजाति विकास आयुक्त। महाराष्ट्र और राजस्थान में जनजाति विकास आयुक्त के नीचे अवर या संयुक्त आयुक्त भी हैं जो खण्ड आयुक्त से संलग्न नहीं हैं वरन् प्रादेशिक एवं कृत्यकारी अधिकार क्षेत्रों के स्वतंत्र प्रभारी हैं। उड़ीसा की भांति कुछ अन्य राज्यों में ये अधिकारी खण्ड-आयुक्त के कार्यालयों से संबद्ध हैं। कुछ राज्यों में जनजाति विकास आयुक्त के कार्यालय होते हुए भी जनजाति विकास के अलग निदेशक हैं जिन्हें राज्यस्तर के विशिष्ट दायित्व सौंपे गये हैं किन्तु उनके नीचे क्षेत्रीय कार्य के लिए कर्मचारी नहीं है। स्थिति कोई खास स्पष्ट नहीं है और नियंत्रण और निरीक्षण के कार्य भी बहुत संतोषप्रद नहीं पाया गया है चाहे वह योजनाओं के बनाने के बारे में हो अथवा रोजमर्रा के कार्यों से संबंधित हो। अब वह समय आ गया है जब इस मामले को एक ऐसे बोधगम्य समादेश द्वारा जिसमें अधिकार-शक्ति का बंटवारा ऊपर से नीचे तक स्पष्ट और समझा जा सकने वाला हो, इसे सुदृढ़ आधार दिया जाना चाहिए। इस आवश्यकता की पूर्ति के लिए हमारी संस्तुतियां निम्नलिखित हैं :

1. सभी राज्यों के राज्यस्तरीय जनजाति विकास विभागों में एक पद जनजाति विकास आयुक्त का हो। इस अधिकारी को जनजाति विकास से संबंधित सभी योजना और

गैर-योजना कार्यों को समन्वित करना चाहिए, साथ ही उन पर जनजातियों की रक्षा संबंधी और उनका शोषण न होने देने की उन सभी कार्रवाइयों के अनुपालन और उनकी समय-समय पर समीक्षा करते रहने की जिम्मेदारी होना चाहिए जो जनजातियों की स्थितियों को सुधारने के लिए बनाई गई हों।

2. जनजाति विकास आयुक्त के नीचे एक या एक से अधिक निदेशक हों जिन्हें कल्याण की सामान्य योजनाएं, विशिष्ट क्षेत्रों की योजना, परियोजना का निर्माण और रक्षात्मक एवं शोषण विरोधी कार्रवाइयों का काम दिया जा सकता है।

3. खण्ड आयुक्त के स्तर के अवर और संयुक्त निदेशक जैसे अधिकारियों को उन सभी बातों का पूरा प्रभार दिया जा सकता है जिन्हें राज्य स्तर पर आयुक्त करता है। इन अधिकारियों को खण्ड आयुक्त की देखरेख और मार्गदर्शन में उसके नीचे खण्ड के आयुक्त के रूप में काम करना चाहिए, ठीक उसी प्रकार जैसे जिले का कलेक्टर शिरोबिन्दु के रूप में विकास या नियमन संबंधी सभी कार्रवाइयों का समन्वय या संश्लेषण करता है।

4. आई.टी.डी.पी. के परियोजना अधिकारी को उपखण्ड ब्लाक/ताल्लुका स्तर के जनजाति कल्याण अधिकारियों के काम का पर्यवेक्षण करने का अधिकार होना चाहिए। इसके अतिरिक्त उसे वे अधिकार भी मिले होने चाहिए जिनकी संस्तुति अनुसूची 5.3 में की गयी है।

5. जिले के स्तर पर जिला जनजाति विकास अधिकारी, उसे चाहे जिस पद नाम से पुकारा जाता हो, को इतनी सत्ता प्रदान की जाय कि वह जनजाति क्षेत्र के सभी रक्षात्मक और विकासात्मक कार्यक्रमों के प्रति प्रभावी ढंग से अपने कर्त्तव्यों का निर्वाह कर सके और उनकी पूरी तस्वीर जिला कलेक्टर के सामने पेश कर सके और राज्य सरकार से प्राप्त मार्गदर्शक नीतियों के अनुसार काम कर सके। इन अधिकारियों को केवल वजीफा बांटने वाले कर्मचारियों की भांति काम नहीं करना चाहिए जैसा कि आजकल कुछ राज्यों में हो रहा है।

20. हम मौजूदा संगठनात्मक तंत्र में एक साथ बाधा डालने वाले परिवर्तनों की संस्तुति नहीं करते। लेकिन हम यह जोरदार मांग अवश्य करते हैं कि निर्णय लेने, कार्यान्वयन और पर्यवेक्षण में कमान और जवाबदेही की व्यवस्था बड़ी स्पष्ट होनी चाहिए जिससे जनजाति क्षेत्रों में प्रशासन को ज्यादा से ज्यादा प्रभावी और सुप्रवाही बनाया जा सके। हमारी दृष्टि में जनजातीय क्षेत्रों के प्रशासन को ऊपर बताये गये आयुक्त स्तरों पर मजबूत बनाना अधिक आवश्यक है। इन स्तरों में आई.टी.डी.पी. स्तर भी शामिल है। साथ ही, परंपरागत जनजाति-संस्थाओं और उनके कार्यकर्ताओं की अंतर्ग्रस्तता और भागीदारी को भी (जैसा कि पहले सुझाया जा चुका है) समुचित रूप से सुनिश्चित कर लेना चाहिए, न कि माध्यमिक एजेंसियों की संख्या बढ़ाई जाय जैसी कि स्वायत्त क्षेत्रीय विकास प्राधिकरणों की प्रचलित प्रवृत्ति है।

## राज्य स्तर की समितियां

21. कुछ राज्यों में कैबिनेट स्तर की उप-समितियां हैं जिनका अध्यक्ष मुख्यमंत्री होता है। ये समितियां जनजातियों के संबंध में नीति संबंधी निर्णय लेती हैं और जनजाति विकास कार्यक्रमों के संयोजन और कार्यान्वियन की समीक्षा करती हैं। कुछ राज्यों में इस कार्य के लिए मुख्यमंत्री की अध्यक्षता वाली ऐसी समितियां हैं जिनमें संबद्ध मंत्रीगण और राज्यस्तर के अधिकारी आदि सदस्य होते हैं। कुछ में ऐसी समितियां हैं जिनमें मंत्रीगण और जनजाति विकास अधिकारी ही सदस्य हैं। बिहार, उड़ीसा, मध्य प्रदेश और आंध्र प्रदेश में ये समितियाँ मुख्य सचिव अथवा विकास आयुक्तों के अंतर्गत काम कर रही हैं। बुनियादी आवश्यकता यह है कि ये समितियां जनजातियों के विकास कार्यक्रमों में समन्वय और तालमेल स्थापित करने के उद्देश्य से नियमित रूप से और प्रभावी ढंग से काम करें। यदि ये समितियां इस उद्देश्य की पूर्ति करती हैं तो उन्हें चलते रहने देना चाहिए। जहां ऐसा नहीं होता है वहां उनकी अकर्मण्यता की जांच होनी चाहिए और यदि जरूरी समझा जाय तो उनमें आमूलचूल परिवर्तन किया जाना चाहिए। इन संस्थाओं के लिए समाजशास्त्रियों, विद्वतजनों और विचारकों का सहयोग लेना लाभप्रद हो सकता है।

## संरक्षण के क्षेत्र में आई.टी.डी.पी. के परियोजना प्रशासकों की भूमिका

22. ''एक स्थान से ही सेवाएं प्रदान करना'' जन प्रशासन की एक आम अवधारणा है, हालांकि इस पर व्यापार के क्षेत्र में अधिक जोर दिया जाता है। जनजातीय क्षेत्रों के प्रशासन में इस उक्ति की उपयोगिता अनुभव की जा चुकी है क्योंकि अनेक राज्य सरकारों ने आई. टी.डी.पी. के परियोजना प्रशासकों को अनेक संरक्षणात्मक कानून बनाकर उनसे संबंधित अधिकार उन्हें सौंपे हैं। ये अधिकार विकास कार्यों से संबंधित उनके अधिकारों के बावजूद हैं। आंध्र प्रदेश का उदाहरण हमारे सामने है जहां परियोजना प्रशासकों को भूमि हस्तांतरण और कर्ज देने के मामलों की अपीलें सुनने और समुचित निर्णय देने का अधिकार प्राप्त है। इस बात की सराहना करते हुए हम यह भी कहना चाहेंगे कि यदि परियोजना प्रशासक को सभी प्रकार के शोषण के विरुद्ध सुनवाई करने का अधिकार दे दिया जाय तो उससे एक तरफ उस पद की गरिमा बढ़ जायेगी और दूसरी ओर स्वयं परियोजना प्रशासक को प्रोत्साहन मिलने के साथ-साथ संरक्षणात्मक कार्रवाइयों के अमल को सक्रियता प्राप्त होगी। इस प्रकार जनजाति के विकास की गति में तीव्रता भी हो सकेगी। इसलिए हम संस्तुति करते हैं कि परियोजना प्रशासकों में जो आमतौर से राज्य एवं भारतीय सेवाओं के वरिष्ठ अधिकारी होते हैं उन्हें वैधानिक रूप से कलेक्टर से अधिक अधिकार सौंपे जायें और उन्हें भूमि हस्तांतरण, धन और उनकी राहत के लिए जो भी आवश्यक हो, उन सब में कानूनों से संबंधित मसलों की सुनवाई के अधिकार प्रदान किये जायें। इस काम में मदद देने के लिए उन्हें जिन कर्मचारियों की आवश्यकता हो, उन्हें भी उपलब्ध कराया जाना चाहिए।

## एम.ए.डी.ए. स्थलों का प्रभावी पर्यवेक्षण और आदिम जनजाति परियोजनाएं

23. अधिकतर राज्यों में उपांतरित क्षेत्रों के विकास संसर्ग के अन्तर्गत जनजाति संकेंद्रणों के लिए परियोजना स्तर की समितियां गठित नहीं की गयी हैं हालांकि इसके लिए भारतीय गृह मंत्रालय राज्यों को निर्देश दे चुका है। इन समितियों का जहां गठन हुआ है वहां उनका कार्य नियमित रूप से हो भी नहीं रहा है। ज्यादातर राज्यां में इन परियोजनाओं के विशिष्ट प्रभारी अधिकारी इनका पर्यवेक्षण ठीक से नहीं कर रहे हैं क्योंकि उनके काम की देखरेख करने वाले की कोई समुचित व्यवस्था नहीं है। लगभग यही स्थिति आदिम जनजाति परियोजनाओं की है। प्रभारी पर्यवेक्षण की दृष्टि से, अच्छा होगा कि एम.ए.डी.ए. संकेन्द्रण और आदिम जनजाति परियोजनाओं को नजदीक के आई.टी.डी.पी. के परियोजना प्रशासक की निगरानी में दे दिया जाय। जहां एम.ए.डी.ए. और आदिम जनजाति परियोजना की परियोजना स्तर की समितियां गठित हो चुकी हैं अथवा जहां की राज्य सरकारें इन तीनों की परियोजना स्तर की समितियां जारी रखना चाहती हैं वहां आई.टी.डी.पी.सी. परियोजना स्तर की समितियां आवश्यक परिवर्तनों के साथ इन परियोजनाओं के लिये पी.एल.सी. के रूप में काम कर सकती हैं। इससे अत्यधिक समितियों और उनकी बैठकों के झंझट से छुटकारा मिलने का लाभ भी हो जायेगा।

## कार्मिक नीति

24. जनजातीय क्षेत्रों के प्रशासन से संबंधित महेश्वर प्रसाद समूह ने जनजाति क्षेत्रों में काम करने वालों के लिए विशेष प्रकार के भत्तों के अलावा वहां के अधिकारियों के चयन और विशेष प्रकार के कार्यकर्त्ताओं का कॉडर बनाने, अवकाश देने का विशिष्ट पद्धति तथा सेवा संबंधी अनेक लाभों के बारे में संस्तुतियां की हैं। सातवें वित्त आयोग ने 13 राज्यों के इन कर्मचारियों को प्रतिकारात्मक भत्ते के रूप में 30.71 करोड़ रुपये की अदायगी की व्यवस्था की थी। आठवें वित्त आयोग ने जनजाति क्षेत्रों में लगे राज्य कर्मचारियों के लिए प्रतिकारात्मक भत्ते के रूप में 30 करोड़ रुपए और जनजाति क्षेत्र के आवास निर्माण के लिए 37.82 करोड़ रुपए की व्यवस्था की थी। राज्यों ने आमतौर से महेश्वर प्रसाद समूह की सिफारिशों को स्वीकार कर लिया था फिर भी उसके प्रस्तावों के कार्यान्वयन में उन्होंने हिचकिचाहट दिखाई और वह ठीक से किया भी नहीं गया। राज्यों के लिये यह अपेक्षित है कि वे स्थितियों के सन्दर्भ में उन सिफारिशों पर फिर से गौर करें और उन्हें अमल में लाने में शीघ्रता करें। विशेष रूप से हम यह कहना चाहेंगे कि जनजातीय क्षेत्रों की सेवाओं से संबंधित सभी वर्गों के कर्मचारियों के प्रशिक्षण और पुनर्भिविन्यास कार्यक्रम को सभी राजपत्रित अधिकारियों के प्रवेशात्मक प्रशिक्षण कार्यक्रम का हिस्सा बनाया जाना चाहिए। अभिविन्यास और पुनःश्चर्या प्रशिक्षण कार्यक्रम राजपत्रित और जो राजपत्रित नहीं हैं उन सब अधिकारियों व कर्मचारियों के लिये भी होने चाहिए जो वन, राजस्व, सामुदायिक एवं ग्रामीण विकास, कृषि पशुपालन, ग्रामीण एवं लघु उद्योग (रेशम उद्योग के क्षेत्रीय कार्यकर्त्ताओं सहित) के लिए चयनित किए जाएँ। इस दृष्टि से जनजाति अनुसंधान संस्थानों

और सरकारी कर्मचारियों को प्रशिक्षण देने वाले अन्य संस्थानों को भी जागरूक और मजबूत किया जाना चाहिए जिससे वे अपने प्रशिक्षण, अभिविन्यास और पुनःश्चर्या के कार्यक्रमों में आवश्यक विषयों का समावेश कर सकें।

25. हमने देखा है कि जनजातीय क्षेत्रों में कार्मिकों का अभाव है, पद खाली पड़े रहते हैं। जैसा कि योजना आयोग द्वारा नियुक्त एक अन्य कार्मिक समूह की कार्मिक शक्ति की आवश्यकता और उसके अभाव से संबंधित रिपोर्ट से स्पष्ट है, राज्य सरकारों के प्रयत्नों के बावजूद स्थिति में कोई खास सुधार नहीं हुआ है। प्रथम दृष्टि में ही यह तथ्य सामने आ जाता है कि मौजूदा वेतन भत्ते आदि ऐसे नहीं हैं जो सरकारी कर्मचारियों को जनजाति क्षेत्रों में रहकर सेवा करने के लिए आकर्षित या प्रोत्साहित कर सकें। महेश्वर प्रसाद समूह ने यह सिफारिश की है कि ऐसी स्थिति में जनजाति क्षेत्रों के लिए कुछ चुनी हुई और दुर्लभ सेवाएं बनाई जानी चाहिए अथवा जहां अलग कैडर बनाने में कठिनाई हो वहां के लिए राज्य स्तरीय कॉडर या उप-कॉडर बनाने पर विचार किया जा सकता है। उन कॉडरों या उप-कॉडरों के विभिन्न पदों के लिए भर्ती या तो प्रोत्साहन देने वाली शर्तों के आधार पर की जा सकती है या फिर उन पदों को स्थिति घोषित करके विशेष रूप से उन्हें भरा जा सकता है। हमारे पास ऐसी कोई जानकारी नहीं है कि इस मामले में क्या कार्रवाई की गयी है किन्तु यह तथ्य निर्विवाद है कि जनजाति क्षेत्रों में रिक्त स्थान अब भी मौजूद हैं। हम यह मांग भी करना चाहेंगे कि महेश्वर प्रसाद समूह की संस्तुतियों को स्वीकार किया जाय विशेष रूप से स्वास्थ्य और चिकित्सा संबंधी कॉडर के संबंध में। क्षेत्रीय कार्यकर्त्ताओं की भर्ती में, जिसमें आमतौर से क्षेत्रीय अथवा जिला स्तरीय लोग रखे जाते हैं, स्थानीय और जनजाति के लोगों को प्राथमिकता दी जानी चाहिए। इसे विशेष रूप से पुलिस, राजस्व, शिक्षा और स्वास्थ्य विभाग में किया जाना चाहिए। इनका प्रशिक्षण कार्यक्रम भी गहन होना चाहिए।

26. राज्य के सभी प्रवेश और प्रबन्ध प्रशिक्षण कार्यक्रमों में आबादी के दुर्बल वर्गों के विकास का प्रमुख और पूरा विषय होना चाहिए। वन विभाग और दूसरी सेवाओं के अधिकारियों के मामले में जनजाति विकास का एक सम्पूर्ण विषय होना चाहिए। इसमें इन विषयों के एक या दो प्रश्न पत्रों की व्यवस्था होनी चाहिए।

# XIV. भूमि अधिग्रहण अधिनियम, 1894

(1998 तक हुए संशोधन के साथ)

## समीक्षा

1894 के भूमि अधिग्रहण अधिनियम को लागू करने का उद्देश्य मूल रूप से यह निश्चित करना था कि भूमि से संबंधित मामलों में समाहर्ता की भूमिका निर्णायक है और केवल उस स्थिति को छोड़कर जब कोई न्यायालय किसी नियमित मुकदमे के क्रम में उसके निर्णय को बदलने के लिए न्याय पत्र जारी करता है, इसे अंतिम निर्णय के रूप में स्वीकार किया जाना चाहिए। इस अधिनियम ने पंचों की भी पूरी तरह उपेक्षा की जो निर्देश या अभ्युद्देश (रेफरेंस) के मामले में न्यायाधीश के साथ-साथ भूमि के मूल्य निर्धारण में मदद करते थे। प्राप्ति की प्रक्रिया को व्यापक बनाया गया और न्यायाधीश को अधिक शक्ति प्रदान की गई।

## भूमि प्राप्ति की प्रक्रिया

भूमि अधिग्रहण अधिनियम का प्रयोग ऐसी भूमि की प्राप्ति के लिए किया जाता है जो निजी तौर पर अधिकृत होती है। अधिनियम उन परिस्थितियों और उद्देश्यों का वर्णन करता है जिनके कारण केन्द्र और राज्य सरकारों को भूमि प्राप्त करना पड़ता है। इस अधिनियम के अनुसार भूमि प्राप्ति की प्रक्रिया को चार चरणों में बांटा जा सकता है।

### चरण I

सरकार द्वारा एक आरंभिक अधिसूचना जारी की जाती है जिसमें यह कहा जाता है कि सार्वजनिक उद्देश्य से या किसी कंपनी के लिए भूमि के एक ख़ास टुकड़े की आवश्यकता है या हो सकती है (खंड 4)। इस सूचना को जो एक सार्वजनिक सूचना है, तीन तरह से प्रकाशित करना आवश्यक होता है।

1. यदि केन्द्र सरकार भूमि प्राप्ति की मंशा दर्शाती है तो यह सूचना अनिवार्य रूप से 'गज़ेट ऑफ़ इंडिया' में प्रकाशित की जानी चाहिए। इसी तरह यदि राज्य सरकार भूमि प्राप्त करना चाहती है तो इससे संबद्ध सूचना अनिवार्य तौर पर उस राज्य के 'गजेट' में प्रकाशित की जानी चाहिए।
2. यह सूचना निश्चित रूप से कम से कम दो समाचार पत्रों में प्रकाशित की जानी चाहिए जिनमें से एक अनिवार्यतः किसी क्षेत्रीय भाषा का समाचार पत्र होना चाहिए।
3. समाहर्ता के लिए आवश्यक है कि वह साररूप में इस सूचना को गांव या शहर में

स्थित उन उपयुक्त सार्वजनिक स्थानों तथा अन्य महत्त्वपूर्ण स्थानों पर भिजवाए जहां वह भूमि अवस्थित होती है। इस अधिसूचना का उद्देश्य मूलतः सरकार को भूमि के सर्वेक्षण का अधिकार प्रदान करना था ताकि कथित उद्देश्य से इसका औचित्य सिद्ध हो पाए। सरकार की अनुमति से कोई भी अधिकारी इस प्रक्रिया का संपादन कर सकता है।

ध्यातव्य है कि भूमि में दिलचस्पी रखनेवाला कोई भी व्यक्ति जिसे उक्त मंशा के प्रति आपत्ति है, धारा 4 (1) के अंतर्गत 30 दिनों के भीतर लिखित रूप में समाहर्ता के पास अपनी आपत्ति दर्ज करा सकता है। समाहर्ता को उसे (अर्थात आपत्तिकर्ता को) सुनवाई का एक अवसर देना पड़ता है और इस संदर्भ में अपने निर्णय के कारणों को स्पष्ट करना पड़ता है। समाहर्ता की रिपोर्ट 'उपयुक्त सरकार' के पास दर्ज कर दी जाती है जिसका निर्णय अंतिम होता है।

चरण II

सरकार के लिए वांछित भूमि की प्राप्ति की औपचारिक घोषणा करना आवश्यक होता है। मंशा अधिसूचना की तरह इस उद्घोषणा का प्रकाशन भी अधिकारिक 'गजेट' और दो समाचारपत्रों में किया जाता है तथा इसे गांव/शहर के सार्वजनिक स्थलों पर लगा दिया जाता है जहां अभी भूमिखंड स्थित होता है (धारा 6)।

उद्घोषणा में लगभग पूरी तरह से जिला, क्षेत्र और उस सार्वजनिक उद्देश्य का उल्लेख होना चाहिए जिसके लिए भूमि की आवश्यकता होती है। पुनः यदि उक्त उद्देश्य से कोई योजना पहले ही तैयार कर ली गई है तो जिस स्थान पर योजना का निरीक्षण हो सकता है उसका उल्लेख किया जाना चाहिए। यदि भूमि किसी कंपनी के लिए प्राप्त की जाती है तो कंपनी से संबद्ध विवरणों का उल्लेख होना चाहिए। इसके बाद समाहर्ता को भूमि की प्राप्ति के लिए सरकार से आदेश लेना पड़ता है तथा उस भूमि का सीमा निर्धारण, अनुमापन एवं नियोजन होता है (धारा 7,8)।

चरण III

इस चरण के अंतर्गत निम्नलिखित कार्य आते हैं :

(क) सुविधाप्रद स्थानों पर सार्वजनिक सूचना जारी करना और प्राप्य भूमि में रुचि रखनेवाले लोगों को व्यक्तिगत सूचनाएं जारी करना ताकि वे क्षति पूर्ति के लिए दावे कर सकें (धारा 9)।

(ख) भूमि की पैमाइशों या अनुमापनों, मूल्यों तथा दावों की जांच पड़ताल जिसके आधार पर समाहर्ता अपना निर्णय देता है। असहमति की स्थिति में रुचि रखने वाला व्यक्ति अदालत से मध्यस्थता की अपील कर सकता है।

### चरण IV

यह भूमि की प्राप्ति से संबद्ध कार्यवाहियों का अंतिम चरण है। इस चरण में समाहर्ता भूमि को अपने अधिकार में ले लेता है (धारा 16) और प्रभावित पक्षों को हर्जाना दिया जाता है (धारा 31 से 34)। इस तरह समाहर्ता के निर्णय के बाद ही भूमि पर किसी पक्ष का अधिकार हो सकता है। जब समाहर्ता भूमि को अपने कब्जे में ले लेता है तो इस पर सारे अधिकार बिना किसी बाधा के सरकार को पूरी तरह हस्तांतरित हो जाते हैं।

## भूमि अधिग्रहण (संशोधन) अधिनियम, 1984

1984 में केन्द्र सरकार ने इस अधिनियम में व्यापक संशोधन कर दिया। अन्य सारे संशोधनों के अलावा एक महत्त्वपूर्ण संशोधन यह किया गया कि इस अधिनियम ने भूमि प्राप्ति के लिए मंशा अधिसूचना से धारा 6 के तहत इच्छित प्राप्ति की घोषणा तक सारी कार्यवाहियां पूरी करने के लिए एक समय सीमा निर्धारित कर दी। इस धारा के अंतर्गत यह शर्त रखी गई है कि भूमि अधिग्रहण (संशोधन और वैधकरण) अध्यादेश, 1967 के संदर्भ में धारा 4 (1) के अंतर्गत आने वाली भूमि के लिए तीन वर्ष की अवधि के बाद परंतु भूमि अधिग्रहण (संशोधन) अधिनियम, 1984 के लागू होने से पहले कोई उद्घोषणा नहीं की जाएगी। पुनः भूमि अधिग्रहण (संशोधन) अधिनियम, 1984 के लागू होने के बाद धारा 4 (1) के तहत आने वाली भूमि के लिए एक वर्ष की अवधि के बाद भी कोई उद्घोषणा नहीं की जाएगी।

संशोधित अधिनियम समाहर्ता के निर्णय के लिए दो वर्षों की अनिवार्य समय सीमा भी निर्धारित करता है (धारा 11A)। हर्जाने के रूप में संशोधित अधिनियम ने मंशा अधिसूचना से समाहर्ता के निर्णय की तिथि तक की पूरी अवधि के लिए वार्षिक 12 प्रतिशत ब्याज की राशि निर्धारित की और प्राप्त भूमि के बाजार मूल्य के 30 प्रतिशत की दर से शमन राशि (अर्थात जन-भावनाओं के आहत होने के कारण प्रदत क्षतिपूर्ति की राशि) को भी निश्चित कर दिया। संशोधित अधिनियम द्वारा उन लोगों को भी जो समाहर्ता के निर्णय से असंतुष्ट होते हैं, निर्देश न्यायालय (रेफरेंस कोर्ट) द्वारा जारी अधिक हर्जाने के आदेश के आधार पर देय हर्जाने के पुनर्निर्धारण के लिए उसके पास आवेदन करने का अवसर दिया गया है। यद्यपि संशोधित अधिनियम द्वारा उपर्युक्त जिन परिवर्तनों का सूत्रपात किया गया वे ज्यादा शीघ्रता से मिलने वाले हर्जाने के कारण लोगों के लिए लाभप्रद साबित हो सकते हैं, संशोधनों में ऐसे प्रावधान हैं जिन्होंने विवेकाधिकारों की दृष्टि से राज्य को अधिक शक्तिशाली बना दिया। अब ये विवेकाधिकार धारा 17 के तहत राज्य के पास हैं। भूमि अधिग्रहण के लिए अविलंबता धारा के तहत राज्य धारा 5-A की पूर्णतः उपेक्षा कर सकता है जिसके अंतर्गत इसमें रुचि रखने वाला व्यक्ति प्रस्तावित अधिग्रहण के विरुद्ध अपनी आपत्तियां दर्ज करा सकता है।

## भूमि अधिग्रहण संशोधन विधेयक, 1998

हाल में प्रस्तावित 1998 के भूमि अधिग्रहण संशोधन विधेयक ने समाहर्ता की स्थिति को और अधिक सशक्त बना दिया है। पुनर्वास और पुनर्निवेशन को कानून की पुस्तक में शामिल करने, अधिक पारदर्शी उपागम अपनाने तथा अधिकारियों द्वारा अधिक तत्परता से कार्य संपादन के उद्‌देश्य से समयावधि को कम करने जैसे कुछ प्रावधानों के बावजूद इसमें अब भी कुछ गंभीर त्रुटियां हैं जिनपर बहुत अधिक ध्यान देने की आवश्यकता है। यहां हम इस पर विस्तार से चर्चा करने के बजाय उन प्रवृतियों पर चर्चा करेंगे जो उपर्युक्त संशोधन विधेयक द्वारा संशोधित होने के बाद प्रचलित कानूनों के साथ उभर सकते हैं। वैधानिक रूप से यह निश्चित कर दिया जाता है कि समाहर्ता के समक्ष प्रस्तुत करने से पहले प्रस्तावों को अनिवार्यतः हर तरह से पूरा होना चाहिए। इससे निश्चित तौर पर उन प्रस्तावों पर रोक लग जाएगी जो अक्सर असंबद्ध या असंगत उद्‌देश्यों से जल्दी-जल्दी समाहर्ता के सामने लाए जाते हैं। समय सीमाओं के संदर्भ में एक ओर तो आरंभिक उद्‌घोषणा और सार्वजनिक प्रयोजन से की जाने वाली उद्‌घोषणा के बीच समयांतराल को तीन वर्ष से घटाकर छः महीने कर दिया गया है, दूसरी तरफ इच्छित (इंटेंडेड) प्राप्ति की प्रक्रिया के विरुद्ध आपत्तियां दर्ज कराने के समय को इक्कीस दिन कर दिया गया है। इससे प्रभावित लोगों को जो अक्सर निरक्षर और दीन-हीन होते हैं, भयंकर कठिनाइयों का सामना करना पड़ेगा। आपत्तियों पर अपील सहित विभिन्न मामलों का फैसला करने की दृष्टि से समाहर्ता की भूमिका पहले की अपेक्षा बहुत अधिक शक्तिशाली हो गई है। धारा-12 एक अन्य उदाहरण है जिसे नए ढंग से आरम्भ किया गया है। यह मुआवजे से संबद्ध न्यायालय की शक्ति को निरस्त करके इसे समाहर्ता को सौंप देती है। भूमि अधिग्रहण पर की जाने वाली अपीलों से संबद्ध निर्देश या अभ्युद्‌देश और पुनर्शोधन के कार्य केवल उच्च न्यायालय में ही सम्पन्न हो सकते हैं। यह सर्वविदित है कि किसी व्यक्ति पर मुकदमे के खर्च का बोझ बहुत ज्यादा होता है और उच्च न्यायालयों में वैधानिक हस्तक्षेप के क्रम में होने वाले भारी खर्चों का वहन कर पाना किसी आम आदमी के लिए लगभग असंभव होगा। इस कारण आम आदमी के लिए अपनी भूमि के एवज में उचित राशि हासिल कर पाना निश्चित रूप से और ज्यादा कठिन हो जाता है। आजकल यह बाजार मूल्य पर निर्भर है जो भूमि के स्वामित्व से संबंधित बहुत से लाभों की उपेक्षा करता है जिस कारण दावेदार को उचित मुआवजा नहीं मिल पाता है।

आजकल जो प्रवृत्तियां प्रचलित हैं उन्हें ध्यान में रखें तो वर्तमान संशोधन किसी कोण से आदर्श संशोधन नहीं दिखाई देते हैं। उदारीकरण के फलस्वरूप सरकारी निगमों के जरिए बहुराष्ट्रीय कंपनियों के लिए भूमि की प्राप्ति पहले की अपेक्षा बहुत आसान हो गई। इससे पहले से दीनहीन तथा विशेषाधिकार रहित तबकों की स्थिति और बदतर हो जाएगी।

## सार्वजनिक उद्‌देश्य (जनहित)

'सार्वजनिक उद्‌देश्य' का मुद्‌दा शायद सबसे विवादास्पद और असहमतिपूर्ण है जिसने न्यायालय और प्रबुद्ध लोगों को समान रूप से परेशान किया है। इस चर्चा का अगला अंश

अदालत के उन विचारों को एक प्रवृति के रूप में प्रस्तुत करने की यथासंभव चेष्टा करेगा जो सार्वजनिक उद्देश्य, सार्वजनिक कल्याण और सार्वजनिक हित के प्रश्न पर भूमि अधिग्रहण अधिनियम के संदर्भ में उभरकर सामने आए हैं। यह अध्ययन विशेष तौर पर उन निर्देशों (गाइड लाइंस) और मानदंडों की सूची प्रस्तुत करने का प्रयास करेगा जिनका प्रयोग करके इस निष्कर्ष पर पहुंचा जाता है कि कौन सा उद्देश्य सार्वजनिक है और कौन सार्वजनिक नहीं है। भारतीय वन अधिनियम, 1927, वन्य जीवन संरक्षण अधिनियम, 1972 आदि जैसे अन्य अनेक अधिनियम हैं जिनके तहत इस अधिनियम के उद्देश्यों से भूमि अधिग्रहण को भी 'सार्वजनिक उद्देश्य' से अधिग्रहण माना जाता है।

(The Other Media, 1998, नई दिल्ली से साभार)

# XV. जनजातीय क्षेत्रों के विकास में लगे कृतिक बल की रिपोर्ट— प्रो० विद्यार्थी समिति

## जनजातीय क्षेत्रों का विकास

पहली पंचवर्षीय योजना से लेकर चौथी योजना तक की समस्याओं और उनसे संबंधित कार्यवाइयों की समीक्षा।

## भूमिका

जनजातीय क्षेत्रों के विकास की समस्या बुनियादी रूप से उन क्षेत्रों के पिछड़ेपन, वहां के निवासियों की गरीबी और जनजातियों के लोगों और शेष आबादी के बीच तालमेल या समन्वय की अवधारणा से जुड़ी हुई है।

विभिन्न राज्यों में जनजातियों के बड़े-बड़े समूह विभिन्न स्थानों पर रहते हैं। किन्तु, कुछ जनजातियाँ और उनकी उप-जातियाँ ऐसी भी हैं जो एक साथ बड़ी संख्या में नहीं रहतीं। कहीं कुछ थोड़े से व्यक्ति हैं तो किसी बस्ती में उनकी संख्या हजारों में है। वे अनेक प्रकार की आर्थिक गतिविधियों से अपनी जीविका चलाते हैं, विभिन्न जातीय उद्‌गमों के हैं और उनकी भाषाएं और बोलियां भी अनेक प्रकार की हैं। वे राजनीतिक, आर्थिक और शैक्षिक विकास के अनेक स्तरों पर हैं।

अलग-अलग स्थानों की जनजातियों को अलग-अलग किस्म की समस्याओं से जूझना पड़ता है। देश के विभिन्न क्षेत्रों में जनजातियों को जिन अवरोधों का सामना करना पड़ता है उनका संक्षेप में इस प्रकार उल्लेख किया जा सकता है :

1. उत्तरी क्षेत्र उत्तर-पश्चिम में लद्‌दाख से लेकर उत्तर प्रदेश के तराई के इलाकों तक फैला हुआ है। यहां जनजातियों की अंग्रेज सरकार के जमाने से ही निरन्तर उपेक्षा की गयी है। इस उपेक्षा का एक महत्त्वपूर्ण कारण यह भी है कि ये इलाके दूर-दराज पर हैं और यहां के मौसम की अवस्थाएं बड़ी कठिन हैं।

2. उत्तर पूर्वी क्षेत्र में असम और तिब्बत के बीच का हिस्सा आता है। यहां की जनजातियों की अर्थव्यवस्था इसलिए खराब है क्योंकि पूर्वी पाकिस्तान (वर्तमान बांग्लादेश) बनने से यह इलाका देश के बाकी हिस्से से पूरी तरह कट गया है। संचार के साधन बिगड़ गये हैं जिससे बंगाल के व्यापार-केन्द्रों और मैदानी इलाकों से होने वाला उनका व्यापार

छिन्न-भिन्न हो गया है। वहां के लोग अधिकांशतः झूम पद्धति से खेती करते हैं क्योंकि भूमि समतल नहीं है, ज्यादातर पहाड़ी ढलानें हैं। झूम की खेती की अपनी खुद की अनेक समस्याएं होती हैं।

3. पूर्वी, मध्य और पश्चिमी क्षेत्र में पश्चिम बंगाल, बिहार, उड़ीसा, मध्य प्रदेश, उत्तर प्रदेश, गुजरात, महाराष्ट्र और राजस्थान के इलाके आते हैं। इस क्षेत्र की जनजातियों का विकास अनेक प्रकार की समस्याओं से संबद्ध है। जैसे - भूमि पर आबादी के दबाव की समस्या, भूमि की पट्टेदारी, कर्ज, झूम की खेती की समस्याएं, कृषि उत्पादन में कमी आदि। इस क्षेत्र की जनजातियाँ भोजन के निरन्तर अभाव, पानी और रोजगार की कमी से पीड़ित हैं। इन सबके साथ आधुनिकीकरण की अनेक समस्याएं हैं क्योंकि जनजातियों के मुख्य क्षेत्रों में नयी औद्योगिक बस्तियों की स्थापना की गयी है और उसके कारण उनकी परंपरागत जीवन शैली गड़बड़ा गयी है। बड़े पैमाने पर आबादियों को एक स्थान से दूसरे स्थानों पर जाना पड़ा है जिससे विभिन्न समूहों में तनाव पैदा हुए हैं। विशेष रूप से दण्डकारण्य में, पूर्वी पाकिस्तान के शरणार्थियों को भी जनजाति के लोगों के क्षेत्रों में बसाया गया है इसमें भी उनमें पैदा होने वाले तनाव और उनकी समस्याओं में वृद्धि हुई है।

4. दक्षिण क्षेत्र की जनजातियों की समस्याएं ज्यादातर उनकी परंपरागत आदिम पाण्डु संस्कृति (झूम पद्धति की खेती) या भोजन-सामग्री एकत्र करने का परंपरागत और भूमि की पट्टेदारी से संबंधित "मुट्टादरी" नामक प्रणाली से संबंधित हैं।

5. अंदमान और निकोबार, लक्षद्वीप और मिनीकॉय के द्वीप समूहों में रहने वाली जनजातियों की समस्याएं उनकी जीविका के साधनों-मछली पकड़ने और नारियल की खेती आदि पर आधारित उनकी अर्थव्यवस्था से संबंधित हैं। विभिन्न क्षेत्रों की जनजातियों की समस्याओं की विभिन्नताओं के बावजूद उनके आर्थिक और सामाजिक जीवन की कुछ बातें ऐसी भी हैं जो सबमें समान रूप से पायी जाती हैं। जनजाति के क्षेत्रों के विकास संबंधी कार्यक्रमों के निर्माण कार्य में इन बातों को ध्यान में रखना आवश्यक है। वे बातें हैं :-

1. उनकी बस्तियां अलग-अलग और ऐसे स्थानों पर हैं जहां पहुंचने के लिए परिवहन के आदिम साधन ही उपलब्ध हैं, सड़कों, पुल या पुलिया आदि का सर्वथा अभाव है। स्थिति यह है कि जनजाति के लोगों के गांव निकटवर्ती बाजार या ब्लाक विशेष के मुख्यालयों से भी जुड़े नहीं हैं।
2. जनजाति के लोगों की आय का प्रमुख साधन कृषि और जंगलों से बीनी गई वस्तुएं आदि हैं।
3. इन क्षेत्रों में आज भी वस्तु के बदले वस्तु लेने या देने की परंपरा प्रचलित है। बाजारें असंगठित हैं, वस्तुएं अमूमन उधार ली जाती हैं और इस सबके कारण सूद या रुपया देने वालों की चांदी है।
4. जनजातियाँ अपनी फसलों के लिए प्रकृति पर निर्भर रहती हैं, उसके सहारे वे

आत्मनिर्भर बनने की उम्मीद करती हैं, किन्तु उनमें मुनाफा बनाने की प्रेरणा का अभाव है।

5. जनजातियों के लोग अपनी आय का ज्यादातर हिस्सा सामाजिक एवं धार्मिक उत्सवों या समारोहों पर खर्च करते हैं, जिसके कारण वे लगातार सूद खोरों के पंजों में फंसे रहते हैं।

6. साक्षर न होने के कारण वे लोग भ्रष्ट नौकरशाही और ठेकेदारों के शोषण का शिकार होते हैं।

उनकी कुछ विशिष्ट समस्याओं जैसे खेती के आदिम तरीके, भूमि का हस्तान्तरण, खेती के स्थानों में परिवर्तन (झूम पद्धति), कर्ज, औद्योगीकरण आदि का विस्तृत उल्लेख नीचे किया गया है :-

## भूमि के हस्तान्तरण की समस्याएं

जनजाति के लोगों की खेती के विकास के मार्ग में सबसे बड़ी अवरोधक समस्या भूमि के हस्तान्तरण की है। जनजातियों की भूमि का काफी बड़ा हिस्सा सूदखोरों, अच्छी हैसियत के किसानों और औद्योगिक परियोजनाओं द्वारा हड़प लिया गया है। इसलिए इस समस्या का समाधान भूमि के स्वामित्व संबंधी कानूनी सुधारों द्वारा ही किया जा सकता है।

जनजातियों की भूमि संबंधी समस्या सरकार द्वारा औद्योगिक बस्तियों के लिए भूमि के अधिग्रहण की वजह से और भी जटिल और गम्भीर हो गयी हैं। जिन जनजाति-परिवारों की भूमि का अधिग्रहण किया गया है उन्हें या तो उसका नगद मुआवजा दिया गया या फिर उनकी भूमि के स्थान पर दूसरी भूमि दी गयी। चूंकि जनजाति के लोग धन के सदुपयोग से परिचित नहीं थे इसलिए उन्हें मुआवजे की जो भी रकम मिली उसे उन्होंने या तो फिजूल के कामों में उड़ा दिया या फिर उसका एक खासा हिस्सा भूमि के बदले में दूसरी भूमि लेने की प्रक्रिया में खर्च कर दिया। जो नई भूमि उन्हें दी गयी वह उनकी बस्तियों से इतनी दूरी पर थी कि वहां जाने पर उन लोगों की सामाजिक एवं आर्थिक स्थितियाँ ही पूरी तरह बदल गयीं।

## झूम कृषि

जनजाति के लगभग 20 लाख लोग, जो भीतरी पहाड़ी इलाकों में रहते हैं, झूम की खेती करते हैं। इस प्रकार की खेती अनुमानतः 13 लाख 50 हजार एकड़ भूमि पर होती है। यह भूमि मध्य, पूर्वी, दक्षिणी, उत्तर पूर्वी राज्यों और केन्द्र शासित क्षेत्रों में फैली हुई है। झूम की खेती की समस्या विशेष रूप से आंध्र प्रदेश, असम, बिहार, उड़ीसा, नागालैण्ड, मणिपुर, त्रिपुरा और अरुणाचल प्रदेश के केन्द्र शासित क्षेत्रों में ज्यादा गम्भीर और महत्त्वपूर्ण है।

भारत और उसके बाहर हुए हाल के अध्ययनों से झूम की खेती के संबंध में अब तक जो दृष्टिकोण था उसमें परिवर्तन हुआ है। अब वह सरासर बुरी चीज नहीं मानी जाती।

पहाड़ की चोटियों पर जहां खेती का कोई विकल्प सम्भव नहीं है, झूम की खेती का तुरन्त और सम्पूर्ण उन्मूलन वांछनीय नहीं प्रतीत होता। इसलिये झूम की खेती को नियंत्रित करने और उसे वैज्ञानिक तरीकों से सुधारने की जरूरत है जिससे जनजाति के लोगों की अर्थव्यवस्था को उन्नत किया जा सके। विकास की योजनाओं में झूम की खेती करने वाले जनजाति के लोगों को पुनःस्थापित करने की दिशा में कुछ प्रयास किये गये हैं। उनका क्या असर हुआ यह अभी तक सुस्पष्ट नहीं है।

झूम की खेती की आदत के कारण स्थापित खेती को अपनाना एक दीर्घकालीन और खर्चीली प्रक्रिया है, उसके लिये सम्मिलित प्रयासों की जरूरत है। अब तक झूम की खेती करने वाले जनजातियों के केवल 10 प्रतिशत लोगों को पुनःस्थापित किया जा सका है।

## लघु वन उत्पाद एकत्र करने का अधिकार

सभी जनजातियों की अर्थव्यवस्था दोहरी है, एक तरफ कृषि उत्पादन और दूसरी तरफ वन-उत्पादन। वन विभाग द्वारा वन की वस्तुओं के इस्तेमाल पर लगाये गये प्रतिबन्धों के कारण जनजातियों की अर्थव्यवस्था काफी गड़बड़ा गयी है। वे अपने भोजन के लिए शिकार नहीं कर सकते और न बिना आज्ञा लिये लकड़ी, शहद या बांस एकत्र कर सकते हैं। इसके लिए वन-विभाग के अधिकारियों से परमिट लेना धरती पर गंगा को लाने जैसा दुष्कर प्रयास है। इस तरह उन्हें वन के छोटे कर्मचारियों की दया का पात्र बना दिया गया है। वे उन्हें रेजिन, जलाने की लकड़ी और वन की दूसरी छोटी-छोटी वस्तुएं एकत्र करने के लिये उनसे गैर-कानूनी घूस आदि लेकर उनका शोषण करते हैं। ठेकेदारों के जरिये वन-विभागों द्वारा वनों के शोषण का रिवाज एक आम बात रही है, हालांकि उसी काम को स्वस्थ और साफ सुथरे ढंग से जनजाति के लोगों की सहकारी समितियों से कराया जा सकता है जिसमें सरकार और जनजातियों दोनों का भला हो सकता है। लेकिन वैसा न करके आज जनजाति के लोगों को बहुत कम पगार पर काम करने वाले मजदूर बना दिया गया है।

## कर्ज की समस्या

जनजातियों की अर्थव्यवस्था काफी हद तक वस्तुओं और सेवाओं के विनिमय-व्यापार पर आधारित है। कर्ज का लेन-देन भी ज्यादातर श्रम और वस्तुओं के आधार पर होता है। इस प्रकार कर्ज की अदायगी रकम के रूप में नहीं अवधि और अनुपात की शर्तों के आधार पर मांगी जाती है। सिक्कों की कमी के कारण असली वस्तुओं की अदला-बदली होती है जैसे - जमींदार अपने काश्तकारों को यदि बीज देता है तो उसके बदले में वह उसकी भावी फसल में उसी अनाज की मांग करता है जिसके लिए कर्ज दिया जाता है। वसूली उसी वस्तु के रूप में उसकी भावी फसल के बाद होती है। वस्तु के रूप में दिये गये कर्ज का ब्याज भी उसी वस्तु के रूप में लिया जाता है जिसकी वजह से कर्ज लेने वाला अधिकांशतः हमेशा कर्जदार बना रहता है। गुजर-बसर के खर्च वाली अर्थव्यवस्था में रहने वाले जनजातियों के लोग बीज खरीदने, छोटे-मोटे खेतिहर उपकरण खरीदने, अपनी सामाजिक एवं धार्मिक कार्यों को पूरा

करने और कभी-कभी कपड़ा, नमक और मिट्टी का तेल आदि खरीदने के लिए भी कर्जदार बन जाते हैं। इस स्थिति का लाभ स्थानीय सूदखोर उठाते हैं और तरह-तरह से जनजातियों के लोगों का शोषण करते हैं।

## जनजाति क्षेत्रों पर औद्योगीकरण का प्रभाव

अधिकांशतः जनजातियों के क्षेत्रों में बड़े-बड़े कारखाने स्थापित होने से न केवल जनजातियों का जीवन बिगड़ गया है वरन् बहुत सी जनजातियाँ अपने सदियों पुराने मूल स्थानों से उखड़कर विस्थापित हो गयी हैं। विस्थापित होने का बुरा असर तो उन्हें झेलना ही पड़ा साथ ही उन्हें नये परिवर्तन से पैदा होने वाली मजदूरी के बाजार में बाहरी मजदूरों से प्रतिस्पर्धा के नतीजे भी भुगतने पड़े हैं। इसके अलावा भवन-निर्माण की अज्ञानता और अनुभवहीनता अथवा कारखानों के काम की दक्षता के अभाव में उन्हें बाहरी मजदूरों के मुकाबले घाटे में रहना पड़ा। उन्हें यदि मजदूरी पर रख भी लिया जाता है तो दूसरे श्रमिकों की तुलना में उन्हें सबसे कम पगार दी जाती है। इस तरह जनजातीय क्षेत्रों में कारखानों की स्थापना ने उनकी अर्थव्यवस्था को लाभ पहुंचाने के बजाय उन्हें साधनहीन और अकिंचन ज्यादा बनाया है। इन क्षेत्रों की जनजातियों की मुख्य समस्या उनकी प्रवृत्तियों के आधुनिकीकरण और उन्हें औद्योगिक जीवन के योग्य बना सकने वाले प्रशिक्षण से जुड़ी है।

## योजना संबंधी कार्यक्रम - एक समीक्षा

प्रारम्भ में यह बता देना जरूरी है कि आम धारणा यह है कि प्रथम पंचवर्षीय योजना से अब तक जनजातियों के कल्याण पर बहुत ज्यादा धन का निवेश किया गया है। हालांकि, यह निवेश (वित्तीय अर्थों में) केवल पिछड़े वर्गों के कल्याण क्षेत्र में ही देखा जा सकता है। यह क्षेत्र, वस्तुतः उन सब व्यवस्थाओं का अनुपूरक है जो सामान्य क्षेत्र के अन्तर्गत जनजातियों या अनुसूचित क्षेत्रों के विकास के लिए उपलब्ध हैं। इसमें संदेह नहीं कि पिछड़े वर्गों के कल्याण के अंतर्गत ज्यादा खर्च अनुसूचित जातियों के कल्याण पर किया गया है किन्तु योजना के कुल विस्तार की तुलना में आनुपातिक दृष्टि में वह खर्च ज्यादा नहीं कहा जा सकता। यह तथ्य नीचे दी गयी तालिका से स्पष्ट है :

| *योजना* | *कुल खर्च* | *अनुसूचित जाति* | *प्रतिशत* |
|---|---|---|---|
| प्रथम योजना | 1960 | 19.93 | 1.0. |
| द्वितीय योजना | 4672 | 42.92 | 0.9 |
| तृतीय योजना | 8577 | 50.53 | 0.5 |
| 1966-69 | 6756 | 32.32 | 0.5 |
| चतुर्थ योजना | 15902.2 (परिव्यय) | 75.00 | 0.04 |

## योजना में विकास कार्यक्रम

मौजूदा समय में कार्यान्वित हो रहे जनजातीय कल्याण कार्यक्रमों का एक संक्षिप्त मूल्यांकन नीचे के अनुच्छेदों (पैराग्राफ़ों) में दिया जा रहा है :

### शिक्षा

जनजातीय क्षेत्रों में शिक्षा की समस्या वस्तुतः अपव्यय की समस्या है क्योंकि जनजाति समाज में अपने बच्चों को स्कूल भेजने की प्रेरणा देने या उसके लिये उत्साह बढ़ाने वाले तत्वों का अभाव है, प्रारम्भिक से मिडिल स्कूल और मिडिल से माध्यमिक स्तर पर छात्रों को ले जाने की सुविधाओं की कमी है, प्रारम्भिक शिक्षा के क्षेत्र में सुयोग्य और समर्पित शिक्षकों का अभाव है। इन सबके बराबर या इनसे ज्यादा महत्त्वपूर्ण बात जनजातियों की बोली व भाषा में पाठ्य-पुस्तकों की उपलब्धता संबंधी कठिनाइयां हैं। 1961 की जनसंख्या के अनुसार भारत की जनजातीय आबादी का केवल 8.5 प्रतिशत साक्षर था जबकि अनुसूचित जातियों की आबादी में 10.3 प्रतिशत और सर्व सामान्य आबादी में साक्षरता 28.0 प्रतिशत थी।

विभिन्न राज्यों की जनजातियों में साक्षरता का स्तर भी भिन्न-भिन्न है। सभी राज्यों में मैट्रिक या उससे ऊपर की कक्षाओं में विद्यार्थियों की संख्या में काफी गिरावट पाई जाती है। अनुसूचित जनजाति की लड़कियों व स्त्रियों में साक्षरता की सीमा केवल 3.16 प्रतिशत है जबकि अनुसूचित जाति के पुरुषों में 13.8 प्रतिशत लोग साक्षर हैं। पिछले कुछ दशकों में जनजाति क्षेत्रों में स्कूलों की सुविधाएं बढ़ी हैं और जनजातियों के बच्चे ज्यादा संख्या में स्कूल जाने लगे हैं। प्रारम्भिक स्कूलों में जनजाति के बच्चों के दाखिलों में भी थोड़ी वृद्धि हुई है।

ज्यादातर राज्यों में प्रारम्भिक और माध्यमिक शिक्षा को प्रोत्साहित करने के लिए विभिन्न प्रकार की सुविधाओं की व्यवस्था है, जैसे छात्रवृत्ति या वजीफ़े, छात्रावास की सुविधा, आश्रम स्कूल, अनुदान, दोपहर का भोजन, स्कूली पोशाक और निःशुल्क पाठ्य पुस्तकें। इन समस्त सुविधाओं के बावजूद अनुसूचित जनजातियों की शिक्षा की समस्या पूरी तरह हल नहीं हो पा रही है। मैट्रिक के आगे जनजाति के विद्यार्थी ज्यादातर मानविकी के विषयों का अध्ययन करते हैं, विज्ञान और टेक्नोलॉजी का नहीं। तकनीकी और व्यावसायिक शिक्षा को भी वे ज्यादा संख्या में नहीं अपना रहे हैं।

यह महसूस किया जा चुका है कि जनजाति के विद्यार्थियों को व्यावसायिक और कामकाजी-शिक्षा प्राप्त करने का दिशानिर्देश देना आवश्यक है क्योंकि उसके बिना उनके रोजगार की समस्या आज की तुलना में और भी बड़ी और व्यापक हो जायेगी। वह भी देखा गया है कि किसी भी राज्य सरकार ने अनुसूचित जनजातियों के लिए अपने यहां के पाठ्यक्रमों में संशोधन करने पर विशेष ध्यान नहीं दिया है। शिक्षा संस्थाओं में जनजातियों की बोलियों का इस्तेमाल भी एक महत्त्वपूर्ण नीति विषयक पक्ष है। चूंकि, प्रारम्भिक स्तर से ऊपर जनजाति की बोलियों का इस्तेमाल व्यावहारिक नहीं है इसलिए जनजाति के बच्चों को

क्षेत्रीय भाषा के माध्यम से पढ़ाया जाता है। इससे भी एक विशेष समस्या पैदा होतो है क्योंकि उन बच्चों को प्रारम्भिक स्तर पर ही एक अपरिचित बोली सीखनी पड़ती है।

## सहकारिता

जनजाति क्षेत्रों में सहकारी समितियों की आवश्यकता को दृष्टि में रखते हुए पिछड़े वर्ग क्षेत्र के कल्याण के लिए केन्द्रीय और राज्यों की योजनाओं में विशेष प्रकार की व्यवस्थाएं की गयी हैं। प्रथम योजना में जनजाति क्षेत्रों में सहकारिता के सिलसिले में निम्नलिखित दो महत्त्वपूर्ण कदम उठाये गये थे :

(1) वन क्षेत्रों के मजदूरों की सहकारी समितियों के निर्माण का कार्यक्रम। इस कार्यक्रम का सूत्रपात 1946-47 में सबसे पहले बम्बई में किया गया। फिर आंध्र प्रदेश, बिहार, मद्रास और राजस्थान में उसका विस्तार किया गया जहां अनेक सहकारी समितियों की स्थापना की गयी।

(2) उड़ीसा सरकार ने अपने यहां अन्न सहकारी समितियों की शुरुआत की।

दूसरी योजना की महत्त्वपूर्ण घटना "आंध्र अनुसूचित जनजाति सहकारी वित्त और विकास निगम" की स्थापना है जिसका पंजीकरण अप्रैल 1956 में हुआ। निगम के मुख्य उद्देश्य थे - (1) अनुसूचित जनजातियों द्वारा किये गये उत्पादनों की सीधी खरीद। यह खरीद निगम से संबद्ध प्रारम्भिक मार्केटिंग सहकारी समितियों की एजेंसी करती है और फिर समितियों के जरिये उसे अच्छे दामों पर बिकवा दिया जाता है। ये समितियां जंगल के लघु उत्पादनों को प्राप्त करने और उन्हें बांस की गाड़ियों में ढोकर लाने के लिए जंगलों का ठेका भी लेती हैं। (2) सदस्यों की व्यापारिक एवं घरेलू जरूरत की चीजों की आपूर्ति। (3) उत्पादन की साधारण सम्भाल और उसे बिक्री के योग्य बनाना। (4) सदस्यों को अनेक पुराने कर्जों को उतारने में मदद करना। (5) पेशगी ऋण या फुटकर उधार के जरिए समिति के सदस्यों को उनके व्यापार के लिए लागत पूंजी की सुविधाएं देना प्रारम्भिक दिक्कतों पर विजय पाने के बाद, निगम जनजातियों के कृषि उत्पादों को खरीदने तथा घरेलू जरूरत की चीजें बेचने के साथ ही उस क्षेत्र में कीमतों को नियन्त्रित करने में कामयाब हो गया है। इसी प्रकार का एक निगम मध्य प्रदेश में तीसरी योजना के दौरान स्थापित किया गया। 1969-70 से बिहार ने भी एक निगम की स्थापना की जबकि उड़ीसा अपने यहां बिक्री, खरीद और ऋण समितियों को मिलाकर जनजाति विकास निगम जैसे शीर्ष संगठन की स्थापना की प्रक्रिया में है।

सहकारी समितियों की असफलता का मुख्य कारण प्रशासन की उन कमियों को माना जाता है जो जनजाति समाज के लिए अनुपयुक्त हैं और जनजाति के लोग जिनके आदी नहीं हैं। महाजनों से कर्ज लेना उन्हें सुविधाजनक लगता है। सहकारी समितियों की दीर्घ सूत्री औपचारिकताएं पूरी करने में उन्हें कठिनाई होती है और उनका काम भी देर से होता है। महाजनों से उन्हें बिना किसी लम्बी-चौड़ी कार्रवाई के अपेक्षाकृत जल्दी ऋण मिल जाता है।

यह भी सही है कि जनजाति के लोगों को सहकारिता के उसूलों और नियम कायदों की जानकारी भी कठिनाई से होती है। सहकारी समिति का अध्यक्ष भी यदि जनजाति का होता है तो भी उसके सदस्यों को असुविधाएं होती हैं क्योंकि अध्यक्ष सहकारी समिति के कामकाज की पेचीदगियों से अनभिज्ञ होता है और वास्तविक कार्य उसके नीचे के सहायक कर्मचारी ही करते हैं। समितियों के पास बड़ी मात्रा की वाणिज्य वस्तुओं का धन्धा करने के लिए आवश्यक पूंजी का अभाव होता है, उधारी की सुविधाएं भी बहुत कम होती है। समस्याएं उस समय पैदा होती हैं जब जनजाति के सदस्य भूमि जैसी किसी अचल संपत्ति की जमानत नहीं दे पाते। कभी-कभी जनजाति के इतर लोग इन्हीं समितियों से ऋण लेकर उससे जनजाति के लोगों को ही ब्याज की बढ़ी हुई दर पर ऋण देकर अतिरिक्त मुनाफा कमाते हैं। सहकारी समितियाँ जनजाति के सदस्यों को उनके सामाजिक कार्यों व उत्सवों के लिए कर्ज देने में असमर्थ हैं इसलिए भी उन्हें महाजनों और सूदखोरों की शरण में जाना पड़ता है। महाजन और जनजाति के सदस्यों का परंपरागत संबंध काफी मजबूत होता है। अपवाद भी है। खरीद-फरोख्त और उचित मूल्य की दूकानें जनजातियों की आवश्यकताएं पूरी करती हैं, उनके सामाजिक समारोहों के लिए भी सीमित मात्रा में ऋण या छोटे-मोटे कर्ज भी देती हैं जो उनकी फसल या उनके उत्पादनों की चीजों की खरीद के समय चुकता कर लिया जाता है।

## संचार

जनजातियों की अर्थव्यवस्था के विकास की एक अन्य योजना संचार सुविधाओं की व्यवस्था करने की है। इस दिशा में एक छोटी शुरुआत पहली योजना की अवधि में की गयी थी जब सुदूर भीतरी इलाकों में स्थित जनजाति क्षेत्रों को शेष आबादी से जोड़ने के कदम उठाये गये थे। तीसरी योजना अवधि में यह सोचा गया कि एक दूसरे से पृथक् क्षेत्रों को बाकी आबादी के लिए खोलने का काम बहुत खर्चीला और जटिल है। उसके लिए जितने बड़े पूंजी निवेश की जरूरत है उतना जनजाति कल्याण विभाग के लिए असम्भव है। जनजाति कल्याण क्षेत्र ने जो प्रयास किये भी उनसे समस्या का एक अंश तक हल नहीं हो सका। क्योंकि जनजातियों का एक बड़ा क्षेत्र बरसात के दिनों में यह बर्फ से ढके होने के कारण पहुंच के बाहर हो जाता है। अच्छी सड़कों की तो बात ही नहीं उठती जनजातियों के गांवों को ब्लाक के मुख्यालयों या पास की बाजारों से मिलाने वाले रास्ते भी नहीं हैं। उनकी कृषि के क्षेत्र में चाहे कितनी ही पूंजी क्यों न झोंक दी जाय वह तब तक अधूरी और अप्रभावी ही रहेगी जब तक कि दूर-दराज के जनजातीय क्षेत्रों में सड़कों और परिवहन की अच्छी व्यवस्था नहीं की जायेगी।

## क्षेत्र स्तर की समस्याएं और विकास प्रशासन

जनजातीय और हरिजन कल्याण के कार्यों में लगे राज्य सरकारों के ज्यादातर विभाग समन्वय व तालमेल करने वाले विभाग हैं। योजनाओं के वास्तविक कार्यान्वयन का कार्य

उनकी विभिन्न एजेंसियों द्वारा किया जाता है जैसे, शिक्षा, कृषि, सार्वजनिक निर्माण, सहकारिता, सामुदायिक विकास, स्वास्थ्य विभाग आदि। जनजातीय कल्याण के विभागों द्वारा केवल वित्तीय स्वीकृति दी जाती है बाकी सारा काम उससे संबंधित विभागों द्वारा पूरा किया जाता है। इस तरह के प्रबन्ध का परिणाम यह होता है कि जनजातियों के हितों और कल्याण की बातें अधूरी रह जाती हैं क्योंकि दूसरे सभी विभाग अपने विभाग के कामों के लिए स्वीकृत बजट की अपर्याप्तता के दबाव में पिछड़े हुए जनजातीय क्षेत्रों पर बहुत कम रकम खर्च करते हैं और अधिकांशतः उसी छोटी सी धनराशि पर निर्भर रहते हैं जो जनजातीय कल्याण विभागों द्वारा स्वीकृत की जाती है, जबकि इस निधि को कल्याण विभागों द्वारा उनके सामान्य बजट के "पूरक" के रूप में दिये जाने की व्यवस्था है।

पिछले अनुभवों ने यह भी बताया है कि जब कभी, जहां कहीं किसी कार्यक्रम विशेष के लिए अतिरिक्त निधि स्वीकृत की गयी वहां राज्य की योजनाओं के सामान्य कार्यक्रमों और व्यवस्थाओं में कटौती करके जनजाति के क्षेत्रों को होने वाले लाभों में कमी हुई है और इस प्रकार अंततोगत्वा लेखा-ड्योढ़ा बराबर ही रहा है।

## खण्ड - दो

### परिप्रेक्ष्य

पिछले 5 वर्षों की नीतियों और उनमें हुए कार्यक्रमों की समीक्षा से ज्ञात होता है कि अनुसूचित जनजातियों के आर्थिक विकास के लिए अब तक जो भी प्रयास हुए हैं वे उनकी स्थितियों में कोई सराहनीय परिवर्तन नहीं ला सके हैं। उनके प्रभाव में कमी रह जाने का एक महत्त्वपूर्ण कारण यह भी है कि अनुसूचित जातियों और जनजातीय क्षेत्रों के विकास के कार्य को अब तक "कल्याण" की समस्या के रूप में ग्रहण किया गया, विकास की दृष्टि से नहीं। योजनाओं के अंतर्गत अब तक जो कार्यक्रम बनाये गये वे उन लोगों की वास्तविक आवश्यकताओं को समझने या उन पर ध्यान देने में असफल रहे। विशेष रूप से इसलिए भी कि जनजातियों के लोग देश के विभिन्न भागों में विभिन्न सामाजिक-आर्थिक स्तरों में जीवन गुजार रहे हैं और उन विभिन्न जातियों की आवश्यकताएं भी अलग-अलग तरह की हैं। इसके अतिरिक्त जनजातियों के क्षेत्रों के विभिन्न ब्लाकों के लिए जो भी कार्यक्रम और उनके कार्यान्वयन के जो भी तरीके अपनाएं गये वे एक जैसी योजना के अनुरूप बनाये गये थे, उनमें लोचशीलता की गुंजाइश नहीं रखी गयी अर्थात् इस बात का ध्यान नहीं रखा गया कि हर ब्लाक की जनजातियों की जरूरतें विभिन्न प्रकार की हैं और उनके विकास कार्यक्रमों को निश्चित करते समय विकास संबंधी नीति को उनकी विभिन्न प्रकार की जरूरतों के मुताबिक लोचशील होना चाहिए। जनजातियों का जो तबका परिष्कृत या उन्नत है वह विकास कार्यक्रमों के समस्त लाभ उठा लेता है और इस तरह जनजातियों में एक निहित स्वार्थ का वर्ग पैदा हो जाता है उसे योजना अथवा विकास कार्यक्रमों के लाभ नहीं मिल पाते हैं। अंतिम, ऐतिहासिक कारणों से, जनजातियों के क्षेत्रों का प्रशासनिक ढांचा सादा और सहज

नहीं हो सका है, फलस्वरूप वह न जनजाति के लोगों को भली प्रकार समझ पाता है और न जनजाति के लोगों का ही उसका सम्यक बोध हो पाता है जिसके कारण दोनों किसी भी मामले में विचारों का सही आदान-प्रदान नहीं कर पाते। प्रशासन का ऐसा ढांचा जनजातियों के क्षेत्रों का समन्वित विकास करने के लिए अनुपयुक्त हो सकता है।

## पाँचवीं योजना के प्रस्ताव

पाँचवीं योजना से ही जनजातीय क्षेत्रों के समन्वित विकास की नीति पर बल दिया गया है। जैसा कि बताया जा चुका है, व्यापक विकास कार्यक्रमों के लिये ब्लाक का क्षेत्र बहुत छोटा पड़ता था। इसलिए निकटवर्ती जनजातीय विकास खण्डों और जनजातीय लोगों की बड़ी आबादी को मिलाकर उनके विकास के बड़े क्षेत्रों का निर्माण लाभप्रद समझा गया। ऐसे जनजातीय क्षेत्र अनुसूचित क्षेत्रों के बराबर बड़े हो सकते हैं। मध्यम क्षेत्र जिला या ताल्लुका की सीमा से लगे हो सकते हैं और बहुत छोटा क्षेत्र जनजाति विकास खण्ड हो सकता है। बड़े, मध्यम और छोटे क्षेत्रों के अतिरिक्त देशभर में जनजातियों की अनेक अलग-अलग छोटी-छोटी बस्तियाँ भी हैं जिन पर विशेष रूप से ध्यान देना जरूरी है और उनके विकास को जिलास्तर के बहुमुखी नियोजन में प्राथमिकता देनी ही पड़ेगी।

## योजना के कार्यक्रम

क्षेत्रीय विकास कार्यक्रमों को अमली रूप देने के लिए प्रशासनिक ढांचे को बहुत सादा और सरल बनाना जरूरी है। सीमित संख्या में कर्मचारियों को विभिन्न प्रकार के अनेक कार्यों में लगाना होगा। विकास और विनियमन के कार्यों में लगे इन कर्मचारियों की विभिन्न सेवाओं को समन्वित करना होगा। सबसे बड़ी बात यह है कि इन क्षेत्रों में प्रशासनिक कार्य करते समय इस बात को ध्यान में रखना है कि वहां के जनजातीय लोगों के विश्वास को जीतना है और उनके साथ घनिष्ठता पैदा करनी है। इस मामले में जनजातियों की संस्कृति के विशेषज्ञों की सेवाएं प्राप्त करना आवश्यक हो सकता है क्योंकि उनकी सहायता से ही जनजाति के क्षेत्रों के समग्र विकास से संबंधित समस्याओं की अच्छी और विस्तृत जानकारी हो सकती है।

## जनता की सहभागिता

विकास के कार्यक्रमों के प्रभावी कार्यान्वयन के लिए उसमें जनता की सहभागिता को अधिक से अधिक बढ़ाना आवश्यक है। राजनीतिक सामाजिक परिवर्तनों, औद्योगीकरण की प्रक्रिया, नगरीकरण, और पंचायती राज की संस्थाओं की स्थापना के विरोधी अंतर प्रभावों ने नेतृत्व और उनकी संस्थाओं के स्वरूपों को काफी हद तक विदीर्ण कर दिया है। फिर भी, यह देखा गया है कि बहुसंख्यक जनजातीय क्षेत्रों में उनके समाज पर परंपरागत पंचायतों का प्रभाव अब भी बना हुआ है इसीलिए विकास संबंधी प्रशासन को विभिन्न प्रकार की जनजातियों में प्रचलित नेतृत्व के स्वरूप और निर्णय लेने वाली व्यवस्था के बारे में पूरी तरह

जागरूक बनाना आवश्यक है जिससे कि विकास के कार्यों में उनके ज्यादा से ज्यादा लोगों को सहभागी बनाया जा सके।

## अल्पावधि और दीर्घावधि की प्राथमिकताएं

जनजातीय क्षेत्रों के समन्वित विकास के लिए अल्पावधि और दीर्घावधि की योजनाएं बनाना जरूरी होगा। नियोजन में अल्पावधि की प्राथमिकताओं में जिन कार्यक्रमों को लेना होगा वे हैं - भूमि संबंधी अभिलेखों की पूर्ति, ऋणों का विमोचन, बन्धुआ मजदूरी का उन्मूलन, कर्ज उपलब्ध कराने की समुचित व्यवस्था, बाजार व्यवस्था, बस्तियों को बाजारों से जोड़ने वाली सड़कों का निर्माण और उस क्षेत्र में कृषि को समुन्नत करने के लिये आवश्यक निवेश। इन बातों को उच्च प्राथमिकता देनी होगी। अल्पावधि के पूरे किये जाने वाले कार्यों में उनकी न्यूनतम आवश्यकताओं की पूर्ति के कार्यक्रमों पर बल देना होगा, जैसे, प्राइमरी से पहले के विद्यालय, प्राइमरी और आश्रम स्कूल, बच्चों का पौष्टिक आहार, स्वास्थ्य केन्द्र आदि।

दीर्घावधि की योजना में भूमि के हस्तांतरण को रोकने और उसे पुनः जनजाति के लोगों को दिलवाने से संबंधित कानूनी व्यवस्था करने व कानून बन जाने पर उसे लागू कराने के गम्भीर और सतत प्रयास किये जा सकते हैं। अन्य सुझाव हैं - जनजातियों के लोगों के रोजगार संबंधी अवसरों को बढ़ावा और उनका विविधीकरण किया जाय, संस्थागत संरचनाओं, विकास केन्द्रों, संचार के साधनों आदि का विकास किया जाय और जनजातीय क्षेत्रों में काम करने वालों के लिए प्रशिक्षण, अनुसंधान और मूल्यांकन संबंधी व्यवस्थाएं की जाएं।

## खण्ड - तीन

## पाँचवीं योजना की प्राथमिकताएं और कार्यक्रम

### जनजाति क्षेत्रों को पिछड़ा क्षेत्र घोषित किया जाय

यह जरूरी है कि जनजाति-क्षेत्रों को पिछड़े हुए संवर्ग में वर्गीकृत किया जाय तथा समन्वित विकास की योजना में प्राथमिकताओं के सभी मामलों में उसे अधिकृत रूप से पिछड़ा हुआ माना जाय। अरुणाचल प्रदेश, नागालैण्ड, मेघालय, मिजोरम और लक्षद्वीप व मिनिकॉय द्वीप आदि को पिछड़े हुए जनजाति क्षेत्रों की सूची से बाहर रखना चाहिए क्योंकि ये सभी क्षेत्र राज्य और केन्द्रीय राज्य क्षेत्रों की सीमाओं में होने के कारण एक समान उद्देश्य वाले हैं और इनकी सम्पूर्ण विकास योजना जनजातियों के लिये ही है।

जनजाति क्षेत्रों का वर्गीकरण : (क) अत्यधिक पिछड़ापन निम्नलिखित बातों के आधार पर निश्चित किया जाना चाहिए।

1. कृषि योग्य भूमि के अनुपात में जनजाति की आबादी की सघनता
2. साक्षरता की स्थिति (5 प्रतिशत से कम या जिले/राज्य के औसत में 50 प्रतिशत से कम)
3. कृषि योग्य भूमि, वन प्रसाधन और सिंचाई की सुविधाएं आदि
4. जनजाति के लोगों का पेशा जैसे, शिकार, मछली, उद्योग, भोजन की वस्तुएं एकत्र करना आदि।
5. कृषि संबंधी बाह्य संरचनाओं की उपलब्धता - भूमि सुधार, खेतिहर उत्पादन, ऋण, बिक्री और भंडारण सुविधाएं आदि, और
6. विकास की बाह्य सुविधाएं जैसे स्कूल, चिकित्सा-सुविधाएं, संचार और परिवहन आदि।

## अल्पविकसित जन-जातियों की पहचान की जाय

जनजातियों के विकास का कार्य एक समान नहीं हो सका है। इसलिए, जरूरत इस बात की है कि अल्पविकसित जनजाति समुदायों की पहचान की जाय जिससे उनके पास एक विकास-कार्यक्रमों के लाभ पहुँचाए जा सकें। इन समुदायों की पहचान करने में जो बड़ी कठिनाई थी उसे हल कर लिया गया है। सूचीबद्ध 427 जनजातियों में से बहुत कम का विस्तृत अध्ययन किया गया है और यह नहीं ज्ञात हो सका है कि उनमें से कौन आर्थिक विकास के किस स्तर पर पहुंच सकी है। इनमें से कुछ जनजातियाँ किसी एक क्षेत्र में केन्द्रित न होकर एक से अधिक विशिष्ट क्षेत्रों में बिखरी हुई हैं। यही नहीं, वे एक राज्य में ज्यादा और दूसरे में कम पिछड़ी हुई हैं। हमारा प्रस्ताव यह है कि जनजातियों की जो सूची उपलब्ध है उसकी मदद से प्रत्येक जिले में रहने वाले जनजाति के लोगों की आर्थिक स्थिति और जिले के सामान्य साक्षरता स्तर की तुलना उस समुदाय विशेष के साक्षरता स्तर के आधार पर उस जाति विशेष को पिछड़ा हुआ घोषित कर दिया जाय। साक्षरता के आधार को राज्य के सामान्य साक्षरता औसत के सापेक्ष में निश्चित किया जाना चाहिए। पांच प्रतिशत से कम की साक्षरता को पिछड़ा हुआ मानना चाहिए।

## भूमि का हस्तांतरण

वैधानिक एवं प्रशासनिक कार्यवाहियां आये दिन की जाती हैं; किन्तु उनमें जनजाति समुदायों और उनकी भूमि के बीच के उन संबंधों की लगातार उपेक्षा की जाती है जिनसे पेचीदगियां बढ़ती हैं। भूमि के स्वामित्व से संबंधित किसी भी कार्यक्रम के संयोजन या उसे लागू करने में जिन बातों की पूरी और गहरी समझ जरूरी है वे हैं - भूमि के संबंध में जनजातियों के परंपरागत अधिकार, उन अधिकारों का गठन और भूमि वितरण का स्वरूप। हमारा प्रस्ताव है कि भूमि और वनों के मामलों में जनजातियों के परंपरागत अधिकारों को मान्यता दी जाय। व्यापक राष्ट्रीय हितों की दृष्टि से कालान्तर में जनजातियों के बहुत से

परंपरागत अधिकारों में परिवर्तन करना अवश्यम्भावी है। इसके लिए निम्नलिखित तीन श्रेणियों के बारे में विशेष रूप से शर्तें तय करनी होंगी। उदाहरणार्थ, जातीय स्वामित्व, जाति के मुखिया से हुए करार के अनुसार भूमि का स्वामित्व और निजी स्वामित्व।

## भूमि संबंधी अभिलेखों की पूर्ति

भूमि और वनों पर जनजातियों के अधिकार की समस्या की पहचान के बारे में देश के विभिन्न हिस्सों के लिए एक-समान नीति का निश्चयीकरण अब तक नहीं हो सका है। इसलिए इस संबंध में समुचित नीति निर्धारण के लिए विशिष्ट जनजाति क्षेत्रों में प्रचलित विशिष्ट शर्तों आदि की विस्तृत जानकारी एकत्र करनी होगी। देश के कुछ हिस्सों में भूमि का मूल्य और स्वामित्व दिखाने वाला सर्वेक्षण (मालगुजारी सर्वेक्षण) नहीं किया गया है और वहां स्वामित्व का अधिकारी स्पष्ट करने वाले अभिलेखों का अस्तित्व ही नहीं है। इन सर्वेक्षणों की अनुपस्थिति में जनजाति के लोग सहकारी समिति या व्यावसायिक बैंकों से ऋण नहीं ले पाते हैं। इसलिए, भूमि संबंधी अभिलेखों को यथाशीघ्र तैयार करा देना आवश्यक है।

## विधायन संबंधी कार्रवाइयां

जिन राज्यों में जनजातियों की आबादी ज्यादा है वहां अधिकांशतः जनजातियों की भूमि के हस्तांतरण को रोकने वाले कानून बनाये गये हैं। ये कानून विभिन्न प्रकार के हैं : (1) जनजाति के लोग अपनी भूमि को गैर जनजातीय व्यक्ति के हाथ न बेच सकते हैं और न उनके नाम लिख सकते हैं। लेकिन, इन कानूनों द्वारा ऐसा कोई नियंत्रण नहीं है जिससे जनजाति का व्यक्ति जनजाति के ही दूसरे व्यक्ति के हाथ जमीन न बेच सके। (उड़ीसा और राजस्थान), (2) जनजाति की भूमि किसी भी व्यक्ति को चाहे वह जनजाति का हो या न हो, नहीं दी जा सकती है। इस कानून में थोड़ी सी लोचशीलता यह है कि जनजाति की भूमि का हस्तांतरण अपनी जाति के व्यक्ति को किया जा सकता है (पश्चिमी बंगाल), (3) कोई भी व्यक्ति, चाहे वह जनजाति का हो या न हो, जनजाति की भूमि का हस्तांतरण नहीं कर सकता (आंध्र प्रदेश के अनुसूचित क्षेत्र), (4) अनुसूचित जातियों, अनुसूचित जनजातियों और पिछड़े हुए वर्गों की भूमि दूसरों के नाम नहीं हो सकती (असम के मैदानी इलाकों में), (5) आरक्षित क्षेत्रों की घोषणा, जहां स्थानीय जनजाति के लोगों के अलावा कोई भी भूमि का अधिग्रहण, बिना चीफ़ कमिशनर की पूर्व अनुमति के नहीं कर सकता (अंदमान, निकोबार और मिनीकॉय द्वीप समूह)।

फिर भी यह देखा गया है कि इन प्रतिरोधी कार्रवाइयों ने अक्सर जनजाति के अमीर तबकों के लिए खरीदारी की बाजार पैदा कर दी है। यह भी महसूस किया गया है कि इन सभी कानूनों को ठगा जा सकता है और इन्हें ठगने के तरीके हैं - (1) भूमि के हस्तांतरण की रजिस्ट्री न कराके (2) जाति के नाम को छिपाकर। भूमि के हस्तांतरण का आशय विभिन्न जनजाति क्षेत्रों और विभिन्न स्थितियों में विभिन्न प्रकार का है। यहां केवल चालाक लोगों द्वारा जनजाति के लोगों के शोषण का प्रश्न नहीं है। जबसे प्रतिबन्धात्मक कानून बने

हैं जनजातियों में ही एक ऐसा वर्ग पैदा हो गया है जो अपनी ही जनजाति के गरीबों व कमजोरों का शोषण करता है। यही नहीं, कुछ ऐसे मामले भी सामने आये हैं जिनमें देश के विभिन्न हिस्सों की जनजातियों के रहन-सहन के स्तर में हुई उन्नति के कारण बड़े पैमाने पर उनकी भूमियों का हस्तांतरण हुआ है। इसलिए केवल कानूनी और प्रशासनिक कार्रवाइयों से भूमि के हस्तांतरण की समस्याएं हल नहीं हो सकतीं। सरकार को इस बात का प्रयास करना चाहिए कि 1947 से अब तक जितनी भूमि जनजातियों के लोगों से छीनी गयी है उस सबको उसके पुराने मालिकों को लौटा दी जाय।

## कर्ज की सुविधाएं

जनजाति के लोग कर्ज से न दबे रहें इसलिए उनकी इस समस्या का समाधान यह है कि उनके क्षेत्रों में संस्थागत ऋण की सुविधाएं उपलब्ध रहें। वित्तीय संस्थाओं को जनजातियों की कर्ज की विशेष जरूरतों के अनुकूल अपने कार्य-व्यापार के तरीकों को बदलना होगा। साथ ही इसके बारे में उन्हें सामाजिक शिक्षा भी देनी होगी। यह शिक्षा उन सरकारी और गैर सरकारी एजेंसियों द्वारा दी जानी चाहिए जिन्हें जनजातियों का विश्वास प्राप्त है। हमारा यह भी प्रस्ताव है कि जनजाति के लोगों को उत्पादक और अनुत्पादक दोनों तरह के कामों के लिए ऋण दिया जाना चाहिए। इसी तरह, उत्पादक और अनुत्पादक दोनों तरह के कार्यों के लिए ऋण देने की दीर्घावधि, मध्यम अवधि और स्वल्पावधि की योजनाएं तैयार करनी चाहिए।

## आबकारी नीतियों द्वारा जनजातियों का शोषण

जनजाति क्षेत्रों में आबकारी का महकमा जिस तरह से विकसित किया गया है, उसके बारे में भी कहा जाता है कि वह जनजाति के सीधे सरल लोगों के शोषण का एक नया उपकरण बन गया है। शराब की दुकानें भी इन क्षेत्रों में समाज-विरोधी तत्वों के प्रवेश का माध्यम साबित हुई हैं। इसलिए, यह जरूरी है कि आबकारी की नीति की समीक्षा की जाय, जनजाति के लोगों को यदि छोड़ भी दिया जाय तो भी शराब का उत्पादन, उसका वितरण और उसकी बिक्री पर विचार करना आवश्यक है। संबंधित कृतिक बल का कहना है कि धेबर-आयोग ने भी इस पर विचार किया था और यही सुझाव दिया था लेकिन उस पर अमल अब तक नहीं किया गया। आबकारी के राजस्व में और भी ज्यादा गिरावट आयेगी, एक ऐसी गिरावट जिसकी क्षति जनजाति के लोगों को होने वाले लाभों से पूरी नहीं हो सकती। यदि आवश्यक हो तो आबकारी प्रशासन में दिये जाने वाले परिवर्तन से होने वाले राजस्व के घाटे के लिए राज्य सरकारों को केन्द्र द्वारा पूरा या आंशिक हर्जाना दिया जा सकता है।

## वन नीति और जनजातियाँ

यह भी पाया गया है कि वन-नीति की व्यवस्थाओं के बारे में जनजातियों की अनभिज्ञता के कारण उन्हें कठिनाइयां झेलनी पड़ती हैं। इन समस्याओं के समाधान के लिए संचार के

माध्यमों द्वारा उस नीति की व्यवस्थाओं का व्यापक प्रचार किया जा सकता है। इसके अलावा विभिन्न सेवाओं में, खास तौर से क्षेत्रीय स्तर पर, जनजाति के लोगों को नियुक्त किया जा सकता है। इस काम में जरूरत पड़े तो उनकी शैक्षिक योग्यता और शारीरिक प्रतिमान के मामले में ढील दी जा सकती है।

## झूम की खेती की समस्या

झूम की खेती की समस्या को सहानुभूति और सद्भावना से हल करना होगा। उस रिवाज को एकाएक एक दिन में खत्म कर देना लगभग असम्भव है। ऐसी स्थिति में बिना किसी विलम्ब के कम से कम इतना अवश्य किया ही जा सकता है कि कृषि के बेहतर तौर-तरीकों को इस्तेमाल करके झूम की खेती को अधिक उत्पादक और कम नुकसानदेह बनाया जा सके। इन खेतों में कम सिंचाई वाली दाल जैसी फसलों का कम अवधि का हेरफेर (गत्यावर्तन) और उर्वरकों का इस्तेमाल शुरू किया जा सकता है। इसके अलावा झूम की उन्नत खेती की पायलेट-योजनाओं द्वारा किसानों को उसका प्रशिक्षण दिया जा सकता है। झूम की खेती की समस्याओं के समाधान के लिए एक बोर्ड विशेष स्थापित किया जा सकता है जो झूम की प्रणालियों से संबंधित अनुसंधान के साथ ही वहां बागवानी आदि के विकास का कार्य कर सकता है।

## औद्योगीकरण का प्रभाव

उद्योगों की स्थापना और खनिजों के विदोहन के मामले में निर्णय अकेले में लिये गये। दो विभिन्न संस्कृतियों के टकराव से पैदा होने वाली समस्याओं पर भी पर्याप्त ध्यान नहीं दिया गया। जनजातियों के हितों की रक्षार्थ अब तक जो भी कार्रवाइयां की गयी हैं वे भी अपना प्रभाव नहीं डाल सकीं क्योंकि इनमें से अनेक क्षेत्रों में शोषण की प्रक्रियाएं अपने विविध रूप में सघन और कठोर हो गयी हैं। जनजातियों के बहुत से अधिकार, उन्हें मिलनेवाली सुविधाएं और नैमित्तिक लाभ परंपरागत हैं, उनका कहीं लेखा-जोखा भी नहीं है। औद्योगीकरण की प्रक्रिया में वे सब गड़बड़ा गये हैं और लोगों पर उनका सामाजिक एवं आर्थिक रूप से बुरा असर पड़ा है। खामियाजा देने के जो नियम-कायदे हैं वे मौजूदा नई स्थितियों के लिए बहुत ही अपर्याप्त और नाकाफी हैं।

## आर्थिक एवं सामाजिक सेवाओं के लिए बाहरी ढांचों की व्यवस्था

सूदखोर महाजनों के उन्मूलन और क्रय-विक्रय एवं ऋण की सुविधाओं के संगठन कार्यों को प्राथमिकता देनी होगी। इसके अलावा व्यापारिक और सामाजिक केन्द्रों के रूप में साप्ताहिक "हाटों" का विकास भी करना चाहिए। ऐसी बाजारों के विकास कार्यों में निम्नलिखित कार्रवाइयां जरूरी हैं,

1. "हाटों" को सभी मौसमी सड़कों के जरिये जिलों और खासतौर से खण्ड के सदर कार्यालयों से जोड़ना चाहिए।

2. गोदामों के साथ ही "शेडों" की व्यवस्था करनी चाहिए और यदि सम्भव हो तो उन तक बिजली पहुंचाना चाहिए।
3. इन बाज़ार स्थलों में ऋण और क्रय-विक्रय करने वाली सहकारी समितियों की शाखाएं होनी चाहिए।
4. ऋण देने की शर्तों को आसान होना चाहिए और ऋण समितियों को खर्च एवं अनुत्पादक कार्यों के लिए कर्ज देने की स्वीकृति होनी चाहिए।
5. स्थानीय सूदखोर महाजनों से रक्षार्थ वाजिब मूल्य और सही नाप तौल की व्यवस्था होनी चाहिए।

सामाजिक सेवाओं के अन्य कार्यक्रम जिन पर विशेष रूप से ध्यान देना जरूरी है, निम्नलिखित हैं :

### *1. स्वास्थ्य*

1. जहां तक सम्भव हो, जनजातीय क्षेत्रों में स्वास्थ्य कर्मचारी के रूप में काम करने के लिए डॉक्टरों के अलावा स्थानीय लोगों को प्रशिक्षित करना चाहिए।
2. डॉक्टरों द्वारा जनजाति क्षेत्र में विशेषज्ञ-सेवा की उपेक्षा करना चाहिए। सामान्य चिकित्सा और परिवार नियोजन के लिए एक डॉक्टर काफी है।
3. प्रारम्भिक स्वास्थ्य केन्द्र से जुड़े उप-केन्द्रों की संख्या बढ़ा देनी चाहिए और इन केन्द्रों को जनजाति की "हाटों" के निकट होना चाहिए।
4. परिवहन का जो भी साधन उपलब्ध हो उससे सचल-चिकित्सालयों की संख्या में वृद्धि की जानी चाहिए।
5. खास-खास दवाइयों की जरूरतों के बारे में सावधानी बरती जानी चाहिए। सामान्य दवाइयों का पर्याप्त भण्डार होना चाहिए और विशेष रूप से पिछड़े हुए इलाकों में कम से कम पांच वर्ष तक निःशुल्क चिकित्सा सहायता दी जानी चाहिए। और,
6. जनजाति क्षेत्रों में स्वास्थ्य संबंधी शिक्षा और बीमारियों से बचने के उपायों पर जोर दिया जाना चाहिए। जहां जन्म दर कम है वहां परिवार नियोजन के कार्य को शिशुओं की मृत्यु संख्या में कमी करने का प्रयास करना चाहिए।

### *2. पीने के पानी की आपूर्ति*

1. पीने के पानी की सुविधाओं का सर्वेक्षण किया जाना चाहिए। जहां पीने के पानी का अभाव हो उन स्थानों को प्राथमिकता देनी चाहिए। इस संबंध में कार्यक्रमों की योजना बनाते समय लक्ष्य यह होना चाहिए कि जनजाति के प्रत्येक गांव में पानी का एक स्रोत अवश्य हो।
2. कुओं, तालाबों और हाथ के पम्पों आदि की मरम्मत की व्यवस्था की जा सकती है,

साथ ही, स्थानीय लोगों को उनकी मरम्मत का प्रारम्भिक प्रशिक्षण भी दिया जा सकता है।

3. स्थानीय जरूरतों की पूर्ति के लिये विशेष रूप से पर्वतीय निर्माण कार्य एजेंसी स्थापित की जा सकती है।

### *3. पोषक आहार*

1. स्कूल जाने वाले बच्चों को दोपहर का भोजन उपलब्ध कराना जरूरी है। 5 वर्ष से कम के बच्चों के लिए भी पौष्टिक आहार की व्यवस्था होनी चाहिए।
2. पौष्टिक आहार कार्यक्रम को "बच्चों की समन्वित देखभाल सेवा (इन्टीग्रेटेड चाइल्ड केयर सर्विसेज) द्वारा कार्यान्वित किया जाना चाहिए।

## प्रशासकीय और कार्मिक नीति

समग्र रूप से जनजाति क्षेत्रों के सम्पूर्ण प्रशासकीय तंत्र को बदलने और तर्कसंगत बनाने की जरूरत है। इन क्षेत्रों के प्रंशासकीय ढांचे को इतना सरल और सहज होना चाहिए जिससे वे लोग भी इसे समझ सकें जिनकी इन्हें सेवा करनी है। जनजाति के लोगों का अपने काम के सिलसिले में कुछ थोड़े से उन्हीं कर्मचारियों से साबका पड़ना चाहिए जिन पर वे विश्वास करते हों। प्रशासकीय ढांचे को ऐसे उपयुक्त स्तर पर एकीकृत होना चाहिए जिससे व्यवस्था और विकास संबंधी, दो प्रकार के कर्मचारी संयुक्त रूप से तीव्र गति से आर्थिक विकास के लिए काम कर सकें। यह भी महसूस किया गया है कि आवश्यकता से अधिक विशिष्टीकरण से झगड़ों के साथ ही ऐसी शून्यताएं भी पैदा होती हैं जिनकी पूर्ति करना कठिन हो जाता है। एक ऐसे उच्च स्तरीय अधिकारी के होने की जरूरत है जो मोटे तौर पर हर प्रकार की अनगिनत विशिष्टताओं के मसलों को हल कर लें। उसकी सहायता के लिए यथोचित संख्या में सहकारी भी रखे जा सकते हैं। प्रशासकीय पद्धति ऐसी होनी चाहिए जिसमें विभिन्न प्रकार की जिम्मेदारियों का स्पष्टीकरण हो जिससे क्षेत्र के स्तर पर जल्दी-जल्दी निर्णय लिये जा सकें। ऐसी व्यवस्था भी होनी चाहिए जिससे विभिन्न कार्यों का मूल्यांकन और आवश्यक, प्रतिसम्भरण होता रहे जिससे संशोधनात्मक अथवा दुरुस्त करने वाली कार्रवाइयां भी समय पर होती रहें।

जनजाति क्षेत्रों में काम करने वाले सभी कर्मचारियों के लिए प्रशिक्षण लेना आवश्यक है। जनजाति अनुसंधान केन्द्रों में दिये जा रहे मौजूदा प्रशिक्षण का मूल्यांकन भी किया जाना चाहिए जिससे उसमें भी संशोधन-परिवर्धन किया जा सके। इस बात पर जोर देना आवश्यक है कि जनजाति क्षेत्र में काम करने वाला प्रत्येक अधिकारी वहाँ की स्थानीय बोली से पूरी तरह परिचित हो। जनजाति क्षेत्रों में कैसे कर्मचारी व अधिकारी रखे जाएं इसका पूर्व-नियोजन भी आवश्यक है।

# XVI. समन्वित जनजातीय विकास परियोजना/संस्था (एजेन्सी) स.ज.वि.प./स.ज.वि.सं.

स.ज.वि. परियोजना क्षेत्र सामान्यतया वह सघन तहसील या खण्ड होते हैं जिनकी जनसंख्या सम्पूर्ण जनसंख्या का 50 प्रतिशत होता है। फिर भी जनसंख्या के हिसाब से असम, कर्नाटक, तमिलनाडु, पं.बंगाल में स.ज.वि.प. क्षेत्र छोटे एवं विरल हो सकते हैं। आंध्रप्रदेश, उड़ीसा, पं. बंगाल एवं अण्डमान व निकोबार द्वीप समूह और दमन व दीव केन्द्र शासित प्रदेशों में 194 स.ज.वि.प/स.ज.वि.सं. की पहचान की गई है। जम्मू कश्मीर राज्य में किसी भी स.ज.वि.प. की पहचान नहीं की गई है। फिर भी अनु. जन क्षेत्रों की ज.रा.यो. के अंतर्गत रखा गया है। आठ जनजातीय जनसंख्या वाले राज्यों में स.ज.वि.प./स.ज.वि.सं. को सामान्यतः ज.रा.यो. के साथ रखा गया है। स.ज.वि.प./स.ज. वि.सं. का मुख्य परियोजना अधिकारी होता है फिर उन्हें परियोजना अधिकारी या परियोजना निदेशक कहा जा सकता है।

## संयत क्षेत्र विकास प्रस्ताव (सं.क्षे.वि.प्र.) हिस्सा (पाकेट)

यह कम से कम 1,000 जनसंख्या वाले क्षेत्र का 50 प्रतिशत या अधिक जनजातीय जनसंख्या वाला क्षेत्र है। विभिन्न ज.रा.यो. वाले राज्यों में चिन्हित स. क्षे. वि.प्र. की संख्या 259 है। सामान्यतः स. क्षे. वि.प्र. पाकेटों के पास योजना के क्रियान्वयन के लिये प्रशासनिकतंत्र नहीं होता। राज्य सरकारों के लाइन विभाग से जिले के सम्पूर्ण स.क्षे.वि.प्र. पाकेट में योजनाओं के क्रियान्वयन की आशा की जाती है।

## आदि जनजातीय समूह (आ.ज.स.)

आदि जनजाति समूह जन. जाति है जो करीब पूर्ण अकेलेपन में अगम निवासों में रहते हैं। निम्न जनसंख्या वृद्धि, अतिप्राचीन कृषि पद्धति और निम्न साक्षरता इनके प्रमुख लक्षण हैं। अब तक 75 आ.ज.स. पहचाने गये हैं।

# XVII. ट्राइब्ज़ इण्डिया शाप

स्थानीय स्तर पर उपलब्ध संसाधनों के आधार पर आजीविका सृजन गतिविधियों की आवश्यकता की ज़रूरत के संकेतकों को रेखांकित करते हैं, ताकि लाभदायक रोज़गार के अवसरों को आदिवासी समुदायों के दरवाज़े पर लाया जा सके। ऐसी आजीविका की शुरुआत लगातार सुचारू तरीके से आवश्यक गतिविधियाँ पैदा करने की आवश्यकता को ध्यान में रखते हुए किया गया है। कल्याण मंत्रालय (जो अब जनजाति कार्य मंत्रालय है) ने ग़ैर-इमारती लकड़ी उत्पाद के लिए विपणन विकास गतिविधि के क्रियान्वयन के लिए एक संस्था (एन.टी.एफ.पी.) की स्थापना की है जिस पर आदिवासी अपना अधिक समय खर्च करते हैं और इससे अपनी आय का प्रमुख हिस्सा प्राप्त करते हैं। जनजातीय उत्पादों के विपणन के क्रियान्वयन के लिए पेशेवर, लोक तांत्रिक एवं स्वायत्त तरीके से सामाजिक, आर्थिक विकास के द्वारा जनजातीय समुदायों का हित हो सके, इस उद्देश्य के साथ वर्ष 1987 में भारतीय जनजातीय सहकारी विपणन विकास संघ (TRIFED) की स्थापना की गई।

जनजातीय शिल्प और कला के व्यापक प्रसार के माध्यम से जनजातीय समुदायों के आर्थिक विकास को तेज करने के उद्देश्य से जनजातीय कलाकृतियों की दुकानों के अलावा ट्राइफ़ेड ने "ट्राइब्ज इण्डिया" के शोरूमों की संपूर्ण भारत में स्थापना की है। इसके माध्यम से जनजातीय समुदाय अपनी करिश्माई अभिव्यक्ति के माध्यम से उत्पादित कला और शिल्प वस्तुओं का विपणन तथा प्रदर्शन करते हैं। दिल्ली में इसका एक भव्य शोरूम-दुकान पार्लियामेंट स्ट्रीट के पास आकाशवाणी भवन के पीछे देखी जा सकती है। इन उत्पादों की नुमाइश व बिक्री समय-समय पर विभिन्न नगरों में भी लगाई जाती है।

# XVIII. राष्ट्रीय वन-नीति (1988)

### 1. उद्देशिका

12 मई 1952 के प्रस्ताव संख्या 13/52 एफ में खाद्य एवं कृषि मंत्रालय के अन्तर्गत भारत सरकार ने एक वन नीति प्रस्तुत की थी जिसके द्वारा देश के सरकारी वनों की प्रबन्ध व्यवस्था लागू होनी थी। देश के वनों का ह्रास हो रहा था। मुख्य कारण थे - ईंधन, चारे और लकड़ी की लगातार बढ़ने वाली कमी, वनों के संरक्षण की कार्रवाइयों का अभाव, प्रतिकरात्मक रूप से नये वनों का रोपण या पर्यावरण संबंधी दूसरी संरक्षणात्मक व्यवस्था न करके वन भूमि को वन से इतर दूसरे उपयोगों में लाना और वनों को राजस्व या आय का साधन समझने की प्रवृत्ति। स्थिति की समीक्षा करना तथा भविष्य के लिए वन संरक्षण संबंधी नयी नीति का निर्माण आवश्यक हो गया था। संरक्षण में यथास्थिति बनाये रखना, देखभाल करना, आकलनीय इस्तेमाल, प्रत्यावर्तन करना और प्राकृतिक पर्यावरण में वृद्धि करना आदि शामिल हैं। अतः राष्ट्रीय वन नीति की समीक्षा संशोधन करना आवश्यक है।

### 2. बुनियादी उद्देश्य

राष्ट्रीय वन नीति के बुनियादी उद्देश्य निम्नलिखित हैं :-

- परिरक्षण और जहां आवश्यक हो पारिस्थितिकी सन्तुलन को प्रत्यावर्तित करके पर्यावरण में स्थायित्व बनाये रखना। इस सन्तुलन के बिगड़ने से देश की वन संपत्ति को गहरी क्षति पहुंची है।
- देश की प्राकृतिक विरासत का संरक्षण करना। इसके लिए हमें बचे हुए प्राकृतिक वनों को सुरक्षित रखना जिनमें असंख्य प्रकार के पुष्प-पादप और प्राणि समूह हैं और जिनमें अद्भुत जैव विविधताएं हैं। वे देश के जीवाणुओं का एक विलक्षण संसाधन हैं।
- मिट्टी और पानी के संधारण के लिए भू-क्षरण और नदियों, झीलें और जलागारों के अपवाह क्षेत्रों में निरावरण को रोकना जिससे बाढ़ों और सूखे को हल्का और जलागारों में गाद या रेत जमने की गति को मन्द किया जा सके।
- राजस्थान और तटवर्ती क्षेत्रों में बालू के टीलों को विस्तृत होने से रोका जा सके।
- नये वन रोपण और बड़े पैमाने की सामाजिक वानिकी कार्यक्रमों द्वारा देश की भूमि को प्रचुर मात्रा में वनाच्छादित करना (विशेषतया सभी निरावृत्त, अनुत्पादक और नीचे दरजे की भूमि के क्षेत्रों को)।

— ईंधन की लकड़ी, चारे, वनों के छोटे उत्पाद और इमारती लकड़ी संबंधी ग्राम-निवासियों एवं जनजातियों की अनिवार्य आवश्यकताओं की पूर्ति करना।
— राष्ट्रीय आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए वनोत्पादकता में वृद्धि करना।
— वनोत्पादन के सही इस्तेमाल को प्रोत्साहित करना तथा इमारती लकड़ी के विकल्पों में वृद्धि करना।
— इन उद्देश्यों की पूर्ति के लिए बड़े पैमाने पर ऐसा जनान्दोलन पैदा करना जिनमें स्त्रियां भी शामिल हों और मौजूदा जंगलों पर पड़ने वाला दबाव ज्यादे से ज्यादा कम हो सकें।

वन नीति का प्रमुख लक्ष्य पर्यावरण का स्थायित्व और पारिस्थितिकी एवं वातावरण में संतुलन कायम रखना है। ये चीजें मनुष्य, पशु और वनस्पति आदि सभी जीव-स्वरूपों के लिए आवश्यक हैं। सीधे आर्थिक लाभ की बात इस प्रमुख लक्ष्य के सामने गौण हैं।

## 3. वन प्रबन्ध की अनिवार्यताएं

मौजूदा वनों और वन भूमि को पूरी तरह संरक्षित तथा उनकी उत्पादकता में सुधार किया जाना चाहिए। पहाड़ी ढलानों, नदियों, झीलों और जलागारों के अपवाह क्षेत्रों तथा सागर तटीय इलाकों तथा अर्ध शुष्क और रेगिस्तानी भूमि पर वन या वनस्पति का आच्छादन बढ़ाया जाना चाहिए। अच्छी और उपजाऊ जमीन को वनों में बदलना उचित नहीं है क्योंकि इससे अन्न के उत्पादन में कमी होती है।

जैव विविधता के पूर्ण संरक्षण के लिए अगणित राष्ट्रीय पार्क, पनाहगाह, संरक्षित जीवमंडल और संरक्षित क्षेत्र बनाये और विस्तारित किये जा सकते हैं।

वनों के निकट चारा, ईंधन और चरागाह की व्यवस्था होना इसलिए जरूरी है क्योंकि उनके निकट होने से वनों का ह्रास काफी हद तक बचाया जा सकता है। चूंकि ईंधन की लकड़ी आज भी ग्रामीण क्षेत्रों के लिए आग का प्रमुख साधन बनी हुई है इसलिए ईंधन की लकड़ी के नये जंगल लगाने के कार्यक्रमों पर जोर दिया जा सकता है जिससे ग्रामीण जनता की आवश्यकताएं पूरी की जा सकें।

वन में पैदा होने वाली छोटी चीजों से जनजाति तथा वनों के पास के निवासियों को गुजर-बसर का साधन मिलता है। इसलिए ऐसे उत्पादनों को संरक्षण मिलना चाहिए, उनमें सुधार होना चाहिए और उनके उत्पादन को बढ़ाया जाना चाहिए। इससे रोजगार और आमदनी दोनों को बढ़ावा मिलता है।

## 4. नीति

*जंगल क्षेत्र*

राष्ट्रीय लक्ष्य यह होना चाहिए कि देश के कुल भूमि क्षेत्र के एक तिहाई भाग पर जंगल

हों या फिर वे जंगलों से आच्छादित हों। पहाड़ी और पर्वतीय क्षेत्रों में भू-क्षरण रोकने और भूमि की गुणवत्ता तथा पारिस्थितिक संतुलन बनाये रखने के लिए दो तिहाई भूमि पर वनाच्छादन होना जरूरी है।

### *वनरोपण, सामाजिक वानिकी और फार्म वानिकी*

राष्ट्र की फौरी आवश्यकता यह है कि सुनिश्चित अवधि में बड़े पैमाने पर वन रोपण का काम किया जाय या वृक्ष लगाये जाएं। इस काम में ईंधन की लकड़ी और चारे पर भी जोर दिया जाय। यह काम देश की सम्पूर्ण ऊसर भूमि पर, चाहे वह जंगल की भूमि हो या न हो, किया जाना चाहिए क्योंकि यह एक राष्ट्रीय आवश्यकता है। सड़कों, रेल की पटरियों, नदियों, नहरों, नालों के किनारों पर ही नहीं वरन् जहां भी भूमि अनुपयोगी पड़ी है उस पर वृक्ष लगाने के काम को प्रोत्साहित करना जरूरी है। शहरी, औद्योगिक एवं सूखे के क्षेत्रों में "ग्रीन बेल्ट" (हरित क्षेत्र) बनायी जानी चाहिए। ऐसे कार्यक्रमों से भू-क्षरण रोका जा सकता है। भूमि को रेगिस्तानी होने से बचाया जा सकता है और सूक्ष्म-जलवायु (माइक्रो कलाइमेट) को उन्नत किया जा सकता है।

गांव और समुदाय की जमीनों का इस्तेमाल, जिनमें उन तालाबों के किनारे भी शामिल हैं जिनका कोई उत्पादक इस्तेमाल नहीं होता है, वृक्ष लगाने और चारा उपजाने के लिये लिया जा सकता है। ऐसे कार्यक्रमों को प्रारम्भ करने के लिए सरकार से तकनीकी सहायता ली जा सकती है। ऐसे कामों से होने वाली आय उन पंचायतों को मिलनी चाहिए जिनके अंतर्गत वे जमीनें आती हैं। अन्य मामलों में उस आमदनी में स्थानीय समुदायों का हिस्सा होना चाहिए जिससे उन्हें इस प्रकार के कार्य के लिए प्रोत्साहन मिले। ऐसी भूमि उन व्यक्तियों को भी दी जा सकती है जो दुर्बल तबकों में (जैसे, भूमिहीन, मजदूर, छोटे और सीमान्तक किसान, अनुसूचित जातियों या अनुसूचित जनजातियों के लोग और महिलाएं) गिने जाते हैं। उनमें से कुछ को वृक्ष या वृक्षों का स्वामित्व देने पर भी, विभिन्न नियम कानूनों को दृष्टि में रखते हुए, विचार किया जा सकता है। इस प्रकार लाभान्वित होने वाले लोग फलोपभोग के अधिकारी भी हो सकते हैं और वह स्थिति उन्हें गुजारा और सुरक्षा भी प्रदान कर सकती है।

जहां जरूरी हो वहां भूमि संबंधी कानूनों का संशोधन कुछ इस प्रकार का किया जाना चाहिए जिससे कि व्यक्तियों और संस्थाओं को अपनी भूमि पर वृक्ष लगाने, चारे, घास, फलियों और बेलों की पैदावार लगाने के लिए प्रेरणा और प्रोत्साहन मिल सके। जहां सम्भव हो वहां दूसरे दरजे की भूमि को इस काम के लिये लीज़ पर या पेड़ लगाने के पट्टे पर उपलब्ध कराया जा सकता है। भूमि को "लीज" पर देते समय भूमि अनुदान और उसकी सीमा के कानून का ध्यान रखा जाना चाहिए। ऐसा करने के लिए उन्हें प्रोत्साहित करने की कार्रवाइयां जरूरी हैं। निजी पेड़ों के काटने के बारे में भी यथोचित कानून बनाये जा सकते हैं।

### *सरकारी जंगलों का प्रबन्ध*

ऐसी योजनाओं और परियोजनाओं को जो खड़ी ढलानों, नदियों, झीलों और जलागारों के अपवाह क्षेत्रों, भू-गर्भीय दृष्टि से कमजोर भू-खण्डों और पारिस्थितिकी की दृष्टि से संवेदनशील क्षेत्रों से जुड़े जंगलों में बाधा डालती हैं, गम्भीरता के साथ प्रतिबन्धित किया जाना चाहिए। उष्ण कटिबन्धीय वर्षा वाले जंगलों का (विशेष रूप से अरुणाचल प्रदेश, केरल, अंदमान व निकोबार द्वीप में) पूरा संरक्षण किया जाना चाहिए।

किसी भी जंगल में प्रबन्ध संबंधी काम तब तक नहीं होना चाहिए जब तक सरकार इसकी प्रबन्ध-योजना को स्वीकृत न कर दे। यह प्रबन्ध योजना राष्ट्रीय वन नीति और सरकार द्वारा सुनिश्चित किये गये स्वरूप के अनुकूल होनी चाहिए। केन्द्रीय सरकार द्वारा इस संबंध में राज्य सरकारों को मार्गदर्शक निर्देश दिये जाने चाहिए और यह भी देखना चाहिए कि उसके निर्देशों का पालन किया जाता है या नहीं।

वनों द्वारा प्रदान की जाने वाली आवश्यक वस्तुओं और सेवाओं की बढ़ती हुई मांग की पूर्ति के लिए यह जरूरी है कि वैज्ञानिक और तकनीकी तरीकों से वनों की उत्पादकता और उनके क्षेत्रफल में वृद्धि की जाय। वानिकी उत्पादन कार्यक्रमों में जहां देश के वन क्षेत्र में वृद्धि और राष्ट्रीय आवश्यकताओं की पूर्ति का लक्ष्य रखना चाहिए वहां ईंधन की लकड़ी की मांग और पूर्ति के बीच के फासले को भी कम किया जाना चाहिए। ऐसा कोई भी कार्यक्रम नहीं होना चाहिए जिसके अन्तर्गत पर्याप्त रूप से सम्पन्न प्राकृतिक जंगलों के पेड़ों को गिराया जाय। इसके साथ ही सरकारी या प्राइवेट सूत्रों से वनों में किसी प्रकार के विदेशी तत्व का समावेश भी नहीं होने देना चाहिए जब तक कि उसके बारे में पारिस्थितिकी, वन और कृषि के विशेषज्ञों द्वारा दीर्घावधि तक वैज्ञानिक परीक्षण न कर लिया जाय और यह निश्चित न हो जाय कि उसका स्थानीय वनस्पति और पर्यावरण पर कोई विपरीत प्रभाव नहीं पड़ेगा।

### *अधिकार और रियायतें*

चराई सहित अधिकारों और रियायतों को हमेशा वन की क्षमता से संबद्ध होना चाहिए। क्षमता को अधिक पूंजी निवेश, वन-वृक्ष विज्ञान संबंधी अनुसंधान और क्षेत्र के विकास द्वारा बनाया जा सकता है। पशुओं में खूंटे पर खाने की आदत डालनी चाहिए। समुदाय की जरूरतें, जो इस तरह के अधिकारों और रियायतों से पूरी नहीं होती उन्हें संरक्षित वनों से बाहर सामाजिक वानिकी के विकास से पूरा किया जाना चाहिए।

जिन लोगों को वन क्षेत्रों में अधिकार और रियायतें परंपरा में मिली हैं उन्हें यह बताना चाहिए कि ये रियायतें और अधिकार उन्हें इसलिए मिले हुए है क्योंकि उन पर जंगलों के संरक्षण और उनके विकास का दायित्व है। इसके अतिरिक्त वनों से संबंधित अधिकार और रियायतें बुनियादी तौर पर उनके लाभ के लिए होना चाहिए जो वन क्षेत्र के भीतर या उसके चारों ओर रहते हैं जैसे, जनजाति के लोग।

वन क्षेत्र के भीतर या उसके निकटवर्ती क्षेत्रों में रहने वाले जनजाति के लोगों का जीवन जंगल के चारों ओर ही मंडराता है। उन्हें जो अधिकार और रियायतें प्राप्त हैं उनका पूरी तरह संरक्षण किया जाना चाहिए। ईंधन की लकड़ी चारा, वन के छोटे उत्पाद और इमारती लकड़ी संबंधी उनकी घरेलू जरूरतों की पूर्ति उनका पहला हक होना चाहिए। वे सब तथा अन्य वैकल्पिक सामग्री उन्हें वाजिब दामों पर निकट स्थित डिपो से उपलब्ध कराया जाना चाहिए।

इसी तरह का ख्याल वन के निकट रहनेवाले अनुसूचित जातियों के लोगों और गरीबों के लिये भी रखा जाना चाहिए। इनका निश्चयीकरण जंगलों की क्षमता के आधार पर किया जाना चाहिए।

लकड़ी का अभाव है। मांग और पूर्ति के बीच के अंतर का दीर्घावधि समाधान यह है कि जंगलों की उत्पादकता बढ़ाई जाय। किन्तु जंगलों पर जों मौजूदा दबाव है, (जैसे रेल के लिये स्लीपर्स निर्माण उद्योग, फर्नीचर, पैनलिंग, खदान उद्योग की आवश्यकताएं, कागज और कागज से बनने वाला बोर्ड आदि) उनके लिए विकल्पों पर विचार किया जा सकता है। इसी प्रकार, ईंधन की घरेलू आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए बायो-गैस, एल.पी.जी. और सौर ऊर्जा का इस्तेमाल किया जा सकता है। ग्रामीण क्षेत्रों में ईंधन की लकड़ी के स्थान पर नव विकसित "चूल्हों" को लोकप्रिय बनाने की आवश्यकता है।

### *वन भूमि का दूसरे कामों में उपयोग*

वन भूमि या ऐसी भूमि को जिसपर वृक्ष लगे हुए हैं विभिन्न परियोजनाओं और कार्यक्रमों के लिए इस्तेमाल के लिये उपलब्ध प्रसाधन की बजाय ऐसी राष्ट्रीय परिसंपत्ति के रूप में देखना चाहिए जिसका पूरी चौकसी के साथ संरक्षण आवश्यक है और जो सम्पूर्ण देशवासियों को अवलम्बनीय लाभ पहुंचाती है। वन भूमि के किसी अन्य उपयोग पर सामाजिक एवं पर्यावरण के विशेषज्ञों को बड़ी होशियारी के साथ विचार करना चाहिए। उन्हें यह जांचना चाहिए कि उससे सामाजिक एवं पर्यावरण की दृष्टि से क्या हानि और लाभ हो सकते हैं। जलाशयों और बांधों का निर्माण, खदान और औद्योगिक विकास एवं अतिरिक्त भूमि पर कृषि का विस्तार करते समय इस बात का ध्यान रखना जरूरी है कि उन कार्यों से कहीं जंगलों और वृक्षों की सुरक्षा की आवश्यकताओं का हनन तो नहीं हो रहा है। फिर भी, यदि ऐसी परियोजनाओं पर काम होना अनिवार्य समझा जाय तो उनके "बजट" में ऐसी निधि की व्यवस्था होनी चाहिए जिससे क्षतिपूरक नये जंगल व वृक्ष आदि लगाये जा सकें।

वन भूमि या पेड़ों से आच्छादित क्षेत्र पर खादनें या उत्खनन सुरंगें लगाने वालों के सामने यह शर्त पहले ही रखी जा सकती है कि उन्हें वन के लिए बनाये गये नियम-कानूनों के अनुसार अपना काम पूरा करने के बाद उस क्षेत्र को फिर से हरा भरा बनाना पड़ेगा अर्थात् नया जंगल लगाना होगा। किसी भी सरकारी विभाग या निजी पार्टी को उत्खनन आदि के लिए वन भूमि की लीज करने के पहले उसकी खदान प्रबन्ध योजना पर पर्यावरण की दृष्टि से विचार होने के साथ ही यथोचित अधिकारियों व विभाग द्वारा उसकी स्वीकृति देने की व्यवस्था होनी चाहिए।

### *जंगली जीवों का संरक्षण*

वन प्रबन्ध को जंगली जीवों के संरक्षण का विशेष ध्यान रखना चाहिए। उनकी योजनाओं में इस कार्य को अनिवार्य रूप से शामिल होना चाहिए। ऐसी दीर्घाओं और संकरे स्थानों की व्यवस्था की जानी चाहिए जिनसे सुरक्षित जंगल जुड़े हुए हों और जहां पक्षियों की आनुवंशिकी को निरंतर सुरक्षित और अनवरत रखा जा सके। प्रवासी परिन्दों आदि के लिए भी व्यवस्था की जा सके।

### *जंगल और जनजाति के लोग*

जंगल और जनजाति के लोगों के बीच जो परंपरागत प्रतीकात्मक संबंध चला आ रहा है उसका सम्मान करते हुए वन-विकास निगमों सहित वन-प्रबन्ध की सभी एजेंसियों को चाहिए कि वे वनों के संरक्षण, उनके पुनरुत्पादन और विकास के कार्यों में जनजाति के लोगों का सहयोग लें तथा वनों में और उनके पास पास रहने वालों को लाभप्रद रोजगार देने के मामलों में निम्नलिखित बातों पर विशेष ध्यान दें :

- जंगलों के अधः पतन का एक मुख्य कारण यह है कि वहां पेड़ों की अवैध कटाई होती है और ठेकेदार व उनके मजदूर वहां से लकड़ी चोरी करते रहते हैं। इस परंपरा को खत्म करने के लिए ठेकेदारों को काम न देकर वह काम संस्थाओं को दिया जाय जैसे, जनजातियों या मजदूरों की सहकारी समितियों अथवा सरकारी निगमों को। अच्छा हो यह काम जल्द से जल्द किया जाय,
- जंगलों में जो भी वस्तुएँ पैदा होती हैं उनका रक्षण किया जाय, उनके पुनरुत्पादन की व्यवस्था की जाय और उनका ज्यादा से ज्यादा एकत्रीकरण किया जाय। साथ ही उन वस्तुओं की बिक्री के लिए संस्थागत प्रबन्ध किये जाएँ,
- उन वन-ग्रामों का विकास किया जाय जो राजस्व वाले गांवों के समान ही हों,
- जंगल से लाभान्वित होने वाले जनजाति के लोगों के रहन-सहन में सुधार करने के लिए परिवारोन्मुख योजनाएं बनायी जाएँ, और
- जंगल में और उनके आसपास के क्षेत्रों में जनजातियों की अर्थव्यवस्था की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए समन्वित क्षेत्र विकास कार्यक्रमों को अपनाया जाय जिनमें घरेलू कामों में ईंधन की वैकल्पिक व्यवस्था को सरकारी सहायता के आधार पर प्रोत्साहित किया जाय जिससे ईंधन के लिए जंगलों पर जो दबाव पड़ता है वह कम हो सके।

### *झूम कृषि*

झूम की खेती भी पर्यावरण और भूमि की उत्पादक क्षमता पर बहुत बुरा प्रभाव डालती है। आय के अन्य विकल्प जो भूमि के इस्तेमाल के अधिकारों से मेल खाते हों, सोचें और

ईजाद किये जाने चाहिए जिससे कि भूमि की खेती का रिवाज खत्म किया जा सके। प्रयास इस बात का किया जाना चाहिए कि इस प्रकार की खेती केवल इससे प्रभावित क्षेत्रों तक ही सीमित रखी जाय। खेती की नई और उन्नत प्रविधियों का इस्तेमाल करके ऐसा किया जा सकता है। जो क्षेत्र झूम की खेती आदि से नष्ट या क्षतिग्रस्त किया जा चुका है उसे सामाजिक वानिकी आदि से पुनः सुधारा जा सकता है।

### *भूमि पर कब्जा, आग और जानवरों के चरने से होने वाली हानि*

वनभूमि पर अवैध कब्जों की वारदातें लगातार बढ़ी हैं। इस प्रवृत्ति को नियंत्रित करना है; उसे जारी रहने से रोकना है। मौजूदा कब्जों का किसी भी तरह नियमितीकरण नहीं होना चाहिए।

वनों में आग लग जाने की घटनाएं भी वृद्धि पर हैं। बड़े पैमाने में खड़े वृक्ष और प्राकृतिक पुनरुत्पादक को भी क्षति पहुंचती है। आग लगने के मौसम में इसके बचाव के लिए विशेष सावधानियां बरती जानी चाहिए तथा जंगल की आग बुझाने और उसे लगने से रोकने के लिए प्रबन्ध की आधुनिक पद्धतियों और तकनीकों को अपनाया जाना चाहिए।

वनों में पशुओं की चराई को भी नियमित किया जाना चाहिए और इस नियमितीकरण में स्थानीय समुदाय को शामिल करना चाहिए। संरक्षित क्षेत्रों, ताजे पौधों और पुनरुत्पादक इलाकों में चराई पूरी तरह निषिद्ध की जानी चाहिए। चराई और विशेष रूप से पौधों वाले क्षेत्रों के वनों की चराई पूरी तरह नियंत्रित करनी चाहिए। चराई का शुल्क भी सुनिश्चित किया जा सकता है। इससे लोगों की आवश्यकता से अधिक पशु पालने की आदत भी निरुत्साहित होगी।

### *जंगलों पर आधारित उद्योग*

जंगलों पर आधारित उद्योग लगाने और उनके लिए कच्चे माल की आपूर्ति करने की व्यवस्था करने के बारे में निम्नलिखित बातों पर विशेष रूप से ध्यान देना चाहिए :

जहां तक सम्भव हो जंगल पर आधारित उद्योगों को अपना कच्चा माल स्वयं अपने आदमियों द्वारा उगाना चाहिए। बीच में गैर-जिम्मेदार ठेकेदार या एजेंट नहीं होने चाहिए। फैक्टरी और कच्चे माल को उगाने वालों के बीच सीधा संबंध होना चाहिए जिससे जो व्यक्ति कच्चे माल का उत्पादन करते हैं वे उस माल को फिर से उगाने के लिए समयानुकूल व्यवस्था कर सकें। इस व्यवस्था के लिए उन्हें ऋण, लगातार तकनीकी सलाह, के साथ-साथ फसल कटाई और परिवहन आदि की पूरी सेवा-सुविधा दी जा सके।

ग्रामीण और कुटीर उद्योग के स्तर से ऊपर के ऐसे उद्योग की जो जंगल पर आधारित हों भविष्य में स्वीकृति नहीं देनी चाहिए। यदि आवश्यकता विशेष के कारण दी जाय जो उसके लिये कच्चे माल की आपूर्ति की समस्या पर भली-भांति निश्चयीकरण कर लेना

अनिवार्य है। किसी भी मामले में स्थानीय निवासियों की ईंधन, चारे और टिम्बर की जरूरतों को कुरबान नहीं किया जाना चाहिए।

जंगलों पर आधारित उद्योगों को न केवल स्थानीय लोगों को प्राथमिकता के आधार पर रोजगार देने चाहिए वरन् उन्हें पेड़ लगाने और कच्चा माल पैदा करने में भी शामिल किया जाना चाहिए।

राष्ट्रीय जंगल 'जीन्स' के खजाने का काम करने के साथ ही पारिस्थितिकी संतुलन बनाये रखने में भी सहायता देते हैं। इसलिए ऐसे जंगलों को उद्योगों के हाथों में नहीं देना चाहिए न पेड़ लगाने के लिए और न किसी दूसरे किस्म की कार्रवाइयों के लिए।

किसानों को, विशेष रूप से छोटे और सीमान्तक किसानों को सीमान्तक क्षेत्रों तथा दूसरे नम्बर की भूमि पर उद्योगों की आवश्यकता के अनुसार जंगल की ऐसी वस्तुओं को उपजाने के लिए प्रोत्साहित किया जा सकता है जो वन-प्रजातियों से संबद्ध हों। उन्हें चारे और ईंधन की प्रजातियों के साथ-साथ ऐसी भूमि पर उपजाया जा सकता है जो चरागाह के काबिल नहीं है। यह कार्य वन विभाग और वन निगमों द्वारा दूसरे नम्बर की ऐसी भूमि पर कराया जाना चाहिए जो राष्ट्रीय रूप से पुनः उत्पादन के काम की नहीं हैं।

उद्योग को रियायती दर पर वन-उत्पादन की आपूर्ति का रिवाज बन्द होना चाहिए। उद्योगों को वैकल्पिक कच्चा माल इस्तेमाल करने को कहा जाय तथा लकड़ी की वस्तुओं के व्यापार को उदार बनाया जाय।

ऊपर दी गयी सारी बातें भूमि की अधिकतम सीमा और भूमि संबंधी मौजूदा सभी कानूनों के अधीन मानी जानी चाहिए।

### *वनों का विस्तार*

वन संरक्षण का कार्यक्रम जनता के समर्थन और सहयोग के बिना सफल नहीं हो सकता। इसलिए, यह जरूरी है कि जनता में जंगलों के संरक्षण और विकास के प्रति प्रत्यक्ष रुचि पैदा की जाय और उन्हें वृक्षों, वन्य जीवों और आमतौर से प्रकृति के महत्त्व के प्रति जागरूक किया जाय। यह काम शिक्षा संस्थाओं के सहयोग से आसानी के साथ किया जा सकता है। वे अपने यहां प्रारम्भिक कक्षाओं से ही विद्यार्थियों में वन संबंधी रुचि जाग्रत कर सकते हैं। किसानों और संबंधित अन्य लोगों के लिये यह काम कृषि-विज्ञान केन्द्रों या प्रशिक्षण केन्द्रों जैसी संस्थाओं द्वारा किया जा सकता है। वहां वे कृषि, उद्यान, वन आदि से संबंधित विषयों का समुचित ज्ञान प्राप्त करके भूमि और जल के ज्यादा से ज्यादा लाभप्रद उपयोग और उसकी तकनीकों की जानकारी प्राप्त कर सकते हैं। किसानों की शिक्षा के लिए छोटी अवधि के विस्तार पाठ्यक्रम और भाषण-मालाएं आयोजित की जा सकती हैं। इन सबके लिए यह आवश्यक है कि यथोचित कार्यक्रमों का सार्वजनिक मीडिया, दृष्य-श्रव्य सहायक विधियों और विस्तार-तंत्र द्वारा अधिक से अधिक प्रचार किया जाय।

### *वानिकी शिक्षा*

वानिकी को वैज्ञानिक एवं व्यावसायिक विषय के रूप में मान्यता प्रदान की जाय। वानिकी के प्रति समर्पित कृषि विश्वविद्यालयों व संस्थानों को, देश की आवश्यकताओं को ध्यान में रखते हुए वानिकी शिक्षा के पाठ्यक्रम व नियम-कायदे बनाने चाहिए। इस विषय में स्नातकोत्तर स्तर के शोध और व्यावसायिक प्रवीणता आदि की शिक्षा की व्यवस्था करनी चाहिए। भारतीय एवं राज्य की वन-सेवाओं के लिए व्यक्तियों के चयन के मौके पर इन शैक्षिक एवं व्यावसायिक योग्यताओं पर विचार किया जाना चाहिए। इसके अतिरिक्त सेवा संबंधी प्रशिक्षण में प्रबन्ध की नयी दक्षताओं तथा वानिकी और उससे संबंधित अन्य विषयों के नवीनतम विकास और उसकी तकनीक की जानकारी का समावेश होना चाहिए।

### *वानिकी अनुसंधान*

पर्यावरण को स्वस्थ रखने की दृष्टि से जंगलों के महत्त्व की बढ़ती हुई मान्यताओं; ऊर्जा और रोजगार के लिए वानिकी के वैज्ञानिक अनुसंधान पर विशेष रूप से बल देना आवश्यक है। इसके लिए कार्यकलाप की नई प्राथमिकताएं और अनुसंधान का मजबूत आधार होना जरूरी है। अनुसंधान और विकास के कार्यों के लिए निम्नलिखित प्राथमिकताओं के क्षेत्रों पर विशेष रूप से ध्यान दिया जाना चाहिए -

1. आधुनिक वैज्ञानिक एवं प्रौद्योगिक तरीकों को इस्तेमाल करके लकड़ी और अन्य वन्य-उत्पादनों के प्रति इकाई व समय, उत्पादन में वृद्धि की जाय।
2. बंजर, सीमान्तक, अनुपयुक्त और खदान वाली जमीनों को फिर से हरा-भरा किया जाय।
3. प्रभावी संरक्षण और मौजूदा वन-प्रसाधनों (मुख्यतः राष्ट्रीय पारिस्थितिक पद्धति) का कुशल प्रबन्ध।
4. ग्रामीण और जनजातीय विकास के लिए सामाजिक वानिकी संबंधी अनुसन्धान।
5. लकड़ी और लकड़ी की वस्तुओं के विकल्पों का विकास।
6. जंगल के जीवों और राष्ट्रीय पार्कों व पशु-पक्षियों के शरण स्थलों से संबंधित अनुसंधान कार्य।

### *कार्मिक प्रबन्ध*

वन विभागों के कर्मचारियों और उनके पेशेवर अधिकारियों एवं वैज्ञानिकों की निपुणता, योग्यता बढ़ाना और अच्छे, योग्य एवं समर्पित किस्म के लोगों को आकर्षित करना व बनाये रखना सरकारी नीतियों का लक्ष्य होना चाहिए। इसके लिए इस बात का ध्यान रखना भी जरूरी है कि इन कर्मचारियों व अधिकारियों को अक्सर दूर-दूर के इलाकों और अनुदार स्थितियों में अपना दायित्व पूरा करना पड़ता है।

### *वन सर्वेक्षण और डाटा बेस*

वन संसाधनों से संबंधित जानकारियों और आँकड़ों का अभाव चिंता का विषय है क्योंकि इस अभाव के कारण संतुष्टि की झूठी भावना पैदा होती है। आवश्यकता इस बात की है कि वन संसाधनों के देशव्यापी सर्वेक्षण को पूरा करने के काम को प्राथमिकता दी जाय और इस सर्वेक्षण को वैज्ञानिक तरीके से करके समस्त सूचनाओं को वर्तमान समय तक की बनाकर उनका प्रकाशन किया जाय जिससे वन कर्मचारियों, अधिकारियों और सभी संबंधित व्यक्तियों के लिए उसकी विस्तृत और ताजी सांख्यिकी उपलब्ध हो सके और उसके जरिए वन प्रबन्ध में सुधार के साथ ही उसे आधुनिक प्रोद्यौगिकी एवं उपकरणों से सम्पन्न किया जा सके।

### *कानूनी समर्थन और बाहृय संरचना का विकास*

वन नीति को प्रभावी रूप से अमल में लाने के लिए दो बातें बहुत आवश्यक हैं - प्रथम, कार्रवाइयों का कानूनी समर्थन और दूसरी, केन्द्र व राज्य के स्तर पर उसके लिए समुचित वाहृय संरचना। इन दोनों के लिए केन्द्र और राज्यों को अविलम्ब आवश्यक कदम उठाने चाहिए।

### *वानिकी के लिए वित्तीय सहायता*

इस संशोधित वन नीति के उद्‌देश्य वित्तीय और अन्य साधनों के बड़े पैमाने पर निवेश के बिना पूरे नहीं हो सकते। यह निवेश इसलिए न्याय और तर्कसंगत है क्योंकि आवश्यक पारिस्थितिक प्रक्रिया जेनेटिक जीव विविधता और जीवनोपयोगी पद्धतियों को बनाये रखने में जंगलों का एक महत्त्वपूर्ण योगदान है। जंगलों को केवल राजस्व के साधन के रूप में नहीं देखा जाना चाहिए। जंगल एक ऐसा प्राकृतिक प्रसाधन है जिसे बार-बार नया और विकसित किया जा सकता है। वे ऐसी राष्ट्रीय परिसंपत्तियां हैं जिनका राष्ट्र और राष्ट्रवासियों के हित में संरक्षण और विकास करना अनिवार्य है।

# XIX. लघु वन उत्पादों की सूची

| राज्य (1) | राष्ट्रीयकृत (2) | गैर-राष्ट्रीयकृत (3) |
|---|---|---|
| I. आंध्र प्रदेश | 1. अद्दा पत्ता | |
| | 2. इमली (बीज और रेशा सहित) | |
| | 3. इमली (बीज के बगैर लेकिन रेशे के साथ) | |
| | 4. इमली (बीज और रेशे के बगैर) | |
| | 5. इमली का बीज | |
| | 6. कराया गोंद | |
| | 7. तिरूमन गोंद | |
| | 8. मैरोबालान | |
| | 9. कुचला का बीज | |
| | 10. मोहवा का बीज | |
| | 11. मोहवा फूल | |
| | 12. शीकाकाई | |
| | 13. रीठी | |
| | 14. मधु (चट्टानी मधुमक्खी) | |
| | 15. मधु (मधुमक्खी पालन) | |
| | 16. क्लीयरिंग नट | |
| | 17. अमला का बीज | |
| | 18. मार्किंग नट | |
| | 19. नीम का बीज | |
| | 20. आर. एस. जड़ें | |
| | 21. पमगम बीज | |
| | 22. रेला की छाल | |
| | 23. नरामामीदी छाल | |
| | 24. थागेडु की छाल | |
| | 25. पोप्पलामोदी | |

| राज्य (1) | राष्ट्रीयकृत (2) | गैर-राष्ट्रीयकृत (3) |
|---|---|---|
| | 26. अद्‌दानारा | |
| | 27. कुसुम का बीज | |
| | 28. आरारूट पाउडर | |
| | 29. चिरौंजी | |
| II. बिहार/झारखण्ड | 1. करंज | 1. साबी घास |
| | 2. कुसुम | 2. गोंद और राल |
| | 3. साल का बीज | 3. महुआ का फूल |
| | 4. महुआ का बीज | 4. इमली |
| | 5. तेंदू पत्ते | 5. नाइजर का बीज |
| | 6. पलाश | 6. चिरौंजी |
| | 7. मैरोबालन | 7. बड़ाबोटी |
| | 8. हर्रा का बीज | 8. लाह |
| | 9. जोंगी हुना | |
| | 10. अनोला | |
| | 11. महुलान के पत्ते | |
| | 12. महुलान का टुकड़ा (चॉप) | |
| III. गुजरात | | |
| | 1. तेंदू के पत्ते | 1. छाल (सारे प्रकार) |
| | 2. महूदा का फूल | 2. पुवाद का बीज |
| | 3. डोली का बीज | 3. सफेदी मुसली |
| | 4. गोंद | 4. करंजी का बीज |
| | | 5. खखारा का बीज |
| | | 6. चनोठी |
| | | 7. अरीठा |
| | | 8. बेहदा |
| | | 9. रोशा घास |
| | | 10. मधु |
| | | 11. मोम |
| | | 12. अशित्र के पत्ते |
| | | 13. अमला |

| *राज्य (1)* | *राष्ट्रीयकृत (2)* | *गैर-राष्ट्रीयकृत (3)* |
|---|---|---|
| | | 14. हर्दा |
| | | 15. चरोली |
| | | 16. दारूदी |
| | | 17. पीलू का बीज |
| | | 18. बांस का बीज |
| IV. मध्य प्रदेश/छत्तीसगढ़ | | |
| | 1. तेंदू के पत्ते | 1. महुआ का फूल |
| | 2. साल का बीज | |
| | 3. मैरोबालान | |
| V. महाराष्ट | 1. हर्दा | |
| | 2. गोंद | |
| | 3. घास | |
| | 4. मोहा का बीज | |
| | 5. महुवा का फूल | |
| | 6. चरोली | |
| | 7. तेंदू के पत्ते | |
| VI. उड़ीसा | 1. साल का बीज | 1. मधु |
| | 2. तेंदू के पत्ते | 2. राल |
| | | 3. मोम |
| | | 4. गोंद |
| | | 5. मैरोबालान |
| | | 6. अरारूट |
| | | 7. नीम का बीज |
| | | 8. कुसुम का बीज |
| | | 9. करंज का बीज |
| | | 10. हिल ब्रूम |
| | | 11. इमली |
| | | 12. नाइजर का बीज |
| | | 13. कुचला |
| | | 14. लाह |

| *राज्य* *(1)* | *राष्ट्रीयकृत* *(2)* | *गैर-राष्ट्रीयकृत* *(3)* |
|---|---|---|
| | | 15. सूखी सियाली के पत्ते |
| | | 16. सुनारी की छाल |
| | | 17. चक्की |
| VII. **राजस्थान** | 1. घावरा गोंद | |
| | 2. खैर गोंद | |
| | 3. अन्य गोंद | |
| | 4. मधु | |
| | 5. मुसली | |
| | 6. मोम | |
| | 7. डोलमा | |
| | 8. महुवा का फूल | |
| | 9. लाख | |
| | 10. अचार | |
| | 11. बहेड़ा | |
| | 12. आंवला | |
| | 13. पुवाद | |
| | 14. कन्नाज | |
| | 15. अरीठा | |
| | 16. अश्व गंध | |
| | 17. चित्रक छाल | |
| | 18. बिल्व गुदा | |
| | 19. पलाश का बीज | |
| | 20. आंवला की छाल | |
| | 21. रतनजोत | |
| | 22. बहेड़ा की छाल | |
| | 23. शतावली | |
| | 24. महुआ का फल | |
| | 25. धाहुरी | |
| | 26. लाल अरंडी | |
| | 27. निम्बोली | |

| *राज्य* (1) | *राष्ट्रीयकृत* (2) | *गैर-राष्ट्रीयकृत* (3) |
|---|---|---|
| | 28. जामुन गुठली | |
| | 29. लाल चिरामी | |
| | 30. अचिस पत्र | |
| | 31. गोखरू बड़ा | |
| | 32. छोटी कटेरी | |
| VIII. **पश्चिम बंगाल** | | |
| | 1. साल का बीज | 1. तेंदू के पत्ते |
| | | 2. इमली |
| | | 3. मैरोबालान |
| | | 4. कच्चा ड्रंग |
| | | 5. लाह |
| | | 6. महुआ का बीज |
| | | 7. करंज का बीज |

# XX. जनजातीय समुदायों की प्रथाओं और रिवाजी कानूनों (Customary Laws) का संहिताकरण

भारत की जनजातियों में विभिन्न प्रकार के अनेक सामाजिक-सांस्कृतिक आचरण और रीति-रिवाज प्रचलित हैं। अनेक जनजातियाँ दीर्घकाल से गैर-जनजाति समूहों के सम्पर्क में भी आ रही हैं जिससे यह सम्भव है कि उनके अपने रीति-रिवाजों और उनकी प्रथाओं के रूढ़िगत स्वरूपों में कोई परिवर्तन आया हो। सामान्यतः सामाजिक व्यवहार में जन-जाति समाज अधिकांशतः अपनी खुद की परंपराओं को ही प्राथमिकता देता है। उनका आचरण मुख्यतः उनकी अपनी सामाजिक प्रथाओं के अनुरूप होता है। ये प्रथाएं आमतौर से विवांह, तलाक, उत्तराधिकार और छोटे-मोटे अपराधों के लिए सामुदायिक न्याय-पद्धति संबंधी होती हैं। इसलिए, जनजाति-समाज के रिवाजी कानूनों का अध्ययन जहां उनके समाज को समझने के लिए उपयोगी है वहीं उनके क्षेत्रों पर प्रशासन एवं कोई भी कार्य करने के लिए आवश्यक भी है। इस संबंध में कुछ राज्यों की सरकारें, जनजाति अनुसंधान संस्थानों और एंथ्रोपोलॉजिकल सर्वे ऑफ इडिया ने अनेक प्रयास किये हैं। ध्यान रखने योग्य एक बात यह भी है कि आई.एस.आई. और टी.आर.आई. जैसे संस्थान कानूनी आवश्यकताओं के अध्ययन के लिए आवश्यक योग्यताओं व साधनों से सम्पन्न नहीं हैं। जो भी अध्ययन हुए हैं वे मुख्यतः नृ-जातिशास्त्र की रुचियों पर आधारित हैं और कानून के उपयोग के लिए नहीं हैं। उनकी इस सीमा को सातवीं पंचवर्षीय योजना के कार्यकारी समूह ने मान्यता प्रदान करते हुए निम्नलिखित संस्तुतियां की हैं :

"किसी प्रथा या परंपरा के हृदय में प्रवेश करना इसलिए आवश्यक है कि यह निश्चय किया जा सके कि जनजाति समाज पर वह किस सीमा तक लागू की जा सकती है। इस प्रकार के संकलनकर्त्ता पदाधिकारी के किसी भी गलत फैसले के बड़े गम्भीर परिणाम हो सकते हैं। इस पृष्ठभूमि में इस तरह के संग्रह को "रिवाजी कानून" की संज्ञा देना और उसे राज्य सरकार या भारत सरकार की ओर से प्रकाशित करना खतरनाक भी हो सकता है, खासतौर से जब ऐसे मान्यताप्राप्त जनजाति संस्थान न हों जिनसे इन "रिवाजी कानूनों" की पुष्टि कराई जा सके। इस प्रकार के संग्रहों का शीर्षक शायद "रिवाजी कानून" के स्थान पर "परंपरागत जनजातीय प्रथाएं" रखा जाना चाहिए। इससे उनमें संशोधन करने का रास्ता खुला रहेगा।"

उसमें उन प्रथाओं की सूची भी दी गई है जो राज्य विशेष के लिए दिलचस्प हो सकती

है। जैसे, संपत्ति का स्वामित्व और उत्तराधिकार, परिवार, रक्त संबंध व नातेदारी, परंपरागत जनजातियों के ग्रामीण कार्यालय, उनकी अन्य संस्थाएं तथा उनमें पदों का उत्तराधिकार।

2. अब तक जो प्रगति की गई है वह इस बात की ओर संकेत करती है कि आंध्र प्रदेश, गुजरात, केरल, महाराष्ट्र, राजस्थान, उत्तर प्रदेश, त्रिपुरा और हिमाचल प्रदेश ए.एस.आई. ने अपने जनजातीय प्रथाओं के सर्वेक्षण में 55 जनजातियों के समुदायों का अध्ययन किया है। उसके द्वारा इस अध्ययन को प्रकाशित करने पर विचार भी किया जा रहा है।

3. उत्तरी क्षेत्र के गुवाहाटी उच्च न्यायालय से संबद्ध कानून अनुसंधान केन्द्र में पांच उत्तरी पूर्वी राज्यों की जनजातीय प्रथाओं और रिवाजी कानूनों के संहिताकरण और उनके तुलनात्मक अध्ययन की एक योजना पर काम शुरू हो चुका है। कल्याण मंत्रालय ने छः बड़े जनजातीय राज्यों अर्थात् आंध्र प्रदेश, बिहार, गुजरात, मध्य प्रदेश, उड़ीसा और राजस्थान को यह हिदायत दी है कि वे अपने यहां के जनजाति-संस्थानों को यह कार्य सौंपें। इस काम में प्रगति को गति पकड़ना शेष है।

4. सातवीं पंचवर्षीय योजना के कार्यकारी समूह के दृष्टिकोण को आठवीं पंचवर्षीय योजना के दौरान कायम रखना चाहिए। बेहतर प्रशासन के लिए जनजातियों की बेहतर समझ के उद्देश्य से हमें इस प्रकार के संग्रह के काम को, जो अभी तक टुकड़ों में हुआ है, संशोधित परिवर्धित करके सुचारु बनाना चाहिए। कार्यकारी समूह ने इस बारे में यह संस्तुति दी है :-

1. प्रमुख प्रथाओं और रीति रिवाजों का सम्पूर्ण संग्रह - विशेषतः संपत्ति के स्वामित्व और उत्तराधिकार, परिवार और रक्त संबंध, जनजाति विशेष के परंपरागत कार्यालयों व संस्थाओं के बारे में। यह कार्य किसी जाति विशेष को लेकर विशेष रूप से किया जाना चाहिए। विभिन्न जनजातियों की व्यापक रीति रिवाजों का संग्रह करना उतना उपयोगी नहीं हो सकेगा। एक जनजाति विशेष को लेकर किया गया इस प्रकार का गहन अनुसंधान उस जनजाति विशेष की समूची और समन्वित तस्वीर प्रस्तुत कर सकेगा।

2. संग्रह का यह कार्य केन्द्र द्वारा पूर्णतः वित्त पोषित योजना के रूप में राज्यों द्वारा किया जा सकता है। उनके यहां जनजाति अनुसंधान केन्द्र मौजूद हैं। उनसे यह कार्य सुनिश्चित अवधि में कराया जा सकता है।

3. संग्रह करने का यह काम जनजाति उप-योजना (टी.एस.पी.) वाले राज्यों द्वारा अपने विधि विभाग के कानूनी प्रकोष्ठ द्वारा भी गुवाहाटी उच्च न्यायालय के विधि अनुसंधान केन्द्र की पद्धति के अनुरूप कराया जा सकता है।

4. ''एंथ्रोपोलॉजिकल सर्वे ऑफ इंडिया'' को संग्रह करने के इस काम का सर्वोच्च अधिकारी बनाया जाना चाहिए। वह जनजाति अनुसंधान संस्थानों और राज्यों के कानून विभागों से परामर्श लेकर ऐसा तंत्र ईजाद कर सकता है जो इस काम की निरन्तर जांच कर सके और इसकी प्रगति की समीक्षा भी करता रहे।

# XXI. जनजातीय विद्रोहों का कालानुक्रमिक अभिलेख

| वर्ष | विद्रोह |
|---|---|
| 1778 | अंग्रेज सरकार के विरुद्ध छोटानागपुर के पहाड़िया सरदारों का विद्रोह। |
| 1784-1785 | कोली उपद्रव (महाराष्ट्र) |
| 1789 | छोटानागपुर के तमार में विद्रोह |
| 1794-95 | उपर्युक्त |
| 1795-1800 | बिहार में चुआरी आन्दोलन |
| 1798 | पंचेट रियासत का विक्रय संबंधी विद्रोह |
| 1801 | बिहार में तमार विद्रोह |
| 1803 | पूर्व गोदावरी एजेंसी (आंध्र प्रदेश) के रम्पा क्षेत्र में कोवा-बगावत। |
| 1807-1808 | छोटानागपुर जनजातीय विद्रोह |
| 1809-1828 | गुजरात में भील विद्रोह |
| 1811, 1817, 1820 | बिहार में जनजातियों द्वारा जमींदारों के विरुद्ध विद्रोह |
| 1818 | कोली विद्रोह (महाराष्ट्र) |
| 1825 | सिंगफो लोगों द्वारा आक्रमण तथा सादिया स्थित ब्रिटिश शस्त्रागार आग की भेंट। |
| 1827 | समन्वेषक विलकाक्स की मिशमियों द्वारा हत्या |
| 1828 | गोमधर कुँवर के नेतृत्व में अंग्रेजों के विरुद्ध असम की जनजातियों का विद्रोह, जिसे ले. रदरफोर्ड ने बाद में पराजित किया। |
| 1828 | तीन हजार योद्धाओं के साथ सिंगफो सरदार का सादिया पर आक्रमण। |
| 1829 | असम के खासियों का विद्रोह |
| 1829 | तीरथ सिंह (असम) द्वारा अंग्रेज जनरलों व उनके हिन्दुस्तानी सिपाहियों का वध। |

| | |
|---|---|
| 1831-1932 | महान कोल-विप्लव |
| 1820, 1832, 1867 | बिहार में मुंडा विद्रोह |
| 1832-1833 | बिहार में भगीरथ के नेतृत्व में खेरवारों की बगावत |
| 1835 | नेफ़ा (असम) के डफला द्वारा मैदानी इलाके में रहने वाली ब्रिटिश रियाया पर आक्रमण और अंग्रेजों द्वारा उनका प्रतिहिंसात्मक उत्पीड़न। |
| 1835 | अपने विरुद्ध कार्यवाइयों के कारण अंग्रेजों ने जैन्तिया पर्वत शृंखला (असम) के राजा को उसकी गद्दी से हटाया और उसे पेंशन दी। |
| 1836 | मिशमियों द्वारा एक वनस्पति-शास्त्री के इरादों पर संदेह के कारण हत्या। |
| 1839 | गुजरात में नाइक विद्रोह |
| 1839-1843 | खम्पति (असम) बगावत |
| 1838 | खम्पतियों द्वारा आक्रमण, ब्रिटिश एजेंट ऐडम वाइट और 80 अन्य अधिकारियों व सिपाहियों की हत्या। |
| 1842 | बस्तर के गोंडों का कैप्टन बलन्त के फौजी दस्ते पर हमला। ब्लन्ट को पीछे हटकर वापस आना पड़ा। |
| 1842 | लुशाई (असम) द्वारा अरकान और सिलहट के ब्रिटिश राज्य-क्षेत्र पर आक्रमण और अंग्रेजी फौजों की पराजय। |
| 1843 | सिंगफो सरदार निरंग फिदु ने अंग्रेजों की रक्षक सेना पर हमला किया और अनेक सैनिकों को मौत के घाट उतारा। |
| 1844 | लुशाइयों ने मणिपुर के गांवों पर हमला किया। अंग्रेजों द्वारा प्रतिहिंसात्मक उत्पीड़न। लुशाई नेता लाल शुक्ला गिरफ्तार, जीवन भर के लिए देश से निष्कासन। |
| 1846 | गुजरात में कुँवर जीवों वासबों के नेतृत्व में भीलों द्वारा विद्रोह। |
| 1849 | कदम सिंग्फो द्वारा असम में उन गांवों पर आक्रमण जो अंग्रेजी राज्य में थे। कदम पकड़ा गया। |
| 1850 | उड़ीसा की कोंध जनजाति के नेता चक्र बिसोई द्वारा विद्रोह |
| 1855 | दो मिशनरियों की हत्या के बदले मिशमियों को दण्ड देने के लिए ईडेन का अभियान। |
| 1858 | गुजरात में अंग्रेजों के विरुद्ध नाइक द्वारा विद्रोह |
| 1857-58 | भील विद्रोह (गुजरात) भगोजी नाइक और काजरसिंह के नेतृत्व में। |

| | |
|---|---|
| 1857 | असम के सारिंग राजा और भरीराम दीवान का विद्रोह, ब्रिटिश सरकार द्वारा उन्हें गिरफ्तार करना। |
| 1860 | लुशाई सरदार ने अंग्रेजी राज्य में शामिल त्रिपुरा पर आक्रमण करके 186 अंग्रेज नागरिकों को जान से मारा। |
| 1860-1862 | जैन्तिया पहाड़ियों के साइटेंगो द्वारा विद्रोह |
| 1861 | उड़ीसा में जुअंग विद्रोह |
| 1862 | जैन्तिया पहाड़ियों के साइटेंगो द्वारा विद्रोह |
| 1862 | मुट्टादारों (छोटे जनजातीय जमींदार) और उनके समर्थक अंग्रेजों के विरुद्ध आंध्र एजेंसी क्षेत्र की कोया जनजाति का विद्रोह। |
| 1869-1879 | धनवादी संथालों द्वारा अशांति, टुंडी के राजा के विरुद्ध, जिसे बाद में कर्नल डाल्टन ने शान्त किया |
| 1872-1873 | ब्रिटिश सैनिक अभियान द्वारा डफ़लाओं का दमन |
| 1879 | नागा विद्रोह |
| 1879 | मुट्टादारों व अंग्रेजों के विरुद्ध आंध्र एजेंसी क्षेत्र के कोया लोगों का विद्रोह। |
| 1880 | तम्मन डोरा के नेतृत्व के मलकानगिरि (उड़ीसा) में कोया विद्रोह। |
| 1883 | द्वीपवासी सन्तरियों द्वारा हंफ्री (अंदमान द्वीप समूह) पर हमला। |
| 1889 | ब्रिटिश सरकार के विरुद्ध सरदारी (मुंडा नेताओं का) आन्दोलन। |
| 1891 | अंग्रेजों के विरुद्ध मणिपुर में टिकेन्द्रजी सिंह के नेतृत्व में विद्रोह। |
| 1892 | अंग्रेजों के विरुद्ध पूर्वी लुशाइयों की बगावत |
| 1895 | बिरसा मुंडा की गिरफ्तारी। |
| 1911 | बस्तर की जनजातियों द्वारा विद्रोह। |
| 1913, 1914, 1920 | बिहार में ताना भगत द्वारा राजद्रोह। |
| 1921, 1922 | अंग्रेजों के विरुद्ध अल्लुरि श्री राम राजू के नेतृत्व में कोया लोगों द्वारा रम्पा सशस्त्र क्रांति। |
| 1932 | रानी गइंदेल्लों का अ-ईसाई नागा-विद्रोह (असम)। |
| 1941 | अंग्रेज सरकार के विरुद्ध आंध्र प्रदेश के आदिलाबाद जिले में भीमू के नेतृत्व में गोंड और कोलम विद्रोह। |
| 1942 | उड़ीसा में लक्षण नाइक का कोरपट विद्रोह। |
| 1942-45 | अंदमान द्वीपों के जनजातीय समूहों द्वारा जापान की आधिपत्य सेनाओं के विरुद्ध विद्रोह। |
| 1956 | वर्ली विद्रोह (महाराष्ट्र)। |
| 1963-1971 | नागा विद्रोह। |
| 1966-1971 | मिजो विद्रोह। |

# XXII. सिविल अधिकार संरक्षण अधिनियम, 1955 और अनुसूचित जाति एवं अनुसूचित जनजाति (क्रूरता निवारक) अधिनियम, 1989 का क्रियान्वयन

## सिविल अधिकार संरक्षण अधिनियम 1955

संविधान के अनुच्छेद 17 के अन्तर्गत अस्पृश्यता का उन्मूलन कर दिया गया है और किसी भी रूप में उसका आचरण निषिद्ध है। इस संवैधानिक व्यवस्था को लागू करने के लिए अस्पृश्यता (अपराध) अधिनियम को केन्द्रीय कानून बनाया गया जिससे किसी भी रूप में अस्पृश्यता का आचरण करने वालों को दण्ड देने की व्यवस्था की जा सके। बाद में इस अधिनियम में संशोधन करके इसे सिविल अधिकार संरक्षण अधिनियम 1955 की संज्ञा दी गयी जिसके अंतर्गत अस्पृश्यता बरतने को संज्ञेय और अशमनीय अपराध बनाया जा सके। अधिनियम ने राज्य सरकारों के लिए भी यह अत्यावश्यक कर दिया कि अस्पृश्यता उन्मूलन से उद्भूत होने वाले अधिकार हर किसी व्यक्ति को उपलब्ध कराये जाएँ और सभी व्यक्ति उनका उपभोग करें।

## राज्य सरकारों का कर्त्तव्य

राज्य सरकारें इस अधिनियम की धारा 15ए(2) के तहत निम्नलिखित कार्रवाइयां कर सकती हैं :

1. ऐसा उपबन्ध जिससे विधि संबंधी सहायता सहित उस व्यक्ति को जो अस्पृश्यता से उत्पन्न होने वाली किसी भी अयोग्यता का शिकार बना दिया गया है, उसके अधिकार दिलाये जा सकें।
2. इस अधिनियम का उल्लंघन करने वालों पर अभियोजन की कार्रवाई प्रारम्भ करने या उसका पर्यवेक्षण करने वाले अधिकारियों की नियुक्ति करना।
3. इस अधिनियम के अपराधों पर कानूनी विचार के लिए विशेष न्यायालयों की स्थापना करना।
4. यथोचित स्तरों पर ऐसी समितियों का गठन करना जो राज्य सरकार को इस प्रकार की कार्रवाइयों की अभिकल्पना करने और उन्हें अमल में लाने में सहायता दे सकें।

5. इस अधिनियम से संबंधित कार्रवाइयों का अवधि विशेष पर सर्वेक्षण करने की दृष्टि से ऐसी व्यवस्था करना कि इसे और भी प्रभावी ढंग से लागू करने के तरीके ढूंढ़ें जा सकें।
6. उन क्षेत्रों की पहचान करना जहां लोगों को अस्पृश्यता के कारण किसी तरह की अयोग्यता का भागी बनना पड़ता है और ऐसी कार्रवाइयां करना जिससे उस क्षेत्र में इस प्रकार की अयोग्यताओं को सुनिश्चित रूप से दूर किया जा सके।

अधिनियम के अंतर्गत केन्द्रीय सरकार को ऐसे कदम भी उठाने चाहिए जो उसे लागू करने के लिए राज्य सरकार द्वारा की गयी कार्रवाइयों को समन्वित कर सकें। केन्द्रीय सरकार के लिए यह भी अत्यावश्यक है कि वह अपने और राज्य सरकारों द्वारा इस संबंध में की गई कार्रवाइयों की वार्षिक रिपोर्ट संसद के दोनों सदनों के समक्ष प्रस्तुत करे।

## अनुसूचित जाति और अनुसूचित जनजाति (क्रूरता निवारक) अधिनियम, 1989

अनुसूचित जातियों और अनुसूचित जनजातियों के प्रति क्रूरता बरतने की बढ़ती हुई प्रवृत्ति को ध्यान में रखते हुए सिविल अधिकार संरक्षण अधिनियम के उपबन्धों को अपर्याप्त महसूस करते हुए एक अतिरिक्त कानून बनाया गया जिसे अनुसूचित जाति और अनुसूचित जनजाति (क्रूरता निवारक) अधिनियम कहते हैं। इसका उद्देश्य इन जातियों के विरुद्ध होने वाले अपराधों को रोकना या उसके प्रति लोगों को निर्भय करना है। यह अधिनियम 31/1/1990 को लागू किया गया।

अधिनियम को प्रभावी ढंग से लागू करने की जिम्मेदारी सरकार की है।

अधिनियम की धारा 21 में कहा गया है कि राज्य ऐसी सभी कार्रवाइयां करेगा जो इस अधिनियम को प्रभावी ढंग से लागू करने के लिए जरूरी होंगी। उसकी कार्रवाइयों में निम्नलिखित कार्रवाई भी शामिल हैं :

1. क्रूरता के शिकार व्यक्तियों के लिए कानूनी सहायता सहित उन सभी सुविधाओं की व्यवस्था की जाय जिनसे उन्हें न्याय मिल सके।
2. अपराध के विचारण और संबद्ध जांच के दौरान क्रूरता के शिकार व्यक्तियों सहित उनके गवाहों के लिये भी रहने, खाने और यात्रा आदि के लिए भत्तों की व्यवस्था।
3. क्रूरता के शिकार व्यक्ति या व्यक्तियों के आर्थिक एवं सामाजिक पुनः स्थापन की व्यवस्था।
4. अधिनियम का उल्लंघन करने वालों पर अभियोजन की यथोचित कार्रवाई करने और उसका निरीक्षण करने के लिए अधिकारियों की नियुक्ति।
5. यथोचित स्तर पर ऐसी समितियों का गठन, जो राज्य सरकार को इस प्रकार की कार्रवाई करने पर विचार करने और उन्हें अमल में लाने में सहायता कर सकें।
6. अधिनियम के उपबन्धों से संबंधित कार्रवाइयों का अवधि विशेष पर इस दृष्टि से

सर्वेक्षण करने की व्यवस्था करना कि इसे और भी प्रभावी ढंग से लागू करने के तरीके ढूंढ़े जा सकें।

7. उन क्षेत्रों की पहचान करना जहां अनुसूचित जातियों और अनुसूचित जनजातियों के सदस्यों के लिए क्रूरता का शिकार होने की सम्भावना हो और वहां ऐसे कदम उठाना जिससे उन समुदायों के सदस्यों की सुरक्षा सुनिश्चित हो सके।

## विशेष न्यायालय

विधान में ऐसे उपबन्धों की व्यवस्था है कि राज्य सरकारें न्यायालयों को विनिर्दिष्ट करें कि वे इस अधिनियम के अंतर्गत होने वाले अपराधों के अभियोजन की कार्रवाई शीघ्रातिशीघ्र शुरू करें। प्रत्येक विशेष न्यायालय के लिए एक लोक-अभियोजक अथवा ऐसे एडवोकेट की 'विशेष लोक अभियोजक' पद पर नियुक्त करें जिसे कम से कम सात वर्ष का अनुभव हो। अरुणाचल प्रदेश, मिजोरम और नागालैण्ड को छोड़कर देश के सभी राज्यों और केन्द्र द्वारा शासित प्रदेशों की सरकारें विशेष न्यायालयों और लोक-अभियोजकों को विनिर्दिष्ट कर चुकी हैं। राजस्थान की सरकार इस तरह के अपराधों की सुनवाई करने के लिए 16 न्यायालय स्थापित कर चुकी है। इसी प्रकार आंध्र प्रदेश की सरकार भी तीन विशेष न्यायालय स्थापित कर चुकी है जो केवल ऐसे ही अभियोजनों की सुनवाई करेगी और फैसला देगी।

## केन्द्रीय सरकार का कर्त्तव्य

अधिनियम के अंतर्गत केन्द्रीय सरकार ऐसे सभी आवश्यक कदम उठायेगी जो इस अधिनियम को लागू करने के लिए राज्य सरकार द्वारा की गई कार्रवाइयों में समन्वय व तालमेल लाने की दृष्टि से आवश्यक होंगे। केन्द्र सरकार के लिए यह भी अत्यावश्यक है कि वह इस संबंध में की गयी अपनी और विभिन्न राज्य सरकारों द्वारा की गई समस्त कार्रवाइयों की वार्षिक रिपोर्ट संसद के दोनों सदनों के समक्ष प्रस्तुत करे।

# XXIII. संरक्षात्मक कानून : राज्यों व केन्द्रशासित प्रदेशों में भूमि संक्रमण/हस्तांतरण नियम

| *क्र.सं* | *राज्य/केन्द्र शासित प्रदेश* | *अधिनियम/कानून* | *मुख्य प्रावधान* |
|---|---|---|---|
| 1. | आंध्र प्रदेश | (अ) आंध्रप्रदेश (अनुसूचित क्षेत्र) भूमि हस्तांतरण नियम 1959. (ब) आंध्र प्रदेश (अनु. क्षेत्र) भूमि हस्तांतरण (संशोधन) नियम, 1970, 1971 तथा 1978 | यह अधिनियम जनजातियों के अतिरिक्त किसी को भूमि हस्तांतरण से रोकता है। भूमि का मालिक चाहे जनजाति का हो या न हो। जनजातीय क्रेता के न मिलने पर सरकार को भूमि ले लेने का अधिकार देता है। |
| 2. | असम | असम भूमि तथा राजस्व नियम, 1886 | |
| 3. | बिहार | (अ) छोटानागपुर काश्तकारी अधिनियम -1908<br>(ब) संथाल परगना काश्तकारों (संपूरक प्रावधान) अधिनियम 1949 | जनजातीय खण्डों में भूमि हस्तांतरण को रोकना है। |
| 4. | गुजरात | (अ) बम्बई भूमि राजस्व कोड, 1879 | |
| | | (ब) बम्बई भूमि राजस्व (गुजरात द्वितीय संशोधन) अधिनियम, 1980 | तदैव |
| 5. | हिमाचल प्रदेश | हिमाचल प्रदेश भूमि | तदैव |

| *क्र.सं* | *राज्य/केन्द्र शासित प्रदेश* | *अधिनियम/कानून* | *मुख्य प्रावधान* |
|---|---|---|---|
| | | हस्तांतरण (नियम) अधिनियम, 1968 | तदैव |
| 6. | कर्नाटक | कर्नाटक अनुसूचित जाति व अनुसूचित जनजाति (निश्चित भूमि के हस्तांतरण पर रोक) अधिनियम, 1978 | अनुसूचित जनजातियों को दी गई भूमि के हस्तांतरण पर रोक लगाता है। |
| 7. | केरल | केरल अनुसूचित जनजाति (भूमि हस्तांतरण पर रोक तथा हस्तांतरित भूमि को वापस दिलाना) अधिनियम 1978 (अभी लागू नहीं हुआ) | तदैव |
| 8. | मध्य प्रदेश | मध्य प्रदेश भूमि राजस्व कोड, 1959 | भूमि हस्तांतरण पर रोक लगाता है। |
| 9. | मणिपुर | मणिपुर भूमि राजस्व तथा भूमि सुधार अधिनियम, 1960 | उपायुक्त तथा जिला परिषद की आज्ञा के बिना, अनुसूचित जनजाति के सदस्य द्वारा अन्य किसी को किया गया भूमि हस्तांतरण, वैध नहीं होगा। |
| 10. | महाराष्ट्र | महाराष्ट्र भूमि राजस्व कोड तथा काश्तकारी कानून (संशोधन) अधिनियम, 1974<br>महाराष्ट्र (अनुसूचित जनजातियों को भूमि वापसी) अधिनियम, 1974 | भूमि हस्तांतरण को रोकना है तथा हस्तांतरित भूमि को वापस दिलाने का प्रावधान करता है। |
| 11. | उड़ीसा (अनुसूचित क्षेत्रों की सीमा में) | उड़ीसा अनुसूचित क्षेत्रों की अचल संपत्ति का हस्तांतरण (अनुसूचित जनजाति नियम) 1956 | तदैव |
| 12. | राजस्थान | (अ) राजस्थान काश्तकारी | |

| *क्र.सं* | *राज्य/केन्द्र शासित प्रदेश* | *अधिनियम/कानून* | *मुख्य प्रावधान* |
|---|---|---|---|
| | | कानून 1955 (ब) पंजीकरण (राजस्थान संशोधन) अधिनियम 1976 | तदैव |
| 13. | तमिलनाडु | राजस्व बोर्ड के स्थायी आदेश | पहाड़ी जनजातियों को दी गयी भूमि मंडलीय अधिकारी की अनुमति के बिना किसी ऐसे व्यक्ति को नहीं हस्तांतरित होगी जो उसी जनजाति का नहीं है। |
| 14. | त्रिपुरा | (अ) त्रिपुरा भूमि राजस्व व भूमि सुधार अधिनियम, 1960 (ब) 1974 | भूमि हस्तांतरण को रोकता है तथा हस्तांतरित भूमि की वापसी करता है। |
| 15. | सिक्किम | सरकार के स्थायी आदेश | |
| 16. | उत्तर प्रदेश | उत्तर प्रदेश भूमि कानून (संशोधन व अध्यादेश 1981) द्वारा अधिनियम की धारा 157 तथा 211 के अन्तर्गत संशोधित उत्तर प्रदेश जमींदारों के भूमि हस्तांतरण सुधार अधिनियम, 1950 | कलक्टर की अनुमति के बिना अनुसूचित जनजातियों द्वारा अन्य जातियों को भूमि हस्तांतरण करने पर रोक लगाता है। |
| 17. | पश्चिमी बंगाल | पश्चिमी बंगाल भूमि सुधार अधिनियम, 1955 अध्याय 11-अ | भूमि हस्तांतरण पर रोक लगाता है। |
| 18. | दादरा व नगर हवेली | दादरा व नगर हवेली भूमि सुधार नियम, 1971 | |
| 19. | नागालैण्ड | बंगाल पूर्वी सीमान्त नियम, 1873 तथा असम भूमि तथा राजस्व नियम, 1886* | |
| 20. | अरुणाचल प्रदेश | बंगाल पूर्वी सीमान्त नियम, | |

| *क्र.सं* | *राज्य/केन्द्र शासित प्रदेश* | *अधिनियम/कानून* | *मुख्य प्रावधान* |
|---|---|---|---|
| | | 1873 | |
| 21. | लक्षद्वीप | लक्षद्वीप (अनुसूचित जनजाति की सुरक्षा) नियम, 1964 | |
| 22. | मेघालय | मेघालय भूमि हस्तांतरण (विनियम) अधिनियम, 1971 | |
| 23. | अंदमान व निकोबार द्वीप समूह | अंदमान व निकोबार द्वीप समूह आदिवासी जनजाति सुरक्षा विनियम 1956 | |

* असम भूमि तथा राजस्व विनियम द्वारा पुनः संशोधित धारा 162 देखें। नागालैण्ड तथा राजस्व विनियम (संशोधन) अधिनियम - 1978

पैरा 1.1 - सुरक्षात्मक तथा शोषण विरोधी कार्य

# XXIV. संरक्षात्मक कानून
# विभिन्न राज्यों तथा केन्द्रशासित प्रदेशों में ऋणों तथा ऋणों से छुटकारे के विषय में अधिनियम/विनियम

| *राज्य/केन्द्र शासित प्रदेश* | *प्रभावी कानून* |
|---|---|
| *1* | *2* |
| आंध्र प्रदेश | (i) आंध्र प्रदेश (आंध्र क्षेत्र) अनुसूचित्त क्षेत्र महाजन, विनियम, 1960 (1963 से तेलंगाना क्षेत्र में प्रभावी) |
| | (ii) आंध्र प्रदेश (आंध्र क्षेत्र की अनुसूचित जनजाति ऋण मुक्ति विनियम, 1960, 1963 से तेलंगाना क्षेत्र में प्रभावी) |
| | (iii) संस्थागत ऋण बंधुआ उन्मूलन विनियम, 1964 |
| | (iv) हैदराबाद महाजन अधिनियम, 1968 |
| | (v) मद्रास कृषि ऋण मुक्ति (आंशिक रूप से अलग क्षेत्र) संशोधन विनियम, 1944 |
| | (vi) मद्रास ऋण बंधुआ विनियम, 1940 |
| असम | (i) असम महाजन अधिनियम, 1936 |
| | (ii) असम ऋण समाधान अधिनियम, 1936 |
| | (iii) अगम ऋणभार मुक्ति अधिनियम, 1975 |
| | (iv) मिकिर पहाड़ी जिला (अ-जनजातीय लोगों द्वारा ऋण वितरण) विनियम, 1953 |
| बिहार | (i) बिहार महाजन अधिनियम, 1938 |
| | (ii) बिहार महाजन (नियमित लेनदेन) अधिनियम, 1939 |
| | (iii) बिहार अनुसूचित क्षेत्र विनियम, 1969 |
| गुजरात | (i) बम्बई का महाजन अधिनियम, 1946 |
| | (ii) बम्बई का कृषि देनदार मुक्ति अधिनियम, 1947 |

| 1 | 2 |
|---|---|
| केरल | (i) केरल महाजन अधिनियम, 1958 |
| | (ii) केरल कृषक ऋण मुक्ति अधिनियम, 1958 |
| हिमाचल प्रदेश | (i) पंजाब बंधक मुक्ति अधिनियम, 1913 |
| | (ii) हिमाचल प्रदेश ऋण मुक्ति अधिनियम, 1953 |
| | (iii) बंधक भूमि वापसी अधिनियम, 1938 |
| | (iv) स्थित तथा लहोल (मुक्ति एवं ऋणभार कानून का प्रभाव व संशोधन) विनियम, 1962 |
| मध्य प्रदेश | (i) मध्य प्रदेश अनुसूचित जनजाति ऋण मुक्ति (संशोधन) विनिमय, 1963 |
| | (ii) मध्य प्रदेश महाजन अधिनियम |
| | (iii) मध्य प्रदेश कुसीदात्मक (यूज्यूरियस) ऋण अधिनियम, 1938 |
| | (iv) मध्य प्रदेश देनदार सुरक्षा अधिनियम |
| | (v) मध्य प्रदेश अनुसूचित जनजाति ऋण सहायता अध्यादेश, 1966 |
| | (vi) मध्य प्रदेश अनुसूचित जनजाति साहूकार विनियम, 1972 |
| महाराष्ट्र | (i) बम्बई महाजन अधिनियम, 1946 |
| | (ii) मध्य प्रदेश महाजन अधिनियम |
| | (iii) मध्य प्रदेश कुसीदात्मक ऋण अधिनियम, 1938 |
| | (iv) हैदराबाद महाजन अधिनियम, 1938 |
| | (v) बम्बई कृषि ऋण दाता मुक्ति अधिनियम, 1947 |
| | (vi) महाराष्ट्र जनजातीय आर्थिक स्थिति (सुधार) अधिनियम, 1976 |
| कर्नाटक | (i) मैसूर महाजन अधिनियम, 1961 |
| | (ii) मैसूर अधि-व्यवसायी (पान ब्रोकर्स) अधिनियम, 1961 |
| | (iii) बम्बई महाजन अधिनियम, 1946 |
| | (iv) कूर्ग महाजन अधिनियम, 1939 |
| | (v) मद्रास अधि-व्यवसायी अधिनियम, 1943 |
| | (vi) हैदराबाद महाजन अधिनियम, 1938 |
| | (vii) मैसूर कृषक मुक्ति अधिनियम, 1928 |

| *1* | *2* |
|---|---|
| | (viii) मैसूर ऋण समाधान अधिनियम, 1937 |
| उड़ीसा | (i) उड़ीसा महाजन अधिनियम, 1939 |
| | (ii) उड़ीसा (कुछ प्रावधानों का क्रियान्वयन) विनियम, 1950 |
| | (iii) उड़ीसा (अनुसूचित क्षेत्र) महाजन विनियम 1967 (1968 का विनियम 2) |
| | (iv) कृषक ऋण (उड़ीसा संशोधन अधिनियम) 1937 |
| | (v) कृषक ऋण बंधक उन्मूलन विनियम, 1948 |
| राजस्थान | (i) राजस्थान कृषि ऋण भार मुक्ति (संशोधन) अधिनियम, 1962 |
| | (ii) राजस्थान महाजन अधिनियम, 1963 |
| | (iii) राजस्थान सगरी प्रथा उन्मूलन अधिनियम, 1961 |
| | (iv) राजस्थान सहकारी अधिनियम, 1965 |
| | (v) कृषि ऋण भार अधिनियम, 1958 |
| तमिलनाडु | (i) मद्रास महाजन अधिनियम, 1937 |
| | (ii) मद्रास अधिव्यवसायी अधिनियम, 1943 |
| | (iii) मद्रास ऋण समाधान अधिनियम, 1936 |
| | (iv) मद्रास ऋण कृषक (ऋणों की वापसी) अधिनियम, 1936 |
| | (v) तमिलनाडु ऋण मुक्ति अधिनियम, 1976 |
| | (vi) तमिलनाडु ऋण मुक्ति अधिनियम, 1980 |
| | (vii) तमिलनाडु ऋण मुक्ति अधिनियम, 1982 |
| त्रिपुरा | (i) त्रिपुरा कृषि ऋण भार मुक्ति अधिनियम, 1979 (1980 का त्रिपुरा अधिनियम 8) |
| | (ii) बम्बई महाजन अधिनियम, 1946, त्रिपुरा में त्रिपुरा महाजन अधिनियम 1959 के नाम से प्रभावी |
| उत्तर प्रदेश | (i) उत्तर प्रदेश महाजन अधिनियम, 1976 |
| | (ii) उत्तर प्रदेश ऋण मुक्ति अधिनियम, 1977 |
| पश्चिम बंगाल | (i) बंगाल महाजन अधिनियम, 1940 |
| | (ii) बंगाल कृषि ऋणदाता अधिनियम, 1936 |

| 1 | 2 |
|---|---|
| अंदमान एवं निकोबार द्वीपसमूह | (i) अंदमान एवं निकोबार द्वीपसमूह (आदिवासी जनजातियों की सुरक्षा) महाजन विनियम, 1956 |
| | (ii) अंदमान व निकोबार द्वीपसमूह नियम, 1957 |
| | (iii) अंदमान व निकोबार द्वीपसमूह (आदिवासी जनजातियों की सुरक्षा) नियम, 1956 |
| दादरा व नगर हवेली, | बम्बई महाजन अधिनियम, 1946 |
| लक्षद्वीप, मिनीकॉय तथा अमीनदिवी द्वीपसमूह | लक्षद्वीप, मिनीकॉय तथा अमीनदिवी द्वीपसमूह (ऋण समाधान तथा ऋण अनुदान) विनिमय, 1964 |

अध्याय - पाँचवीं अनुसूची के अन्तर्गत अनुसूचित क्षेत्रों का प्रशासन का पैरा 2
अध्याय - सुरक्षा एवं शोषण विरोधी कार्य का पैरा 2.2

# XXV. जनजातीय विकास से संबद्ध आयोग, समितियाँ आदि

| *क्रम सं.* | *कमेटी का नाम* | *चेयरमैन/ अध्यक्ष* | *द्वारा गठित* | *प्रारम्भ की तिथि* | *रिपोर्ट प्रस्तुत करने की तिथि* |
|---|---|---|---|---|---|
| **(I)** | **संवैधानिक आवश्यकताओं के अनुसार** | | | | |
| 1. | पिछड़ा वर्ग आयोग | काका कालेलकर | भारत के राष्ट्रपति | 29.1.53 | 30.3.55 |
| 2. | अनुसूचित क्षेत्र व अनुसूचित जनजाति आयोग | यू.एन.धेबर | भारत के राष्ट्रपति | 28.4.60 | अक्तूबर, 1961 |
| 3. | पिछड़ा वर्ग आयोग | बी.पी.मंडल | भारत के राष्ट्रपति | 1.1.79 | दिसम्बर, 1980 |
| 4. | आयुक्त अनुसूचित जाति व अनुसूचति जनजाति | – | -- | वार्षिक | – |
| **(II)** | **लोक सभा द्वारा गठित** | | | | |
| 1. | अनुसूचित जाति व अनुसूचित जनजाति संसदीय दल | ए.सी.दास लोकसभा | संसद, | 18.12.68 | विभिन्न विषयों पर अप्रैल 1983 के अंत तक 159 रिपोर्ट प्रस्तुत की |
| 2. | अनुसूचित जनजाति व अनुसूचित जाति की संयुक्त समिति (आदेश 1967) | ए.के.चन्दा | – | 20.3.68 | 15.11.69 |
| (III) | | | | | |
| 1. | अनुसूचित जाति व अनु. जनजाति सूची की पुनरावृत्ति के लिये सलाहकार समिति | बी.एन.लोकुर | सामाजिक सुरक्षा विभाग | 1.6.55 | 27.7.65 |
| 2. | विशेष बहुउद्देश्यीय जनजातीय खण्ड समिति | वैरियर एल्विन | गृह मंत्रालय | 1.5.59 | 30.3.60 |

| क्रम सं. | कमेटी का नाम | चेयरमैन/ अध्यक्ष | द्वारा गठित | प्रारम्भ की तिथि | रिपोर्ट प्रस्तुत करने की तिथि |
|---|---|---|---|---|---|
| 3. | पिछड़ा वर्ग आयोग की सहायता के लिये विशेष कार्यकारी दल | एम.पी.भार्गव | तदैव | 15.6.61 | सितम्बर, 1962 |
| 4. | वन्य क्षेत्र में जनजातीय अर्थव्यवस्था समिति | हरि सिंह | सामाजिक सुरक्षा विभाग | 7.5.65 | मार्च, 1967 |
| 5. | जनजातीय रोजगार का अध्ययन दल | एल.पी.विद्यार्थी | श्रम मंत्रालय | 24.12.66 | 28.8.69 |
| 6. | जनजातीय क्षेत्रों की कार्मिक नीतियों तथा प्रशासकीय प्राव-धानों के लिये कार्यकारी दल | महेश्वर प्रसाद | गृह मंत्रालय | 17.10.78 | |
| 7. | पिछड़े वर्ग के विकास व जनजातीय की देखरेख व मूल्यांकन के लिये कार्यकारी दल | डा.भूपेन्द्र सिंह | तदैव | जुलाई,1978 | जुलाई,1979 |
| 8. | अनु. जाति व अनु. जनजाति आयोग | | तदैव | 21.7.78 | वार्षिक |
| 9. | भारतीय जनजातियों व वनों की आयोग समिति | बी.के.रायबर्मन | तदैव | 9.4.80 | 6.9.82 |
| 10. | सहकारी संगठनों की गति-विधियों के लिये अध्ययन दल | के.एस.बावा | कृषि मंत्रालय | 3.12.71 | 24.9.73 |
| 11. | जनजातीय विकास की संस्थाओं के क्षेत्र में ऋण उन्मूलन तथा भूमि वापसी पर अध्ययन दल | पी.एस.अप्पू | कृषि मंत्रालय | दिसम्बर, 1971 | अक्तूबर, 1972 |
| 12. | भारत में वन्य शिक्षा अभिविन्यास समिति | के.एम.तिवारी | गृह मंत्रालय | 5.12.82 | दिसम्बर, 1983 |
| 13. | निर्धनता उन्मूलन के लिये वानिकी कार्यक्रम समिति | सी.एल.भाटिया | तदैव | 12.3.82 | अक्तूबर, 1984 |
| 14. | बहुउद्देश्यीय वृहत् समितियाँ वर्ग प्रबंध | नी.बंधोपाध्याय | तदैव | 30.10.80 | सितम्बर, 1984 |

| क्रम सं. | कमेटी का नाम | चेयरमैन/ अध्यक्ष | द्वारा गठित | प्रारम्भ की तिथि | रिपोर्ट प्रस्तुत करने की तिथि |
|---|---|---|---|---|---|
| **(IV)** | **योजना तथा विकास के प्रयासों के अन्तर्गत** | | | | |
| 1. | समाज कल्याण तथा पिछड़े वर्ग के कल्याण के लिये अध्ययन दल | रेणुकारे | योजना समिति | 5.1.58 | 9.7.59 |
| 2. | ग्राम समुदाय के दुर्बल वर्गों के कल्याण हेतु अध्ययन दल | जे.पी.नारायण | सहकारिता तथा सामु-दायिक विकास मंत्रालय | 8.12.60 | 12.10.61 |
| 3. | जनजातीय विकास कार्यक्रम का अध्ययन दल | पी.शीलू आओ | योजना आयोग | 26.10.66 | 19.9.69 |
| 4. | जनजातीय क्षेत्रों के विकास के लिये कार्य दल | एल.पी.विद्यार्थी | तदैव | 5.4.72 | |
| 5. | मध्यावधि योजना (1978-83) के दौरान जनजातीय विकास के लिए कार्यकारी दल | डी.एल.मंडल | गृह मंत्रालय | 3.2.78 | जुलाई, 1981 |
| 6. | पिछड़े वर्ग के विकास हेतु राष्ट्रीय समिति | बी. शिवारमण | योजना आयोग | 30.10.78 | जून,1981 (समिति ने जनजातीय क्षेत्रों के विकास पर पृथक् रिपोर्ट प्रस्तुत की) |
| 7. | अल्पसंख्यकों, अनु. जातियों व अनु. जनजातियों का उच्च आयोग | डा.गोपाल सिंह | गृह मंत्रालय | मई,1980 | 1983 |
| 8. | सातवीं योजना के अन्तर्गत जनजातीय विकास के लिये कार्यकारी दल | एस. नारायण स्वामी | तदैव | 4.10.83 | दिसम्बर, 1984 |

# XXVI. जनजातीय शोध संस्थान

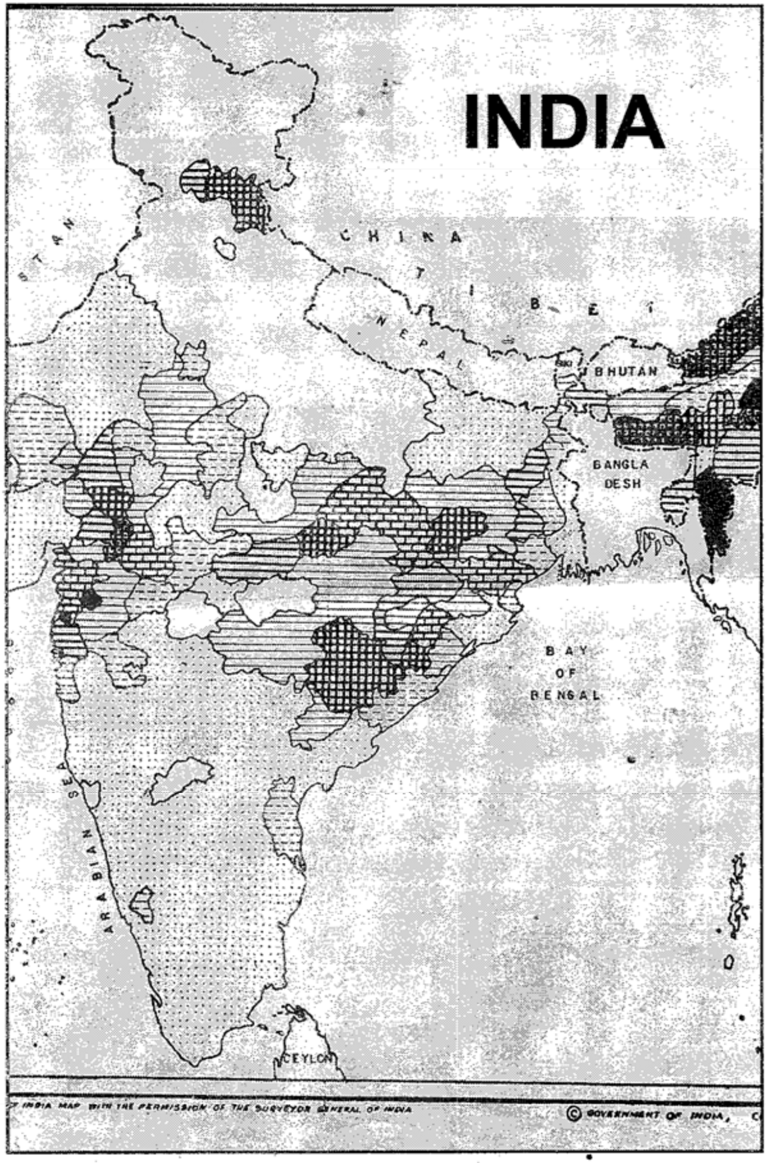
| क्रम सं. | प्रदेश | पता | आरम्भ का वर्ष |
|---|---|---|---|
| 1. | उड़ीसा | जनजातीय व हरिजन शोध व प्रशिक्षण संस्थान, उड़ीसा सरकार, भुवनेश्वर - 751014 | 1953 |
| 2. | बिहार | बिहार जनजातीय कल्याण शोध संस्थान, बिहार सरकार, मोरावादी रोड, राँची-834008 | 1954 |
| 3. | मध्य प्रदेश | म.प्र. जनजातीय शोध व विकास संस्थान, म.प्र. सरकार, 35, शिमला हिल्स, भोपाल-2 | 1954 |
| 4. | पश्चिमी बंगाल | अनु. जाति/अनु. जनजाति संस्कृति शोध संस्थान, जनजातीय कल्याण विभाग, प.बं. सरकार, पी 1/4, सी. आई. टी. योजना नं. VII M, वी.आई.पी. रोड, कंकुर गाछी, कोलकाता-700054 | 1955 |
| 5. | महाराष्ट्र | जनजातीय शोधसंस्थान, महाराष्ट्र सरकार, 28 क्वींस रोड, पूना | 1962 |
| 6. | गुजरात | जनजातीय शोध व प्रशिक्षण केन्द्र, गुजरात विद्यापीठ, अहमदाबाद-380014 | 1962 |
| 7. | असम | जनजातीय शोधसंस्थान, असम सरकार, न्यू सरनिया गौहाटी-781003 | 1962 |
| 8. | आंध्र प्रदेश | जनजातीय संस्कृति शोध व प्रशिक्षण केन्द्र, आंध्र प्रदेश सरकार, रवींद्र नगर कालोनी, म.न. E-3-628/9, पो.कैरताबाद, हैदराबाद- 500004 | 1963 |
| 9. | राजस्थान | जनजातीय शोध व प्रशिक्षण संस्थान, राजस्थान सरकार, उदयपुर | 1964 |
| 10. | केरल | अनु. जाति व अनु. जनजातीय शोध प्रशिक्षण व विकास संस्थान, केरल सरकार, कोजीकोड | 1971 |
| 11. | उत्तर प्रदेश | अनु. जाति व अनु. जनजाति शोध व प्रशिक्षण केन्द्र, गोमती नगर, लखनऊ | 1971 |
| 12. | तमिलनाडु | जनजातीय शोध केन्द्र, तमिल विश्वविद्यालय, अंडर फेल बंगला, मिशनरी हिल, उदकगमंडलम, तमिलनाडु | 1983 |

*मेघालय के बनने के पश्चात् असम के लिये गुवाहाटी में पृथक् संस्थान/इससे पूर्व शिलांग में स्थित संस्थान ही संयुक्त असम के लिये कार्य करता था।

दो

# सामाजिक संस्थाएं

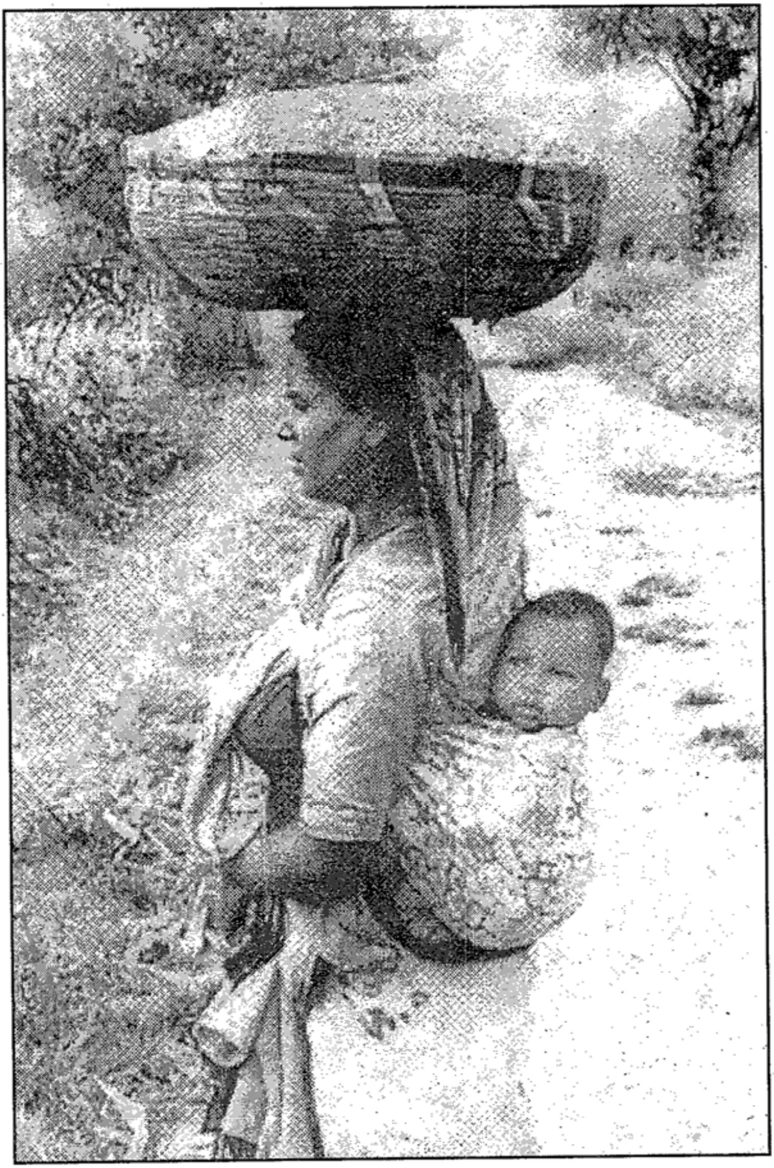
II




भारत की कुल जनसंख्या में जनजातीय आबादी



दो मिकिर बालाएं (मेघालय)



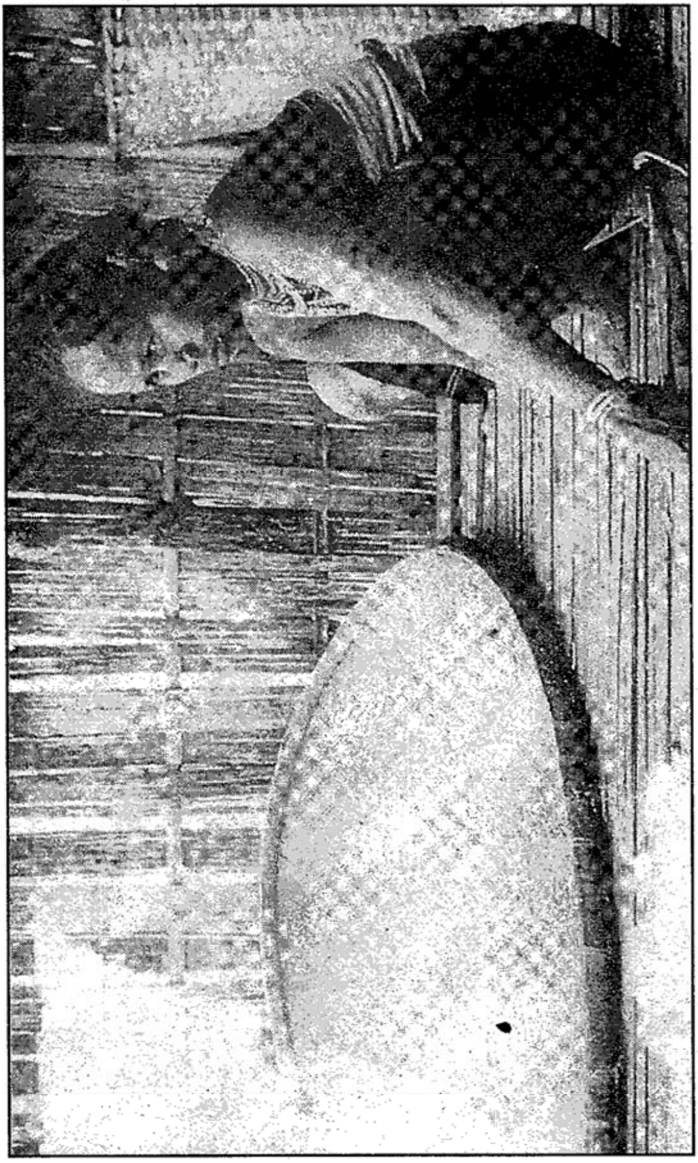
एक ओरांव मां पीठ पर बच्चे को ले जाते हुए (झारखंड)



नगेशिया जनजाति की वैवाहिक रस्म (छत्तीसगढ़)



एक निशी पुरुष (अरुणाचल प्रदेश)



रूई धुनती हुई एक रियांग महिला (असम)



पानी ले जाती हुईं दो लंबाड़ी युवतियां (आंध्र प्रदेश)



एक टोडा जोड़ा पारंपरिक पोशाक में



एक पहाड़ी कोरवा वृद्ध (छत्तीसगढ़)



पौरी बालाएं (असम)



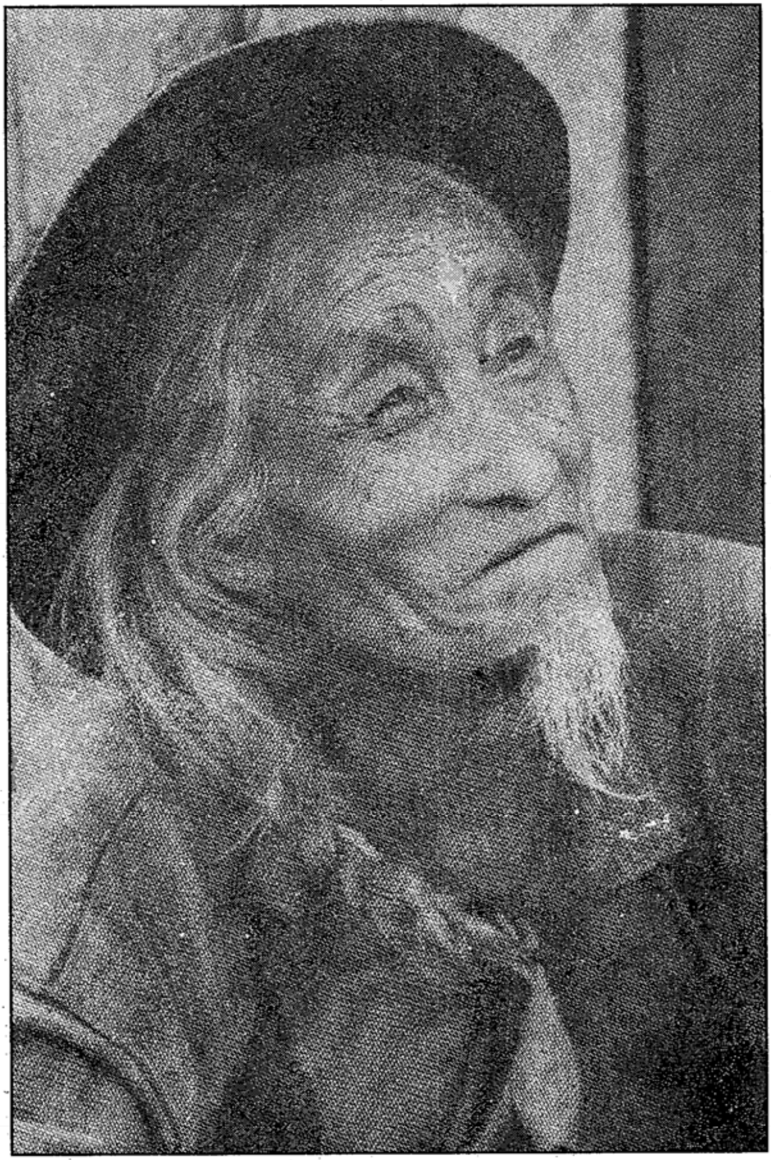
एक मिज़ो सुंदरी



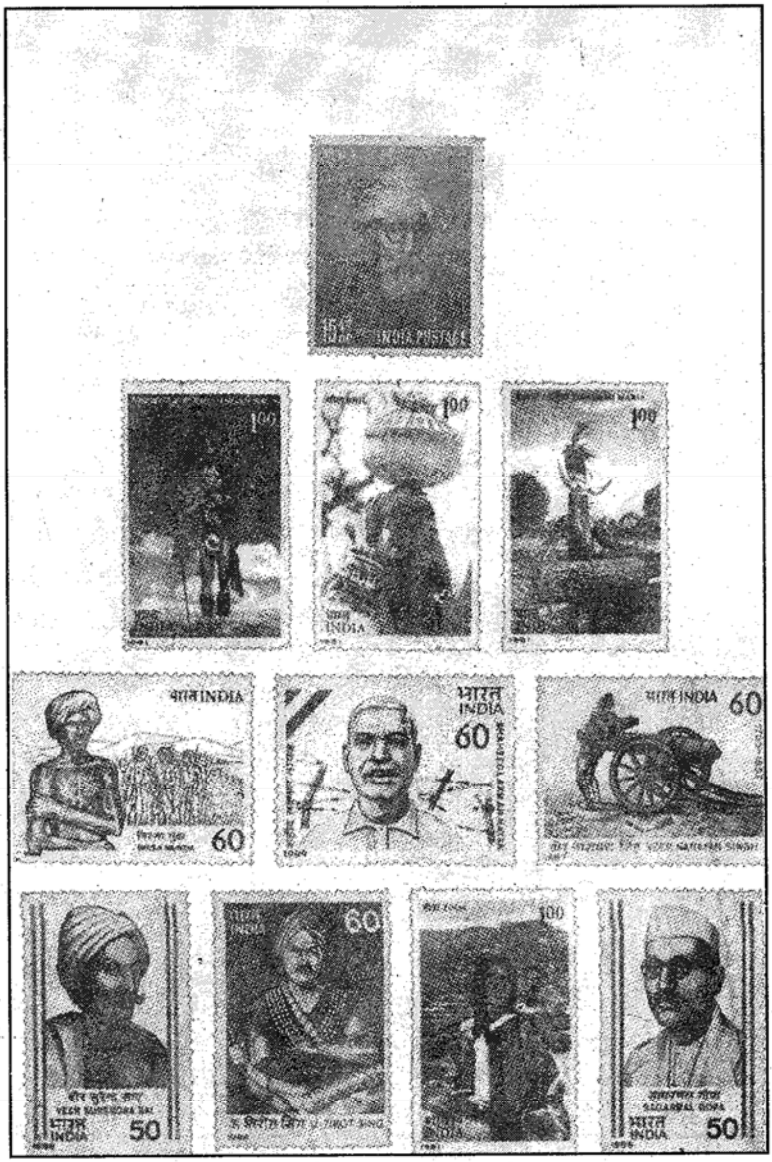
सोच में डूबा एक मिज़ो (मिज़ोरम)



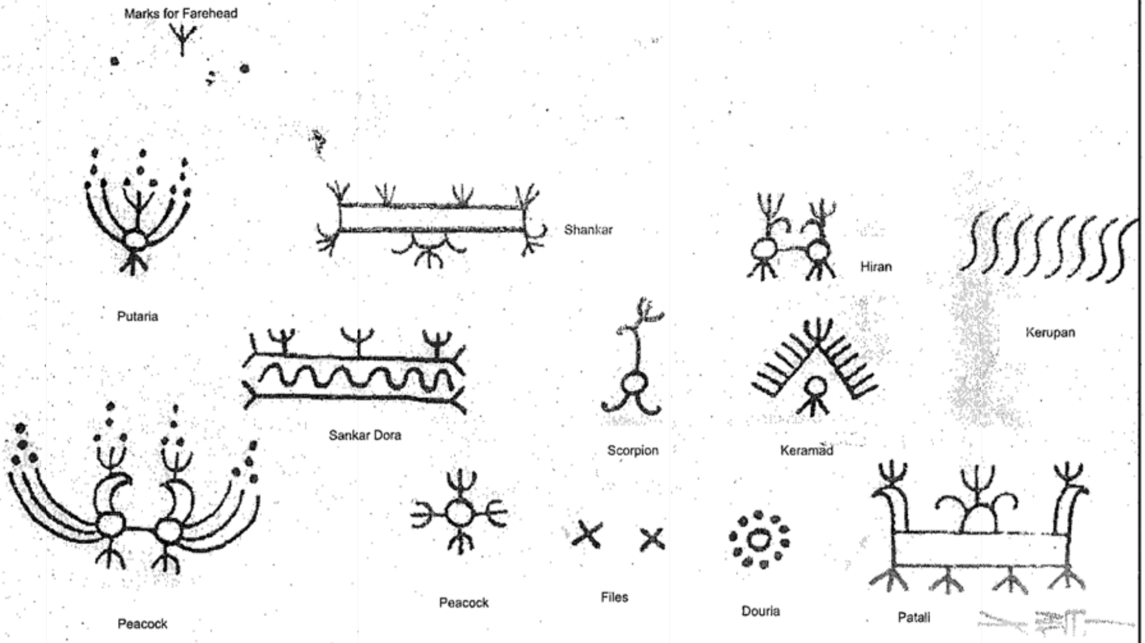
एक मिकिर नारी



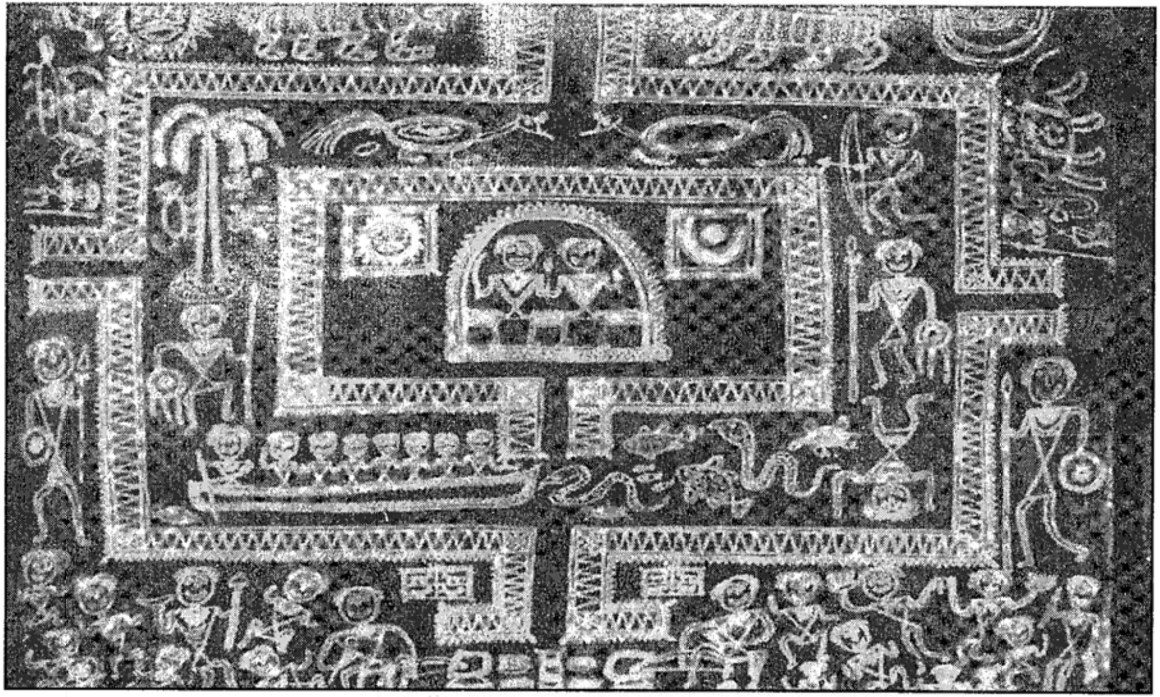
एक लेप्चा वृद्ध अपने पारंपरिक हैट में



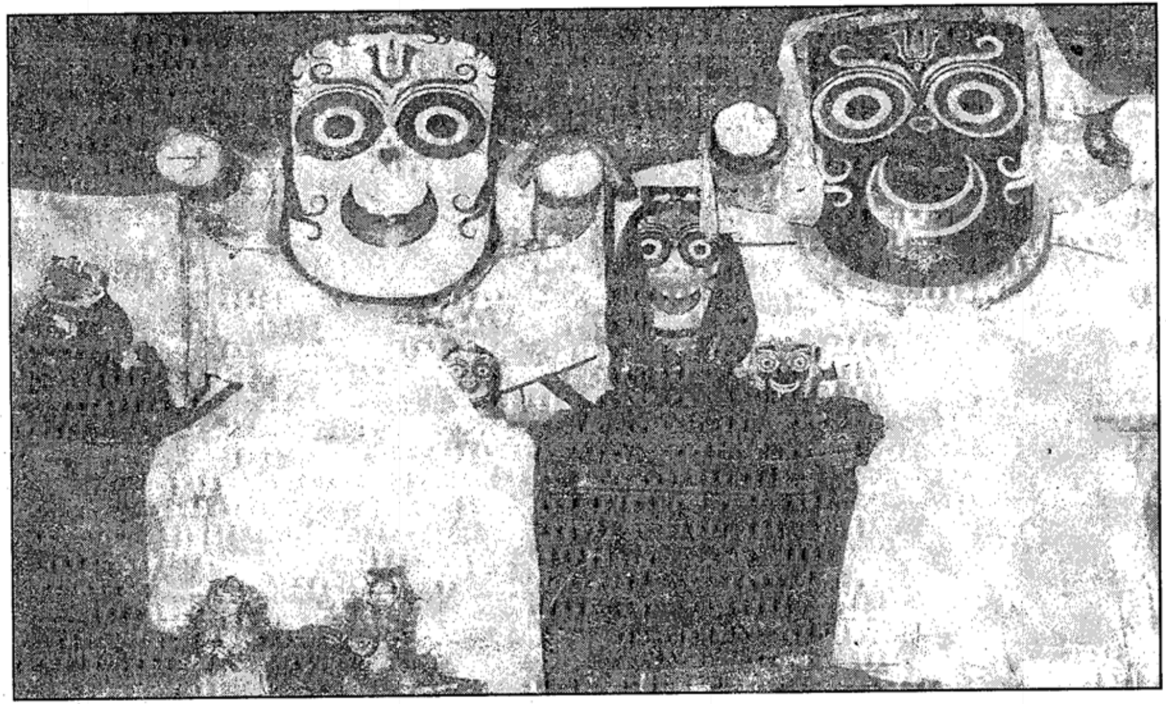
जनजातीय भारत से संबंधित डाक टिकट




बस्तर में प्रचलित कुछ टैटू (गोदना चिन्ह)



बस्तर की धानकुल तीज जागर पेंटिंग



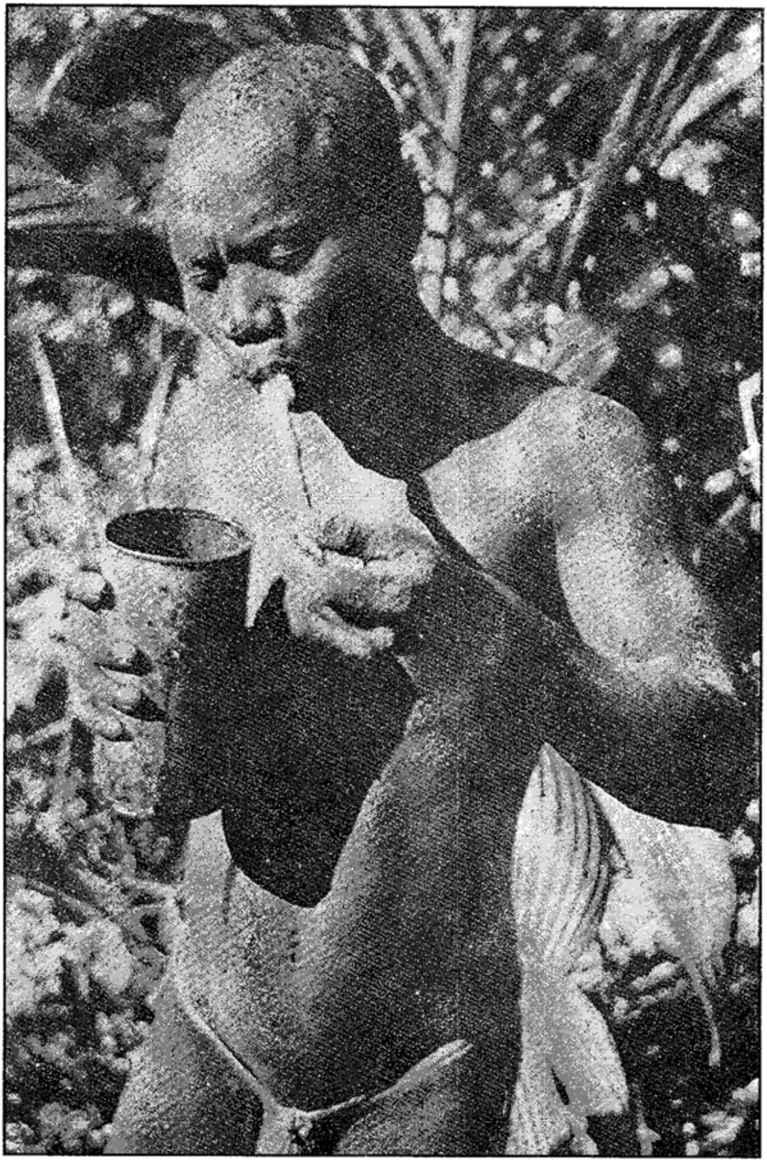
भगवान जगन्नाथ का जनजातीय चित्रण (बस्तर)



एक अंगामी नागा
(नागालैंड)
अपने उत्सवी वेश में



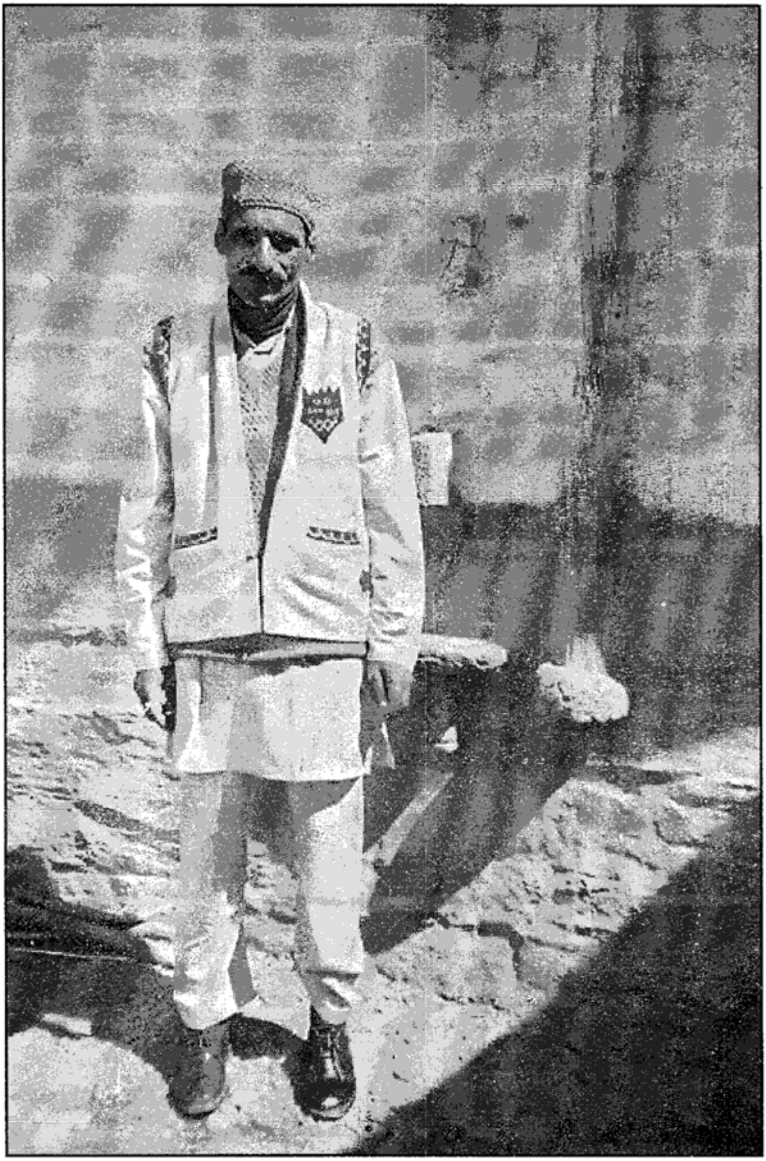
एक ओंगे मां,
बच्चे के साथ
(अंडमान निकोबार)



शहद पीते हुए एक ओंगे (अंडमान निकोबार)



एक भूटे ओझा (महाराष्ट्र)



एक जौनसारी पुरुष अपनी परंपरागत वेशभूषा में



एक मोलसुम महिला अपने परंपरागत कपड़ों में (त्रिपुरा)



एक वांचू मुखिया (अरुणाचल प्रदेश)



एक गड़सिया युवती (राजस्थान)



एक भील महिला (गुजरात)



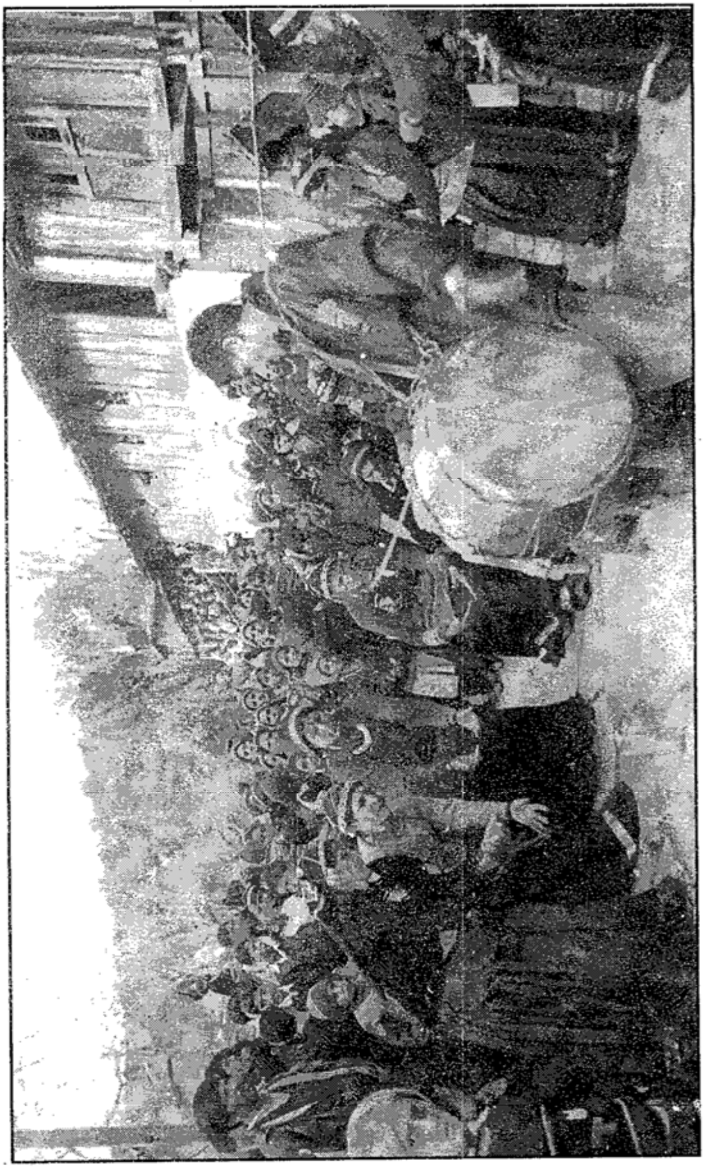
एक लम्बाड़ी युवती (आंध्र प्रदेश)



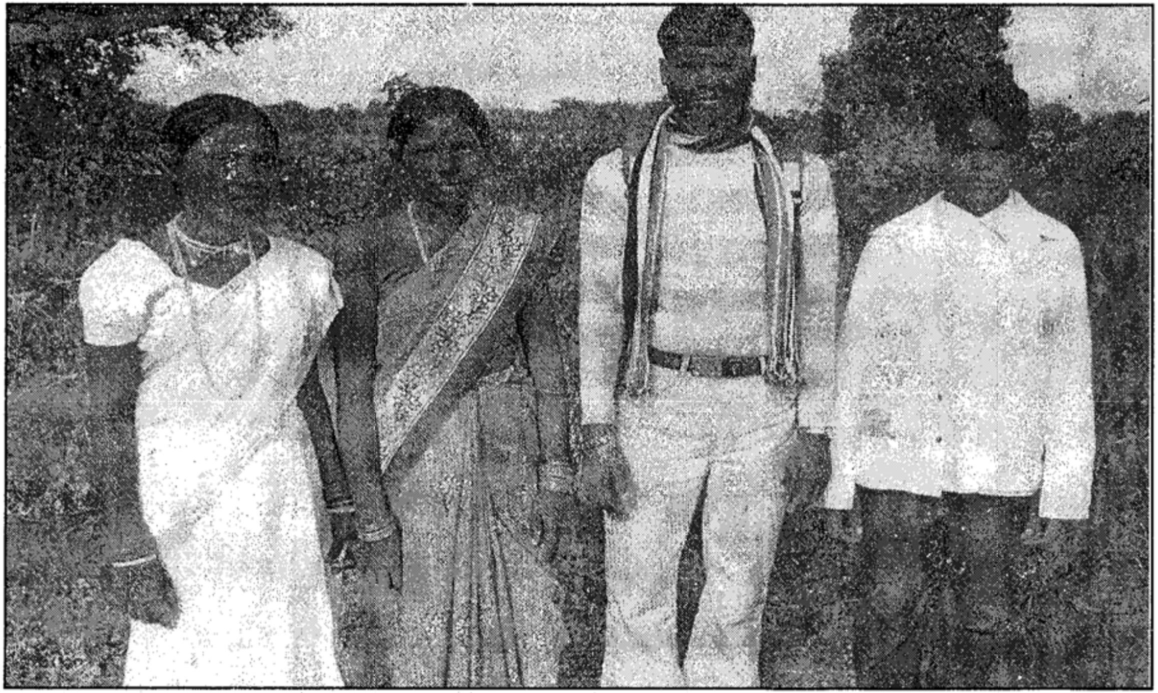

बिरसा मुंडा के जन्म स्थान उतरातु (खुंटी, झारखण्ड)
में बिरसा की मूर्ति, बिरसा संग्रहालय में



भुमिज जनजाति (झारखंड) की महिलाएं व बच्चे



जौनसारी लोगों का दशहरा नृत्य



मुंडा युवक व युवतियां (झारखंड)

# जनजातीय भारत

यह पुस्तक भारतीय जनजातियों के जीवन तथा संस्कृति के विभिन्न पक्षों तथा विकास की ओर अग्रसर इन बहुरंगी जनजातियों की समस्याओं व उनके प्रशासन के विस्तृत एवं व्यवस्थित अध्ययन के लिये अत्यंत उपयोगी है।

वर्तमान पुस्तक विभिन्न परीक्षाओं के प्रत्याशियों के लिये तो बहुत महत्वपूर्ण है ही परन्तु इनके अलावा मानवशास्त्र, समाजशास्त्र, भूगोल, सामाजिक कार्य, अर्थशास्त्र जैसे विषयों के सामान्य विद्यार्थी व शोधकर्त्ता भी इसे काफी उपयोगी पायेंगे। सामान्यजन भी जो जनजातियों तथा अन्य पिछड़े वर्गों में रुचि रखते हैं, पुस्तक को काफी दिलचस्प व उपयोगी पायेंगे। जनजातीय भारत के अनेक संस्करण इसे इस विषय की सबसे सम्मानित व लोकप्रिय पुस्तक बना चुकी हैं।

## लेखक

**डा. नदीम हसनैन** एक सुविख्यात समाज विज्ञानी हैं और वर्तमान में लखनऊ विश्वविद्यालय में मानव विज्ञान विभाग में प्रोफेसर के पद पर कार्यरत हैं। आप अध्यापक, शोधकर्ता व समाजकर्मी के रूप में भी जाने जाते हैं। भारतीय समाज के अभावग्रस्त तबको, विशेष रूप से दलित, पिछड़ी जातियों व अल्पसंख्यकों में आपकी विशेष रुचि है और इन पर आप लगातार लिखते व बोलते रहे हैं। आप प्रतिष्ठित शोध पत्रिकाओं- द ईस्टर्न एंथ्रोपोलोजिस्ट तथा इस्लाम ऐण्ड मुस्लिम सोसायटीज : ए सोशल साइंस जर्नल के सम्पादक व सेंटर फार सोशल ऐक्शन ऐण्ड डेवलपमेंट, लखनऊ, के मानद निदेशक भी हैं। आप 15 पुस्तकों के लेखक/संपादक हैं। शोध पत्रिकाओं में दर्जनों लेख आपके प्रकाशित कर चुके हैं तथा अंग्रेजी, हिन्दी व उर्दू की लोकप्रिय पत्र-पत्रिकाओं में भी लगातार लिखते रहे हैं।

संपर्क : nadeemhasnain@gmail.com

**जवाहर पब्लिशर्स ऐंड डिस्ट्रीब्यूटर्स**
**15, डी.डी.ए. मार्केट, बेर सराय,**
**(जे.एन.यू. ओल्ड कैम्पस के सामने)**
**नई दिल्ली-110 016**